श्री काशी विद्यापीठ

प्रकाशन-विभाग

की ओरसे

सस्नेह समर्पित

प्रकाशक
विश्वनाथ शर्मा
मंत्री, प्रकाशन विभाग

सम्पादक-मण्डल
राजाराम शास्त्री
विश्वनाथ शर्मा भगवती प्रसाद पान्थरी
चन्द्रशेखर अस्थाना गोरावाला खुशालजैन

मुद्रक
पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गवभूषण प्रेस, बनारस



महात्मा गांधी

विद्यापीठके प्रेरक

दो शब्द

आज हमारे लिए अत्यन्त हर्षका अवसर प्राप्त हुआ है कि हमने अनेक विघ्न बाधाओंको पार करके अपने जीवनके पचीस वर्ष पूरे कर लिये और इस सफलताके उपलक्षमें अपनी रजत-जयन्ती मना रहे हैं। इस शुभ पर्वके स्मारक-स्वरूप यह अभिनन्दन ग्रन्थ उपस्थित किया जा रहा है। विद्यापीठ जैसी विद्या-संस्था और विद्या प्रेमी देशभक्तोंके सहयोग तथा पारस्परिक सद्भावनाके स्मरणार्थ इस प्रकारका प्रयत्न स्वाभाविक ही है किन्तु विद्यापीठका स्वरूप ही ऐसा है कि इसके प्रमुख कार्यकर्ताओंको महत्वपूर्ण राष्ट्रीय जिम्मेदारियोंका भी वहन करना पड़ता है। सन् १९४२ की राष्ट्रीय क्रान्तिसे निकलनेके बाद देशकी राजनीतिक घटनाओंकी प्रगति ऐसी तीव्र और महत्वपूर्ण रही कि देशका सारा ध्यान और उसकी सारी शक्ति उस ओर ही लगी रही। कांग्रेस कार्य समितिके सदस्योंके, जिनके साथ हमारे कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव भी थे, कारागारसे मुक्त होनेके बादही शिमला सम्मेलन, फिर देशव्यापी चुनावका कार्यक्रम तथा प्रान्तोंमें कांग्रेसी मन्त्रियोंका पदग्रहण, जिनमें हमारे अध्यक्ष श्री सम्पूर्णानन्दजी भी हैं, फिर केन्द्रमें राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना तथा साम्प्रदायिक उपद्रव इन सब घटनाओंकी दौड़के बीच हमें अपनी ओर देखनेका अवसर बहुतही कम मिला, अतएव बड़ी शीघ्रतामें हमने अपना यह जयन्तीका आयोजन किया। यह अभिनन्दन ग्रन्थ जैसा हो सकता था वैसा नहीं हो सका और इसमें अनेक त्रुटियां रह गयीं, इसका यही कारण है। हम विद्वान् लेखकों तथा पाठकोंसे इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं। इतने अल्पकालमें विद्वानोंका हमें जैसा सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। उनकी विशेष कृपाके बिना हम यह ग्रन्थ न निकाल पाते। विद्वान् लेखकोंके अतिरिक्त देशके जिन नेताओं तथा सहयोगी राष्ट्रीय शिक्षालयोंने हमें शुभकामनाएँ भेजी हैं उनके भी हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं। विश्ववन्द्य महात्मा गांधीने पूर्व बंगालमें प्राणोंकी बाजी लगाकर अपने जीवनके अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोगमें व्यस्त रहने पर भी स्वस्थापित विद्यापीठको स्मरण करनेका समय निकाला, उनके इस अनुग्रहके लिए

हमारी कृतज्ञता शब्दोंमें व्यक्त नहीं हो सकती। प्रारम्भमें उन्होंने ही विद्यापीठकी प्राणप्रतिष्ठाकी थी। आज भी उनका आशीर्वाद हमें अनुप्राणित कर रहा है और सदा करता रहेगा।

अन्तमें हम अपने उन सहयोगियोंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपनी योग्यता तथा परिश्रम से इस ग्रन्थको प्रस्तुत किया है। इन मित्रोंमें सर्वश्री त्रिभुवन नारायण सिंह शास्त्री, विद्याभास्कर, परमेश्वरी लाल गुप्त, तथा लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय', के सम्पादन तथा मुद्रणकला सम्बन्धी विशेष ज्ञान का हमने पूरा उपयोग किया है। संस्कृत अंश का काम प्रायः पण्डित गोपाल शास्त्री 'दर्शन केसरी ने ही किया है। इसके अतिरिक्त सर्व श्री योगेन्द्रनाथ, श्रीनाथशर्मा, सूर्यकुमारसिंह, मोहनसिंह, हरिमोहनसिंह, दिनेश चन्द्र सकलानी, रत्नेश्वरसिंह तथा वीरेश्वर प्रसाद सिंह ने सम्पादन कार्य में बड़ी सहायता दी है। भार्गव भूषण प्रेस, काशीके मालिक श्री पृथ्वीनाथ भार्गव ने अनेक दिक्कतों का सामना करके हमें विशेष सुविधाएं तथा सहयोग प्रदान करने का अनुग्रह किया है। साथ ही 'आज' और 'संसार' समाचार पत्रोंने तथा नागरी प्रचारिणी सभा और प्रकाश मन्दिर, काशीने हमें अनेक आवश्यक सामग्री तथा सहायता प्रदान करके अनुगृहीत किया है।

वसन्त पञ्चमी, २००३.

—सम्पादक मण्डल

विषय सूची **पृष्ठ संख्या**

CONTENTS

मङ्गलाचरणम्

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रय वः
समानेन वो हविषा सञ्जुहोमि ॥

(ऋग्० ८।८।४९।३)

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥

(साम० २।३।८)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥

(यजु० ४०।१६)

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षा मुपनिषेदु रग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥

(अथर्व० १९।५।४०।१)

हमारा विद्यापीठ

रहे काल पर दृष्टि हमारी
लगे मृत्युकी हमें न डीठ;
पृथ्वीका प्राचीन पुरीमें
नित्य नया निज विद्यापीठ।

यहीं पासकी गंगा-यमुना
सरस्वतीका संगम ठीक;
ज्ञान-तीर्थमें यहीं भक्तिका
और कर्मका योग सटीक।

चलें छोड़ते छात्र हमारे
सब क्षेत्रोंमें अपनी लीक;
और सदा 'शिवके प्रसाद'के
बने हमारे पात्र प्रतीक।

क्यों न हटेगा हार मान कर
रहे मोह कितना ही ढीठ;
पृथ्वीकी प्राचीन पुरीमें
नित्य नया निज विद्यापीठ।

—मैथिलीशरण गुप्त

शुभ आशीर्वाद

भाई [illegible] जी,

आपके [illegible]

में [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] विद्यापीठ

[illegible]

[illegible]

ई० $\frac{22}{5}$ आपका

[illegible]

[illegible]

'आशिषः आशास्ते''

श्री काशी विद्यापीठकी स्थापना, श्री शिवप्रसाद गुप्तजीके उदार हृदयने किया, और इसका उद्घाटन महात्मा गांधीजीके पवित्र हाथों ने। पचीस वर्ष बाल्य और यौवनके पूरे करके, अब यह प्रौढावस्थामें प्रवेश कर रहा है। बाल्य और यौवनमें भूलें किससे नहीं होतीं? सब आशा किसकी पूरी होती हैं? यदि इस संस्थासे भी भूलें हुईं, और स्थापकके संकल्पमें जो आशाएँ थीं, उनको पूरी न कर सकी, तो क्या आश्चर्य। पर, देशके सामने इसके प्रबन्धकों, अध्यापकों, अध्येताओंने, त्याग, तपस्या, देशभक्तिका अच्छा उदाहरण रक्खा, और भारतके सभी प्रान्तोंमें राष्ट्रीयभाव जगानेमें कांग्रेस की सहायताकी। यदि उस जागसे आशासित कार्य सिद्धि नहीं हुई, तो यह कांग्रेसके नेताओंके मानुष्य-सुलभ बुद्धि-दोष और अदूरदर्शितासे। मानव-संसार मात्रकी परिस्थितिभी अधिकाधिक कलहमय, युद्धमय, नितान्त जटिल होती गयी है, जिसका सुलझाना अब बहुत कठिन हो गया है। पर अब भी असम्भाव्य नहीं है। सम्वत् १९८५ विक्रम सन् १९२९ ई० में, जब काशी विद्यापीठके वार्षिकोत्सवमें महात्मा गांधी उपस्थित थे, मैंने उनसे, सभाके समक्ष, इस संस्थाकी प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले बीजमंत्रकी प्रार्थनाकी थी। उन्होंने मुझसे कहा कि 'यह काम तुम ही करो'। तब मैंने, उपस्थित जनताके समक्ष यही कहा था कि 'कर्मणावर्णः, वयसाआश्रमः' अर्थात् 'विश्व-धर्म, अध्यात्म-विद्या पर प्रतिष्ठित, चातुर्वर्ण्य-चातुराश्रम्यऽत्मक समाज व्यवस्था' ही ऐसा बीजमंत्र है; नितान्त प्राचीन भी और नित्य नवीन भी; 'वर्ल्ड आर्डर फैंडेड ऑन वर्ल्ड-रिलिजन, सैकॉलोजी, फ़िलॉसोफ़ी'—यदि इस बीज-मंत्रके अनुसार, विवेक-पूर्वक कार्य किया जाय, तो अब भी, भारतवर्षकी, तथा अन्य सब देशोंकी, जनताका उद्धार हो सकता है। मैं यही आशा करता रहता हूँ कि काशी-विद्यापीठके कार्य-कर्त्ताओं, तथा कांग्रेसके नेताओं, तथा अन्य देशोंके नायकोंकी दृष्टि इस ओर फिरे।

मौर १४ माघ, वि० २००३। (२७ जनवरी १९४७ ई०)

भगवानदास

* * * *

काशी विद्यापीठने अपनी जिन्दगीके पचीस बरस पूरे कर लिये और अब उसकी सिलवर जुबली मनाई जा रही है। यह विद्यापीठ हमारी आजादीकी तहरीकसे पैदा हुआ था और महात्मा गाँधीने इसकी नींव अपने हाथोंसे रक्खी थी। मैं इस मौके पर अपनी दिली मुबारकबाद पेश करता हूं और उम्मीद करता हूँ कि यह विद्यापीठ हमारी कौमी तालीमके मैदानमें हमेशा शानदार खिदमत अन्जाम देता रहेगा।

दिल्ली, १९ दिसम्बर १९४६ ई०। अबुल कलाम आजाद

In thinking of the Kashi Vidyapith my mind goes back to Shiva Prasad Gupta, the brave and generous founder of the Vidyapith. I also think of the early days of this institution, a quarter of a century or more ago, when it took birth in the turmoil of the early days of the non-co-operation movement. To all of us who experienced that tremendous upheaval, both in the country and in our inner selves, that memory will remain as a cherished possession.

Fathered by the national struggle and the passionate urge for freedom, the Kashi Vidyapith has never lost touch with its parentage. Repeatedly its professors and students have plunged into mass struggles and suffered in their cause. Inevitably this has affected the educational character of the institution, and a continuity and its stability in the course of study has not been maintained. Perhaps this could not be avoided and in a country under alien domination the primary urge must be to attain freedom. The Vidyapith represented this primary urge at the cost of much else and so it did not show as good results in some directions as we had hoped. It remained throughout the torch-bearer of India's independence. That is success enough, though from worldly standards this may not be counted much. We have not followed worldly standards in India during these 26 years and yet we have the satisfaction that we have achieved something substantial, not for our petty-selves but for the country we cherish. The Vidyapith has had to face very great difficulties, as any institution must, which throws itself into political mass struggles. The time is not yet when we can say that the period of struggle is over; but at the same time the time for constructive effort has also come, and I hope that the Vidyapith will now show as good results in the field of national education as it has shown in the field of political struggle.

NEW DELHI,
22nd December 1946.

Jawaharlal Nehru.

"I congratulate the Kashi Vidyapith on its Silver Jubilee. The institution was one of the first to bear the unmistakable impress of the national awakening and struggle which followed the disillusionment after the First World war. Since then it has throughout made a valuable contribution to the struggle for freedom and its staff and students have always been willing to respond to the needs of the hour. No institution could have better claim on the sympathies and support of the public, and I wish the Kashi Vidyapith all success."

NEW DELHI. **Vallabhbhai Patel.**

25th December 1946.

* * * *

जबसे गांधीजी दक्षिण अफ्रिकासे हिन्दुस्तान वापस आये यहांकी राजनीतिमें एक नया युग आ गया। उन्होंने जनता और देशके सेवकोंके लिए नया ढंग नया आदर्श और नया उद्देश्य उपस्थित किया। जहां हम एक प्रकारकी बेचारगी अनुभव कर रहे थे वहां नये प्रकारकी जिन्दगी, अभूतपूर्व उत्साह और देशहितके लिए कष्ट सहनेकी तत्परता जागृत कर दी। रौलट बिल सम्बन्धी आन्दोलन और खिलाफत सम्बन्धी ब्रिटिश सरकारकी नीतिने सारे देशमें खलबली मचा दी। पंजाबके हत्याकांड, डायरकी क्रूरता और जङ्गी कानूनने सारे देशमें आग लगा दी। जब ब्रिटिश सरकारने खिलाफत और पंजाब सम्बन्धी अत्याचारोंका कोई समुचित प्रतिकार नहीं किया तब गांधीजीके नेतृत्वमें कांग्रेसने अहिंसात्मक असहयोगका निश्चय किया। खिलाफत कमेटी गांधीजीके मशवरेसे इसी निश्चय पर पहलेही पहुंच चुकी थी। इस तरह हिन्दुओं और मुसलमानोंके बीच अद्भुत मेल-मिलापहो गया और दोनों एकसाथ मिलकर काम करने लगे। अहिंसात्मक असहयोगके कार्य-क्रमका एक आवश्यक अंग यह था कि ब्रिटिश सरकारके साथ सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षालयोंमें विद्यार्थी शिक्षा न लें। फलस्वरूप हजारों हजार विद्यार्थियोंने सरकार सम्बन्धित स्कूलों और कालेजोंको छोड़ा। गांधीजी ध्वंसात्मक कामके साथ साथ रचनात्मक काम भी करते ही हैं। उन्होंने जब विदेशी कपड़ेका बहिष्कार बतलाया तो साथ

ही साथ चर्खेका प्रचार भी बतलाया। सरकारी अदालतोंके बहिष्कारके साथ साथ पंचायतका रास्ता बतलाया और सरकारी शिक्षालयोंके बहिष्कारके साथ साथ राष्ट्रीय शिक्षालयोंकी स्थापना करायी। देशमें कई स्थानोंपर राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित हुए, जिनमें श्री काशी-विद्यापीठ भी महत्वपूर्ण संस्था हुई। स्वर्गीय श्री शिवप्रसादगुप्तजीने इसके लिये १० लाखकी सम्पत्ति देने का वचन दिया और श्रद्धेय डा० भगवानदास जैसे विद्वानने इसमें आचार्यका पद ग्रहण किया। उस वक्त से विद्यापीठ आजतक काम करता आ रहा है। इसका अपना भवन है, सुन्दर पुस्तकालय, विद्वान अध्यापक और उत्साही विद्यार्थी हैं। पिछले २५ वर्षोंमें यहांके विद्यार्थी शिक्षा समाप्त करके कितने ही प्रकार के कामों में लग गये हैं और वहां भी बहुतेरे प्रकारसे जनसेवा कर रहे हैं और बहुतेरे अपने काममें लगे हैं। वे जहां हैं विद्यापीठ की ख्याति बढ़ा रहे हैं। विहार विद्यापीठके समावर्तन संस्कारके अवसरपर एक बार श्री राजगोपालाचार्यने दीक्षान्त भाषणमें कहा था कि ये शिक्षा सम्बन्धी संस्थायें असहयोगके दीपकका काम करती हैं। आज भी श्रीकाशी विद्यापीठ वही काम रहा है, यद्यपि आज राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। ऐसी संस्थाओंकी आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। कोई भी शासक क्यों न हो उसको यदि निरंकुश छोड़ दिया जाय तो अनर्थ होता ही रहता है। "प्रभुता पायि काहि मद नाहीं" इसलिए स्वराज्य तभी आजकी दुनियांकी हालतमें सार्थक हो सकता है जब उसके कर्मचारियों पर जनता और नीतिका अंकुश रहे। शासनके आश्रित विद्यालय जनताको स्वतंत्र शिक्षा देने में असमर्थ रहते हैं इसलिए अनाश्रित संस्थाओंका महत्वपूर्ण स्थान है जो शासन और शासक दोनोंको रास्ता दिखलाती रहे और दोनोंके लिए दीपक का काम करती रहे।

२५ वर्षोंकी सेवाके बाद श्री काशी विद्यापीठने आज उत्सव मनानेका समारोह किया है। अभी इसका काम पूरा नहीं हुआ है, और आगे चलकर और भी इसको बहुत कुछ करना है। जिस सत्य और अहिंसाको अपना श्रेय मानकर इसका आरम्भ हुआ है उसीको अपना श्रेय मानकर रखे तो आनेवाले युगमें यह बहुत महत्वपूर्ण काम कर सकेगा। मेरी प्रार्थना है कि वह इस उच्च आदर्शको संसारके सामने कार्यरूपेण उपस्थित करनेमें समर्थ हो।

२४ दिसम्बर ४६ ई०। (राजेन्द्र प्रसाद)

The Kashi Vidyapith represents the effort that the nation in 1920 put forth under Gandhiji's inspiration towards national education. It owed its existence to the Munificence of the great patriot and philanthrophist Babu Shiva Prasad Gupta of Kashi. It had as its first Acharya the great scholar and philosopher, Babu Bhagwandas. At its inception I was closely connected with it and worked under Babu Bhagwandas as Vice-Principal. My interest in its work still continued.

Kashi Vidyapith has had a chequered career. Every struggle of satyagraha has found both the teachers and the taught behind prison bars. While other national Universities which owed their existence to the resurgence of national life in 1920 have succumbed to the strain imposed upon them by periodical repression, the Kashi Vidyapith has managed to survive. Today it would be a flourishing University but for the restraint that it imposes upon itself of never accepting the patronage of any government whether foreign or national.

The graduates and under graduates that the Kashi Vidyapith has turned out are characterised by their robust independence of thought and action. Many of them have made their way in life and chosen independent careers where they have made their mark. I have no doubt that the Kashi Vidyapith has yet a place in the national life of our country and the institution will continue to grow under the fostering care of its old and new pupils and its patriotic staff of teachers.

24th December 1946 **J. B. Kripalani,**

* * * *

मेरा पक्का निश्चय था कि विद्यापीठ की जयन्तीमें योग दूँगा, लेकिन बहुत खेद है कि अन्य आवश्यक कार्य वश में उस पुण्य अवसर पर उपस्थित नहीं हो सकूंगा। आशा है आप तथा अन्य सभी साथी मुझे क्षमा करेंगे। यह कहने की तो आवश्यकता नहीं है कि मेरे नजदीक विद्यापीठका कितना महत्व है। मेरी यह हार्दिक शुभ कामना है कि यह राष्ट्रीय संस्था उत्तरोत्तर उन्नति करती जाय और नवीन भारतके निर्माणमें उसका उतना ही हाथ हो जितना कि स्वराज्य की प्राप्ति में है और सदा रहा है।

जयप्रकाश नारायण

National Institutions are the pioneers and forerunners of great Reforms yet to come. The K. V. Pitha was one such. It has survived the period of trial and tribulation. The experiment inaugurated a quarter of a century is witnessing its own transformation into an established and accepted fact. The new Governments of the day have only to take in hand these pioneer institutions and develop them into model national Universities.

20th December 1946 **B. Pattabhai Sitaramayya,**

* * * *

Kashi Vidyapith is undoubtedly one of the outstanding landmarks of the movement which Mahatma Gandhi launched more than a quarter of a century ago. Both the Jamia-i-Millia, now established in Delhi, and the Kashi Vidyapith came into existence simultaneously and both have survived the political storms of the last 25 years. Both these institutions have contributed to the new spirit and life of our country and have rescued education from cramping effect of foreign bondage. The Jamia has just concluded its Silver Jubillee celebration which was attended with great success. I am glad the Kashi Vidyapith has also decided to celebrate its Silver Jubilee, and I wish it every success.

27th December 1946 **M. Asaf Ali,**

* * * *

On the occasion of the celebration of the Silver Jubilee of Kashi Vidyapith on the 27th January, the Sree Panchami Day 1947. I offer my sincerest congratulation and good wishes. The Vidyapith has won a unique position by its work for national freedom and national education, I wish the Vidyapith will serve the nation for long as it has done in the past.

DELHI
24th December 46 **Kiran Sankar Roy**

On the occasion of the celebration of the silver Jubilee of the Kashi Vidyapith on Vasant Panchami day, I congratulate the Vidyapith on having completed 25 years, of useful service to the country and send my good wishes for still greater success in future. The institution had the unique privilege of having been founded by Mahatma Gandhi in 1920 and has at the forefront not only in the field of education but also of our national struggle for freedom. I have no doubt that the institution will continue its inspiring work of national education with greater zeal than in the past and will contribute to the achievement of our objective of making India a free and great country.

B. G. Ker,

21st December 1846. Prime Minister, Government of Bombay

* * * *

I am very glad to know that Kashi Vidyapith will be celebrating its Silver Jubilee on the 27th January 1947. It can really be proud of its good work all these years and I am confident that coming years have in store, a very bright and useful future for the Kashi Vidyapith. I wish it all success.

T. Prakasam,

20th December 1946, Prime Minister Government of Madras.

काशी विद्यापीठ हमारे प्रान्त ही नहीं वरन् सारे देशमें राष्ट्रीय शिक्षाका प्रमुख केन्द्र है। एक उच्च श्रेणीका बौद्धिक केन्द्र होनेके साथ ही काशी विद्यापीठने पिछले पच्चीस सालमें स्वातंत्र्य संग्राममें जो भाग लिया है उसके लिए हमारा प्रान्त उसका हमेशा आभारी रहेगा। स्वतंत्रताका आन्दोलन हो अथवा क्रियात्मक वैधानिक कार्य हो उसमें काशी विद्यापीठके अध्यापक, स्नातक तथा क्षात्र सबसे आगे रहे हैं।

हमारे प्रान्तकी धारा सभामें काशी विद्यापीठके अध्यापक व स्नातक इतनी संख्यामें हैं कि किसी भी विश्वविद्यालयको यह गौरव प्राप्त नहीं। वास्तवमें काशी विद्यापीठका इस प्रान्तके बौद्धिक नेतृत्वमें उच्च स्थान है।

मुझे आशा है कि यह संस्था उत्तरोत्तर उन्नति करेगी और जिस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त करनेमें अग्रगामी रही है उसी प्रकार राष्ट्रके पुनर्निर्माणमें सर्वोपरि स्थान लेगी।

मैं विद्यापीठके संचालकों, अध्यापकों, स्नातकों एवं छात्रोंको इस रजतजयन्तीके अवसरपर हार्दिक बधाई देता हूं।

गोविन्दवल्लभ पन्त
प्रधान मंत्री, संयुक्त प्रान्त

१४ जनवरी १९४७

*　　*　　*　　*

I am extremely glad to hear that the Kashi Vidyapith is going very soon to celebrate its Silver Jubilee. The Vidyapith occupies a place of honour amongst the educational institutions of this country and has done a great service to the people by imparting the right type of education to the youths of the country. The purpose of education is to impart to the young "some unified sense of the world in which they live, the directions in which it is moving and the part they have to play in it." An educational institution should give the boys some sort of intellectual and moral key to the contemporary world. It was as a protest against *the old educational system which lacked this ideal that the Kashi* Vidyapith was born. With the help of distinguished scholars that the Kashi Vidyapith has been able to attract to itself, it has nobly fulfilled its ideal to serve for which it was born. I fervently hope that it will continue to do this service for long years to come and the professors and students will so work as to keep the banner of the Vidyapith flying high.

Shri Krishna Sinha.
Prime Minister, Government of Bihar.

21st December 1946.

काशी विद्यापीठने राष्ट्र निर्माणका जो महत्कार्य किया है और उसके संचालकों तथा स्नातकोंने जो त्याग और बलिदान किया है वह भारतवर्षके इतिहासमें उल्लेखनीय है। परंतु मुझे इस बातका खेद है कि इस विद्यापीठकी रजतजयन्तीके महोत्सवके समयमें स्वयं उपस्थित नहीं हो सकता। मेरी शुभ कामना है कि देशके भावी उत्थानमें यह संस्था अधिकसे अधिक उपयोगी सिद्ध हो।

२३ दिसम्बर १९४६।

रविशंकर शुक्ल

प्रधान मंत्री, मध्यप्रांत व बरार

*　　*　　*　　*

You surely do me honour in asking me to send a message on the occaission of the celebration of the Silver Jubilee of Kashi Vidyapith. It has not yet been possible for me to pay a visit to this noble institution, but being a humble worker in the field of national service for some time before this institution came into existence, it gives me great joy and some pride in being allowed to associate myself in this function.

I am aware through what hardship and difficulty the Vidyapith was started, what great suffering and sacrifice its principal Acharyajee and professors including your good self voluntary undertook for building up the edifice of a real national education! I know some of your students and what noble role they have played in the various stages of the nation's struggle for independence. With what your institution has achieved, you hardly required any appreciation from a humble man like me. You will however be curious to learn and that will give you some idea of my appreciation that even in our province, we devised an institution on almost similar lines; and that while you have our congratulation on your success, we blame ourselves for having failed to bring it into existence.

I whole heartedly wish the success of Kashi Vidyapith; let it grow more and more, and continue to train the workers of freedom, which they have done for so many years. Let the noble examples of the Principal and the staff continue to inspire the country and their pupils for suffering and sacrifice for a really free and democratic India.

Gopinath Bardoli

23 December, 1946.　　Prime Minister, Government of Assam.

The Kashi Vidyapith carries with it the history of the great national struggle which has been going on since 1920 when Mahatma Gandhi initiated his historic movement of non-violent non-co-operation. A number of educational institutions was started at that time to give a challenge to the institutions foisted upon the country by the British Government. Under the pressure of circumstances most of those have either disappeared or still exist without any prominence, but Kashi Vidyapith is perhaps the only exception which has stood against all adverse circumstances including the ruthless repression of Government directed against its very existence during all nation wide move-ments. The Kashi Vidyapith has supplied political workers to most of the provinces and most of them are prominently working in their own lines. As a centre for imparting to the youths, Kashi Vidyapith has a reputation of its own and I do not think any other institution can compete with Kashi Vidyapith in this matter.

Besides its political activities, the educational activities of the Vidyapith are no less prominent. It has on its staff some of the most prominent scholars of India and it has been always a research institute for all oriental scholars. It may be, the changing politics of the day will throw into oblivion the glowing political records of the Kashi Vidyapith, but as a research institute the Kashi Vidyapith will ever remain prominent in the history of India.

As a humble student of history, I have had the privilege of working under Acharya Narendra Deva, who is the soul of the Kashi Vidyapith from its very inception. It seems to be an irony of fate that a great scholar of Acharya's type had to join politics, throwing aside his usual work of research. But even then his guidance is always available to the Kashi Vidyapith and I have no doubt in my mind that a day will come when the Kashi Vidyapith will be looked upon with the same respect and admiration as Nalanda of Bihar or Pushpagirs of Orissa.

Hare Krishna Mehtab.

Prime Minister, Government of Orrissa

I am indeed happy to learn that the famous Kashi Vidyapith is ready to celebrate its silver jubilee. It is an event of national importance. In those far distant days, nearly 25 years ago, crowded as they were with such of revolutionary experiments, needed all the imagination and foresight and courage of revolutionaries to found an institution like this Vidyapith and to continue to run it all these years despite all the cruel repression heaped upon it and its professors and even students by the British government. Excepting perhaps the famous Gujrat Vidyapith, I know not another educational institution that has had to bear the brunt of imperialist repression for so many years.

The magnificence of the late patriot Shiva Prasad Gupta has no doubt distinguished it from other similar institutions founded in the wake of that national upheaval, the non-cooperation movement led by Mahatma Gandhi. But that alone could not have enabled this Vidyapith to continue to send out annual streams of well trained and indoctrinated and inspired revolutionaries to enrich our national struggle for freedom, if it had not been for such inspiring and inspired professors as my friends Acharya Narendra Deva, Shree Sampurnanand, Shree Sri prakash. It is these fine scholars who have kept the Vidyapith going and helped it to become a source of inspiration, learning and true national education.

We need more and more such educational institutions to give the badly needed political training to successive generations of our youth. As had been the case with the professors of this Vidyapith, the professors of such institutions ought to be well versed in day to day politics of the masses and not the politics of drawing rooms, jobs and intrigues. They ought to be real fighters for peoples' rights and freedom. Only such fighters can continue to inspire their students.

I have had the privilege of being the principal of the Indian Peasants Institute of Nidbrolu since 1933. I sent a few of our own graduates to this Vidyapith aud I am glad to say that most of them have later become distinguished by their work.

But such institutions ought to take care about the ideology they

propogate. For unless their professors know their own mind and have their feet solidly on some inspiring and definite line of intellectual approach and social thought and. action, their students are may to become effective political instruments but get into the hands of wrong people and parties. That is how many of the former graduates of this Vidyapith have come to join anti-national political parties and to do so much of sabotage against the 1942 August Revolution.

For, in my view, all such institutions ought not to compete with the usual statutory universities which do not bother which way their graduates tend to work. They ought to be the conscious political instruments--intellectual laboratories and research stations—of our national revolution and all its allied mass organisations of peasants workers, students, youth, women, etc., who believe in achieving the completest power in a democracy of all classes of toilers.

I hope that the Vidyapith will continue to work on dynamic lines and to send forth streams of graduates who will distinguish themselves as well in the constructive activities which are confrontig us ever so insistently as former students had done in our national revolutionary struggles.

I wish the Vidyapith every success.

N. G. Ranga

President, Andhra Pronivcial Congres, Committee.

Kashi Vidyapith is one of the few institutions which have for their ideal the service of the Motherland, Started by noble patriots in those hectic days of 1921st has produced a number of selfless workers who have spread themselves out in all parts of India and carried the message of Gandhiji and the Congress. Men of the type of Dr. Keskar are product of this famous institution. Whenever a national struggle is on, the students and teachers of the Vidyapith are in the thick of the non-violent fight, ready for suffering and sacrifice, and the institution is closed. This must certainly be expected when the guiding spirits of the institution are men like Acharya Narendra Deva and Sri Sampurnanand.

A Pukka national institution like the Vidyapith with its noble ideals and its glorious history deserves to be placed on firm financial foundations. The institution is shortly going to celebrate its Silver Jubilee. I wish the function every success and the institution long life and unqualified success in the fulfilment of its ideal of service.

S. Nijalingappa,

Keral Provincial Congress, Committee

* * * *

I send my heartiest greetings and best wishes to the alumni of the Kashi Vidyapith, on the occassion of the celebration of its Silver Jubilee. A span of 25 years is nothing in the life of an institution struggling for self-expression under adverse circumstances. But the authorities of the Vidyapith must be congratulated on the success it has achieved within this time. National in its conception and national in its outlook and policy, the Vidyapith is guided by scholars and national leaders like Sri Acharya Narendra Deva, Shri Sri Prakash, of whom India to day is so proud. I pay my respectful homage on the occassion to that practical idealist Late Shiva Prasad Gupta, whose dream has now taken a concrete shape not only in the Vidyapith, but is about to be fulfilled in the educational policy of the province under the guidance of Shri Sampurnanand, who has been so actively associated with this institution. May it live long and serve as a glorious beacon-light to the youths of India.

Surendra Mohan Ghose

24-12-46. **President, Bengal Provincial Congress, Committee.**

हिन्दुस्तानके आजाद होते ही हमारे सामने सबसे बड़ा सवाल यही होगा कि समस्त राष्ट्रको तुरन्त ही शिक्षित बनाया जाय। आज भी राष्ट्रीय उन्नतिमें काशी विद्यापीठ जैसी शिक्षण संस्थाओंका काफ़ी हाथ रहा है।

मुझे आशा है कि काशी विद्यापीठ राष्ट्रीय शिक्षा-प्रचारके क्षेत्रमें अधिकसे अधिक कार्य करेगा। इस शुभ अवसरपर मैं बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीकी ओरसे आशीर्वाद भेजता हूं। ईश्वर आपको सफलता प्रदान करें।

२९ नवम्बर ४६ ई०

स० का० पाटील

अध्यक्ष बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

* * * *

मुझे यह जानकर हार्दिक सन्तोष हुआ कि २७ जनवरी ४७ को वसन्त पंचमीके अवसरपर श्री काशी विद्यापीठ की रजतजयन्ती मनाई जा रही है। काशी विद्यापीठ केवल हमारे प्रान्तकी ही नहीं इस देशकी एक प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षा संस्था है और अपने पिछले २५ वर्षोंके जीवनमें विद्यापीठने राष्ट्रीय शिक्षा कलायें और अपने छात्रों द्वारा सोती हुई राष्ट्रको जगाकर उसमें राष्ट्रीय भावना पैदा करनेका विस्तृत कार्य किया है वह इस देशकी दूसरी संस्थाओंके लिये एक आदर्श है। आज इस रजतजयन्तीके अवसरपर सच्चे देशभक्त और दानवीर स्वर्गीय बा० शिवप्रसादजी गुप्तकी अनुपस्थिति हर देशवासीको खटकती है। परन्तु शारीरिक रूपमें हमारे साथ न होते हुए भी शिवप्रसादजीकी आत्मा हमारे साथ है और उनकी शुभ कृतियोंने उन्हें सदाके लिये अमर बना दिया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि अब जब कि हमारा देश आजादीके द्वारपर पहुँच चुका है और पूर्ण स्वतंत्रताकी प्राप्ति थोड़ेसे समय हीकी बात रह गई है काशी विद्यापीठ दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नतिके पथपर अग्रसर होगी और जो आदर्श इसके स्वर्गीय संस्थापकने उसके सामने रखा उसे कार्यान्वित करनेमें पूर्ण सफलता प्राप्त करेगी।

दामोदरस्वरूप सेठ

सभापति संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

* * * *

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि काशी विद्यापीठकी रजतजयन्ती मनाई जा रही है। मैं हृदयसे सफलता चाहता हूँ। आशा है कि विद्यापीठ सदैव ही राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा देशसेवाके कार्यमें संलग्न रहेगा।

कन्हैयालाल खादीवाला

अध्यक्ष अजमेर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

काशी विद्यापीठ देशकी उन संस्थाओंमें है जिनपर देशको गर्व है। जब जब राष्ट्रीय शिक्षाकी बात उठी तब तब देशमें अनेक ऐसी संस्थाओंका जन्म हुआ, परन्तु उनमेंसे अधिकांश चिरजीवी न हो सकीं। काशी विद्यापीठ अगणित कठिनाइयोंका सामना करते हुए आज अपनी रजतजयन्ती मना रही है। स्वर्गीय भाई शिवप्रसादजी गुप्तके ही प्रयास इसके कारण हैं और काशी विद्यापीठके उपलक्षमें कोई भी बात सामने आने पर गुप्तजीका स्मरण आये बिना नहीं रहता। जो आता है उसे शीघ्र या विलम्बसे जाना तो पड़ता ही है। धन्य वे हैं जो इस प्रकारके कार्य करके जाते हैं। काशी विद्यापीठ चिरजीवी रहकर देशकी अधिकाधिक सेवा कर सके यही मेरी कामना है।

१८।१२।४६

गोविन्ददास
महाकोशल कांग्रेस।

*　*　*　*

काशी विद्यापीठकी रजतजयन्ती मना रहे हो, जानकर बड़ी खुशी हुई। आप इने गिने उन राष्ट्रीय विद्यापीठोंमेंसे एक हैं जिनकी स्थापना असहयोगके जमानेमें सन् १९२१ में हुई। आजकल करके उसको बीते २५ साल हो गये। परमात्माकी कृपा है कि आज हमारी मंशा सफल होनेको है। राष्ट्रीय शिक्षाने उस पुरुषार्थमें बड़ा ही कार्य किया है। अब उसको व्यापक करना होगा, और हमारे प्राचीन देशके लिए उचित राष्ट्रीय शिक्षाकी प्रणाली निर्माण करनी होगी। इस भावी कार्यमें अब आप कदम उठा रहे हैं, मैं परमात्मासे प्रार्थना करता हूं कि उसमें आपको सफलता दे।

कन्हैयालाल नाना भाई देसाई
अध्यक्ष, गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

*　*　*　*

श्री काशी विद्यापीठके रजतजयन्तीका पत्र मिला। धन्यवाद! आपका उपक्रम स्तुत्य है। स्व० भाई शिवप्रसाद गुप्तकी यह कृति है, उच्च कोटिके राष्ट्र सेवक निर्माण हों, यह उनकी मनीषा थी। हमारे यहांके भाई दाडेकरजी शास्त्रीको इसी संस्थाने बढाया, आचार्य नरेन्द्रदेवजी जैसोंने इस संस्थाको सींचा है। यह विद्यापीठ हिन्दुस्तानमें एक विशेष जीवित केन्द्र बने, यह मेरी भावना है।

पूनमचन्द राका
अध्यक्ष, नागपुर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी।

JAMIA NAGAR, DELHI

On the occasion of the Silver Jubilee of the Kashi Vidyapith, the Jamia Millia sends its most cordial and fraternal greetings. It is more than mere coincidence that both our institutions celebrate their Jubilee almost simultaneously. We began the struggle for a new life together in the stormy years when our institutions came into existence, and today we must urge and help each other to hold fast to our cherished ideals and keep our aims and objectives always in front of us. Yours is one of the few institutions, indeed, that has done poineering work in transvaluating ideals of Indian Education, replacing the ideal of degree-giving universities with the ideal and national service, restoring education once again to the noble and sacred pedestal from where it shines and illumines the path of groping and blundering humanity. Today education must rise to the occasion and come to the rescue of humanity. In India so much more has to be done and the few institutions of your type shoulder a heavier civic and cultural responsibility. May God help you in your efforts to realise the worthy objectives that you have put before yourselves, and may the Kashi Vidyapith become more and more a symbol of the highest value of Indian and human culture.

14th. December, 1946.

Zakir Husain

Vice Chancellor, Jamia Millia Islamia.

*   *   *   *

विद्यापीठकी स्थापना जिन पवित्र उद्देश्यों और लोकहितकी भावनाओंसे प्रेरित होकरकी गयी थी उसमें उसकी सफलता असन्दिग्ध है, राष्ट्रीय शिक्षा और राजनीतिक क्षेत्रमें राष्ट्रोन्नतिके लिए अनेक बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी जो इस संस्थाने कार्य किया है वह स्वतंत्र भारतके इतिहासमें स्वर्णांकित होने योग्य है। भगवानसे आपके इस पवित्र आयोजनकी सफलता और इस संस्थाकी दिनोंदिन उन्नतिके लिए प्रार्थना है।

एन० के० मुकर्जी

मंत्री, प्रेममहाविद्यालय, वृन्दावन।

श्रीकाशी विद्यापीठेर रजत जयन्ती उपलक्षे विश्व भारतीर पक्ष हइते आपनादेर सादर अभिनन्दन ज्ञापन करितेछि। भारतेर जातीय जागरणेर सन्धिक्षणे विद्यापीठ ओ विश्वभारती एकइ पथेर पथिक रूपे यात्रा आरम्भ करियाछिल, नवजागृत चेतनार परि-प्रेक्षित भारतीय संस्कृति के जगतेर सन्मुखे उपस्थित करिबार दायित्व उभय-प्रतिष्ठान एकइ समय ग्रहण करिया छिल। आज एइ महान् व्रत ग्रहणेर पंच विंशति वत्सर अतीत हइते चलियाछे। बहु बाधा विघ्न उत्तीर्ण हइया उभयेइ आज साफल्येर पथे बहुदूर अग्रसरे होइयाछे। पंचविंशति वत्सर पूर्वे कर्तव्य ग्रहणेर दिने एइ पथे आमादेर सहयाईतीर अभाव छिल। आज उभयेर दर्शित पश्चादगाभीर पदशब्दे मुखर। भारतीय ऐतिह्येर रुप विश्ववासीर सन्मुखेर मूर्त करिया तुलिबार जन्म एइ दूई प्रतिष्ठानेर प्रचेष्टार कथा स्मरण करिया विश्वभारती आज विद्यापीठ के श्रद्धायुक्त अभिवादन प्रेरण करितेछे। आर देशवासी नवतर प्रेरणाय उद्‌बुद्ध करार साधना तहार मध्ये नित्य नूतन सफलताय मण्डित हइया उठुक एइ कामना जानइतेछे। विश्वभारतीर प्रतिष्ठाता आचार्य रविन्द्रनाथ छिलेन भारतीय शिक्षा ओ संस्कृतिकेर एकनिष्ठ साधक ओ वाणी-वाहक। आज एइ शुभ दिने तांहारक वाणी आदरण करिया श्री काशी विद्यापीठके आंतरिक अभिनन्दन ज्ञापन करितेछि।

शिक्षार द्वारा आमरा पूर्ण परिणात आमराइ हइवो, ए एकान्त आश्वास हृदये लइया जातीय विद्या मन्दिरके प्रणाम करि। एखाने आमादेर छात्रगण येन शुद्ध मात्र विधानहे, ताहरा येन श्रद्धा, येन निष्ठा, येन शक्ति लाभ करे—ताहरा येन अभय प्राप्त हय—ताहरा येन अष्ठि मज्जार मध्ये उपलब्धि करे —

सर्व परवसं दुखं सर्व मात्मवशं सुखम्।

भारतवर्षेर प्राचीन तपोवने ब्रह्म विद्या परायण गुरु मुक्तिकाम छात्रगणके मंत्रे आह्वान करियाछिलेन, से मंत्र बहुदिन एदेशे धनि ध्वनित हय नाइ, आज आमादेर विद्यालय सेइ गुरुर स्थाने दण्डायमान हइया ब्रह्मपुत्र एवं भागीरथीर तीरे तीरे सेइ वाणी प्रेरणा करुव।

आपनि ओ विद्यापीठेर अन्यान्य कर्मिवृन्द आमादेर स प्रीति सम्भाषण ग्रहण करुन। आपनादेर बय जयुक्त हउक।

इति—

श्री रथीन्द्रनाथ ठाकुर

कर्मसचिव, विश्व भारती।

काशी विद्यापीठ उत्तर भारतकी प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षा संस्था है जो कांग्रेसके असहयोग आन्दोलनके फल-स्वरूप १९२१ में २८ माघ १९७७ को महात्मा गान्धीकी प्रेरणा, डा० भगवान्‌दासजीकी योजना और स्व० बा० शिवप्रसादजीकी आर्थिक सहायताके द्वारा संस्थापित हुई थी। इसके संस्थापकोंकी इस त्रिमूर्तिकी इच्छाओं और आदर्शोंकी प्रतिच्छाया इस संस्थाके जीवनमें भली भांति प्रस्फुटित हुई है। अपने संस्थापकोंकी आकांक्षाओंके अनुरूप उसने राष्ट्रीय सेवाका आदर्श सदैव अपने सामने रखा है और अपने २५ वर्षके इस छोटे सेवाकालमें अनेकों विघ्न बाधाओं, कठिनाइयों और भीषण दमन चक्रोंका साहस पूर्वक सामना करते हुए अपने आदर्शोंकी रक्षाकी है। उस युगमें जब कि काशी विद्यापीठकी स्थापना हुई थी उसी प्रकार भावनाओंसे प्रेरित होकर अनेक स्थानोंपर अनेक शिक्षा संस्थाओंकी स्थापना हुई परन्तु उनमेंसे कुछ थोड़े समय बाद विलीन हो गई, कुछ आर्थिक कठिनाइयों और विघ्न बाधाओंके कारण अपने आदर्शोंकी रक्षा न कर सकीं। परन्तु यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि अपने संस्थापकोंके तपः प्रभावसे काशी विद्यापीठ अपने आदर्शोंके अनुरूप राष्ट्रकी सेवा करते हुए अपने जीवनके २५ वर्ष समाप्तकर आज अपनी रजत जयन्ती मनानेका सौभाग्य प्राप्त कर सका है; इसके लिए उसके संचालकोंको बधाई है। यह प्रारम्भिक २५ वर्षका जीवन संघर्ष, कठिनाई और तपस्याका जीवन था, विद्यापीठ उसको सफलता पूर्वक पालन कर चुका है। आज हम स्वाधीनताके द्वार पर खड़े हैं, आगे आशा और प्रकाशका युग आ रहा है, उसमें विद्यापीठके यथार्थ सौन्दर्यका विकास हो सकेगा ऐसी आशा है।

गुरुकुल वृन्दावन ज्येष्ठ भ्राताके नाते विद्यापीठके इस रजत जयन्ती महोत्सवपर अपरिमित आनन्दका अनुभव कर रहा है। हम कुलवासियोंकी शुभाकांक्षाएं और सद्भावनाएं विद्यापीठके साथ हैं हमें विश्वास है कि विद्यापीठका भावी जीवन और भी अधिक सुन्दर ढंगसे विकसित होगा और उससे अध्यात्मवाद और भारतीय संस्कृतिका गौरव बढ़ेगा और राष्ट्रका कल्याण होगा। तथास्तु

विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि

आचार्य गुरुकुल वृन्दाबन।

१ जनवरी १९४७

श्रीकाशी-विद्यापीठस्य रजतजयन्तीमहोत्सवे

श्रीकाँगड़ीगुरुकुल-विश्वविद्यालयसमर्पितम्

अभिनन्दनम्

[*कवयिता—साहित्याचार्यः श्रीवागीश्वरो विद्यालङ्कारः गुरुकुल-विश्वविद्यालयप्रस्तोता*]

१

पुण्यापुरी पुरहरस्य मनोहराऽसावान्दोलिकेव शिशुभारतसंस्कृतेर्या
भागीरथी-विमलवीचि-परम्परासु संक्रान्तकान्तिरनिशं सुचिराद् विभाति ॥

२

या स्मृत्यतीत-समयाच्छ्रुति-शास्त्रसार्थ - निःस्वार्थभावपरिशीलन - पेशलानाम् ।
निष्कल्मषाऽक्रियत विप्रकुलोत्तमानां स्वाध्यायरुद्ध्वनिभिरञ्चितदिग्दिगन्ता ॥

३

देवाऽऽपगाप्रतिफलत्तटवर्तिसौधसान्ध्यप्रदीप - निवहं निभृतं वहन्ती ।
आभाति यत्र हृदयाऽङ्कुरिताऽरुणाऽऽभप्रज्ञानवीजनिकरं रुचिरं हरन्ती ॥

४

या सत्यभाषणचणस्य नृपस्य शैव्याजानेर्दृढव्रतपरीक्षणसाक्षिणी च ।
अद्यापि रात्रिषु मुहुर्ज्वलितप्रदीपा तद्दृश्य-दर्शनसमुत्सुक-लोचनेव ॥

५

या वर्धिता मदनमोहन - मालवीयैर्ब्रह्मोपमैरनुपमाऽद्भुतया स्वकृत्या ।
कैलाशशोभिभवनं नवहिन्दुविश्व - विद्यालयं समुपहृत्य च शारदायै ॥

६

तत्राऽवसद् वसुरिवाऽर्यकुलाऽवतंसः सर्वातिथेयगुणभृत् प्रथितप्रभावः ।
श्रीमानुदारहृदयः सुगृहीतनामा गुप्तोऽपि सर्वविदितो नु शिवप्रसादः ॥

७

धीरः स्वधर्मरुचिरास्तिकबुद्धिरार्यवृत्तः स्वदेश - हित - तत्परतनुर्विपश्चित् ।
श्रीशारदाकरसरोरुह - लालितोत्त - माङ्गो यथार्थविनियोगसुसत्कृतार्थः ॥

८

सोऽस्थापयत् स्थिरनिधिं निजमातृभाषा-श्रीवृद्धये प्रयतमानसुलेखकानाम् ।
सम्माननाय निजबान्धव - मङ्गलाप्रसादप्रियस्मृतिपुरस्कृतिमत्युदारः ॥

९

यस्याऽद्भुतप्रतिभया रचितां विविक्तां श्रीभारतप्रतिकृतिं स्फटिकाभिरामाम् ।
चन्द्रोज्ज्वलां स्वहृदये सततं दधाना सा विश्वनाथनगरी न गरीयसी किम् ॥

१०

यश्चानुभूय विपवद् विषमां विदेशि-शिक्षां ततः स्वतरुणान् परिरक्षितुं च ।
अर्थाननर्थजनकान् क्षणिकान् समर्प्य यज्वाऽजुहोज्ज्वलित-पाप्मनि सर्वमेवे ॥

११

धन्यो वदान्यपरिपद्यनवद्यकीर्तिः संकल्प्य लक्षदशकल्पमनल्पवित्तम् ।
अन्यं निधिं गुण निधिः प्रविधाय विद्यापीठं व्यधात् कमठपृष्ठदृढप्रतिष्ठम् ॥

१२

यस्याऽऽदितः सुरगुरुप्रतिमः समस्त-तन्त्रस्वतन्त्रधिषणो मुनिवृन्दवन्द्यः ।
आचार्यतां विरचयन् भगवानदासोऽकार्षीत् समुन्नतिपथाग्रसरं मनस्वी ॥

१३

तस्यैव मङ्गलमयीभिरजस्रमाशीराशयस्त्वुर्वृष्टिभिरवाप्य नितान्तपुष्टिम् ।
तुष्टिं तनोति नितरां निजमातृभूमेश्छायाफलप्रभृतिभिर्विनिवार्य तापम् ॥

अभिनन्दनम्

१४

तत् स्वायुषः समतिवाह्य च पञ्चविंश-वर्षं मनःसु विदधत् सुहृदां प्रहर्षम् ।
संवर्ध्यतां जगति केन न नाम धन्यं पुण्ये जयन्त्यवसरे शुभकामनाभिः ॥

१५

भागीरथी-परिसराद्धिमवत्प्रदेशात् श्रीकाँगड़ीगुरुकुलं प्रियमस्मदीयम् ।
स्नेहाञ्जलिं खलु समर्प्य समानधर्मसंस्थाऽभिनन्दनममन्दमिदं करोति ॥

१६

स्वाधीनतोच्छ्वसित-पावन-भारतीय-वाताऽऽवृतावुचितरक्षण - शिक्षणाभ्याम् ।
छात्रानदो वितनुताज्जनता - जनार्दनाराधनाविधिसमर्पितजीवनान् हि ॥

१७

स्वाध्यायसत्यतपसामनले निजान्ते-वासिव्रजं तु विरचय्य समित्समूहम् ।
ज्ञानाध्वरोऽयमनिशं हरितां मुखानि-पुण्याहुतिप्रसृतसौरभवन्ति कुर्यात् ॥

स्नेहवशंवदः

श्रीप्रियव्रतो वेदवाचस्पतिः

(काँगड़ी–गुरुकुल–विश्वविद्यालयाचार्यः)

श्री काशी विद्यापीठके रजतजयन्ती महोत्सवपर

काँगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालयका

अभिनन्दन

१

त्रिपुरके शत्रु शंकरकी यह पवित्रपुरी चिरकालसे भागीरथीकी निर्मल तरंगावलीमें प्रतिबिम्बित होती हुई भारतीय-संस्कृतिरूपी शिशुके लिये पालना सी प्रतीत होती है।

२

स्मरणातीत समयसे श्रुति और शास्त्रोंका निष्कामभावसे अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणकुल शिरोमणियोंके स्वाध्यायकी ध्वनियोंसे व्याप्त दिगन्तोंवाली यह पुरी निष्पाप हो रही है।

३

सायंकालके समय, जब तटवर्त्ती भवनोंमें प्रदीप पंक्तियाँ प्रज्वलित हो उठती हैं तो उनके प्रतिबिम्ब देवनदीके जलमें ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो यहांके विचारशील विद्वानोंके हृदयोंमें अंकुरित हो रहे ज्ञान-विज्ञानोंके नवनव बीजसमूहोंको वह चुपकेसे अपने आँचलमें छिपाकर लिए जा रहा है।

४

रात्रिके समय यहाँ जब दीपक जगमगाने लगते है तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र और रानी शैव्याके दृढव्रतको परीक्षाके अद्भुत दृश्य देखनेके लिए यह नगरी आज भी उत्सुक है।

५

पितामह ब्रह्माके समान महामना श्री मदनमोहन मालवीयने भी अपने अद्भुत कर्त्तृत्वके परिचायक, कैलाश शिखरावलीके समान विशाल भवनोंसे सुशोभित हिन्दू विश्व विद्यालयका निर्माण कर और उसे भगवती स्वनीके चरणोंमें समर्पित कर इसके गौरवको और बढ़ा दिया है।

६

इसी काशीपुरीको कुबेरके समान संपन्न, वैश्यवंशके शिरोमणि, सबका आतिथ्य करनेमें कुशल, प्रशंसनीय चरित्रवाले, उदार हृदय, सुगृहीतनामा, गुप्त होते हुए भी सर्वप्रसिद्ध श्री बाबू शिवप्रसाद गुप्तने अपने जन्मसे अलंकृत किया।

७

श्री बाबू शिवप्रसाद गुप्त स्वभावसे गंभीर, धर्मानुरागी, सदाचारी, देशसेवाके कार्योंमें सुखदुःखकी परवाह न करनेवाले महानुभाव थे। उनपर लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनोंकी समान कृपादृष्टि रहती थी। उन्होंने सोच सोच कर अपने विपुल धनका व्यय ऐसे लोकोपकारके कार्योंमें किया कि वह भी कृतार्थ हो गया।

८

उन्होंने मातृभाषा हिन्दीके सुलेखकोंका सम्मान करनेके लिए अपने बंधु स्वर्गीय श्री मंगलाप्रसादजी की पुनीत स्मृतिमें "मंगलाप्रसाद-पुरस्कार-स्थिरनिधि" की स्थापना की।

९

चन्द्रोज्ज्वल संगमरमरसे निर्मित मातृभूमि भारतकी भव्य भौगोलिक प्रतिमा उन्हींकी सुन्दर सूझका परिणाम है, जिसे अपने हृदयमें धारण कर विश्वनाथकी नगरी काशी भी अपनेको गौरवान्वित समझती है।

१०

बाबू शिवप्रसाद गुप्तने जब यह अनुभव किया कि सरकारी शिक्षणालयोंमें प्रचलित शिक्षा विषैली है तो अपने नवयुवकोंको उससे बचानेके लिए उन्होंने सर्वमेध यज्ञ करके उसमें उस समस्त संपत्तिकी आहुति दे दी जो कि संसारमें सब अनर्थोंकी जड़ समझी जाती है।

११

उस संपत्तिसे उन्होंने दस लाख रुपयेकी एक और स्थिरनिधिकी स्थापना की, जिसके द्वारा राष्ट्रिय शिक्षणालय श्रीकाशी विद्यापीठको ऐसे सुदृढ़ आधारपर खड़ा कर दिया मानो उसकी नींव आदि कच्छपकी पृष्ठ पर ही प्रतिष्ठित कर दी हो।

१२—१३

इस संस्था को प्रारंभसे ही देवगुरु बृहस्पतिके समान समस्त शास्त्रोंके पारङ्गत मुनिजनोंके भी माननीय श्री डॉक्टर भगवानदास जी जैसे आचार्य भी मिल गए, जिनके आशीर्वादोंकी निरन्तर वृष्टिमें यह उत्तरोत्तर उन्नति करती चली गई और वह आज अपनी छाया और फलों द्वारा मातृभूमिके संतापका निवारण कर रही है।

१४

अपनी आयुके पच्चीसवें वर्षको सकुशल समाप्त करके अपने शुभचिन्तकोंके हृदयमें आनन्दका प्रसार करते हुए इस विद्यापीठकी रजतजयंतीके शुभ अवसरपर कौन इसका अभिनन्दन करना नहीं चाहता ?

१५

इस शुभ अवसरपर भागीरथीके तट और हिमालयके प्रदेशमें हमारा काँगड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय स्वसमानधर्मा इस संस्थाका अभिनंदन करनेके लिए यह प्रेमपुष्पाञ्जलि समर्पित करता है।

१६

इसकी यह मंगल कामना है कि काशी विद्यापीठ स्वतंत्रताके विशद भारतीय वातावरणमें देशके तरुण गणको रखकर और उसे शिक्षित करके इस योग्य बनाता रहे कि वह जनता जनार्दनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित करने में संकोच न करे।

१७

यहाँके छात्र इस विद्यापीठ रूपी ज्ञानयज्ञमें प्रज्वलित स्वाध्याय, सत्य और तपकी अग्निमें अपने जीवनकी समिधाएँ डालकर समस्त दिग् दिगन्तोंको अपने सौरभसे सदा सुवासित करते रहें।

स्नेह वशंवद

श्रीप्रियव्रत वेदवाचस्पति आचार्य

(गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी—हरिद्वार)

श्रीशङ्कराचार्याणामवतारकालविमर्शः

पण्डितः श्री भाऊशास्त्री वझे महोदयः

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥

श्रीमदाचार्याणां नानाग्रन्थप्रसिद्धनानाविधचरित्रेषु सन्ति बह्व्यो विप्रतिपत्तयः । तथापि पञ्चमे वयसि व्रतबन्धः, अष्टमे वेदाध्ययनं, द्वादशे शास्त्राध्ययनं, षोडशे प्रस्थानत्रयीभाष्यप्रणयनं, द्वात्रिंशे प्रस्थानमित्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिस्तर्ककर्कशानामपि । एतन्मध्यवर्ति-लौकिकालौकिक-चरितविषयिकाः सन्ति विप्रतिपत्तयो नैकशो नैकविधाः । तत्तु पश्चात् विचारयिष्यामः । प्रथमं तावदाचार्याणामवतारकालो विमृश्यते ।

*पराक्रमितं चात्र बहुभिर्विद्वद्भिः पाश्चात्यैः पौरस्त्यैश्च करालकलिकालतिमिराच्छन्नं शनैर्भूम्यु*त्खननादिसाधनैः प्रतिदिनं प्रकाशपदवीमानीयमानं प्राचीनभारतेतिहासं प्रमाणीकृत्य महानुभावादिग्रन्थांश्चाश्रित्य यावद्बुद्धिबलोदयमित्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि । सङ्गिरन्ते हि नव्याः सर्वे ऐतिहासिकाः (७८८) खिस्ताब्दे आचार्याणामवतार इति ।

ततः शतं वर्षाण्यपकर्षितुमनुमोदन्ते तिलकमहोदयाः स्वीये गीतारहस्ये । ततश्च ६८८ खिस्ताब्देऽवतार इति तन्मतम् ।

वयं तु अद्ययावदस्मदुपलब्धप्राचीनभारतीयेतिहासमञ्चिवैः श्रीमदाचार्यकृतप्रस्थानत्रयीभाष्योदाहृतदृष्टान्तप्रमाणैस्तत्पूर्वापरकालिकान्यग्रन्थग्रथितोदाहृतप्रमाणैश्चाचार्याणामवतारकालविमर्शं कर्तुमीहामहे । प्रसङ्गाप्रसङ्गायातमन्यच्च विचारयिष्यामहे ।

नाविदितमेव सर्वेषां प्रेक्षावतां यत् युगान्तरनिर्माणशक्तानां महामहिम्नामीश्वरांशावताराणां पुरुषधौरेयाणां यथावच्चरिताधिगमे पूर्वग्रहविधुरं पूर्वापरक्रमकालनिरीक्षणं सन्निपत्योपकारकमिति ।

आचार्यपूर्वकालः—

श्रीमदाचार्यादव्यवहित-पूर्वकाले साम्राज्यद्वयमासीत्। एकं गुप्तसाम्राज्यं (२७५) पंचसप्तत्यधिकद्विशतख्रिस्ताब्दमारभ्य दशाधिकपञ्चशत (५१०) पर्यन्तम्। ततः परं द्वात्रिंशदधिकसप्तशत (७३२) पर्यन्तं गुप्ता मगधे सामन्तराजरूपेणोवासन्। अपरं हर्षसाम्राज्यं षडधिकषट्शतख्रिस्ताब्द (६०६) मारभ्य यावत्सप्तचत्वारिंशदधिकषट्शतवर्ष (६४७) मासीदित्यत्र नात्र वैमत्यं केषाञ्चित्।

गुप्तसार्वभौमाः गरुडचिन्हाङ्कितकेतवः परमभागवता अपि अश्वमेधयाजिनः, प्रतिपक्षपक्षच्छेदने क्रकचकल्पा अपि विद्वद्वदनारविन्दनिर्गलितकाव्यालङ्कारनाटकादिनिष्यन्दरसिकाः, पण्डितमण्डलमण्डनायमानानेकविद्वद्भिर्भूषितसाम्राज्या आसन्। द्वितीयचन्द्रगुप्ताश्रितो ह्यनितरसाधारणः कविसार्वभौमः कालिदासः (३७५) अन्येऽपि बहवो नानाशास्त्रविदो नानाग्रन्थप्रणेतारश्चामरसिंह (५००) क्षपणक-वराहमिहिर (५०५–५८७) आर्यभट्ट–ब्रह्मगुप्त (४७६) गौडपाद, भर्तृहरि–वेताल–शंकुप्रभृतयः पण्डितवरेण्या भिन्नकाला भिन्नदेशा अपि गुप्तसाम्राज्यकाललब्धजन्मान एवासन्। किं बहूक्त्या गुप्तसाम्राज्यं हि वैदिकानां स्वर्णयुगमासीदित्येव सुवचम्।

ऊनचत्वारिंशदधिकपञ्चशता (५३९) ब्दे परमार्थो नाम कश्चन बौद्धपण्डितश्चीनाधीशाहूतश्चीनदेशं गत्वा तत्र गौडपादविरचितसांख्यकारिकाभाष्यं चीनभाषायामनूदितवानित्ययमितिहासः षष्ठे शतके गौडपादानामवस्थितिं प्रमाणयति।

अथ कालचक्रचङ्क्रमणेन मन्दप्रभे गुप्तसाम्राज्ये उदयाद्रिमारूढं हर्षसाम्राज्यम्। सम्राडपि हर्षो न गुप्तानामिव भारतसम्राडासीत्। दक्षिणदिग्विजययात्राप्रसङ्गे नर्मदायामेव विंशत्यधिकषट्शत (६२०) वर्षे चालुक्यपुलकेशिनाऽवरुद्धो नर्मदामेवात्मनः शर्मदां साम्राज्यसीमां व्यदधात्। इदं हि हर्षकालिकं सप्तमशतकं बौद्धमतस्य जराकालः, शाङ्करवेदान्तस्य उदयकालः सर्वसम्प्रदायानां सङ्ग्रामभूमिः, समुच्चयवादस्यास्तकालः, भारतसाम्राज्यस्य विच्छेदकालो बभूवेति सम्प्रतिपन्नं सर्वेषाम्।

हर्षसाम्राज्ये—गुप्तसाम्राज्यवासितान्तःकरणासु प्रजासु शिवविष्ण्वादीनामुपासनाः प्रचलिता एवासन् हर्षान्तःपुरेष्वपि। हर्षः स्वयंविद्वान् ग्रन्थप्रणेता, विद्वज्जनसमाश्रयो, महामाहेश्वरोऽपि बौद्धधर्मिण्या स्वभगिन्या प्रोत्साहितो गजमयुद्धेन च निर्विण्णो बौद्धपण्डितप्रवचनैः प्रभावितः श्रुताशोकराजकीर्तिस्तत्सारूप्यमात्मनि सम्पादयितुं बौद्धधर्माभिमुखो बभूव। तथापि वैदिकपण्डितानन्यांश्च पाशुपतभागवतमताभिमानिनो नावमनुते स्म।

हर्षस्य बौद्धधर्माभिनिवेशेन मुमूर्षुर्बौद्धधर्मः पुनरपि वासन्तद्रुम इव नूत्नां सुषमां वहन्ना-चकर्ष जनसाधारणानां चेतांसि। प्रतिपर्व विष्ण्वादिपूजोत्सवशोभायात्रादिभिः बौद्धपूजोत्सवशोभायात्रा-दीनां समुच्चयः, स्तूपानां लक्षद्वयसंख्याकभिक्षुपर्याप्तमठानां च निर्माणं तत्साम्राज्यकाले भवदासीदिति हि ऐतिह्यम्।

चीनाद्भारतं प्राप्तस्य चँगनाम्नः प्राघूर्णिकस्य सम्मानार्थं हर्षेण प्रयागे संयोजितायां परिषदि वादा-र्थमाहूता अपि वैदिकपण्डिता नागच्छन्निति पाश्चात्यानां तत्प्रामाण्यवादिनां पौरस्त्यानां चैतिह्यम्। तत् प्रत्य-क्षादिप्रमाणषट्क-निकषघर्षणमन्तरा नैव प्रामाण्यपदवीमारोहति। पारदौर्बल्यन्यायेनप्रत्यक्षादिप्रमाणषट्-काद् दुर्बलत्वमैतिह्यस्य। इतिहासो हि नैव यथावद्वस्तुस्वरूपनिर्धारणे शक्तः। भ्रमप्रमादद्वेषकलुषितान्तःकरण-पुरुषनिर्मितत्वस्यापि सम्भवात् इत्यलमप्रसङ्गविचारेण। प्रकृतमनुसरामः।

अस्मिन् सप्तमे शतके हर्षसाम्राज्ये काशिमगधमैथिलादिदेशेषु कापिलयौगिककाणादबौद्धजैनपाशु-पतभागवतवैदिकपण्डितास्तत्तत्सम्प्रदायिनश्च स्वस्वमतप्रस्थापनप्रचयार्थं परस्परं विवदमानाः परमतं खण्ड-यन्तः स्वमतं मण्डयन्तो हर्षाश्रयेण सुखं वसन्ति स्म। तथापि हर्षस्यान्तरिकः पक्षपातो बौद्धेष्वेवासीदिति तु न विस्मरणार्हम्।

धर्मकीर्तिः (६२५)

अस्मिन्नेव सप्तमे शतके नालन्दबौद्धविद्यापीठपण्डितो बौद्धधर्मकीर्तिध्वजो विज्ञानवादी धर्मकीर्तिर्नाम बौद्धविद्वन्मण्डलीमण्डनमासीत्। तत्प्रणीताः प्रमाणविनिश्चयहेतुबिन्दुन्यायबिन्दु–वादन्याय–सम्बन्धपरीक्षा-सन्तानान्तरसिद्धि–प्रमाणवार्तिकादयो ग्रन्थाः केचित्प्रकाशिताः केचिदप्रकाशिताश्च वर्तन्ते। प्रकाशितेषु प्रमाणवार्तिकमेव बौद्धदर्शनाभिमतसकलप्रमाणप्रमेयादिपदार्थभूयिष्ठं वरिवर्ति। तस्यैव खण्डनमुखेन वेदमु-ष्टिना तर्कशतपर्वणा परशुना शतधा च्छिन्नः समूलमुन्मूलितश्च विस्तृतशाखो बौद्धमतमहीरुहः कुमारिलभट्ट-प्रभृतिभिरध्वरमीमांसकैरौपनिषदैश्च श्रीशङ्कराचार्यप्रमुखैर्विपश्चितामपश्चिमैः। उपलभ्यते च धर्मकीर्तिमत-खण्डनं श्लोकवार्तिके। सुरेश्वराचार्यास्तु स्वीये बृहदारण्यकवार्तिके "त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्तिना" (बृ॰ वार्ति॰ अ॰ ४ ब्रा॰ ३ श्लो॰ ७५३) इति नामोल्लेखनपूर्वकमेव तन्मतं खण्डयन्ति। आचार्यचरणास्तु अगृहीत्वैव तन्नाम प्रमाणवार्तिकस्थं "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" इति श्लोकार्धं स्वीये सूत्रभाष्ये (२-२-२४)—"सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोः" इति किञ्चिद्विपरिणमय्य गद्यरूपेणोद्धरन्ति। सरणिरेषैषाऽऽचार्याणां क्वचित् क्वचिदन्यग्रन्थीयश्लोका उद्धर्तव्या इति। यथा – "शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः

स सम्राट्" (अमरक्षत्रव० श्लो० ३) इत्यमरकोपश्लोकस्य "यश्चाज्ञया राज्यं प्रशास्ति स सम्राट् (ब्रह० अ० ४ ब्रा० १ कं० २) इति रूपान्तरम् ।

वस्तुतस्तु—सुगतस्य "सब्बं अनिच्चं" (सर्वमनित्यम्) इत्यभावात्मकः शून्यवाद एव परमः सिद्धान्तः । 'शून्यवादः सर्वप्रमाणविप्रतिपिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते' (सू० भा० २–२–३१) इतिभाष्योक्तरीत्या स विचारासह एव । तथापि तार्किकशिरोमणिभिर्बौद्धपण्डितैर्दिङ्नागादिभिरभावात्मकः शून्यवादपक्षः क्षणिकविज्ञानवादरूपेण भावात्मकतामापाद्य शास्त्रीयप्रमाणप्रमेयादिरू । ल्रभूषादिभिर्वेषायित्वा वादाङ्गणे प्रत्युपस्थापितः ।

अस्मिन्नेव सप्तमे शतके कुमारिलभट्ट—मण्डनमिश्र–प्रभाकर-मुरारिमिश्रप्रभृतयो वेदमीमांसकाः ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादिन आसन् ।

कुमारिलभट्टः (६००–६६०)

आसीच्च दाक्षिणात्यप्रदेशान्तर्गत–"जयमंगल"–ग्रामजन्मा, भट्टयज्ञेश्वरतनूजनिः, 'चांगुणा'–गर्भसम्भूतः मीमांशकसार्वभौमः कुशमुष्टिः कुशाङ्गुलीयकः कुसूलधान्यः त्र्यव्धिमन्थनकुशलः नास्तिक-कुहककौशिककाश्यपेयः कठोररश्मिः आश्वलायनीयकारिकाश्रौतस्मार्तप्रयोगादिनिबन्धनैः नाम्ना चानुमिताश्वलायनशाखीयः दाक्षिणात्यब्राह्मणः सोम इव द्विजराजः बौद्धग्रन्थपरिशीलनपुरःसरं तत्खण्डनो-द्देशकृतबौद्धदुर्गमगधावासः, पट्शास्त्रवदनो भूसुरसेनानी, इलायां कुमारनवावतार इव भट्टाग्रेसरो भट्ट-कुमारिलो नाम । स च भट्टपादः खिस्तचतुर्थशतकीये शावरं जैमीनीयसूत्रभाष्ये श्लोकवार्तिकं तन्त्रवार्तिकं टुपटीका चेति व्याख्याग्रन्थान् प्रणिनाय । तच्छावरभाष्यमेव प्रमाणीकृत्य मतभेदभिन्नास्त्रयः सम्प्रदायाः प्रादुरभूवन् । ये च भाट्टमत–गुरुमत (प्राभाकर)–मुरारिमिश्रमतसंज्ञाभिर्मीमांसकेषु प्रसिद्धिमलभन्त । तथापि भाट्टसम्प्रदायमेव प्रमाणीकुर्वन्ति श्रौतस्मार्तकर्मपथपथिकाः विद्वांसः । 'व्यवहारे भट्टनयः' इति । हि विदुषामाभाणकः ।

प्रभाकरः (६१०–६९०)

प्रभाकरस्तु प्रयागसन्निहितप्रतिष्ठान–(भूंसी) वास्तव्यः तर्कप्रतिभासम्पन्नः, तार्किकमीमांसकः भाट्टमतभिन्नं स्वकीयं मीमांसासम्प्रदायं प्रवर्तयामास । अरचयच्च शावरभाष्ये "बृहतीं" नाम टीकाम् । नासौ भट्टपादशिष्यो नाप्यनुयायी चेत्यनुमीयते । पूर्वमीमांसायां सर्वत्रास्य भाट्टमतभेदो दृश्यते । तथाहि—भट्टमते आत्मनो बोधाबोधात्मकता । प्रभाकरमते तु आत्मनो नैयायिकवद् अबोधात्मकता । भट्टमते-

अध्ययनविधिः। प्रभाकरमते अध्यापनविधिः। भाट्टानां वेदाधिष्ठिता मीमांसा। अस्य तु तर्काधिष्ठिता वेदमीमांसा। वेदान्तशास्त्रे प्रभाकरग्रन्थानुपलम्भान्नायं वेदान्तरसिक इति अनुमीयते। प्रभाकरस्तर्कावष्टम्भेन प्रतिपक्षीयाणां निरुत्तरीकरणात् 'गुरु'रिति पदवीं प्राप। बृहतीटीका–प्रकरणपञ्चिकाकृत् शालिकनाथोऽस्यैव शिष्यः।

मुरारिमिश्रः

मुरारिमिश्रस्तु प्रत्यक्षं मन्दान्धकारस्थितोऽपि ग्रन्थान्तरेषु खद्योतवत् प्रकाशमानत्वेन भाट्टमत–गुरुमतभिन्नमतोऽयमिति ज्ञायते। अधुनैवास्य भङ्गत्वनिरुक्तिनामको ग्रन्थः प्रकाशितः। (अत एव लौकिकानामाभाणकः "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः" इति।)

मण्डनमिश्रः (६१५–६९५)

आचार्यमण्डनमिश्रः मगधसन्निहितमैथिलदेशान्तर्गत इति प्रसिद्धः 'माहिष्मती'–नागरिकः, भट्टपादप्रियशिष्योऽध्वरमीमांसायां कृतभूरिपरिश्रमः स्वशरणाङ्गणमण्डलमण्डलायितपण्डितमण्डलीमण्डनायमानः, पण्डितमण्डलेश्वरवादरणधुरन्धरो, स्वविलक्षणवैदुष्यप्रतापनिरस्तनास्तिकमण्डलमण्डूकः, विद्वद्वरेण्य आसीत्। यो मीमांसानुक्रमणिका–भावनाविवेक–विधिविवेकसंज्ञं ग्रन्थत्रयं प्रणिनाय पूर्वमीमांसायाम्। व्याकरणे स्फोटसिद्धिं, ख्यातिवादे विभ्रमविवेकं च निर्माय आत्मनः स्वतन्त्रप्रज्ञतां प्रकटीचकार। सोऽयं भट्टप्रभाकरयोर्वयसा कनीयान् ज्यायांश्च शङ्करभगवत्पादेभ्यः। न चायं वेदान्तमीमांसायां भट्टमतानुयायी, न वा गौडपादीयाद्वैतसम्प्रदायी। क्वचित् क्वचित् शाङ्करसम्प्रदायसारूप्येऽपि भिन्नो ह्यस्याद्वैतसम्प्रदाय इति तत्कृतब्रह्मसिद्धिग्रन्थादवगम्यते। तथाहि—ब्रह्मापरोक्षज्ञानजनकत्वं महावाक्यस्येति शाङ्करमतम्। महावाक्यं प्रसङ्ख्यानसापेक्षमेव ब्रह्मापरोक्ष्यं जनयतीति मण्डनमतम्। ज्ञानस्य प्रसङ्ख्यानसाहित्यमेव समुच्चयवादं द्योतयति। अनिर्वचनीयवादो हि शङ्करपादानाम्। मण्डनस्य विभ्रमवादः।

एतादृशा अनेके विप्रतिपन्ना विपर्यास्तत्कृतब्रह्मसिद्धिग्रन्थादेवावगन्तव्याः नेह विस्तरभयाद्विलिख्यन्ते। सोऽयं मण्डनाद्वैतसम्प्रदायः केन कस्मात् कालादारभ्य प्रवर्तित इति नैव विज्ञायते ब्रह्मसिद्धावप्यनुल्लेखात्। अत एव श्रीशङ्कराचार्यसुरेश्वराचार्यादयः बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकादिषु "अस्मदीयाश्च केचित्" पण्डितम्मन्याः "गुरुसम्प्रदायरहिताः" इत्यादिवाक्यैरेनमेवाक्षिपन्तो दृश्यन्ते इत्यनुमीयते। सर्वज्ञमुनिप्रभृतयः शाङ्करसम्प्रदायिनो मण्डननाम्नैव खण्डयन्ति तन्मतं स्वस्वग्रन्थेषु। ब्रह्मसिद्धिखण्डनार्थमेव सुरेश्वराचार्यः नैष्कर्म्यसिद्धिं निबबन्ध। "गुरुनियोगाच्छ्लोकप्रबन्धरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं

श्रीमच्छारीरकप्रकरणमुपनिबबन्ध" इति नैष्कर्म्यसिद्धिटीकातोऽवगम्यते । दृश्यते तत्र तत्र ब्रह्मसिद्धि-खण्डनं नैष्कर्म्यसिद्धौ । ब्रह्मसिद्धिरपि श्लोकप्रबन्धरूपैवेति समानैवोभयोर्ग्रन्थरचनापरिपाटी । सर्वज्ञ-मुनिस्तु "परिहृत्य मण्डनवचः" (सं० शा० अ० २-१७४) इति नाम्नैव तन्मतं खण्डयति । कश्चिच्छाङ्क-रमतानुयायिनो विद्यारण्यमधुसूदनप्रभृतयः ब्रह्मसिद्धेः स्वाविरोधांशमप्युदाहरन्ति । यथा "इति प्राह ब्रह्म-सिद्धिकारो वेदरहस्यवित्" (वा० सार अ० ३ ब्रा० ३ श्लो० ८४) "इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तमपि साधु" (अद्वैतसिद्धिः परि० १ पृ० ३१६) क्वचित् क्वचित् ब्रह्मसिद्धिशाङ्करसूत्रभाष्ययोर्वाक्यसाम्यदर्शनादनुमीयते उभावपि अवलोकितपरस्परग्रन्थाविति, परं केन कस्मादुद्धृतो ग्रन्थांश इति नैव वक्तुं शक्यते । तथा हि सूत्रभाष्ये "तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथा पूर्वं संसारित्वम्" यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगत-ब्रह्मात्मभाव इति अनवद्यम् (सू० भा० १-१-४) ब्रह्मसिद्धौ "तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावः प्रागिव सांसारिक-धर्मभाक् । यस्तु तथा—नासाववगतब्रह्मात्मभाव इति" (ब्रह्मसिद्धौ ब्रह्मकाण्डम्)

वाचस्पति मिश्रः (८४१)

वाचस्पतिमिश्रस्तु शाङ्कराद्वैतसाम्प्रदायिकोऽपि मण्डनमिश्रकृतब्रह्मसिद्धिस्थवेदान्तप्रक्रियामेवानुसरन् दृश्यते । तत्कृतशाङ्करसूत्रभाष्यभामत्यामनेकेषु स्थलेषु पञ्चपादिकाविवरणादिभाष्यटीकाविपरीतार्थो बहुल-मुपलभ्यते । तथाहि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यत्र जिज्ञासापदस्य विचारलक्षकतया 'ब्रह्मविचारः कर्तव्यः' इत्यर्थो विवरणादीनाम् । लाघवात् 'ब्रह्मजिज्ञासा भवति' (भामति १-१-१) इत्यर्थो वाचस्पतेः । अज्ञानस्य ब्रह्माश्रितत्वं ब्रह्मविषयकत्वं च सुरेश्वरविवरणादीनां मते । "अतोऽविद्या भवेद्यस्य भवेत्तद्विषयैव सा" (इष्टसिद्धौ अ० ६ श्लो० ८) "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" (सं० शा० अ० १ श्लो० ३१८) इति । वाचस्पतेस्तु जीवाश्रितत्वं ब्रह्मविषयकत्वम् । "कार्यकारणाविद्याधारोऽहङ्कारास्पदं संसारी जीवात्मा" (भामती अध्यासभाष्यम् । इति, 'कस्याविद्येति; जीवानामिति ब्रूमः' (ब्रह्मसिद्धि-ब्रह्मकाण्डम्) इति मण्डनमिश्रोऽपि । इत्यादयो नैकशो व्याख्यानभेदा उपलभ्यन्ते । अत एव विवरणप्रस्थानं भामतीप्रस्थानमिति भेदेन व्यपदेशो विद्वत्सु प्रसिद्धः । सर्वज्ञात्ममुनिः संक्षेपशारीरके 'परिहृत्य मण्डनवचः तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम्' (अ० २ श्लो० १७४) इति स्पष्टमेव मण्डनमतस्य प्रस्थानान्तरत्वं वर्णयाम्बभूव । मण्डनमिश्रमतानुयायी च वाचस्पतिमिश्रः मण्डनमिश्रकृतब्रह्मसिद्धौ "तत्त्वसमीक्षा" नाम्नीं टीकामप्य-रचयत् । नायं केवलं मण्डनप्रक्रियानुयायी किन्तु तद्वाक्यानुकारीत्येतद् अधोलिखितोभयग्रन्थोद्धृत-वाक्यैरतिरोहितं भवति । १—(ब्रह्मसिद्धौ ब्रह्मकाण्डे) "अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति । न न्यूनत्वमपि, दूरत एवोपचरितत्वम् ।" २—(भामत्यां चतुःसूत्रीग्रन्थे)

'अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति। यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति। न न्यूनत्वं प्रागेवोपचरितत्वम्।' १—(ब्रह्मसिद्धौ ब्रह्मकाण्डे) "यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा च विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति" इति। (भामत्यां) "यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति।"

एवं हि सूक्ष्मेक्षिकया मण्डनमिश्र - सुरेश्वराचार्यादिग्रन्थपरिशीलनेन विवादास्पदायते शाङ्करदिग्विजयोक्तं मण्डनमिश्रस्य संन्यासपूर्वकसुरेश्वराचार्यत्वं यावत्प्रबलतरप्रमाणदर्शनम्। प्रबलप्रमाणसिद्धेऽर्थे हि को नाम विवादः।

भट्टविश्वरूपाचार्या एव गृहीतसंन्यासदीक्षाः वार्तिककाराः सुरेश्वराचार्याः (६२०-७००) इति आनन्दानुभवयतीन्द्रविरचित "न्यायरत्नावली" तोऽवगम्यते। तद्यथा—"न चासौ ग्रन्थः संन्यासिना विरचितः तदाहि-परिव्राजकाचार्यसुरेश्वराचार्यविरचितेति लिखेत्। लिखितं तु भट्टविश्वरूपविरचितेति"

अपि च सुरेश्वराचार्याः बृहदारण्यकसम्बन्धवार्तिके (५५२ श्लो०) "अमीमांसक इत्युक्तैरमीमांसक इत्यतः। आक्षिपन्ति यदज्ञानात्तच्छान्त्या उत्तरं वचः॥" इति मीमांसकैः कृतं स्वस्याऽमीमांसकत्वाक्षेपं वर्णयन्तः आत्मनः मण्डनमिश्राद् भेदं सूचयन्ति। को हि मीमांसकः पण्डितो मण्डनमिश्रस्य सुरेश्वराचार्यत्वेऽपि तं मीमांसापारदृश्वानममीमांसक इति वदेत्।

श्रीमाधवाचार्योऽपि पराशरस्मृतिटीकायां विश्वरूपाचार्यस्यैव वार्तिककारत्वं प्रमाणयति "इदं च वाक्यं नित्यकर्मविषयत्वेन वार्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार" इति। अनेन माधवाचार्यविद्यारण्यात् 'शाङ्करदिग्विजय'-कर्ता विद्यारण्यो भिन्न इति प्रतिभाति। शृङ्गेरीपीठगुरुपरम्परागतश्लोकोऽप्यमुमेवार्थं दृढयति—

"विश्वं मायामयत्वेन रूपितं यत्प्रबोधतः।
विश्वं च यत्स्वरूपं तं वार्तिकाचार्यमाश्रये॥"

श्रीशङ्कराचार्यस्थापितेषु सर्वेष्वपि पीठेषु स्थानेषु च पञ्चद्राविडान्तर्गतब्रह्मचारिब्राह्मणानामेव पीठाधिपतित्वनियमात् मण्डनमिश्राणां गौडत्वेन गृहस्थाश्रमित्वेन च तेषां संन्यासपूर्वकं सुरेश्वराचार्यनाम्ना पीठाधिष्ठितत्वं शृङ्गेरीपीठीयाविच्छिन्नगुरुपरम्परानियमविरुद्धमित्यलमप्रकृतप्रपञ्चेन।

प्रकृतं तु—सप्तमे शतके हर्षाश्रयेण कुसुमिताभोऽपि बौद्धमतमहीरुहोऽन्तःशुष्कसार एव भवन्नासीत्। तद्यशोभाजश्चाक्षपादीया एवेति वस्तुवृत्तम्। यत्कारणं बौद्धमतखण्डनबद्धकङ्कणेभ्यो भट्टपादादिभ्योऽपि पूर्वतनकाले क्रिस्तद्वितीयशतके एव न्यायसूत्रभाष्यकारैः वात्स्यायनपादैर्बौद्धमतखण्डनाय रणभेरीनादेनोत्साहिताः स्वपक्षपरपक्षीयाः पण्डितप्रकाण्डाः। आरब्धे च शास्त्रसङ्गरे अन्यमत्रब्रह्मास्त्रादिप्रयोगवदनेके बौद्ध-

ग्रन्थाः न्यायशास्त्रग्रन्थाश्च प्रादुरभूवन्। बौद्धतार्किको दिङ्नागाचार्यः प्रमाणसमुच्चयग्रन्थं वात्स्यायनभाष्य-खण्डनाय योजयामास। तत्खण्डनं षष्ठे शतके न्यायभाष्यवार्तिकेन चकार प्रद्योतकारः। तत्खण्डनाय सप्तमे शतके 'धर्मकीर्तिः' प्रमाणवार्तिकमकरोत्। प्रमाणवार्तिकं च खण्डितं भट्टपादादिभिः धर्ममीमांसा धुरीणैः। तदनन्तरमपि वाचस्पतिमिश्रोदयनपार्थसारथिमिश्रप्रभृतयः स्वस्वग्रन्थेषु बौद्धमतखण्डनं कुर्वन्त एवासन्।

परमार्थतस्तु—नैयायिकैरेव जर्जरीकृतो बौद्धधर्मः। मीमांसकैः पुनर्मृत्युशय्यायां शायितः। श्रीशङ्कराचार्यादिभिश्चरमे क्षणे मुखप्रक्षिप्तगङ्गोदकश्चिरायाक्षिणी न्यमीलयत्। स च तत्सहोदरैः ख्रिस्तमतानुयायिभिर्भारते पुनरुज्जीवित इत्यन्यत्।

यत्तूच्यते, कुमारिलभट्ट-श्रीशङ्कराचार्यप्रभृतिभिर्ब्राह्मणपण्डितैः "प्राणघातं हता बौद्धाः विध्वंसितास्तेषां मठा अग्निसात्कृतानि च पुस्तकानि, तत्तु अज्ञानविजृम्भितं द्वेषमूलकं जनसाधारणविपरीतार्थग्राहकमिति मन्यामहे। नात्र प्रबलप्रमाणमुपलभामहे विचिन्वन्तोऽपि। नैवं स्वभावा ब्राह्मणपण्डिता अद्यतनकालेऽप्युपलभ्यन्ते। प्रकृत्या धर्मभीरवो हि ब्राह्मणपण्डिताः। ये यत्किञ्चिदपि अक्षरसन्निविष्टपत्रं सरस्वतीबुद्ध्या पादस्पर्शे नमस्यन्ति। ते पुस्तकधनाः पण्डिताः कथं बौद्धग्रन्थानपि दहेयुः कथं वा विध्वंसयेयुर्मठान् कथञ्च प्राणघातं हिंस्युर्बौद्धान् !!!

तत्वं तु—दिग्विजये शुंगभारशिव-वाकाटकादिभिः सार्वभौमैः बौद्धसम्राड्विजयनान्तरीयकतया विध्वंसिता बौद्धानां राजप्रासादसदृक्षा मठाः। बौद्धास्तु निष्कामिता न जीवघातं हताः। तोरमाणमिहिरकुल-प्रभृतिभिर्हूणैर्यवनैश्च विध्वंसिता मठाः हताश्च बौद्धभिक्षवः दग्धाश्च ग्रन्थाः। इति तु न तिरोहितमितिहासविदां पण्डितनाम् इत्यलमप्रकृतेन।

प्रकृतं तु—अस्मिन् सप्तमशतकोत्तरार्धे अस्ताचलसन्निहितेऽपि बौद्धधर्मे वैदिकेष्वपि आभ्यन्तराः नाना विप्रतिपत्तय आसन्। तेषु अध्वरमीमांसकाः—वेदान्तानां कर्मविधिशेषत्वं संन्यासविधीनां जरारोगादिग्रस्तपुरुषविषयत्वं च अभिलपन्तः; तदेकदेशिनः वेदान्तवाक्यानाम् उपासनाविधिशेषत्वमिच्छन्तः; अन्ये पुनरग्निहोत्रादिकर्मणां वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानेन समुच्चयं कल्पयन्तः मण्डनमिश्रादयस्तु प्रसंख्यानेन सह वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य समुच्चयं वदन्तः; अन्ये औपनिषदम्मन्याः वेदान्तैकदेशिनो ब्रह्मदत्त—भर्तृप्रपञ्चादयो भेदाभेदाद्यवान्तरभेदभिन्नान् पक्षानाश्रयन्तः स्वमतिप्रभवाभियुक्तिभिरुपनिषदर्थमन्यथयन्तः परस्परं विवदमाना एवासन्। एतेषु समुच्चयवादस्य मूलं भगवान् उपवर्ष (२ शतके) इति 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' (३–३–५३) इति शाङ्करसूत्रभाष्यादवगम्यते।

तथाहि—पूर्वं केवलं धर्मविचारायैव धर्मसूत्राणि प्रणिनाय परमर्षिर्जैमिनिः न ब्रह्मसूत्राणि। कर्म-

काण्डे आत्मविचारस्याप्रस्तुतत्वात्। 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यनेनैव आत्मनो देहाव्यतिरिक्तत्वस्य सूचनात्। अकर्मशेषब्रह्मविचाराय तु भगवान् बादरायणो ब्रह्मसूत्राणि रचयाम्बभूव। अनेन भिन्नविषयप्रयोजनवत्त्वात् कर्म-ब्रह्मशास्त्रभेदो जैमिनेरभिप्रेत इत्यवगम्यते। भगवता उपवर्षेण च उभयात्मकमेकमेव मीमांसाशास्त्रमित्य-भिप्रेत्य उभयसूत्रेषु वृत्तिर्निरमायि। तस्यां वेदसामान्यात् कर्मवाक्याविरोधेन वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यसिद्धये समुच्चयवादोद्भावनं कृतमिति गम्यते। वेदान्ते वृत्तिकारमतानुयायिनो हि भट्टपादाः। तथा च—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥'

(आत्मवादः श्लो० वार्ति०) इत्यत्र वेदान्तशब्दः ज्ञानकर्मसमुच्चयवादविषयक इति मन्तव्यम्। वृत्तिकारमता नुसारिण्यः प्रस्थानत्रयीव्याख्याः स्वरूपेण नोपलभ्यन्ते सम्प्रति; परं शाङ्करभाष्ये खण्डशरूपेणैवोपलभ्यन्ते।

शबरस्वामिना (तृतीयशतके) तु उत्सूत्र आत्मवादः उपवर्षकृतायाः बादरायणसूत्रवृत्तेरपकृष्य स्वीये शाबरभाष्ये सङ्गृहीत इति 'एक आत्मनः' सूत्रभाष्यादवगम्यते। तदिदं भाष्यम्—

"ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्य आत्मनो स्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता; न तु तत्रात्माऽस्तित्वे सूत्रमस्ति। इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदास्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्य आचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवता उपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ 'शारीरके वक्ष्यामः' इत्युद्धारः कृतः।"

अनेन भाष्येण अन्यदपीदं बुद्धावारोहति यत् उपवर्षकृतबादरायणसूत्रवृत्तेः शारीरकमेव नामासीत्। तस्यैव शारीरकसूत्रभाष्ये मीमांसा—योग्यायोग्यविचारः कर्तव्य इत्यभिप्रेत्य 'वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः' इति भाष्यकारेणोक्तम्। 'वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य' इति भाष्यकारोक्तेः सूत्रभाष्यस्य 'शारीरकभाष्य'मिति प्रसिद्धस्य 'वेदान्तमीमांसाशास्त्रम्' इत्येव नामेति प्रतिभाति। आस्ताम-प्रकृतया शास्त्रनामचिन्तया।

प्रकृतं तु—सप्तचत्वारिंशदधिकषट्शत-(६४७) वर्षे। उपरते चानपत्ये हर्षे कस्याप्यन्यस्य सार्व-भौमस्य क्षत्रियस्याभावात् सर्वे एव सामन्ताः स्वतन्त्राः सन्तः स्वं स्वं देशं शशासुः। पण्डिता अपि स्वं स्वं राजानमुपासते स्म स्वस्वराजानां गुणगानैः काव्यबद्धैः। प्रजासु विप्लवः सम्बभूव। सर्वसंग्राहकपाशुपतभाग-वतसम्प्रदायप्रचारैर्जात्याधिष्ठितो जात्यधिकारविचारप्रधानो वर्णाश्रमधर्मोऽप्यव्यवस्थितप्राय एवाभूत्।

हर्षेण मगधे नियुक्तो तस्य सुहृत् माधवगुप्तः स्वतन्त्रः सन् उत्तरभारतसाम्राज्याय रात्रिन्दिवं प्रयतमान एवासीत्। कान्यकुब्जराज्यं मौखरीयशोवर्मणाऽऽक्रान्तम्। यस्य सभापण्डितो भवभूतिर्नाम दार्शनिकः

कविः प्रणेता उत्तरस्य रामचरितस्य। इयं हर्षनिधनान्तरकालिकी उत्तरभारतावस्था सर्वैरभ्यनुज्ञायते ऐतिहासिकैः। अस्या एव परिस्थितेर्यथावत्प्रतिबिम्बं प्रस्थानत्रयीभाष्यस्थोदाहरणेषु प्रतिभासते। तद्यथाः—

(छान्दोग्ये:–अ० २ खण्डे २३) "यथा पूर्णवर्मणः सेवा भक्तपरिधानमात्रफला, राजवर्मणस्तु सेवा राज्यतुल्यफला।

(बृहदारण्यके—अ० ४ ब्रा० ४ कण्डिका २२) "न हि गङ्गाद्वारं प्रतिपित्सुः काशीदेशनिवासी पूर्वाभिमुखः प्रैति।

(गीताभाष्ये:—अ० १२ श्लो० १२) "यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति इदानीन्तना अपि ब्राह्मणा ब्राह्मणत्वसामान्यात् स्तूयन्ते" "अनेकेषु हि प्राणिषु कश्चिदेव विवेकी, यथेदानीम्।" (अ० १३–२)

(सूत्रभाष्ये:–अ० १ पा० ३ सूत्र ३३) "इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान्।"

(सूत्रभाष्ये:–२–१–१८) "न हि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलीपुत्रे सन्निधीयते" "न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक् पूर्णवर्मणोऽभिषेकात्।"

(सूत्रभाष्ये:—३–२–७) "यो हि गङ्गया सागरं गच्छति, गत एव स गङ्गायां भवति।"

(सूत्रभाष्ये:–३–२–३२) "यथा इदं मागधस्य राज्यम्। इदं वैदेहस्य।

(सूत्रभाष्ये:—३–३–२४) "जान्हवीह्रदनिमग्नानाम्।"

(सूत्रभाष्ये:—४–२–५) "मथुरायाः पाटलीपुत्रं व्रजति।"

(सूत्रभाष्ये:—४–३–५) "गच्छ त्व मितो बलवर्माणं, ततो जयसिंहं, ततः कृष्णगुप्तम्।" इत्याद्युदाहरणानि।

एतेषु प्रस्थानत्रयीभाष्योद्धृतोदाहरणेषु 'गङ्गाद्वार (हरिद्वार) गङ्गासागर–पाटलीपुत्र-स्रुघ्न-मथुरा-वैदेह-मगध-जान्हवी-काशीदेशानामेवोल्लेखात्काश्यामन्यत्र वा तत्परिसरे–उत्तरे भारते एव प्रस्थानत्रयीभाष्यरचनाऽभूदिति निश्चीयते। न दक्षिणस्यां दिशि। तत्रत्यानां नदीदेशानामनुल्लेखात्।

पूर्णवर्मा–राजवर्मा–बलवर्मा–जयसिंहः–कृष्णगुप्तः एते राजानो नाम्ना भाष्ये निर्दिश्यन्ते, एतेषां नामानि प्रकाशितराजकीयेतिहासेषु "कृष्णगुप्तः—(५००–५२५) गुप्तराज्यसंस्थापकः। कल्याणवर्मा परनामको बलवर्मा (५७८)। पूर्णवर्मा (६१०–६२८) मौखरीवंशीयः–बौद्धाभिमानी जयसिंहः (६३३–६६३) कुब्जविष्णुवर्धनपुत्रः" इत्येवंरूपेणैव निर्दिष्टा उपलभ्यन्ते। एते आचार्यपूर्वकाला इति निर्विवादम्। अपि च 'इदानीं वर्णाश्रमधर्माणामव्यवस्थितप्रायत्वम्', 'इदानीं सार्वभौमस्य क्षत्रियस्याभावः', 'इदानीं

विवेकपुरुपाल्पत्वम्', 'इदानीं ब्राह्मणानां ब्राह्मणजातित्वेनैव स्तुत्यत्वमित्यादि दृष्टान्तत्वेन वर्णनं हर्षमरणोत्तरीयं क्रान्तिकालं सूचयत् प्रस्थानत्रयीभाष्यरचनाकालमप्यनुभापयति । हर्षमरणोत्तरकालिकोऽयं क्रान्तिकालः सप्तचत्वारिंशदधिकषट्शत (६४७) वर्षमारभ्य षष्ट्यधिकषट्शत (६६०) वर्षपर्यन्तमासीदिति सर्वेषां राजकीयेतिहासविदामपि सम्मतम् । तदनन्तरं माधवगुप्तपुत्र आदित्यसेनः उत्तरभारतसम्राट् भूत्वाऽश्वमेधं चकार ।

किंच सूत्रभाष्यस्य तर्कपादे साङ्ख्य-योग-काणाद-बौद्ध-जैन-पाशुपत-भागवतमतानामेव खण्डनमुपलभ्यते । एतावन्त एव सम्प्रदायाः हर्षकाले आसन्नित्युक्तमुपरिष्टात् । तर्कपादे तदानीं मध्यन्दिनमारूढानां पूर्वोक्तानामध्वरमीमांसकानां समुच्चयवादिनामौपनिषदम्मन्यानां च शाङ्कराद्वैतमतप्रतिपक्षाणां खण्डनस्यादर्शनेऽपि सूत्रभाष्यप्रथमाध्याये, उपनिषद्भाष्ये, गीताभाष्ये च क्वचित् प्रसङ्गेन क्वचित् प्रसङ्गमापाद्यापि तन्मतानामापरितोषं खण्डनं कृतमिति प्रस्थानत्रयीभाष्यपरिशीलिनां विदुषां प्रकृष्टप्रकाशस्थघट इव प्रत्यक्षम् । न तर्कपादे समुच्चयवादिनां खण्डनं । यतः—"श्रुतिरप्यनुसन्धेया इति ब्रुवतां तर्कप्रधानानामर्धास्तिकानां; सर्वथा वेदाप्रामाण्यवादिनां पूर्णनास्तिकानां च खण्डनं तर्कपादस्य विषयो न श्रुतिप्रधानानां वेदप्रामाण्यवादिनां पूर्णास्तिकानां खण्डनम् । खण्डनेऽपि आस्तिकनास्तिकयोः साहित्यं न सहन्ते श्रीशङ्कराचार्यचरणा इति प्रतिभाति ।

वस्तुतस्तु—पूर्वोक्तानां ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादकश्रुत्यन्तभागं कर्मविधिशेषत्वेन, उपासनाविधिशेषत्वेन, अर्थवादत्वेन, वा निरूपयतां, संन्यासविवेर्जरारोगग्रस्तादिविषयत्वेन प्रामाण्यं व्यवस्थापयतां, ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिनां वैदिकम्मन्यानामौपनिषदम्मन्यानां च मतनिरासपूर्वकं, वेदान्तानां शुद्धब्रह्मात्मैक्यविषयत्वं, संन्यासविधेर्विरक्तविषयत्वं गुरूपदिष्टमहावाक्यजन्यज्ञानस्यैव ब्रह्मात्मैक्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं, तस्यैव च मोक्षहेतुत्वं व्यवस्थापयितुमेव श्रीशङ्कराचार्याणामवतारः । तदेव आचार्याणां प्रधानमवतारकार्यम् । अन्यत्सर्वं 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' इतिवत् गौणमित्येव मन्यामहे । आस्तामवतारोत्तरकालकृत्यचिन्तया प्रथममवतारकालमेव विचारयामहे ।

एतावता महीयसा आचार्यपूर्वापरसमकालविचारेण प्रकृतोपयोगि एतत्सिद्धं भवति यत्—उत्तरभारते—काश्यां तत्परिसरे वा—हर्षमरणोत्तरीयक्रान्तिकाले अर्थात् सप्तचत्वारिंशदधिकषट्शत(६४७)वर्षमारभ्य षष्ट्यधिषट्शत (६६०) वर्षपर्यन्ते त्रयोदशवर्षात्मककालाभ्यन्तरे प्रस्थानत्रयीभाष्यप्रणयनमभूदिति । तदा सर्वसम्प्रतिपन्नत्वेन भाष्यकाराः श्रीशङ्करपादाः षोडशवर्षीया आसन्निति । तत्रास्मिन् त्रयोदशवर्षात्मकक्रान्तिकाले "अस्मिन्नेव वर्षे आचार्याणां षोडशवर्षीयत्वम्" इति प्रबलप्रमाणानुपलम्भेनास्माभिर्वक्तुमशक्यतया क्रान्तिकालमध्यवर्ति यत्किमपि वर्षं ग्राह्यमिति कृत्वा द्विपञ्चाशदधिकषट्शत (६५२) वर्षमेव

ग्रहीतव्यमिति युक्तमुत्पश्यामः। तथा च द्विपञ्चाशदधिकपट्शत (६५२) वर्षे आचार्याः षोडशवर्षीया आसन् इति सिध्यति।

अथाधुना एतस्यैव कालस्य द्रढीकरणाय आचार्यप्रशिष्यसर्वज्ञमुनिकृतसंक्षिप्तशारीरकानुसारेण आचार्यावतारकालो विमृश्यते।

श्रीसर्वज्ञमुनिः स्वीये संक्षेपशारीरकस्यान्तिमश्लोके तात्कालिकस्य राज्ञो वर्णनं निबबन्ध। सोऽयं श्लोकः—

श्रीदेवेश्वरपादपङ्कजरजःसम्पर्कपूताशयः।
सर्वज्ञात्मगिराङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकम्॥
चक्रे सज्जनबुद्धिवर्धनमिदं राजन्यवंशे नृपे।
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति॥ ६३॥

अस्मिन् श्लोके वर्ण्यमानो नृपः न हि विचारमन्तरा झटित्युपतिष्ठते मनसि। श्लोके नामकालादीनामनिर्देशात्। सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे अयं 'मनुकुलादित्यः अक्षतशासनः' राजा द्वितीयपुलकेशिपुत्रो विक्रमादित्य एव भवितुमर्हतीति वक्तुं शक्यते।

तथा हि—बिल्हणकृतविक्रमाङ्कचरितात् एतत्कुलमूलपुरुषस्य ब्रह्मदेवाञ्जल्युदकादुत्पन्नत्वेन मनुवत् ब्रह्मदेवोत्पन्नत्वादस्य मनुकुलीयत्वं सम्भाव्यते। एतद्वंशीयस्य द्वितीयपुलकेशिनो द्वितीयपुत्र आदित्यवर्मनामा पितृसमये कृष्णा-तुङ्गभद्राप्रान्ताधिपतिरासीत्। उपरते च पितरि आदित्यवर्मा 'विक्रमादित्य' नाम्ना राज्यपदमलञ्चकार (६५५ ख्रिस्ताब्दे)।

अयमपि पराक्रमेण पितृतुल्यः, 'पल्लवान्' पराभूय काञ्चीं स्वायत्तां कुर्वन् दक्षिणभारतसम्राट् भूत्वा नवत्यधिकपट्शत (६९०) पर्यन्तं राज्यं चकारेति राजकीयेतिहासे प्रसिद्धम्। अयमेव 'विक्रमादित्यः' अस्मिन् श्लोके प्रत्यभिज्ञायते। तस्य चरमे समये वर्तमानो ब्रह्मचर्याश्रमस्थः सर्वज्ञमुनिः संक्षेपशारीरकं प्रणिनाय। संक्षेपशारीरके १७४ श्लोके भाष्यकारादीनां "जीवाज्ञता" वचनस्य स्वमतेनाशयवर्णनं तदा भाष्यकाराणां भूलोकानवस्थितिं द्योतयति। समकालिकत्वे स्वमतदार्ढ्याय तदीयाशयवर्णनमकिञ्चित्करम्। स च सुरेश्वराचार्याल्लब्धसंन्यासदीक्षः "नित्यबोधाचार्य" नाम्ना स्वगुरोरनन्तरं शृङ्गेरीपीठमध्यतिष्ठत्। तस्य गुरवः श्रीसुरेश्वराचार्याः तेषां च श्रीशङ्कराचार्याः। अनेनैतत्सिद्धं भवति यत् धर्मकीर्तेः (६२५) प्राक्, परस्ताच्च विक्रमादित्यस्य (६९०) श्री शङ्कराचार्याणां द्वात्रिंशद्वर्षात्मकोऽवतार-कार्यकालः कथमपि गन्तुं नार्हतीति।

श्रीशङ्कराचार्याणामवतारकालविमर्शः

एवं च भाष्यरचनाकालमनुरुद्ध्य पूर्वं संसाधिते द्विपञ्चाशदधिकषट्शत (६८२) वर्षे आचार्याणां षोडशवर्षीयत्वे सिद्धे तेषां पूर्वोक्तरीत्या जन्मवर्षं षट्त्रिंशदधिकषट्शत (६३६) इत्यायाति। तदनुरोधेनैव निर्याणकालः अष्टषष्ट्युत्तरषट्शत (६६८) वर्षे इति वक्तुं शक्यते—

अयं षट्त्रिंशदधिकषट्शतकालात् अष्टषष्ट्युत्तरषट्शतवर्षपर्यन्तः कालः धर्मकीर्ति–विक्रमादित्यान्तर्गत एव। अनया विधया विचार्यमाणे श्री शङ्कराचार्याणामवतारकालः (६३६) खिस्ताब्दः इति सिद्ध्यति॥ इत्यतः पुनरपि विमृश्योऽयं विमर्शो विद्वद्भिरपरैरिति प्रार्थ्यते।



कीदृक् स्याद्राष्ट्रशिक्षणम् ?

पण्डितः श्री गोपालशास्त्री (दर्शन-केशरी)

सम्प्रति भारतवर्षे स्वातन्त्र्यसूर्य्योदयेऽतिसन्निहिते प्रशस्ते च राष्ट्राभ्युदयोषसि सर्वत्रैव भारतीयसमाजे जागर्तिलक्षणमुपलक्ष्यते। सर्वेऽपि जनाः प्रमादनिद्रां विहाय चेष्टमानाः सन्तः स्वस्वाभ्युदयार्थमहमहमिकया प्रवर्तमानाः समुद्यता एवावलोक्यन्ते। एतस्यैव युगस्य निर्देशो मनुना त्रेतायुगनाम्ना कृतो दरीदृश्यते। तथाहि—

कलिः शयानो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता कृतं सम्पद्यते चरन्॥ (मनुः)

इत्येवं सर्वतः सर्वथा चेष्टमाने समुद्योगपरायणे साम्प्रतिकेऽस्मिन् त्रेतायुगे शिक्षणपद्धतेः सर्वथा क्रान्ति-परिवर्तनमावश्यकम्प्रतिभाति।

यतो हि साम्प्रतिकी प्रवर्तमाना भारतीया शिक्षापद्धतिर्भारतोत्कर्षमसहमानैर्बृटिशवर्ग-(गोरण्ड)-समृद्धिसमेधकैर्मेकालेप्रभृतिभिः पाश्चात्यपण्डितैरेवेह भारते स्वशासनकार्य्यसञ्चालनमात्रफला भारतीय-नवयुवकचारित्र्यबलविनाशिका शारीरिकबलह्रासकरी दास्यमनोवृत्तिसमुद्वेलिका सार्द्धशतद्वयवर्षतः सञ्चालिता विद्यते। यया पद्धत्या शिक्षिता दीक्षिता आधुनिका भारतीया विचारे वेषे च वैदेशिकाः केवलमाकारे भारतीयाः स्वालये एव परकीयाः स्वकीयामेव प्राणभूतां भारतीय-संस्कृतिं हृदयेन विद्विषन्तः स्वान् पूर्वजानु-पहसन्तः पाश्चात्यसंस्कृतिमनुकुर्वन्तः सर्वत्रैव पाश्चात्यान्ताननुहरन्तः—

व्यवस्थितार्य्यमर्य्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो देशः प्रसीदति न सीदति॥

इति भारतीयशासन-पद्धतिप्रचारकाणां स्वपूर्वजानां समाजव्यवस्थामुपहसन्ति। अपरञ्च स्वयन्तु शिल्प-कलादिशिक्षणमजानन्तो देशद्रव्यसमृद्धिकरं व्यवसायं व्यापारं वाऽकुर्वन्तः—

"उपादातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः।"

इति विदुरोक्तां महाभारतोद्योग-पर्वस्थाम् नीतिं सफलयन्तः लेखकानुवादककर्मादिना सेवावृत्त्यपरनामकेन

व्यापारेण एकस्य भारतीयस्य पार्श्वे संस्थितं द्रव्यजातम् द्रव्यानुत्पादकस्यैवान्यस्य पार्श्वे प्रापयन्ति । स्वयं वा उपाददते । न तु स्वयं किञ्चिन्नूतन-द्रव्योत्पत्तिं कर्तुमर्हन्ति । यतश्च भारतीया द्रव्यसमृद्धिर्विदेशतः समागतैर्द्रव्यनिचयैः सम्वर्द्धिता स्यादिति । यतो हि कृषिप्रधानेऽस्मिन् भारते कृषिकला-शिक्षायास्तथा गोधनबहुलेऽत्र भारते गोविज्ञानकलाया एवमेव—

"वार्तया संश्रितो देशो न वृत्तेर्भयमृच्छति ।"

इति वाणिज्यव्यापारादिस्वदेश-समृद्धि-समेधक-शिल्पकलादिशिक्षायाः । सर्वतोऽभ्यर्हिताया देशरक्षक-प्रौढ़-युवकवृन्द-सम्पादिकायाः ।

"शस्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।"

इति सैन्यशिक्षायाः (क्षात्रधर्मशिक्षायाः) अपि सर्वथा अभाव एवास्ति । इत्येवं सर्वथा मानवोपयोगिन्याः शिक्षायास्तु साम्प्रतिकशिक्षा-पद्धतौ नास्ति कोऽपि प्रबन्ध इति शिक्षामर्मवेदिनो विद्वांसो विदन्ति एव ।

अद्यत्वे तु केवलं दास्यवृत्तिप्रदाया जनतासु कलहाग्नि-समुद्दीपिकायाः केवलं पाश्चात्यभाषामात्र-शिक्षणप्रधानायाः पुस्तकज्ञानभारायितायाः किं बहुना सर्वथाऽप्यनुपयुक्ताया एव शिक्षाया इहास्माकं देशे विद्यते प्रचारः ।

इत्येवमाधुनिक्यां शिक्षापद्धतौ सर्वतो विदूषितायां सत्यां कथं स्याद्देशस्यास्याभ्युदय इति सर्वतः स्वातन्त्र्यप्रभातसमयेऽधुना श्रीकाशीविद्यापीठीयरजतजयन्ती-स्मारकग्रन्थेऽस्मिन् मयाऽयं संक्षिप्तः प्रस्तावो विशिष्टविदुषां पुरतः प्रस्तूयते । यत् शिक्षापद्धतिराधुनिकी सर्वथा परिवर्तनीया । तत्र सर्वथा प्रथमं नगरे विद्यमानानां शिक्षासंस्थानां ततो दूरीकरणम् अत्यावश्यकम् । यतो हि बालानां कृते सर्वस्यैव दोषस्य आकर-स्थानानि नगराणि सम्प्रति विद्यन्ते । भिन्नमागृहं विद्यार्थिनां बालानां मनोमोहकं, चाकचिक्यसम्वलितं गार्ह-स्थ्यजीवनोपयोगि वस्तुजातम् , वेश्यालयाः, विलासवस्तुसञ्चापणादिकञ्च नगरे एवाधुना सङ्घीभूय तिष्ठन्ति । विद्याप्राप्तिसाधनाय तु—

"अहेरिव जनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव ।
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ।"

इत्यादय उपदेशाः शास्त्रेषु निबद्धा दृश्यन्ते ।

अन्यच्च-प्राचीनकाले यथाऽऽश्रमादिषु आचार्यान्तेवासित्वमासाद्यैव शिक्षाग्रहणप्रथा आसीत् तथैवाधु-नापि आश्रमेषु आचार्य्यान्ते वसन्त एव न तु गृहे तिष्ठन्तः शरीरमनोवचसां पोषकरीं फलतः शारीरिकबलदां व्यायामादिना (सैन्यकलाशिक्षणेन) दार्शनिकज्ञानाधिभौतिकविज्ञानाभ्यां मानसिकबलदां व्याख्यानकला-

शिक्षणेन च वाचनिकबलदां सुतरां विविधोन्नतिकरीं शिक्षां सर्वे सर्वाश्च साम्प्रतं बाला बालिका लभेरन्निति संक्षिप्ताशयः।

यथा च पूर्वं ब्राह्मण-शिक्षक-वर्गस्यैवाधीनः शिक्षाविभागः सर्वथा आसीत्। तथैवाधुनापि साम्प्रतिक-शिक्षकवर्गाधीन एव तत्तत्प्रान्ते शिक्षाविभागः स्यात्। तत्तत्प्रान्ते पुरुषाः स्त्रियो वा केऽपि अक्षरज्ञानशून्या न स्युरिति शिक्षाविभागस्य प्रधानं कर्तव्यं भवेत्।

भारतीयसंस्कृतिसमनुकूला विद्याव्रतोभयस्नातकाः, केवलविद्यास्नातकाः, केवलव्रतस्नातका इत्येवं यथा त्रिविधाः स्नातका भवन्ति स्म प्राचीनकाले तथैवाधुनापि सर्वत्रैव शिक्षाविभागे परीक्षायां तिस्रः श्रेणयः स्युः। पुस्तकज्ञानेन सहैव येषां चारित्र्यबलं शरीरबलं वाचनिकबलं च प्रौढं स्यात्ते प्रथमश्रेण्याम्। ये च केवलं पुस्तकज्ञानशालिनस्ते द्वितीयश्रेण्याम् ये हि केवलं चारित्र्य-शारीरिक-वाचिकबलशालिनः किन्तु पुस्तकज्ञानेऽनुत्तीर्णा अपि ते तृतीयश्रेण्यां तिष्ठेयुः। इत्येवं श्रेणिविभागः स्यान्न केवलं परीक्षायां पुस्तक-ज्ञानमात्रायैव प्रथमा द्वितीया तृतीयेति श्रेणिः स्याद्यथाऽधुना सर्वत्रास्ति। सम्प्रति तु केवलं पुस्तकभारवाहिन एव स्नातका विद्यालयेभ्यो निःसरन्ति। येन न ते राष्ट्रोपयोगिनो भवन्ति नापि स्वगार्हस्थ्यजीवनोपयोगिनो भवन्ति। केवलं पृथिव्यां भारभूता दास्यवृत्तिं (भृत्यतां) समन्वेषयन्ति। इत्यतोऽतिद्रुतं परिष्कारोऽयं शिक्षाविभागीय-परीक्षायां कर्तव्यः शिक्षामन्त्रिभिस्तत्तत्प्रान्तीयैः।

अपरञ्च—संसारस्य यात्रा-सञ्चालनाय पुरुषाः स्त्रियश्चेति भिन्न-प्रकृतिकम् आकर्षणविकर्षणात्मकं वर्गद्वयं विद्यते। तयोश्च शिक्षापि तत्तत्प्रकृत्यनुकूला भिन्नभिन्नाऽपेक्ष्यते। नाधुनिकी यथेयम् पाश्चात्यैर्भारत-संस्कृतिविनाशकैः प्रवर्तिता बालक-बालिकयोः समानैव शिक्षा पद्धतिः। सर्वेऽपि मर्मज्ञाः विद्वांसः साम्प्रतिक-विद्यालयबालिकानां शिक्षाफलमुपभुज्य मस्तकोपरि हस्तं धृत्वा रुदन्ति। अपरेऽपि साधारणबुद्धयः पृथग्जनाः स्वकन्यानामिंग्लिशशिक्षादातारः पश्यन्ति यत् साम्प्रतिकयो विद्यालयाद्विनिस्सृता वनिता 'रजककुक्कुर'वन्नापि घट्टस्य नापि गृहस्योपयोगभाजो भवन्ति। केवलं स्वशरीरशृङ्गारमात्रपराः पाश्चात्योपानत्परिधानादि-दोषग्रहणमात्रव्यापारा एव भवन्ति इति।

एवञ्च—विद्यालयविभागे महाविद्यालयविभागे च छात्रैः सहैवोपवेश्य छात्रिकाणां शिक्षाप्रदानमपि भारतीय-संस्कृतिविद्रूपकः प्रकार इति संक्षेपत एवाहमिह विषये वच्मि। कथञ्चिन्निम्नकक्षासु प्रारम्भिक-पाठशालासु तु शिशुशिशुकयोः स्यात्सहशिक्षा परन्तु तत्रापि स्त्रियः शिक्षिकाः स्युः। मम तु प्रस्तावोऽस्ति यत् शिशुकक्षायाः शिक्षिकाः सर्वत्रैव भारते नार्य्य एव भवेयुः। इत्येवं भारते सम्प्रति शिक्षापद्धतिः परिष्करणीया। यतश्च वानप्रस्थाश्रमगाः गृहीतावकाशाः शिक्षकाः पुरुषाः तथा शिक्षिता नार्य्यश्च इमौ उभौ एव प्रावेशिक-शिक्षायाः सञ्चालकौ स्वतन्त्रभारते स्यातामिति। इत्येवं सामान्यतः सिद्धान्तो मयाऽत्र विवृतः। विशेषप्रकारस्तु तत्तद्विशिष्टशिक्षाविज्ञानवेदिनां परिषदा निर्मापणीयः।

कीदृक् स्याद्राष्ट्रशिक्षणम् ?

"यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः ।
तथैवप्रतिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ।"

इति भारतीयनियमस्य प्रतिपालनमपि शिक्षापरिष्कारत एव स्यादिति । तत्र मनाक् दिग्मात्रमिहोपदिश्यते पन्थाः—तथाहि–अष्टवर्षवयस्कयोरेव बालकबालिकयोरेकत्र पाठशालासु एकविधया च पाठ्यपद्धत्या शिक्षणं भवेत् । यत्र ग्रामनगरादीनामितिहासस्तेषामेव भूगोलज्ञानं, साधारणगणितज्ञानम्, स्वास्थ्येतिवृत्तवेदनम्, सामान्यतो मानवसम्पादनक्षमं धर्मज्ञानं, विज्ञानकलाज्ञानं, शिल्पकलाज्ञानञ्चावश्यकं स्यात् ।

तदनन्तरन्तु बालानां बालिकानाञ्च पृथक् पृथक् विद्यालये भिन्नप्रकारेण च शिक्षणं भवेत् । तत्र सर्वत्रैव तत्तत्प्रान्तीय-भाषया सह राष्ट्रभाषाया एव प्राधान्यं स्यात् । तत्तज्जातीय-संस्कृतिशिक्षण-स्थाने संस्कृतभाषारबीभाषयोः सन्निवेशः स्यात् । इङ्ग्लिशभाषा तु सर्वत्रापि उपरितनकक्षासु वैकल्पिकी स्यादिति । तत्र सर्वत्रैव भारतीय-संस्कृतिज्ञानाभिलाषिणां कृते संस्कृतभाषाशिक्षाऽनिवार्य्या स्यात् । यद्यपि ते धर्मतो मोहम्मदीया वा स्युः खृष्टा वा स्युरिति । सैनिककला शिक्षापि उपरितनकक्षासु उभयोरपि नरनार्य्योः कृते अनिवार्य्या स्यात् । विज्ञानकलाशिक्षाप्यावश्यकी । इत्येवं संक्षेपेणेदानीं मयेह निवेदितम् । भारतवर्षमिदं जगद्गुरुपदं पूर्वमधिगतमासीदिति नास्ति विशिष्टविदुषामतिरोहितम् । ततश्च साम्प्रतम् वैदेशिकशासनभारतो विमुक्तेऽस्मिन्भारते पुनरपि प्राचीनविज्ञानपरिष्कृताऽधुनिकविज्ञानशालिनी भारतीयशिक्षापद्धतिः परिष्करणीया येन संस्कृतिभेदप्रकृतिभेद-शिक्षाभ्यां सहैव विश्वमानवप्रकृतिसामञ्जस्यकरं भारतीयानां सात्विकं ज्ञानं चारित्र्यबलं शारीरबलं मानसिकञ्च स्वातन्त्र्यं सुरक्षितं स्यादिति । पाश्चात्यसरणिसञ्चालिता सार्द्धशतद्वयवर्षावधितः प्रचालिता तु शिक्षा सर्वैरेवानुभूतफला जाताऽतः साऽवश्यं परिहातव्या । विधानपरिषदा यथा सम्प्रति भारतीयं विधानं निर्मीयते । तथैवाधुना स्वातन्त्र्यशिक्षाविधानमपि आवश्यकम् । यतो हि ज्ञानाधीनमेवेदं जगतः सर्वमपि व्यवहारजातं संसरति इति ।

यतो हि जानाति, इच्छति, यतते इत्येव हि मानवव्यापारपद्धतिः । यादृक् ज्ञानम् तादृगेव इच्छा तादृशो यत्नः (व्यापारः) उद्योगोऽपि स्यादित्यतः ज्ञान-शुद्धिः सर्वाभ्यर्हिता ।

"ज्ञाने परिष्कृते सर्वं विज्ञानं स्यात् परिष्कृतम्"
"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्"

इत्येव हि भारतीयानां सिद्धान्तः । इति विरम्यते विस्तरात् ।

अथ ज्योतिःशास्त्रप्रयोजनम्

पण्डितः श्री सीताराम झा ज्योतिषाचार्यः

तत्र मङ्गलश्लोकौ—

व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
नमः कालाय संसार-सृष्टिस्थित्यन्तकारिणे ॥
कालात्मानं त्रिलोकेशं ज्योतिषां गतिकारणम् ।
नत्वाऽर्कं वच्मि संक्षिप्तं ज्योतिःशास्त्रप्रयोजनम् ॥

तत्रादा किंनाम शास्त्रं ? इति निरूप्यते—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥"

इति महोदारचरितानां महात्मनां मनोरथः । किञ्च संसारेऽस्मिन् कश्चित् नित्यं सुखी, कश्चित् नित्यमेव दुःखी, कश्चित् सुखं च दुःखं च द्वयमप्यनुभवति । कश्चिच्च द्वयमपि न गणयतीति चतुर्विधा मानवा दृश्यन्ते । तत्र को हेतुः ? केनोपायेन सर्वे सुखिन एव भवेयुरिति दयार्द्रहृदयैः पूर्वविज्ञानवेदिभिः सम्यगन्विष्य पुनः पुनः परीक्ष्य यत् प्रतिपादितं, तथा च सकललोकोपकारार्थं यदादिष्टं तदेव शास्त्रमित्युच्यते । तच्च भिन्ने भिन्ने काले, भिन्ने भिन्ने देशे च स्वस्वानुभूतं भिन्नं भिन्नं प्रतिपादितम् । तेष्वेवान्यतमं श्रेष्ठतमञ्च ज्यौतिषं गण्यते । अथात्र किं नाम ज्यौतिषं ? इत्युच्यते—

अस्मिन्ननन्ताकाशमण्डले यानि तेजोमयबिम्बानि दृश्यन्ते तानि सर्वाण्येव ज्योतिःशब्देनोच्यन्ते । तानि (ज्योतींषि) अधिकृत्य कृतं शास्त्रं ज्यौतिषमिति कथ्यते । समस्तेष्वपि ज्योतिर्बिम्बेषु येषां गतिः सदैकरूपा लक्ष्यते तानि नक्षत्राणि, येषां च गतिर्विलक्षणा (प्रतिदिनं भिन्ना भिन्ना) ते ग्रहाः कथ्यन्ते । तेषु केषाञ्चिद् रश्मयः सुधामयाः, केषाञ्चिद् विषमयाः, केषाञ्चिदुभयगुणमिश्राः, केषाञ्चिच्चोभयधर्महीनाः । एवं नक्षत्राणि ग्रहाश्च चतुर्विधाः सन्ति । तत्र चतुर्विधत्वे किं कारणम् ?

यो हि परमात्मा निराकारो निर्गुणो लघोरपि लघीयान् महतोऽपि महीयान् सर्वात्मा सर्वशक्तिमान् अनादिरनन्तश्चेत्यादिशब्दैः श्रुतिस्मृतिपुराणादिभिः प्रतिपादितः, स तु वस्तुतः सर्वलक्षण-सम्पन्नो भूतभावनो भगवान् काल एव । स एव सत्त्वरजस्तमोमय्या प्रकृतिसंज्ञया स्वशक्त्या सचराचरं विश्वमिदं समस्तं सृजति, पालयति, नाशयति चेति नास्त्यविदितं विपश्चिताम् । अत एव भगवत्या त्रिगुणात्मिकया प्रकृत्या कृतत्वात् सचराचरं जगदिदमशेषमपि त्रिगुणात्मकमित्यप्यतिरोहितमेव मतिमताम् । अतो गीतायां श्रीमता कृष्णेनापि—

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥"

इति स्पष्टमभिहितम् । तस्मात् त्रिगुणात्मकेषु सनक्षत्रग्रहेषु कस्मिंश्चित् सत्त्वगुणस्य, कस्मिंश्चिद् रजोगुणस्य, कस्मिंश्चित् तमोगुणस्याधिक्यम्, कस्मिंश्चित्तु गुणत्रयस्याल्पत्वमेवार्थात् कस्यचिदपि गुणस्य सम्यगभिव्यक्तिर्नास्तीति चतुर्विधा एव मुख्यभेदाः सन्ति । यतः कस्मिंश्चिदेकस्मिन् गुणत्रययोगादर्धाधिकेऽधिकत्वमर्धाल्पे त्वल्पत्वमिति गणितसिद्धान्तसिद्धम् । यथा—यदि सत्व + रजः + तमः = १२ तदा कस्मिंश्चित् षडधिकेऽधिकत्वं, षडल्पे चाल्पत्वमिति बोध्यम् । अतः कस्मिंश्चिदेकस्मिन् ग्रहे नक्षत्रे वा कस्यचिदेकस्यैव गुणस्याधिकत्वं भवितुमर्हति । एवमेकैकस्य गुणस्याधिकत्वे त्रयो भेदाः, गुणत्रयस्याल्पत्वे त्वेक एवेति चतुर्विधा एव भेदाः सिद्ध्यन्ति ।

एवं येषां नक्षत्राणां ग्रहाणां वा सत्त्वगुणाधिक्यं ते सुधारश्मयः, शुभाः, उत्तमा इत्यादिशब्दैर्नोच्यन्ते । येषां रजोगुणाधिक्य ते चोभयरश्मयो मध्यमाः (शुभाशुभफलप्रदाः) कथ्यन्ते । येषां तमोगुणाधिक्यं ते च दुष्टरश्मयः, असौम्याः, क्रूराः, अशुभाः, अधमाश्च कथ्यन्ते । येषां च गुणत्रयस्याल्पत्वं ते च गुणहीनरश्मयः, शुभाशुभत्वहीनाः उदासीनाश्च निगद्यन्ते ।

अतः कालेऽपि चतुर्विधत्वं यथा—

यदा त्रिगुणात्मिकेयं भगवती प्रकृतिर्विश्वविलयं करोति तदा सा साम्यावस्थां गताऽव्यक्तरूपा भवति । भगवान् कालोऽपि तदा प्रलयनामा निराकारो निर्गुणश्च तिष्ठति । यदा च पुनः सा क्षुब्धा (वैषम्यमुपगता) सृष्टिं करोति तदा ग्रहनक्षत्ररश्मिसंयोगवशान्निराकारोऽपि कालः साकारतां, निर्गुणोऽपि सगुणतां गच्छति । यथा सूर्यादिरश्मिसंयोगवशात्—प्रातः कालः, सायंकालः, दिवाकालः, रात्रिकालः, इत्यादयोऽवयवा जायन्ते । तथा चायं शीतकालः, ग्रीष्मकाल इत्यादि तस्मिन् सगुणत्वमुत्पद्यते । एवं— उत्तमग्रहरश्म्याधिक्ये कालोऽप्युत्तमः, मध्यमरश्म्याधिक्ये मध्यमः, उदासीनरश्म्याधिक्ये तूदासीनः, अधमरश्म्याधिक्ये चाधम इति सावयवे कालेऽपि चतुर्विधत्वं सम्यक् परीक्ष्य प्रतिपादितं प्राचीनाचार्यैः ।

एवमाकाशे प्रतिक्षणं भ्रमणवशात् सौम्यग्रहा यतो यतो गच्छन्ति, यत्र यत्र च तेषां रश्मयः पतन्ति, तत्र तत्र सुवृष्टिः, सुभिक्षं, जनेषु स्वास्थ्यं, सौमत्यं च जायते। यत्र यत्र चासौम्यग्रहाणां रश्मयः पतन्ति तत्र तत्र चानावृष्टिः, दुर्भिक्षं जनेषु दौस्थ्यं, दौर्मत्यं च जायते। यत्र यत्र मध्यमग्रहाणां मिश्ररश्मयः पतन्ति तत्र तत्र फलं च मिश्रं भवति। यत्र चोदासीनग्रहरश्मयः पतन्ति तत्र च हीनगुणरश्मित्वात् किमपि शुभमशुभं वा विशिष्टं फलं न भवतीत्यनुभूतमेव बुद्धिमताम्।

अथ कालवशात् प्राणिनामपि चतुर्विधत्वं यथा—

जन्मकाले जन्मस्थाने च येषां येषां ग्रहाणां नक्षत्राणां च रश्मयः पतन्ति तेषु यस्य रश्म्याधिक्यं तस्य ग्रहस्य सत्त्वादिगुणः प्राधान्येन, परेषां चाप्राधान्येन तस्मिन् जातकेऽपि भवति। तथा चोक्तं दैववेदिभिः—

"एते ग्रहा बलिष्ठाः प्रसूतिकाले नृणां स्वमूर्तिसमम्।
कुर्युर्देहं नियतं बहवश्च समागता मिश्रम्॥" इति।

एवं संसारे सर्वमेव वैलक्षण्यं ग्रहनक्षत्ररश्मिजनितमेवेति स्फुटमेव। तत्र कस्य कस्य ग्रहस्य, नक्षत्रस्य च कीदृशा रश्मयः, कयोः कयोश्च रश्मिसंयोगात् कीदृशः कालः—? तस्य कीदृशं फलम्? इति सकललोककल्याणार्थं प्राचीनैर्महर्षिभिः सम्यग् ग्रहगतिं विज्ञाय तद्योगवियोगात् शुभाशुभकालस्य ज्ञानं यत्प्रतिपादितं तदेव 'ज्यौतिष'मित्युच्यते। तथा यतो ग्रहरश्म्यनुरूपः कालः, कालानुरूपं च फलं भवतीति ज्यौतिषशास्त्रमेव कालशास्त्रमपि कथ्यते। तच्च गणित-संहिता-जातक-शकुनभेदैश्चतुःस्कन्धात्मकम्। यथा-कस्य ग्रहस्य कियती, कीदृशी च गतिः? तद्वशात् कयोः कयोश्च योगः कदा भवति, कदा च कस्य ग्रहस्योदयोऽस्तमयो वा, कदा च कस्य रश्म्याधिक्यं? इत्यादि विषयस्य ज्ञानं यत्र प्रतिपादितं तद् गणितं कथ्यते। तथा कस्मिन् समये कस्मिन् कार्ये समारब्धे कीदृशं फलं भवति, कयोः कयोश्च योगे कीदृशः कालो भवति? इत्यादिविषयविचारो यत्र सा संहितेति निगद्यते। एवं कस्मिन् समये समुत्पन्नो जनः कीदृशो भवति?, तस्य च जीवनफलं कीदृशं भवतीति परीक्ष्य यत् प्रतिपादितं तज्जातकमित्युच्यते। तथा च कस्यापि जनस्य स्वरूपं, वाक्यं, चेष्टादिकं वा विलोक्य तस्य शुभाशुभफलस्य तदीयहृदयगतभावस्य च ज्ञानं यत्र प्रतिपादितं तच्च शकुनसंज्ञमित्येवं भूतं सकललोकोपकारकं ज्यौतिषं शास्त्रं केनोपेक्ष्यं स्यात्?।

अथातोऽस्य मुख्यं प्रयोजनं प्रतिपाद्यते—

यद्यपि—समस्तान्यपि कार्याणि कालाधीनानि, कालज्ञानं तु ज्यौतिषाधीनं भवत्यत एव सर्वेष्वपि कार्येषु ज्यौतिषशास्त्रस्य प्रयोजनं स्यादेव। तत्रापि तस्य मुख्यप्रयोजनं तु मानवसमाजे सुव्यवस्थाकरणम्।

सेव सुव्यवस्था या सर्वान् जनान् सुखयति। स एव देशः समाजो वा स्वतन्त्रः सुखी च यत्र सर्वे जनाः परस्परं प्रीतिविश्वासभाजः। एवं परस्परं प्रीतिर्विश्वासो वा तत्रैव यत्रोत्तमजनसाध्यानि कार्याणि-उत्तमजनैः, मध्यमजनसाध्यकार्याणि मध्यमजनैः, उदासीनसाध्यानि कार्याणि उदासीनैरेवमधमजनसाध्यानि कार्याणि–अधमजनैरेव सम्पाद्यन्ते। अत एव यत्र राज्ञा सम्यक् परीक्ष्योत्तमादिजनास्तत्तद्योग्यकार्येषु नियोज्यन्ते तदेव राष्ट्रं स्वतन्त्रं स्वस्थं सम्पन्नं चेति विद्यत एव विद्वद्भिः।

अत एव बाल्यकालत एव उत्तमा उत्तमकार्येषु, मध्यमा मध्यमकार्येषु, अधमा अधमकार्येषु, उदासीनास्तूदासीनकार्येषु नियोज्याः। परञ्च बाल्यकाले एवोत्तमादिजनज्ञानं कथं भवेदिति दैवज्ञैर्ज्यौतिषशास्त्रे सम्यक्प्रतिपादितम्। यथा—

"वीर्यं निषेककोत्पत्तिकालौ संस्कार एव च।
उत्तमादिगुणे हेतुर्बलीयानुत्तरोत्तरम्॥" इति।

अर्थात्—वीर्य, निषेककालः, उत्पत्तिकालः, संस्कारश्चेति उत्तमादिगुणे (ब्राह्मणादिवर्णे) चत्वारो हेतवो भवन्ति। एतेषु क्रमादुत्तरोत्तरं हेतुर्बलवान् भवति। 'यथा वीर्यं निषेककालो बाधते, निषेककालंच जन्मकालो, जन्मकालं च संस्कारो (उत्तमादिजनदर्शितकार्याभ्यासो) बाधते। अर्थात् यदि उत्तमं वीर्यं; निषेककालो मध्यमः, जन्मकालोऽधमस्तदा जन्मकालस्य बलवत्त्वात् जातकोऽधमगुण एव भवति। तादृशस्य मानवस्य धर्मत्रयसम्बन्धात् यादृशः संस्कारो भवेत् तादृशगुणो स मानवो भवितुमर्हति। यदि पूर्वहेतुत्रयं सजातीयं तदा तु तत्सदृशगुणो जातक इति स्पष्टमेव। स सदृशसंस्कारेण तादृशगुणवत्सु जनेषु श्रेष्ठतमो भवितुमर्हति। यथा हि स्वभावतः श्वेतोऽपि पटः सदृशवर्णेन रञ्जितोऽतीव श्वेतत्वं प्राप्नोति, तथा चादृशवर्णेन रक्तादिना रञ्जितो रक्तादिवर्णत्वं (वर्णान्तरत्वं) गच्छति, तथैव मानवोऽप्यसदृशजनसंसर्गेणासदृशाचरणेन च वर्णान्तरत्वं गच्छति। अत एव मीमांसादिदर्शनकारैरिव ज्योतिर्विद्याविद्भिरपि स्वभावतोऽपि कर्मण एव प्राधान्यं प्रतिपादितम्।

अत एव जन्मकालिकग्रहरश्म्यादिस्थितिज्ञानेन कालस्योत्तमादिगुणो ज्ञातुं शक्यते। यत्र ग्रहरश्मिवशात् सत्त्वगुणाधिक्यं तत् कालपुरुषस्योत्तमाङ्गं (मुखम्) यत्र रजोगुणाधिक्यं तत् मध्यमाङ्गं (बाहू) यत्र गुणत्रयाल्पत्वं तदुदासीनाङ्गं (ऊरू) यत्र च तमो गुणाधिक्यं तद् भगवतः कालस्याधमाङ्गं (पदम्) कथितम्। एवं कालाख्यपरमेशरस्योत्तमाङ्गे (मुखे) यस्य जन्म स उत्तमः पूर्णबुद्धिः, अतएव ब्रह्म (वेदतत्त्वं) वेत्तीति ब्राह्मणोऽप्युच्यते। यस्य च कालपरमेश्वरस्य मध्यमाङ्गे (बाहौ) जन्म स मध्य–बुद्धिबलत्वात् मध्यमः, तथा जनरक्षकत्वात् क्षत्रियोऽपि कथ्यते। उदासीनेऽङ्गे यस्य जन्म स चोदासीनः, अन्नवस्त्रोत्पाद-

कत्वाद् वैश्य इति च कथ्यते। यस्य च कालपुरुषस्याधमाङ्गे (पदे) जन्म सोऽधमः, तथा हीनबुद्धित्वाच्छूद्रश्च कथ्यते। एतदेव भगवत्या श्रुत्यापि—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

इति स्पष्टं प्रतिपादितम्।

एवं सत्त्वादिगुणयुक्तस्य भगवतः कालपरमेश्वरस्य प्रभावान्मानवानां उत्तमादयश्चत्वारो भेदा एव ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः कथ्यन्ते।

यद्यपि-गुणानां न्यूनाधिक्यतारतम्येन पृथग् ब्राह्मणादिवर्णेऽप्यवान्तरभेदाः कर्मानुसारेणानेके भवन्ति तथापि मुख्यभेदास्तु चत्वार एव। यथा—

वीर्य–निषेक-जन्मकाल-संस्काराणां वर्णहेतूनामुत्तरोत्तरं बलित्वाद्–वीर्यगुणः=१। निषेककालगुणः=२। जन्मकालगुणः=३। संस्कारगुणः=४। सर्वगुणयोगः=१०। तत्र यदि विप्रवर्णवीर्यं, विप्रवर्णनिषेककालः, विप्रवर्णजन्मकालश्च तदा तस्मिन् जने सर्वे विप्रवर्णोचितगुणा एव। अत एव तादृशो जनः संस्कारेण विनापि स्वभावत एव ब्राह्मणः, सर्वेषु ब्राह्मणकृत्येषु पटुः। तस्य ब्राह्मणोचितसंस्कारोऽपि चेत् तदा तु स ब्राह्मणवर्यः सर्वतत्त्वज्ञो भवितु मर्हति, तादृशजन एवेश्वरावतारो महर्षिरित्यादिशब्देनोच्यते।

यदि विप्रवर्णवीर्यं, क्षत्रियवर्णनिषेककाल; शूद्रवर्णजन्मकालश्च। तदा तस्मिन् जातके ब्राह्मणगुणः=१, क्षत्रियगुणः=२, शूद्रगुणः=३ एवं स शूद्रगुणाधिकत्वाज्जन्मतः (स्वभावतः) शूद्र एव परञ्चैतादृशजनस्य वीर्यानुसारब्राह्मणगुणविद्यमानत्वात् विप्रोचितसंस्कारो भवति चेत् तदा संस्कारेण विप्रोचितगुणः=४ वीर्येण च विप्रगुणः=१ एवं मिलित्वा ५ इति क्षत्रियगुणान् गुणत्रयेण, शूद्रगुणाच्च गुणद्वयेनाधिकत्वात् ब्राह्मण एव गण्यते। परञ्च गुणानुसारेण तस्मिन् क्षत्रियस्वभावः, शूद्रस्वभावश्च तिष्ठत्येव। यदि तस्यैव क्षत्रियोचितसंस्कारो भवेत् तदा तत्र क्षत्रियगुणः=६ अतः स क्षत्रिय एव। यदि च स केनापि संस्कारेण संस्कृतो न स्यात्तदा तु स स्वभावसिद्धशूद्रकर्मप्रवृत्तः शूद्र एव।

एवं यदि विप्रवर्णवीर्यं, शूद्रवर्णनिषेककालः, शूद्रवर्णजन्मकालश्च तदा तस्मिन् जातके विप्रगुणः=१। शूद्रगुणः=५ तदा जन्मकालानुसारेण स्वभावतः शूद्रवर्ण एव। तस्य यदि वीर्यानुसारविप्रगुणसत्त्वात् संस्कारोऽपि भवति तथापि मिलित्वा विप्रगुणः ५ शूद्रगुणसम एव। अत एवैतादृशो जनो विप्रवीर्यादुत्पन्नोऽपि संस्कारितोऽपि शूद्रसमत्वात् शूद्र एव। एवं–वीर्य–निषेक–काल–जन्मकाल–संस्कारगुणानां यस्याधिक्यं

स वर्णो वास्तवो भवति। अत एव वीर्य-निषेक-जन्मकालानुसारेण यो गुणः स्वभावस्तदनुसारेण यो वर्णः— स तस्य स्वभावसिद्धवर्ण इत्युच्यते। तथा संस्कारेण (आचार्योपदिष्टकर्मानुष्ठानेन) यो वर्णः स्थिरो भवति स कर्मजनितवर्ण इति कथ्यते। अत एव गीतायां भगवता श्री कृष्णेन—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"

इति स्पष्टमभिहितम्। अत्र गुणशब्देन जन्मकालानुसारेण सत्त्वादिगुणो बोध्यः, तथा कर्मशब्देन आचार्योपदिष्टकर्मानुष्ठानं संसर्गजनिताचरणं वा बोध्यम्।

अतो जन्मकालज्ञाने सति तद्गुणानुसारेण ब्राह्मणादयो वर्णा ज्ञातुं शक्यन्ते। ततो जन्मकालादेव तदनुकूलस्तस्य संस्कारो विधेयः। परञ्च कालस्य सूक्ष्मत्वात् स्फुटजन्मकालस्य ज्ञानं दुःशक्यमेव। अतो ज्योतिर्विद्याविद्भिर्गर्भाधानस्योत्तमादिकालः प्रतिपादितः। गर्भाधानकाले ज्ञाते सति तदनुसारमेव गर्भसंस्कारो विधेयः। गर्भाधानकालोऽप्यज्ञातश्चेत् तदापि मानवस्य बाल्यकाले एव तत्स्वभावेन (आचरणेन) वर्णज्ञानोपायो दैवविद्भिरनेकधा प्रतिपादितः। यथा— जन्मतः प्रायः पञ्चमे मासे मानवस्य भूमावुपवेशनशक्तिर्भवति। अतस्तस्मिन् मास एव शुभे मुहूर्ते बालकं भूमावुपवेश्य तदग्रे ब्राह्मणोपयोगीनि पुस्तकादीनि, क्षत्रियोपयुक्तानि शस्त्रादीनि, वैश्योपयोगीनि व्यापारवस्तूनि, शूद्रवर्णोपकरणानि सेवासम्पाद्य-वस्तूनि च स्थाप्यानि, तत्र स्वभावतो यानि प्रियवस्तूनि स बालको गृह्णाति, ग्रहीतुमिच्छति वा तद्वर्णोऽसौ विज्ञातव्यः। तदनुकूल एव तस्य संस्कारः कार्यस्तथा तत्कर्मण्येव स नियोज्यः। यस्मिन् कर्मणि यः पटुः स एव तस्य स्वभावसिद्धो धर्मो भवति। तथा चोक्तं ज्यौतिषे—

"तस्मिन् काले स्थापयेत्तत्पुरस्ताद् वस्त्रं, शस्त्रं, पुस्तकं लेखनीञ्च।
स्वर्णं रौप्यं यच्च गृह्णाति बालस्तैराजीवैस्तस्य वृत्तिः प्रदिष्टा॥" इति

जन्मतः पञ्चममासावधि जातकस्य पूर्वजन्मवृत्तिस्मरणमपि तिष्ठति, तथा चतुर्थमासानन्तरमुपवेशन-शक्तिश्च जायते,अत एव पूर्वैः पञ्चममासे एवैवं वर्णज्ञानविधिः प्रतिपादितः।

एवमपि यस्य सम्यग्वर्णज्ञानं न स्यात् तस्य चतुर्वर्षानन्तरं कर्मणि (चलनवल्गनादौ) प्रवृत्तस्या-चरणेन तत्स्वभावजं वर्णं ज्ञात्वा तदनुसारं संस्कारकर्म विधेयम्। एतदर्थमेव चतुर्वर्णानां मानवानां स्वभावजानि कर्माणि भगवता श्रीकृष्णेन गीतायां—

"कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"

इत्याद्यभिहितम्। अतो बालकस्य स्वभावजं वर्णं विलोक्य तदनुकूलसंस्कारेण तदुत्कृष्टत्वं विधेयम्। यथा पर्वतादौ प्रस्तरखण्डनिचये समुत्पन्नं रत्नं धूल्यादिमिश्रं प्रस्तरखण्डसममेव लक्ष्यते, पुनः धूल्याद्यप

सारणेन रत्नमिव दृश्यते तच्च शाणादिसंस्कृतं स्वच्छं निजरूपं प्राप्य बहुमूल्यं गण्यते। तथैव स्वभावतोऽपि ब्राह्मणादिवर्णो निजसंस्कारसंस्कृतः स्ववर्णत्वं गच्छति। यथा च पित्तलमपि स्वर्णपानीयेन रञ्जितं स्वर्णवर्णं भवति, तथैव नीचवर्णोऽपि मानवः स्वोच्चवर्णसंस्कारेणोच्चवर्णो भवतीति सुबोधमेव बुद्धिमताम्।

तथा च 'मम पुत्रा उत्तमा एव भवन्तु" इति

सर्वेऽप्यभिलषन्ति। परञ्चोत्तमास्तु संस्कारेणैव भवितुमर्हन्ति। अतः पूर्वसमयेऽस्मिन् देशे, प्रतिग्रामं प्रतिनगरमस्मत्पूर्वजैर्गुरुकुलं (महाविद्यालयं; विश्वविद्यालयञ्च) स्थापितम्। तत्र सर्वेऽपि जनाः— ब्राह्मणादिलक्षणयुतं स्वस्वबालकं ज्ञात्वा संस्कारार्थं (स्वस्वस्वभावानुकूलकर्माभ्यासार्थं) प्रेषयन्ति स्म।

तत्र स्वभावतो वर्णज्ञानार्थं—कस्य वर्णस्य कीदृशः स्वभावः (कीदृशगुणः, कीदृशाचरणं च) इति महर्षिभिः परीक्ष्य यथा प्रतिपादितं तत् तावद् विलिख्यते। यथा—

(१) उत्तमगुणाः—भगवतः परमेश्वरस्योत्तमाङ्गे (पूर्वप्रतिपादितोत्तमे काले) समुत्पन्नः सत्त्वगुणाधिक्यात् सद्बुद्धिर्भवति, तस्मात् स सत्यमेव वदति, यथार्थं पश्यति, तत्त्वं जानाति, प्रमादरहितः, स्वाध्यायशीलः, निर्लोभः, दयार्द्रहृदयः, सुशीलः, सच्चरित्रः, श्रुतिधरः, गुरुजनभक्तः, लघुजनवत्सलः, मेधावी सरलः, क्षमावान्, ईश्वरवादी, जितेन्द्रियः, मनस्वी च भवति अत एव गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन—

"शमो दमस्तपः शौचं क्षन्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥"

इत्यभिहितम्। अर्थादेते गुणा उत्तमजने स्वभावत एव भवन्त्यत एवैतैर्लक्षणैरेव ब्राह्मणो ज्ञातव्यः।

(२) मध्यमगुणाः—कालस्य मध्यमाङ्गे समुद्भूतो जनो रजोगुणाधिक्यात्—मध्यबुद्धिबलः, स्वाध्यायशीलः, सच्चरित्रः, साध्वनुग्राहकः, दुष्टनिग्राहकः, निर्बलरक्षकः, तेजस्वी, शूरः, धैर्यवान्, ईश्वरवादी, युद्धे निर्भयः, दाता, किञ्च तत्त्वज्ञाने सत्यासत्यविवेके च सन्दिग्धबुद्धिर्भवत्यत एव स उत्तमजनानुमतः स्वकार्यं कर्तुमिच्छति, स्वसुखपरोऽपि परसुखापेक्षी भवत्यत एव भगवता—

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥"

इत्युक्तमत एतैर्लक्षणैः क्षत्रियवर्णो ज्ञातव्यः।

(३) उदासीनगुणाः—कालस्योदासीनभागे समुत्पन्नः न्यूनतयागुणत्रयसाम्यात् स्वल्प-स्वल्पगुण-

त्र्यधर्मैः (साधारण-बुद्धिबल-कपटैः) सहितः, स्वाध्यायरतः शत्रुमित्रेषु समबुद्धिः, रागद्वेषरहितः, सत्यालीकवृत्तिः, गवादिपशुरक्षणे, कृषिकर्मणि च चतुरः, वाणिज्यव्यवसायबुद्धिः, स्वसुखपरः, परसुखापेक्षी च भवति। अत एव गीतायां भगवतापि—

"कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्"

इति प्रतिपादितम्। अत एतैर्लक्षणैर्वैश्यवर्णो ज्ञातव्यः।

(४) अधमगुणाः—कालस्याधमे विभागे समुत्पन्नः तमोगुणाधिक्यात् बलयुतोऽपि हीनबुद्धिः, आलस्यप्रमादादिदोषसहितः, अनादिष्टः किमपि कर्तुं नेच्छति, दुर्व्यसनशीलः, असत्यवक्ता, अशुचिः, कुण्ठितबुद्धित्वात् स्वहिताहितज्ञानेऽप्यक्षमः। अत एव स्वजीवननिर्वाहार्थं मुक्तवर्णत्रयमनुव्रजति, तदाज्ञया सेवाकार्यं (यत्र बुद्ध्यपेक्षा नास्ति यथा—भारवहन-पादमार्जन-क्षेत्रकर्षणादिकं) कर्तुमिच्छति तत्कर्म सम्यक् सम्पादयति चात एव गीतायां भगवताऽपि—

"परिचर्यात्मकं कार्यं शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥"

इत्यभिहितम्।

अत एव ज्ञानविज्ञाननिपुणा आचार्या गुरुकुले सम्प्राप्तान् बालकान्-उक्तलक्षणैर्ब्राह्मणादिवर्णान् ज्ञात्वा तदनुकूलं संस्कारं विधाय तत्तद्योग्यकर्मणि नियोजयन्ति स्म। न च कुलवशात्तदानीं वर्णव्यवस्थाऽऽसीदत एवाज्ञातकुलगोत्रोऽपि जाबालः सत्यवादित्वगुणादेव "ब्राह्मणोऽयं" इति सर्वैर्महर्षिभिः स्वीकृत्य ब्राह्मसंस्कारेण संस्कारितः (ब्राह्मणकर्मसु नियुक्तः) ब्राह्मणश्रेष्ठः सर्वविद्याविज्ञश्चाभवत्।

एवं तत्र गुरुकुले ये पूर्णबुद्धयो ब्राह्मणकर्मसु पटवस्ते ब्राह्मणाः, त एव सकलज्ञानसाध्यकार्येषु तत्त्वज्ञानेषु सत्यासत्यविवेकादिन्यायविभागीयकार्येषु च नियोज्याः। यतस्तैरेव तानि कार्याणि सम्यक्-सम्पादितानि भवितुमर्हन्ति।

एवं संस्कारेण ये क्षात्रकर्मसु कुशलास्ते क्षत्रियाः, त एव रक्षाविभागीयसर्वेषु क्षात्रकर्मसु नियोज्याः। ये च वैश्यकर्मसु (गोसेवा-कृषि-वाणिज्येषु) निपुणास्ते वैश्याः। त एव तेषु कृष्यादिषु नियोज्याः।

तथा च गुरुकुलेऽपि ये कुण्ठितबुद्धित्वादुपर्युक्तज्ञानसाध्यकार्यसम्पादनेऽक्षमाः त एव सर्वज्ञानकार्यबहिर्भूताः शूद्राः अत एव ते केवलसेवाकार्येषु नियोज्याः इति। एवं गुरुकुलादाचार्यप्रदत्तवर्णव्यवस्थापत्रं प्राप्य सर्वेऽपि समावर्त्य (स्वस्वाश्रममागत्य) दारपरिग्रहं कृत्वा स्वस्वकर्मसु संलग्ना भवन्ति स्म।

एवं गुरुकुले संस्कारद्वारा येषां ज्ञानोत्पत्तिर्जाता ते द्विजाः द्विजन्मानश्चेति ख्याताः। यतो हि पित्रोर्देहोत्पत्तिरित्येकं जन्म, आचार्याच्च ज्ञानोत्पत्तिरिति द्वितीयं जन्म येषान्ते तथोक्ताः। तत्रापि ब्राह्मणः सर्व-

कर्मकुशलत्वाद् गुरुकुले प्रथमश्रेणीगतत्वादग्रजन्मेत्युच्यते। अत्रेदमप्यवधेयं यद् ब्राह्मणानां स्वेतराणि क्षत्रियादिवर्णत्रयसाध्यकार्याण्यपि सुसाध्यानि। एवं क्षत्रियाणां-वैश्य-शूद्रसाध्यान्यपि कार्याणि सुसाध्यानि (स्वनुष्ठितानि)। तथा वैश्यानां शूद्रसाध्यानि कार्याणि च सुसाध्यानि भवन्ति। शूद्राणां तु प्रायः स्वकार्येतराणि कार्याण्यसाध्यान्येव। तथा स्वोच्चधर्मः सर्वैरपि दुःसाध्यो भवतीति बालकैरप्यवगम्यते। अत एव सर्वैः स्वस्वधर्मः, अथवा दुरनुष्ठेयोऽपि स्वोच्चधर्म एवानुष्ठेयः। न केनाप्यवनतिमार्गोऽवलम्बनीयः। अत एव भगवता श्रीकृष्णेनापि—

"स्वधर्मो विगुणः श्रेयान् परधर्मात् स्वनुष्ठितात्॥"

इति स्वनीचकर्माचरणमेव निन्दितम्। न तु स्वोच्चकर्माश्रयणम्। यतो नीचधर्म एव स्वनुष्ठितो (सुखेनानुष्ठितो) भवति।

अतो गुरुकुले गुणकर्मवशाद् यो वर्णः सिद्ध्यति स एव वास्तवो वर्णो ज्ञातव्यः। इत्येव भगवता मनुनापि—

"कामान् माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद्योनावभिजायते॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥"

इति प्रतिपादितम्। पूर्वस्मिन् समये एतादृशैरेव वर्णैर्वर्णव्यवस्था प्रथमतो भारतवर्षे भारतीयैरेव महर्षिभिः कृता। यया व्यवस्थया भारतवर्षमिदं सर्वदेशेषु श्रेष्ठतममभिहितम्। पश्चादन्यदेशीयैरप्यत्रागत्य गृहीतशिक्षैरन्यत्रापि सा प्रचारिताऽत एव—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

इति स्मृतिकारैरभिहितम्। इत्यलं प्रसङ्गागतविचारेण।

ज्यौतिषशास्त्रमते तु तस्मिन्नेव गृहे सुखं सम्पत्तिश्च यत्र स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रेम। परस्परं प्रेम तत्रैव यत्र स्त्रीपुरुषौ समगुणौ, अथवा पुरुषस्य वशे स्त्री। तथा पुरुषवशा स्त्री तदैव यदि वर्णगुणादिभिरधिकः पुरुषो भवेत्। अत एव ययोर्वधूवरयोः स्पष्टजन्मकालज्ञानं भवेत् तयोस्तद्वशाद् वर्णगुणादिकं ज्ञात्वा शुभसमये विवाहसम्बन्धः कर्त्तव्यः। पारंपर्यतोऽधुनाऽप्यस्माभिर्ज्यौतिषशास्त्रोक्तजन्मकालवर्णवशेन ब्राह्मण-

कुलोत्पन्नोऽपि "बालकोऽयं शूद्रवर्णः" तथा च शूद्रकुलोत्पन्नोऽपि "बालकोऽयं ब्राह्मणवर्णः" इति जन्मपत्रं लिख्यते, तदनुसारेण वधूवरयोर्वर्णस्वभावगुणादिकं ज्ञात्वा विवाहसम्बन्ध आदिश्यते। यतस्तुल्यस्वभावयोरेव परस्परं प्रीतिर्भवितुमर्हति। यदि कन्यावरयोर्जन्मसमयौ न ज्ञातौ वा कालस्य सौक्ष्म्यात् सन्देहः, एवं यदि कन्याऽत्यधिकगुणा तदधिकगुणो वरो दुर्लभस्तदा कन्या स्वयमेव वरं वृणुयात्। अत एव पूर्वस्मिन् समयेऽस्मिन् देशे अधिकगुणवत्याः कन्यायाः स्वयंवरविधिरासीत्। यथा—सावित्रीसत्यवन्तौ, जानकीरामावित्यादीन्युदाहरणानि सर्वविदितान्येव।

तथा च देश-काल-क्रिया-वशात् स्वभावेऽपि परिवर्त्तनं भवत्यत एव यदा द्वयोः समस्वभावयोः सुहृदोरपि कालभेदवशस्वभावभेदात् वैमत्यं तदा ताभ्यामपि पृथक् स्थितिः कर्त्तव्या, तदैव तौ सुखिनौ भवितुमर्हतः। पुनः कालवशाद् यदा तयोर्मतैक्यं तदा पुनरेकत्र स्थितिं विधाय मिलित्वा कार्यं सम्पादनीयम्। अत एव कदा कयोः प्रीत्युत्पादकः समयः, कदा च कयोर्विरुद्धमतिकारक इत्यादि सर्वलोकोपकारकं ज्ञानं ज्योतिर्विद्याविज्ञैर्ज्योतिषे निहितम्। अत एव ज्यौतिषं सर्वैरध्ययनीयं, रक्षणीयं चेत्यलं पल्लवितेन पण्डितानाम्पुरस्तादिति।

त्र्यधिकद्विसहस्रेऽब्दे वैक्रमे लिखितं त्विदम्।
चौगमावासिना काश्यां श्रीसीतारामशर्मणा॥



वैदिक दर्शन

डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल

वैदिक युगमें विचारोंके गरुड़ ज्ञानके आकाशमें बहुत ऊंचे उड़े। वह ज्ञानका सद्यः प्रभात था, उसकी उपःकालीन रश्मियोंसे स्फूर्ति पाकर मनके वैनतेयने प्रचण्ड शक्तिके साथ अपने पंख फड़फड़ाये। पृथिवी और द्यु-लोकके अनन्त अन्तरालमें ज्ञान-सुपर्णने अपने लिए जितना प्रदेश नापा वही संस्कृतिके विस्तारका भूगोल निश्चित हुआ। पृथिवी सूक्तके ऋषिने प्रार्थना की है कि पृथिवी हमारे लिए 'उस लोक'की कल्पना करे। यह 'उस लोक' या महान् विस्तार ज्ञानके आकाशमें हर एकको अपने लिए बनाना पड़ता है। वामन-पुरुष विराट् विचारोंसे त्रिविक्रम बनकर तीनों लोकोंको अपने चरणोंसे नाप लेता है। वैदिकयुगमें 'इदं विष्णुर्विचक्रमे'के द्वारा विक्रमके स्वर गम्भीर हुए।

यस्योरुषु त्रिपु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा—जिसके तीन विस्तृत चरण-न्यासोंमें त्रिभुवन समाया हुआ है—इस दृष्टिकोणके अनुभवसे ऋचाओंके विद्वान् गायक विश्वासके साथ ज्ञानके नये प्रदेश जीतने निकले; उनका प्रातिभ चक्षु खुला, वैदिक भाषामें वह फूलकर बाहरकी ओर आया और अश्वमेधके अश्वकी तरह उस चक्षुने स्वच्छन्द विचरण किया, उरुक्रम गतिसे द्यावा-पृथिवी, समस्त लोक और दिशाओं का उसने चक्कर लगाया—

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वः
परि लोकान् परिदिशः परिस्वः—

जिससे ज्ञानका अश्वमेध पूर्ण हुआ। भारतीय दर्शनका उपःकाल या वैदिक दर्शन ज्ञानके मेध्य अश्वका सिर है—

उषा वै मेध्यस्य अश्वस्य शिरः।

वैदिक दर्शनमें जो महिमा या वरिष्ठ-भाव है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऋग्वेदमें एक सुन्दर शब्दका प्रयोग हुआ है—'महयाय्य,' जिसका अर्थ है वह कार्य जो बड़ाईके योग्य हो। हम कह सकते हैं कि संस्कृतिकी पौ फटनेके समय उसकी प्रथम व्युष्टि या प्रभातमें ऋषियोंने ज्ञानाग्निका जो समिन्धन

किया वह एक महत्वपूर्ण कर्म था, जिसके उचित मूल्य आंकने और प्रशंसा करनेका अनुकूल समय अब उपस्थित हुआ है।

दूरंगम विचरणके योग्य बननेके लिए मनको सर्वप्रथम अपना ही संस्कार करनेकी आवश्यकता होती है। ध्यानकी प्रक्रियासे मनका यन्त्र बलवान् बनाया जाता है, ध्यान ही समाधि है। 'युंजते मन उत युञ्जते धियः'का सत्य सृष्टिका सत्य है। धी-युंजनके द्वारा मनुष्य जड़-जगत्‌से अपने आपको ऊपर उठाता है। 'धीमहि' वैदिक दर्शनका नियामक सूत्र है। 'धी-युंजन' और 'धी-प्रचोदन' इन दो चक्रोंसे वैदिक-दर्शनका रथ गतिमान् हुआ। विश्वकी विचार-शक्तिके नियन्ताने मनुष्यको 'धी' प्रदान की है और वह उस धी या बुद्धिको प्रेरित करता है। हमें उचित है कि उस 'धी'को हम उसी नियन्ताकी महिमाका चिन्तन करने और समझनेके लिए प्रयुक्त करें, यही 'धी-युंजन' के लिए पवित्रतम कर्तव्य है। 'धी-प्रचोदन' देवोंका कार्य है और 'धी-युंजन' मानुषी कर्म है।

मन ही 'कल्प वृक्ष' है। इसका 'कल्प' शब्द चिन्तन या ध्यानका पर्यायवाची है। ध्यानरूपी कल्पवृक्षके नीचे ही भारतीय संस्कृति विकसित हुई है। कल्प या चिन्तन दो प्रकारका होता है—समाधि-युक्त या संकल्प और व्याधि-युक्त या विकल्प। सम्यक् दर्शन या संकल्पको वैदिक दर्शन और संस्कृतिमें प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। प्रत्येक व्यक्तिके मस्तक पर विचार या चिन्तनकी चिन्तामणि और वक्षस्थल पर दृढ़ संकल्पकी कौस्तुभमणि सुशोभित हो यही शक्तिकी पूर्णता है। वैदिक दर्शनका विचार करते समय पहले उस दर्शनके स्रष्टा हमारे सामने आते हैं, जिन्हें कवि और ऋषि कहा गया है। कवि क्रान्तदर्शी होते हैं, ऋषि भी साक्षात् दर्शनकी सामर्थ्यसे युक्त होते हैं। वैदिक दर्शन अथसे इति तक तत्त्वको साक्षात् करनेका एक बलवान् प्रयत्न है। वह केवल बुद्धिका कुतूहल नहीं है। उसके क्षेत्रमें प्राण सत्यको अधिकृत करनेकी सशक्त चेष्टा करता है, उस प्रयत्नमें सफल होकर ही उसे शान्ति प्राप्त होती है। सत्यका जबतक अनुभव नहीं होता तबतक प्राण अपने संतुलनको प्राप्त नहीं कर पाता।

इस दृष्टिसे वैदिक दर्शनको स्वयं अपनी स्थिति और वृद्धिके लिये तपोमयी जीवन-प्रणालीका आविष्कार करना पड़ा। जब तक तपके द्वारा शक्ति ऊर्ध्वस्थित नहीं होती तब तक अमृत-सृष्टि असम्भव है। वैदिक वाङ्मयमें अनेक स्थानों पर तप और तपोमय जीवनका निरूपण मिलता है। तप वैदिक संस्कृतिका मेरुदण्ड है। वैदिक दर्शनके अनुसार स्वयं प्रजापतिने विश्वकी रचनाके लिए तप किया, उसके समिद्ध तपसे ऋत और सत्य उत्पन्न हुए जो सृष्टिके नियामक हैं। विश्वमें जीवनकी तीन कोटियां हैं—दैवी, मानुषी और आसुरी। दैवी सृष्टि तप पर आश्रित है, मध्यमें स्थित मनुष्य तपके

द्वारा ऊपर उठता है और तपके बिना नीचे आसुरी लोकोंमें गिरता है। इस प्रकार जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें वैदिक द्रष्टाओंने तपके रहस्यका आविष्कार किया।

वैदिक दर्शन अत्यन्त विस्तृत ईक्षणका परिणाम है। ब्राह्मण ग्रन्थोंने मूलतत्वकी अनन्ततासे प्रभावित होकर स्वयं "अनन्ता वै वेदाः" कहकर अपने क्षेत्रका परिचय दिया है। इसको एक छोटे उपाख्यान द्वारा स्पष्ट किया गया है—

'भरद्वाज ऋषिने जन्मपर्यन्त तप किया, जब उनको दूसरा शरीर मिला तो फिर तप किया, इस शरीरके गिरने पर तीसरे शरीरमें भी वे तप करने लगे। उनके तीन जन्मके तपको देखकर इन्द्रने सामने प्रकट होकर पूछा—'भरद्वाज क्या कर रहे हो?' उत्तर मिला—'वेदाध्ययनके लिए तप कर रहा हूं।' इन्द्रने फिर प्रश्न किया—'तुम्हें यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे?' भरद्वाजने कहा—'इसी प्रकारी तप करूँगा।' इस समय भरद्वाजके सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्रने उनमेंसे एक-एक मुट्ठ भर कर फेंकते हुए कहा—

'भद्वराज ये पर्वत देखते हो?' वेद इन्हीं की तरह अनन्त हैं।

अनन्तताके भावने वैदिक विचार-धाराको बहुत प्रभावित किया है। वैदिक विचारक शरीरके वामन भाव या सीमाभावको सहन नहीं कर सकता, वह परिधिका असहिष्णु है, घेरा डालना उसे अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि वह सब बन्धनोंको तोड़, उड़ कर विराट् विश्व में मिल जाना चाहता है। उसका उद्गार है—

इष्णन्निषाण, अमुं म इषाण
सर्वं लोकं म इषाण—

'मेरे लिये यदि कुछ चाहते हो तो यह चाहो कि वह लोक मेरे वशमें आ जाय और सारा विश्व ही मुझे मिल जाय।'

अनन्तको अनेक रूपों और प्रतीकोंसे प्रकट करनेका प्रयत्न वैदिक दर्शनकी विशेपता है। *विष्णुका त्रिविक्रम रूप ग्रहण करना अनन्तताकी ही व्याख्या है।* वामन या परिमित तत्त्व विराट् भाव में फैलता है। यही त्रिविक्रमका तात्पर्य है। देशके अतिरिक्त काल भाव भी अनन्त है, चक्रवत् परि-भ्रमण अनन्तताको ही कहनेका एक प्रतीक है। विश्वका प्रवाह, संवत्सर या कालकी गति, अहोरात्रि का परिवर्तन—ये सब चक्र-गतिके उदाहरण हैं। सूर्यका रथ भी संततगामी एक चक्र पर घूमता है।

कालकी अनन्तताका वर्णन सहस्र देवयुगोंकी गणना पद्धतिसे जाना जा सकता है[1]। ऋग्वेदका सहस्र-शीर्षा पुरुष अनन्त ब्रह्मका ही दूसरा पर्याय है। वेदोंमें अनन्त भावके लिये सहस्र शब्द और सान्तके लिये शत शब्द आता है। सृष्टिके बाहर जो बच रहता है वह शेष है, शेष अनन्त है। जो सृष्टि—परिच्छिन्न है वह विष्णु है। विष्णु अनन्त (सहस्रशीर्षा) के आधारसे स्थित है—इस कल्पनाका मूल 'सहस्रशीर्षः पुरुषः' सूक्त है। सहस्रशीर्षा पुरुषकी दूसरी संज्ञा 'त्रिपाद' या 'ऊर्ध्व' है। जो सृष्टिसे ऊपर या बाहर रहता है वही ऊर्ध्व है। उसके एक पादसे ही यह जगत् निर्मित होता है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

विराट् जगत् और विराट्में पुरुषकी कल्पना यह वैदिक दर्शनका रोचक सूत्र है। प्रजापति ने अपने शरीरसे ही यह सृष्टि-यज्ञ रचा है। इसे बनाकर वह स्वयं इसमें रम रहा है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

इसी कारण इस सृष्टिमें सर्वत्र चैतन्यकी सत्ता है और इसमें प्राणभाव और मनका अधिष्ठान है। विराट् और पुरुषको ही 'असौ' और 'अयं' कहा जाता है। जो 'असौ' है वही 'अयं' है। वैदिक दर्शन ब्रह्माण्ड और पिण्डकी एकताको स्वीकार करता है। जो यज्ञ विराट् विश्वमें हो रहा है वही एक पिण्डमें भी विद्यमान है। प्रत्येक केन्द्र पर उस विराट् यज्ञकी वेदी बनी हुई है, 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' सूत्र चैतन्यकी सब काल और सब स्थानोंमें अव्याहत सत्ताको प्रकट करता है। यज्ञ वैदिक दर्शनका प्रयोगात्मक विज्ञान है। वैध यज्ञसे विराट् यज्ञकी व्याख्याकी जाती है। अधिदैवको अध्यात्ममें देखना वैदिक कर्मकाण्डकी बड़ी विशेषता है। वैदिक मन्त्रोंमें अधिदैव और अध्यात्म अर्थ साथ-साथ चलते हैं। इस दर्शनने अपने लिए एक ऐसी परिपूर्ण भाषाका निर्माण किया जहांकी परिभाषाएँ एक ही साथ कई क्षेत्रोंमें काम देती हैं। यह उस भाषाका तेज है, पर इससे अर्थमें अनास्था नहीं आती। जो उस दृष्टिकोणको देख सकता है उसे अर्थ-गतिके कई प्रकार समानान्तर विकसित होते हुए स्पष्ट

१—पुराणोंमें इस महाकालके प्रतीक लोमश ऋषि हैं। सहस्र देवयुग ब्रह्माका एक दिन है। ब्रह्माकी ऐसी एक आयुका प्रमाण सौ वर्ष है। ब्रह्माकी आयु लोमशका एक दिन है। ब्रह्माकी जब एक आयु पूरी होती है तब लोमश अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। ब्रह्माकी आयु पर्यन्तकालमें लोमशका केवल एक रोआं जीर्ण होता है अर्थात् लोमशके एक-एक रोममें एक-एक ब्रह्माकी आयुके बराबर दीर्घकालका माप है। इस प्रकार काल की अनन्तता को मूर्तिमान् करनेवाले लोमश ऋषि हैं।

दिखाई पड़ते हैं। वैदिक भाषाकी इस समानान्तर द्योतक शक्तिने उस साहित्यको बड़ी समृद्धि प्रदान की है।

वैदिक दर्शनकी एक विशेषता यह है कि वहां 'इदमित्थं'का अभिनिवेश नहीं पाया जाता। कवियों के हृदय तरंगित होते हैं, वे किसी प्रकार जड़ीभूत चिन्तनका मर्पण नहीं करते। पथराये हुए विचारोंका उद्गिरण उनको प्रिय नहीं है। वे बराबर साक्षात् रूपमें सत्यके साथ टक्कर लेनेका प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेदका कितना सुन्दर कथन है कि ज्ञानके अधिष्ठातृ देवताकी जो पुत्रियां हैं वे न तो बिल्कुल वस्त्रोंसे ढकी हैं और न बिल्कुल नग्न हैं—

दिवो यह्वीरवसना अनग्नाः (ऋ० ३।१।६)

जो गुह्य सत्य है उसकी रश्मियां न तो एकदम चाक्षुष विषयकी तरह प्रकट हैं और न वे इस तरह तिरोहित हैं कि कोई उन तक पहुंच ही न सके। मूल तत्त्वकी इस विशेषतासे अर्वाचीन विज्ञानको भी पाला पड़ा है और उसके चिन्तनकी शैली 'दो-और-दो-चार' जैसे ध्रुव सत्यपर इस समय अविचल नहीं है। संशय और द्विविधाकी छाया वैज्ञानिक विचारों पर पड़ चुकी है, परन्तु ऋग्वेदके उस आदि युगमें साहसी मनस्वियोंने यहां तक कह डाला था कि मनुष्यकी तो सामर्थ्य ही क्या इस सृष्टिका जो अध्यक्ष है वह भी स्वयं इसके मर्म और इसके तत्त्वको निश्चयपूर्वक जानता है या नहीं यह कहना कठिन है—

यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन् स अंग वेद यदि वा न वेद।

'वह जानता है', पर क्या सचमुच वह भी जानता है? (स अंग वेद यदि वा न वेद) इस प्रकार 'यदि वा'की इस ध्वनिमें जो सच्चाई और साहस निहित है वही वैदिक-दर्शनका आकर्षक सौन्दर्य है। मेधावी मैटरलिंकने नासदीय सूक्तके प्रभावशाली उद्गारोंके सम्बन्धमें अपनी पुस्तक 'महान् रहस्य' (ग्रेट सीक्रेट) में लिखा है—

'क्या मानवी साहित्यमें ऐसे शब्द मिल सकते हैं जो नासदीय सूक्तके इन शब्दोंसे अधिक उदात्त, इनसे अधिक विषादपूर्ण, इनसे अधिक तेजस्वी, इनसे अधिक श्रद्धामय और साथ ही इनसे अधिक डरावने हों? जीवन-प्रवाहके प्रारम्भमें ही इस देशमें इस प्रकार पूर्ण रीतिसे मनुष्यने अपनी अज्ञताको स्वीकार किया है। सहस्रों वर्षोंसे बढ़नेवाले हमारे गम्भीर संशय और सन्देहोंकी परिधि क्या कहीं इतनी विशाल बन सकी है, जितनी यहां है? अबतक जो कुछ इस दिशामें कहा जा सका है उस सबको फीका कर देनेवाले हमारे ये उपःकालीन वाक्य हैं। और कहीं ऐसा न हो कि जटिल संप्रश्नोंके पथ पर चलते हुए हम भविष्यमें निराश हो बैठें। इसलिये नासदीय सूक्तके

ऋषिने संशयवादके मार्गमें निर्भयतापूर्वक उससे भी कहीं अधिक कह डाला है, जितना हम भविष्य में कभी कह पायेंगे। वह इस प्रश्नके पूछनेमें भी नहीं हिचकिचाता कि ब्रह्मको भी इस सृष्टिका या अपने कियेका ज्ञान है अथवा नहीं।' सृष्टिकी जो बड़ी पहेली है, जिसे वैदिक भाषामें महान् संप्रश्न कहा गया है, उस संप्रश्नके साथ सींग पकड़कर टक्कर लेनेका प्रयत्न करते हुए वैदिक मनीषियों को कहना पड़ा—

'न सत् था, न असत् था। न कहीं अन्तरिक्ष था न उससे परे व्योम। कौन कहां गतिमान् था, किसकी किसको शरण थी? जल और गम्भीर सागर उस समय क्या थे?

'न उस समय मृत्यु थी, न अमृत। रात और दिनका विवेक कहां था? केवल वही एक वायुके बिना अपनी शक्तिसे प्राणन क्रिया कर रहा था। उससे अतिरिक्त कुछ न था।

'सर्वप्रथम उसमें काम उत्पन्न हुआ जो मनका अग्रिम रेत है। ज्ञानसे भरपूर विप्रोंने अपने ही अन्तस्तलमें खोजते हुए सत्के बन्धुओंको असत्में पाया।

'कौन जानता है? कौन कह सकता है? कहांसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई? देवता भी इसके जन्मके बाद हुए, तो फिर कौन जाने यह कहांसे विकसित हुई?

'यह सृष्टि कहांसे फैली? यह जन्मी भी है या नहीं? परम व्योममें इसका जो अध्यक्ष है वही इसे जानता है, पर वह भी जानता है या नहीं?'

इस सूक्तमें हृदयकी जो जिज्ञासा और प्रबल मनीषा है वह समस्त भारतीय दर्शनकी जिज्ञासा को मानो एक ही केन्द्र-बिन्दु पर प्रकट कर रही है। सृष्टिके गरिष्ठ प्रश्नके समाधानकी असफलता को इस प्रकार साहसके साथ स्वीकार करके सत्यके जिज्ञासुओंने विश्व-दर्शनके तोरण पर विचार-स्वतन्त्रताके अंक लिखकर उसका महान् उपकार किया है।

वैदिक सम्प्रश्नका ही दूसरा पक्ष—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—(ऋ० १।१६४।४६)

अनुभव है। इदमित्थं ज्ञानकी असंभवताके कारण 'बहुधा' पर आश्रित इस सूक्तका आविष्कार वैदिक तत्त्व-ज्ञानमें किया गया। ऋग्वेदमें तथा अन्य संहिताओंमें भी इस विचारको बार-बार दोहराया है। एक ही तत्त्व अनेक प्रकारसे प्रकाशित हो रहा है—

एकमेवाग्निः बहुधा समिद्धः (ऋ. ८।५८।२)

एकही आत्म-सुपर्णकी कवि लोग अनेक रूपसे कल्पना करते हैं—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति

(ऋ० १०।११४।५)।

इस महान् प्रकृतिके चरितोंको भिन्न दृष्टि कोणोंसे देखते हुए मनुष्य पृथक्-पृथक् इसकी बहुत प्रकारसे मीमांसा करते हैं—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांस्यमानाः।

(ऋ० ५।१।३)।

चित्तवान् ज्ञानियोंकी सृष्टि विषयक बहुविध मीमांसा ही अनेक छन्दोंके द्वारा प्रकटकी गयी है। 'बहुधा'के चक्षुओंको अपने प्रांगणमें स्थान देकर दर्शन-शास्त्रने अपने क्षेत्रको बहुत ही विशाल बना लिया। वेदका यह दृष्टिकोण समस्त भारतीय दर्शनके लिए अमृतकी तरह कल्याणकारी सिद्ध हुआ। समस्त जातिकी विचार-धारामें इसने सहिष्णुताकी छाप लगा दी। सहिष्णुता विश्वका सबसे ऊँचा धर्म है। सहिष्णु राष्ट्रके लिए ही संसारका भविष्य सुरक्षित है। जिनकी पताकाओं पर 'एकं सद्‌विप्रा बहुधा वदन्ति' की उदार घोषणा है, वे ही अरण्यमें उगनेवाले वृक्षोंकी तरह स्वयं पनप सकते हैं एवं औरोंको जीवित रहनेका अवकाश प्रदान कर सकते हैं।

असत् और सत्, अमृत और मृत्यु, देव और असुर इस प्रकारके द्वन्द्व वैदिक दर्शनकी मानो खूटियां हैं, जिनपर विचारोंके छीकें टंगे हुए हैं। सृष्टिका द्वन्द्व और भी अनेक शब्दोंमें प्रकट हुआ है। अहो-रात्र, द्यावा-पृथिवी, शुक्ल-कृष्ण इसी द्वन्द्वके रूपान्तर हैं। ऋत और सत्य, आभू और अम्ब, नाम और रूपमें दर्शनका यही द्वन्द्व है। इस प्रकार द्वन्द्वके द्वारा विचारके संतुलनके संभालनेकी पद्धति वेद कालसे ही भारतीय दर्शनमें प्रारम्भ हुई। इन भिन्न-भिन्न ख्यातियोंमें से किसी एक पर विशेष बल देनेके कारण अनेक दार्शनिक मतवादोंका जन्म हुआ, किन्तु विवेचनाकी मूल पद्धतिका श्रेय वैदिक दर्शनको ही है।

इन बहुधा मीमांसाओंका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। चिन्तनकी बहुविधता ज्ञानको अनेक टुकड़ोंमें बांटकर चूर-चूर न करदे, इसलिए ज्ञानके ब्राह्ममुहूर्तमें इस रक्षा-सूत्रका आविर्भाव हुआ कि ब्रह्मतत्त्व केवल एक और अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयम्)। एकत्वके प्रतिपादन और बहुत्वके निराकरणमें साहित्यिक शैलीका आश्रय लेते हुए कहा है—

यह देव एक और केवल एक है।
उसमें दूसरा तीसरा चौथा नहीं है।
पांचवां छठा सातवां भी नहीं कहा जाता।

आठवां नवां दसवां भी नहीं कह सकते।[1]

ब्रह्मकी एकतासे प्रभावित ऋषिकी वाणीका तेज यहां तक बढ़ा कि अन्तमें केवल 'एक, एक, एक' यही शब्द उसके मुखसे निकलने लगे।

स एष एकः, एक वृद्, एक एव।

वैदिक दर्शनमें विश्वके रोम-रोममें ओत-प्रोत संचालक और उसके नियमों पर विशेष बल दिया गया है। यह नियम दुर्धर्ष और अखण्ड माने गये हैं। इनका पारिभाषिक नाम ऋत है। ऋत, बृहत् और उग्र कहा गया है। ब्रह्माण्डमें दूरसे दूर निकटसे निकटके सब पदार्थ ऋतके आधीन हैं। हमारी पृथिवीसे कोटानुकोटि प्रकाश वर्षोंकी दूरीपर स्थित ब्रह्म-हृदय नक्षत्र और इस क्षुद्र पृथिवीको एकता सूत्रमें बांधनेवाला ऋत है। राम-चरित-मानसका एक सुन्दर उपाख्यान ऋतकी अखण्ड व्यापकताको बताता है—

'रामसे बचनेके लिये गरुड़ जी अनेक ब्रह्माण्डोंका चक्कर काटते हैं, पर सब जगह रामकी भुजा उनका पीछा करती है।'

यह समस्त लोकोंमें एक अखण्ड नियमकी व्याप्तिको ही इंगित करता है। वैदिक मत यह है कि ब्रह्मने अपने मनकी शक्तिसे ऋतके तंतुका वितान या मापन किया है—

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः। (अथर्व १३।४।९)

ऋतका तन्तु वरुणकी माया से सर्वत्र वितत है। धीर अपनी प्रज्ञाके बलसे इस तक पहुंचते हैं। ऋतके ध्यानसे पापभाव नष्ट होते हैं। ऋतके गानसे बहरे कान खुल जाते हैं। पृथिवी और आकाशके बीचका भारी अन्तराल ऋतसे भरा हुआ है। ऋतकी नींव अत्यन्त दृढ़ है।

ऋतस्य दृन्हा धरुणानि सन्ति। (ऋ० ४।२३।९)।

ऋतको जानना, ऋतकी रक्षा करना और ऋतके अनुसार ऋजु भावसे जीवन व्यतीत करना, यह ज्ञानका ऊंचा आदर्श है। ऋतज्ञ ऋतस्पतिये वैदिक आदर्शके अनुसार अत्यन्त सम्मानित समझे गये हैं। ऋत 'ऋ = गतौ', धातुसे बना है। विश्वके सत्यके अनुसार जो गति है वही ऋत है। पृथिवी

१—य एत देवमेकवृतं वेद।
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। (अथर्व १३।४।१५-१९)

और सूर्य, ग्रह आर नक्षत्र प्रत्येकके लिए एक ऋत नियत है। ऋतके मार्ग पर चलते हुए वे न डरते हैं और न लड़-खड़ाते हैं—

न विभीतो न रिष्यतः

ऋतके साथ गतिभावका विशेष सम्बन्ध है। वैदिक भाषा और विचार-पद्धति दोनोंमें गति-संचरण, विक्रमणका भाव साधारण रूपसे पाया जाता है। गत्यर्थक धातुओंकी विशेष संख्या उस युगकी निजी विशेषता है। सम्भवतः उषःकालीन प्राणके युगमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। तत्त्वके साथ साक्षात् टक्कर लेनेका प्रयत्न प्राणवान् दर्शनकी विशेषता होती है। कहीं 'सेतूँस्तर, सेतूँस्तर, सेतूँस्तर'के साम-गानमें जीवनकी प्रगतिके लिए पराक्रमशील भाव व्यक्त किये गये हैं। कहीं 'तरत्स मंदी धावति' के गानमें जीवनका वेग प्रकट होरहा है। आनन्दसे भरा हुआ हृदय मानो तैरता हुआ आगे दौड़ रहा है। कहीं इस पारसे उस पार कूदकर तत्त्व तक पहुंच जानेकी स्कन्दमयी प्रवृत्ति है। कहीं कालरूपी अश्वपर आरोहण करके उच्चतम जीवनकी ओर बढ़ जानेका भाव है और कहीं लोक और परलोकके सभी ऋण-बन्धनोंसे उऋण होकर पितृयान और देवयानके लम्बे मार्गोंको इसी जीवनमें पार कर लेनेका संकल्प है। वैदिक जीवन-शक्तिमत्ताके आदर्शकी उपासना करता है। शाकरी मन्त्र यह कहते हैं कि जितना हम जीवनमें कर सकते हैं वही सब कुछ है। केवल विचार जीवनके लिए पर्याप्त नहीं हैं; उन विचारोंके अनुसार कर्म कर सकना सफलताकी कसौटी है। विचारोंसे कतराकर निकल जानेवाले उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते। विचारोंके साथ जूझनेवाले ही उनके साथ न्याय कर सकते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण वैदिक दर्शनके बहुत निकट है। वैदिक जीवन इसी प्रकारके कर्मण्य और जुझाऊ भावोंसे अनुप्राणित हुआ था।

वैदिक युगने समस्त भारतीय दर्शनके लिये विकासका मार्ग निर्धारित कर दिया। उस दर्शनके निर्माता बहुत ही सच्चे अर्थोंमें हमारी संस्कृतिका मार्ग बनानेवाले ऋषि थे, जिन्हें वैदिकभाषामें 'पथिकृत्' कहा गया। ज्ञानके पूर्वकालीन पथिकृतोंको प्रणाम करना विश्व-सामान्य धर्म है—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥

(ऋ० १०।१४।१५)।

पूर्वकालके पूर्वज ऋषियोंको प्रणाम हो, जिन्होंने ज्ञानके अरण्यमें नयी पगडण्डियोंका निर्माण किया।

वैदिक दर्शन और अन्य दर्शनोंमें साहित्यिक शैलीकी दृष्टिसे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बादके युगमें दर्शनिक विचारोंको काट-छांट कर कर्म और व्यवस्थाके साथ सजाया गया है। वह एक वाटिकाकी तरह है। उसके तैयार करनेमें बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। वाटिकामें क्यारियां अलग-अलग विभक्त, और उनके पौधोंका चुनाव भी अलग-अलग रहता है, किन्तु वैदिक दर्शन कवियोंकी रचना है, उनकी कविताका ओजायमान प्रवाह वर्षाकालीन झंझावातोंके साथ आये हुए पर्जन्योंकी तरह बरसता है और उनसे हर एक दिशामें बहियासी आयी जान पड़ती है।

अन्य दर्शन बुद्धिके लिए और वैदिक दर्शन हृदयके लिए है। बुद्धि बिना जलके भीतर पैठे प्रवाह-की मीमांसा कर सकती है, अथवा मधुका स्वाद चखे बिना वह मधुकी ऊहापोह करनेकी अभ्यस्त है। परन्तु हृदय तरंगित जलमें तैरना और मधुका स्वाद चखना चाहता। अन्य दर्शनोंकी पद्धति मनुष्यके चैतन्यके एक अंशका स्पर्श करती है, वैदिक दर्शन उसके समग्र रूपके साथ तन्मय होनेका निमन्त्रण देता है। भविष्य निश्चय रूपसे वैदिक दर्शनके हाथ है, क्योंकि उसका सन्देश कविताके द्वारा कहा गया है। बुद्धिसे थके हुए मानवकी भावी भाषा कविता ही होगी।



अथर्ववेदका परिचय

श्री सम्पूर्णानन्द

अथर्ववेद इस समय मुख्यतः शौनक और पैप्पलाद नामकी दो शाखाओंमें उपलब्ध है। दोनोंमें बहुतसे मंत्र तो समान हैं परन्तु कुछ मंत्र एकमें हैं, दूसरेमें नहीं। मंत्रोंके स्थान और क्रममें भी अन्तर है। सायणाचार्य्यने शौनक शाखावाली संहिताका ही भाष्य किया है।

उत्पत्तिकी कथा

इस वेदकी उत्पत्ति[1] या यों कहिये कि इसके मंत्रोंकी उत्पत्ति, की कथा गोपथ ब्राह्मणादिके अनुसार इस प्रकार है—सृष्टि करनेके पूर्व ब्रह्माने उग्र तप किया। फलतः उनके समस्त रोमकूपोंसे पसीना बह चला। इस स्वेदराशिमें उनको अपनी छाया देख पड़ी। छाया थी तो उनके ही शरीरकी परन्तु छाया शब्द स्त्रीलिंग है, उसमें इतना स्त्रीत्व था। अस्तु, उसको देखकर उनका वीर्य्य स्खलित हो गया। पसीनेसे मिलकर उसके दो भाग हो गये। एक भाग 'भृज्ज्यमान' होने (पकने) पर भृगु नामका महर्षि बन गया। ब्रह्माजी तबतक अन्तर्धान हो चुके थे। भृगुने उन्हें ढूंढ़ना आरम्भ किया। उस समय आकाशवाणी हुई 'अथ अर्वाक् एनं एतासु एव अप्सु अन्विच्छ' अर्थात् उनको इस जलमें भलीप्रकार ढूँढ़। तदनन्तर उनका परिश्रम सफल हुआ और ब्रह्माजीके दर्शन हुए। आकाशवाणीके प्रथम दोनों शब्दोंके कारण भृगुका नाम 'अथर्वा' भी पड़ गया। शेष वीर्य्य और स्वेदसे आवृत ब्रह्माके तप्त अङ्गोंसे रस क्षरित हुआ। उससे अङ्गिरा नामके महर्षि बने। ब्रह्माके आदेशसे अथर्व और अङ्गिराने तप किया। तपःप्रभावसे एकर्च, द्व्यृच आदि बीस ऋषि उत्पन्न हुए। यह सब अथर्व और अङ्गिराकी मानस सन्तान थे। इनके निमित्तसे जिन मंत्रोंके दर्शन हुए वह अथर्वाङ्गिरस कहलाते हैं। ऋषियोंकी संख्या बीस थी, अतः मंत्रोंका संग्रह बीस काण्डोंमें विभक्त है।

१—यहां उत्पत्ति शब्दका प्रयोग लाक्षणिक है। ऐसा माना जाता है कि वेद अपौरुषेय है और नित्य है तथा अपरिमेय है। समय समय पर तपःप्रभावसे किसी ऋषि विशेषको उसके कुछ अंशका दर्शन हो जाता है। इसीके लिए यहां लोकाचारके अनुसार उत्पत्ति शब्दका व्यवहार किया गया है।

यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि अथर्ववेद, अथर्वाङ्गिरस मंत्रोंका यह समूह, वस्तुतः वेद है या नहीं। प्राचीन ग्रंथोंमें बहुधा त्रयी, त्रयी विद्या, वेदत्रय ऐसे प्रयोग मिलते हैं। ऋग्वेदका पुरुषसूक्त, जो यजुर्वेदमें भी थोड़ेसे हेरफेरसे अवतरित है, स्पष्ट कहता है—'ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजुस्तस्माद-जायत' उस (विराट् पुरुषसे) ऋक्, साम और यजु उत्पन्न हुए। ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है—'त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजात यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्'—तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और आदित्यसे सामवेद। इन श्रौत वाक्योंका अनुसरण सूत्रग्रंथों और कई स्मृतियोंमें भी किया गया है। वेदका उपयोग यज्ञमें होता है। यज्ञमें चार प्रकारके कर्म्म होते हैं और उनके कराने वाले चार प्रकारके पुरोहित होते हैं, होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। सो ऐतरेय ब्राह्मण (५-३३) में स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेदसे होतृकर्म, यजुर्वेदसे अध्वर्य्युकर्म, सामवेदसे उद्गातृकर्म्म और तीनों ही वेदोंसे ब्रह्मकर्म्म होता है।

वेदत्रयका मन्थन

इन आक्षेपोंके उत्तरमें यह कहा जाता है कि कहीं-कहीं तो वेदचतुष्टयका स्पष्ट उल्लेख है। बृहदा-रण्यक आर मुण्डक उपनिषत् ऋगादिके साथही अथर्ववेदका नाम लेते हैं। जहां त्रयीका उल्लेख है वहां चौथेकी ओर भी संकेत है। या तो तीन नाम देकर 'अथर्वाङ्गिरसः' भी पीछेसे जोड़ दिया है या 'छन्दांसि' आया है या कुछ नहीं तो 'च' (और) का प्रयोग है। ऋगादि शब्दोंसे ऋग्वेदादि मंत्र-समुच्चयोंका अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये वरन् मंत्रोंके स्वरूपका। मीमांसामें जैमिनिने बतलाया है वेदका पद्यांश ऋक्, गीतबद्ध अंश साम और शेष अर्थात् गद्यांश यजु कहलाता है, चाहे यह सब अंश किसी संग्रहमें हों। प्रस्तुत अथर्ववेदमें गद्य और पद्य दोनों ही प्रकारके मंत्र हैं अर्थात् ऋक् और यजु दोनों हैं। इसलिए वहभी त्रयीके अन्तर्गत है। एक शंका रह जाती है। वेदकी, कमसे कम संहिता भागकी, सार्थकता यज्ञमें है, प्रत्येक मंत्रका किसी न किसी यज्ञमें कहीं न कहीं काम पड़ता है। परन्तु अथर्ववेदसे कैसे काम लिया जा सकता है। जब ऐतरेय ब्राह्मण, जो स्वयं श्रुति है, स्पष्ट कहता है कि होतृकर्म्म ऋग्वेदसे, अध्वर्युकर्म्म यजुर्वेदसे, उद्गातृकर्म्म सामवेदसे और ब्रह्मकर्म्म तीनोंसे होता है तब अथर्ववेदका उपयोग कौन और कैसे करेगा। इसका उत्तर गोपथब्राह्मणमें मिलता है। 'अथर्वा वै प्रजापतिः' प्रजापति, ब्रह्मा, का ही नाम अथर्वा है। अतः आथर्वण मंत्र प्राजापत्य मंत्र हैं, ब्राह्ममंत्र हैं, संकेतसे यह बात निकलती है कि यज्ञमें ब्रह्मा प्राजापत्य मंत्रोंको, आथर्वण मंत्रोंको, पढ़े। ऐतरेय श्रुतिके इस वाक्यसे कि ब्रह्मकर्म्म तीनों वेदोंसे होता है यह ध्वनित होता है कि किसी समय यह आथर्वण मंत्र तीनों वेदोंमें पाये जाते होंगे। इस निष्कर्षकी पुष्टि इस परम्परागत आख्यानसे होती है कि कृष्णद्वैपायन मुनिने वेदत्रयको

मथकर उनमेंसे अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंको छांटकर पृथक् संग्रह प्रस्तुत किया। इसीका नाम अथर्ववेद है। इस सम्पादन कार्य्यके हेतुसे ही उनका नाम वेदव्यास पड़ा।

गोपथ ब्राह्मणमें तो इसे सब वेदोंसे श्रेष्ठ कहा है—'एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः' यदि विषयको देखा जाय तो जैसे यज्ञादि दूसरे वेदोंमें प्रतिपादित हैं वह तो हैं ही उनके अतिरिक्त ऐसी विलक्षण बातें मिलती हैं जिनका किसी श्रुतिग्रंथमें होना जल्दी सम्भव नहीं माना जायगा। लोक परलोकमें उपयोगी स्यात् ही कोई विषय अछूता छूट गया हो। इसीसे अपने भाष्यमें सायणने कहा है :—

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याकरिष्यति॥

'आमुष्मिक फल देनेवाले तीन वेदोंकी व्याख्या करके अब मैं ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकारके फल देनेवाले चौथे वेदकी व्याख्या करता हूँ।'

रोगोपचारके औषध और युक्तियाँ

मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण—सभी प्रकारके अभिचारोंसे पुस्तक भरी है। स्त्रियोंको वशमें करना, पुरुषोंको वशमें करना, शत्रुओंको वशमें करना, शत्रुओंको आपसमें लड़ा देना, उनकी चलाचल सम्पत्तिको नष्ट कर देना—इन सब बातोंके उपाय दिये हुए हैं। आमाशयके रोग, ज्वर, बहुमूत्र, मूत्रका रुक जाना, यक्ष्मा, इन सबके लिए उपचार बताये गये हैं। किसी किसी जड़ी बूटीकी प्रशंसामें बीसो मंत्र मिल जायंगे। प्रेत, पिशाच, असुर को भगानेके लिए युक्तियां भरी पड़ी हैं। इन बातों को देखकर कुछ पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि अथर्ववेद वैदिक कालमें प्रचलित जादू टोनेका संग्रह है। इनमेंसे कुछ मंत्र तो ऋग्वेदके मंत्रोंके समान ही प्राचीन हैं। सम्भव है यह मंत्र दूसरे वेदोंमें मिले जुले रहे हों। पर जब आर्य्य लोग भारतमें फैले और वह सभ्य तथा संस्कृत हुए तो उनको यह मंत्र अच्छे नहीं लगे, अतः व्यासने इनको अलग कर दिया।

जादू टोनेवाले मंत्र आजकलके एतद्विषयक लोक भाषामें प्रचलित मंत्रोंके पुरोगामी हैं, अन्तर इतना है कि भैरव, शीतला, मसान, लोनाचमारी जैसी देवताओंकी जगह इन्द्र, अश्वी, रुद्रादिके नाम आते हैं। शत्रुनाशादिके लिए जो अभिचार कर्म्म तांत्रिक विधियोंसे किये जाते हैं उनपर भी अथर्व वेदकी स्पष्ट छाया देख पड़ती है। उदाहरणके लिए इन मंत्रोंको देखिये—

स्तुवानम् अग्न आवह यातुधानम् किमीदिनम् ।
त्व हि देव वन्दितो हन्तादस्योर्बभूविथ ॥ (१-२-१-१)[1]

हे अग्नि, हम जिस देवताकी स्तुति करते हैं उसको हमारा कर्म्म प्राप्त कराओ और इस छिद्रान्वेषी दुष्ट राक्षसको हमसे दूर करो ।

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधिः ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ (३-२-६-१)

परमबली पुरुष कहलानेवाले खदिर वृक्ष (खैर, कत्था) के ऊपर उत्पन्न अश्वत्थ (पीपल) [मणि रूपसे धारण करने पर] उन सब शत्रुओंका नाश कर डाले जिनसे मैं द्वेष करता हूँ या जो मुझसे द्वेष करते हैं ।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ (१-३-३-१)

जैसे वृक्ष परसे मनुष्य फूलोंको उतार लेते हैं वैसे ही मैं इस स्त्रीके भाग्यको और उसके तेजको उतारकर स्वयं ग्रहण करता हूँ। जैसे महामूल पहाड़ अचल रहता है वैसे ही यह चिरकाल तक अपने पिताके यहां पड़ी रहे ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ (२-१-४-६)

यह जङ्गिडमणि (जङ्गिड नामक पेड़की लकड़ीसे बना और सनके डोरेमें पिरोकर हाथमें बांधा हुआ मणि) कृत्या (दूसरेके अभिचारसे उत्पन्न पीड़ा) को दूर करता है, शत्रुओंका नाश करता है, बलवान है, वह हमारी आयुको बढ़ावे ।

प्रयोगात्मक परीक्षाएँ

मंत्रोंका केवल पाठ ही नहीं होता और न उनसे होम मात्र किया जाता है परन्तु आजकलके

१—अथर्व वेदके मंत्रोंके संकेतमें पहिला एक काण्ड, दूसरा अनुवाक, तीसरा सूक्त और चौथा मंत्र बतलाता है ।

टोटकोंकी भांति किसीमें हाथमें सूत बांधा जाता है, किसीमें कोई लकड़ी बांधी जाती है, किसीमें शत्रुकी दतौन या अन्य बरती हुई वस्तुपर उपचार करके उसको गाड़ दिया जाता है।

रोग शमनके जो उपाय दिये गये हैं उनकी प्रयोगात्मक परीक्षा होनी चाहिये। केवल मंत्र नहीं पढ़ने हैं, उनके साथ साथ कई प्रकारकी चिकित्सा भी है। खानेकी औषधियां हैं, लेप हैं, धूम्रपान है।

ज्वर, अतीसार, अतिमूत्र और नाड़ीव्रणमें मूंजकी रस्सी बांधनी चाहिये। खेतकी मिट्टी पिलानी चाहिये, घीका लेप करना चाहिये और चमड़ेकी धौंकनीसे अपान, शिश्न और व्रणके मुंहको धौंकना चाहिये। उस अवसरके लिये यह मंत्र हैं—

अदोयदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्।
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजंयथाससि ॥ (२-१-३-१)
उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधि भेषजम्।
तदास्रावस्य भेषजम् तदुरोगमशीशमत् ॥ (२-१-३-४)

मुंजवान् पर्वत्से श्रेष्ठ, व्याधियोंसे बचानेवाला, जो मूंज पृथिवीपर उतरकर दौड़ता है उस तुझको मैं सुभेषज, उत्तम औषध, बनाता हूं।

दीमक पृथ्वीके नीचे स्थित जलराशिसे रोगनाशक औषधको पृथिवीके ऊपर लाती है। वह मिट्टी अतीसारकी औषध है, वह रोगोंका शमन करती है।

शरीरस्थ कीड़ोंके नाश करनेवाले मंत्रोंका यह एक निदर्शन है—

इन्द्रस्य या मही दृषत् कृमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि संक्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥ (२-५-५-१)

इन्द्रकी जो सब कृमियोंका नाश करनेवाली बड़ी शिला है उससे मैं शरीरके सब कीड़ोंको पत्थरसे चनेको पीसनेकी भांति पीस डालता हूं।

श्वेतकुष्ट और पलित (बालोंका श्वेतपन) दूर करनेके लिए भृङ्गराज, हल्दी, इन्द्रायन और नीलको पीसकर सूखे गोबरके साथ लेप किया जाता है और होम भी किया जाता है। तत्सम्बन्धी मंत्रोंका यह निदर्शन है :—

नक्तं जातास्योषधे रामेकृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ (१-५-२-१)

हे (हरिद्रा नामवाली) औषधि, तू रातमें उत्पन्न हुई है, हे रामा (भृङ्गराज, भंगरा), हे कृष्णा (इन्द्रावरुण, इन्द्रायन), हे असिक्नि (अश्वेत, नील), तुम इस किलास (कुष्ठ) और पलित (श्वेतबाल) को हटाकर (शरीरको) अपने रंगसे रंग दो।

इतने उदाहरण पर्य्याप्त हैं। यह मंत्र तत्कालीन समाजके विषयमें हमको संकेतसे बहुत सी बातें बतलाते हैं। मंत्रोंके प्रयोगसे लाभ होता हो या न होता हो—वस्तुस्थितिकी जांच करनी चाहिये—परन्तु यह स्पष्ट है कि बहुत सी जड़ी बूटियोंसे काम लिया जाता था और कई प्रकारके पत्तों, फूलों और जड़ोंके रोगनाशक गुणोंका परिचय प्राप्त कर लिया गया था। यही नहीं, चिकित्सामें शल्यादिसे भी काम लिया जाता था। प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकके तीसरे सूक्तमें लोहेकी सलाईसे मूत्रद्वारको भेदकर रुके मूत्रको निकालनेकी व्यवस्था की गयी है। यह सलाई आजकलके कैथिटरका काम देती होगी।

तत्कालीन आर्य्यसमाजमें टोने टोटके, झाड़फूंकका होना कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं है। एक ही समाजमें युगपत् परिष्कृत तथा बालबुद्धिवालोंका पाया जाना बुद्धिसे असंगत नहीं है। परन्तु इस बातपर आश्चर्य्य होता है कि इस प्रकारके मंत्र श्रुति कैसे मान लिये गये और वेदमें कैसे परिगणित होगये। भृगु और अंगिराका स्थान वैदिक ऋषियोंमें बहुत ऊंचा है। ऋग्वेदके बहुतसे मंत्र भृगु और अंगिरा गोत्रीय ऋषियोंके नामोंसे संबद्ध हैं। अथर्वा शब्द भी वैदिक वाङ्मयमें श्रद्धाका आस्पद रहा है। कई मंत्रद्रष्टा आथर्वण—अथर्वगोत्रीय—रहे हैं। ऐसी पुराणोक्ति है कि अथर्वा ब्रह्मदेवके प्रथमपुत्र थे। उन्होंने पृथिवीपर आग जलानेकी विद्याकी शिक्षा दी और सर्वप्रथम ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। पारसियोंके धर्म्मग्रंथ अवेस्तामें पुरोहितको अथ्रवन कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन कालसे, उस कालसे जब आर्य्यजाति भारतीय और पारसीक शाखाओंमें विभक्त नहीं हुई थी, अथर्वा वंश पौरोहित्यके क्षेत्रमें अग्रगण्य हो चुका था और कई मंत्रद्रष्टा ऋषि इसके गौरवको बढ़ा चुके थे, यहांतक कि अथर्वाका अर्थ ही पुरोहित होगया था।

बहुत सम्भव है कि जहां इस कुलमें ब्रह्मविद्या पारङ्गत योगी और मंत्रसाक्षात्कृत् ऋषि हुए हों और उनके वंशज सोमादि वैदिक यज्ञयागादिमें पौरोहित्य करते हों वहीं ऐसे लोग भी हों जो साधारण जनतामें झाड़ फूंक और उसके साथ साथ चिकित्सा कर्म्म करते हों। मैं नहीं कह सकता कि टोने टोटकेके मंत्रोंका दर्शन भी समाहित अन्तःकरणमें होता है या यह विशेष आवेशकी दशामें मुंहसे निकल पड़ते हैं या गढ़े जाते हैं। जो भी हो, यह हो सकता है कि कुलकी महत्ताके कारण उस कुलमें उत्पन्न हुए छोटे लोगोंकी रचनाएं भी ऋषिवचनवत् सुरक्षित हो गयी हों और पीछेसे सा दो सौ या हजार पाँचसौ वर्षोंमें सबके साथ मिलकर श्रुति बन गयी हों। मेरी बुद्धि इनको अपौरुषेय माननेको प्रस्तुत नहीं होती—मुझे यह मंत्र प्रक्षिप्तसे ही प्रतीत होते हैं।

व्यावहारिक विषयोंपर निर्देश

सारा अथर्वाङ्गिरस वाङ्मय इस प्रकारका नहीं है। अथर्ववेदके प्राथमिक चार पांच काण्डोंमें ही ऐसी स्थूल आभिचारिक बातोंकी भरमार है। शेषांशका विषय प्रायः वही है जो अन्य वेदोंका है। कुछ कर्मोंका विस्तार जैसा अथर्ववेदमें है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इनके लिए पुरोहितको इस वेदका ही आश्रय लेना पड़ता है। राज्याभिषेक, प्रेतकर्म और विवाह इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। राज संबंधी बहुतसे विषयोंका वर्णन आया है।

सूर्य्याके विवाहके कथानकके सहारे विवाह कृत्यका विशद वर्णन है। इसी प्रसंगमें नीचेका मंत्र आया है—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते॥ (१४-१-१-१३)

यह मंत्र शब्दोंके थोड़ेसे उलटफेरके साथ ऋग्वेदमें भी मिलता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य्यने जहेजमें जो सामग्री दी थी वह आगे आगे चली। मघानक्षत्रमें बैल पीटे जाते हैं, फल्गुनी नक्षत्रमें रथ चलता है। इससे इतना तो सिद्ध हुआ कि उन दिनों भी लड़कीको जहेज दिया जाता था परन्तु शेषांश अर्थहीन रह जाता है। कई विद्वानोंने इसका यह अर्थ लगाया है कि जिस समयकी ओर यह मंत्र संकेत करता है उसमें मघानक्षत्रमें सूर्यकी दक्षिणायन गति समाप्त होती थी। अतः दिन छोटा होता था, सूर्य्य धीरे धीरे दक्षिणकी ओर खिसकता प्रतीत होता था। गावः, किरणें, धीरे चलती थीं, बैलोंको पीटना पड़ता था। फाल्गुनी लगते ही सूर्य्य उत्तरायण हो जाता था, दिन बढ़ने लगता था, सूर्य्यका वेग बढ़सा जाता था। जहेजकी सामग्री रथपर जाती हुई सी प्रतीत होती थी। ज्योतिर्गणनाके अनुसार यह आजसे लगभग १५,००० वर्ष पूर्वकी बात है। अतः इस मंत्रमें इतने पुराने कालकी ओर संकेत है।

अस्तु, विवाह सम्बन्धी कई मंत्र बहुत सुन्दर हैं। इनसे उस समयकी सामाजिक अवस्थापर प्रकाश पड़ता है और लोकाचारकी कई बातें जानी जा सकती हैं। एक मंत्रमें नवं वसानः सुरभिः सुवासा—नया सुन्दर सुगन्धित वस्त्र—पहिननेका उल्लेख है। सुगन्धित करनेकी विधि कुछ भी रही हो परन्तु तत्कालीन संस्कृतिमें इसका भी स्थान था, यह तो स्पष्ट हो ही जाता है। उदाहरण स्वरूपमें यहां दो चार मंत्र देता हूं—

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ (१४-१-१-४४)

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः।
मया पत्याप्रजावति संजीव शरदः शतम् ॥ (१४-१-१-५२)

आवां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहो रात्राभ्यां समनक्त्वर्य्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमाविशेमं शं नो भवद्विदेशंचतुष्पदे ॥ (१४-२-२-४०)

हे बधु, तू ससुरों पर सम्राज्ञी हो, देवरोंपर सम्राज्ञी हो, ननदपर सम्राज्ञी हो, सासोंपर सम्राज्ञी हो।

यह स्त्री मेरी पोष्या (पालनीया) हो। बृहस्पतिने तुझको मुझे दिया है। हे प्रजावित, तू मेरे साथ सौ वर्ष तक जीवित रह।

प्रजापति तुम दोनोंको सन्तान दे, अर्य्यमा तुमको दिनरातोंसे मिलावें (पूर्ण आयु दें), सुमङ्गली होकर तू पतिके इस घरमें प्रवेश कर और इसमें रहने वाले मनुष्यों तथा पशुओंके लिए कल्याण कारी हो।

आज अपनेको वेदानुयायी कहनेवालोंके यहां किसीके मरने पर जो कुहराम मच जाता है उसको देख कर लज्जा आती है। जो लोग पुनर्जन्मको मानते हों उनमें तो ऐसा न होना चाहिये। प्राचीन कालमें मृतशरीरका जलाना भी यज्ञकर्मोंमें परिगणित था, अतः उस अवसर पर शान्तिसे काम लिया जाता था। प्रेत, तत्काल देहावसान प्राप्त प्राणीसे कहते थे—

प्रेहि-प्रेहि पथिभिः पूर्व्याणैर्येना ते पूर्वेपितरः परेताः।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
(१८-१-१-५४)

हे प्रेत, तू उन मार्गोंसे जा, जिससे तेरे पितर पहिले गये हैं। तू (हमारी हुई) हविसे प्रसन्न दोनों राजों, यम और वरुणको देखेगा।

ऋतस्य पन्थामनुपश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥
(१८-४-४-३)

ऋत (जगन्नियामक शाश्वत कारणकार्य्यात्मक शृङ्खला) के उस मार्गको देखो जिससे पुण्यात्मा अङ्गिरागोत्रीय ऋषिगण जाते हैं। उन मार्गोंसे स्वर्गको जा जहां आदित्यगण अमृतका भक्षण करते हैं। तृतीय नाक (स्वर्ग) में विश्राम कर।

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानायलोकं दिशोभूतानि यदकल्पयन्त ॥ (१८-४-४-७)

यज्ञादि तीर्थोंके सेवनसे मनुष्य बड़ी बड़ी विपत्तियोंको पारकर जाता है ऐसा जानकर यज्ञ करनेवाले पुण्यकर्म्मा जिस मार्गसे जाते हैं वह मार्ग इस यजमानके लिए दिशाएं और महाभूत (अथवा प्राणी) बनावें—अर्थात् इस यजमानको वह मार्ग मिल जाय।

मंत्र ईश्वरकृत हों या मनुष्यकृत, परन्तु अथर्ववेदका पृथिवी सूक्त (१२-१-१) अद्भुत रचना है। इसमें ६३ मंत्र हैं। मैं इनमें से आठ देता हूं—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ (५)
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतुवर्चसा ॥ (७)
यार्णवेधि सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमनत्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमम् ॥ (८)
यस्यामापः परिचराः समानी रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ (९)
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिनी स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ॥
अजीतोहतो अक्षतोध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ (११)
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्मामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ (४१)
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवीयथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणास्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुर नपस्फुरन्ती ॥ (४५)

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ (६३)

जिसमें हमारे पूर्वज रहते थे, जिसपर देवोंने असुरोंको हराया, गउओं, अश्वों और पक्षियोंका निवासस्थान, वह पृथिवी हमको सम्पन्न और वर्चस्वी बनावे।

जिसकी प्रमादरहित देवगण निरन्तर रक्षा करते हैं वह पृथिवी हमको मधुर और प्रिय पदार्थ दे और वर्चस्वी बनावे।

जो पहिले समुद्रमें थी, जिसपर मनीषी लोग बुद्धि बलसे विचरण करते हैं, जिसका हृदय परम व्योममें सत्यसे आवृत है, वह पृथिवी हमारे राष्ट्रमें उत्तम तेज और बल स्थापित करे।

जिसमें निरन्तर जलकी (तथा अन्तरिक्षमें वायुकी) धाराएं बरसती रहती हैं वह भूमि हमको वर्चस्वी बनावे।

हे पृथिवी तेरे वन और हिमाच्छादित तथा अन्य पहाड़ हमारे लिए कल्याणकारी हों। मैं इन्द्रसे रक्षित इस श्वेत लाल कृष्ण आदि अनेकों रंगवाली पृथिवी पर अपराजित और अक्षत होकर रहूं।

जिस पृथिवी पर लोग गाते हैं, नाचते हैं, लड़ते हैं, रोते हैं, जिस पर बाजे बजते हैं, वह पृथिवी हमारे शत्रुओंको दूर करके मुझे निष्कण्टक करे।

अनेक भाषाओंको बोलनेवाले और अनेक धर्म्मोंको माननेवाले मनुष्योंको धारण करनेवाली पृथिवी निश्चल गऊके समान स्थिर होकर मेरे लिए सहस्रधारा सम्पत्तिको दुहे।

हे मातःभूमि, तुम ज्ञानसम्पन्ना हो, हमको श्री, भूति, सब प्रकारके कल्याणसे सम्पन्न करो।

देवोंसे प्रार्थनाएँ

स्थल स्थल पर देवोंसे जो प्रार्थनाएंकी गयी हैं वह भी बहुत सुन्दर हैं। यह तो कहना अनावश्यक है कि वैदिक प्रार्थनाएं भक्तिकालके भजनोंकी भांति दुर्बलोंकी चीत्कार नहीं होतीं। उनमें ओज और वीर्य्य होता है, और प्रार्थयिता अपनेमें विश्वास रखता है, उसके शब्दोंसे प्रकट होता है कि उसको यह निश्चय है कि मंत्ररूपी अमोघ शस्त्र निष्फल नहीं जायगा और देवताको सुनना ही पड़ेगा।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षं अभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ता दुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु ॥ (१९-२-१५-५)
वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशाः अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ (१९-७-६-१)

प्रियं मां कुरुदेवेषु प्रियं राजसु मा कुरु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्य्ये ॥ (१९–७–६–४)
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ (३–५–६–२)

या त इन्द्रतनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ यात इन्द्र पवमाने स्वर्विदि।
ययेद तन्वान्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्य्याणि।
त्वंनः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां माधेहि परमे व्योमन् ॥ (१७–१–१–१३)

अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पृथ्वी हमारे लिए अभय करें। हमारे लिए आगे पीछे ऊपर नीचे सब ओर अभय हो।

मेरी वाणी बनी रहे, मेरे नथनोंमें प्राणसंचार होता रहे, आंखोंमें देखनेकी और कानोंमें सुननेकी शक्ति बनी रहे, केश श्वेत न हों, दांत दृढ़ रहें, बाहुओंमें बल रहे।

मुझको देवोंमें, राजोंमें, आर्य्य और शूद्र सब मनुष्योंमें, प्रिय बनाओ।

मित्र वरुण इन्द्र रुद्र मेरा ध्यान रक्खें। यह विश्वको धारण करने वाले देव मुझे वर्चस्वी बनावें।

हे इन्द्र, तुम्हारा जो शरीर अपमें है जो शरीर पृथिवीमें है, जो अग्निमें है, जो स्वर्गतक जानेवाले वायुमें है, जिससे तुम अन्तरिक्षमें व्याप्त हो उन सब (पञ्चमहाभूतोंमें विद्यमान) शरीरोंसे हमारा कल्याण करो। हे सर्वव्यापक, तुम्हारी बड़ी शक्ति है। हमको (सम्पत्तिके उपलक्षण भूत) नाना प्रकारके पशुओंसे सम्पन्न करो और (मृत्युके उपरान्त) परम व्योममें सुधा (अमृत) प्रदान करना।

आध्यात्मिक अंश बड़ी विशेषता

अथर्ववेदका आध्यात्मिक अंश उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यों तो दूसरी संहिताओंमें भी यत्र तत्र स्वर्गका वर्णन आता है, योगियोंके अनुभवोंकी ओर संकेत रहता है और स्पष्ट शब्दोंमें वेदान्त विचार मिलता है। ऋग्वेदके नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त और देवीसूक्त इसके उदाहरण हैं। शुक्ल यजुर्वेद-का चालीसवां अध्याय ईशावास्योपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध ही है। परन्तु अथर्ववेदके बराबर प्रचुर मात्रामें यह सामग्री अन्यत्र नहीं मिलती।

पुरुषसूक्त ऋग्वेदमें तो है ही थोड़ेसे उलटफेरके साथ अथर्ववेदमें भी है। अम्भृण ऋषिकी लड़की वाक्के मुंहसे निकला देवी सूक्त भी इसमें मिलता है। इस सूक्तके अवतरण देखिये—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यै रुतविश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहं अश्विनोभा ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ममयोनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशयामि ॥ (४-६-३०—१,३,७)

मैं रुद्रोंके, वसुओंके, आदित्योंके और विश्वदेवोंके रूपसे विचरण करती हूँ। मैं मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्वियोंका भरण करती हूँ।

मैं यह बात, जो देवों तथा मनुष्योंको प्रिय है, स्वयं कहती हूँ। जिससे प्रसन्न होती हूँ उसको उग्र बना देती हूँ, उसको ब्रह्मा, ऋषि, मेधा, बना देती हूँ।

इस जगत्की मूर्धा पर (अर्थात् इसके ऊपर) जो इसका पिता (विधाता, विराट् या परमात्मा) है उसको मैं जन्म देती हूँ। जो मेरा कारण है (अर्थात् जिससे मैं उत्पन्न हुई हूँ) वह (अखण्ड एक रस परमात्मारूपी) समुद्रके जलों (अर्थात् विकारों) के भीतर (चिन्मात्र ब्रह्मसत्ता) है। मैं उसके द्वारा सम्पूर्ण भुवनोंको प्रकाशित करती हूं और द्यु लोकको (जगत्के उच्चतम लोकको भी) अपने (मायामय) शरीरसे स्पर्श करती हूँ।

इस छोटेसे सूक्तको मायावादका सारगर्भ प्रवचन कह सकते हैं।

दशमकाण्डके प्रथम अनुवाकका दूसरा सूक्त भी पढ़ने योग्य है। उसमें कई मंत्रोंमें यह प्रश्न पूछा गया है कि मनुष्यके अवयवोंको किसने बनाया, जगतका संचालन कौन करता है, आकाश और पृथिवीको किसने धारण किया है और फिर उत्तर भी हैं। इसी प्रसङ्गके कुछ मंत्र अवतरित करता हूँ—

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्मद्यौ रुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वंतिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ (२५)
न वैतं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ (३०)
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्याः ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ (३१)

तस्मिन् हिरण्यये कोशे अरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः ॥ (३२)
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ (३३)

ब्रह्मने भूमि बनायी है, ब्रह्मने ऊपर द्युलोकको बनाया है, ब्रह्मने उपर तिर्यक् रूपसे विस्तीर्ण प्राणियोंके गमनागमन साधन अन्तरिक्षको बनाया है ।

जो मनुष्य ब्रह्मके पुरको जानता है जिसमें रहनेके कारण पुरुष (पुरिशेते-पुरमें सोनेवाला) नाम पड़ा है उसको पूरी आयु प्राप्त होती है और इन्द्रियोंकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती । देवोंकी अयोध्या नामकी नगरी (अयोध्या–जिससे युद्ध नहीं किया जासकता) आठचक्र और नवद्वार (शरीरके नवछिद्र-स्थान) वाली है उसमें स्वर्णमय कोश है वह स्वर्ग है और ज्योतिसे आवृत है ।

उस तीन अरेवाले और तीन पर प्रतिष्ठित स्वर्णमय कोशके भीतर आत्माका जो स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानते हैं। उस प्रकाशमान हिरण्यमयी यशसे परिवृत अपराजित पुरीमें ब्रह्मने प्रवेश किया (ब्रह्मका निवास है)।

देवगण देवताओंके, जगत्का सञ्चालन करने वाली महाशक्तियोंके, प्रतीक हैं । मानव शरीरमें देवोंका निवास, उनकी शक्तियोंकी अभिव्यक्ति, इन्द्रियोंमें हैं । देवोंकी अयोध्या नगरी वह स्थान, वह स्तर या लोक या अवस्था हैं, जहांसे इन्द्रियोंका नियमन होता है । नवद्वार तो प्रसिद्ध ही हैं, चक्रोंका अनुभव योगीको ही होता है । इनमें से ६, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा, गुदस्थानसे लेकर भ्रूमध्य तक सुषुम्ना नाड़ीमें पिरोये हुए हैं । सातवाँ सहस्र दलपद्म मूर्धामें है । इसके ऊपर वह अनामी पद है जहां शब्द भी शेष नहीं रहता । शरीर रूपी पुरीमें जो हिरण्यमय कोश है उसको स्वर्ग कहना लाक्षणिक है । वस्तुतः वह स्वर्गसे कहीं ऊँचा पद है । सत्व-रज-तम उसके तीन अरे हैं और स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों देहोंसे ऊपर उसकी प्रतिष्ठा है । अन्तस्तममें ब्रह्मका जो गुह्य स्थान है वह ब्रह्मचैतन्यसे प्रकाशित है क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप ज्ञान है । वहां किसी भौतिक प्रकाशकी पहुँच नहीं है ।

द्वितीय काण्डके प्रथम अनुवाक्का पहिला सूक्त भी बहुत सुन्दर है ।

प्रतद् वोचेद् अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहायत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानिवेद स पितुष्पिता सत् ॥ (२)
परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशेकम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ (५)

अमृतका जानने वाला वेद लक्षण वाणीको धारण करनेवाला उस धामको जानता है जो परम गुहा है। उस परतत्वके तीन पद (हिरण्यगर्भ, परमात्मा और ब्रह्म) गुहामें छिपे हुए हैं। [अथवा, उस परमपदार्थकी वाचिका वाणीके तीन पद मध्यमा, पश्यन्ती और परा गुहामें छिपे हुए हैं, साधारण मनुष्य केवल विराट् रूप और वैखरी वाणीको जानता है]। जो उन (तीन गुप्त पदों) को जानता है वह अपने पिताका भी पिता है (ब्रह्मवेत्ता होने से सर्व पूज्य है)।

जिस प्रकार सूत वस्त्रमें सर्वत्र व्याप्त है इसी प्रकार जो सत्य ब्रह्म इस असत्य जगतमें ओतप्रोत है उसको देखनेके पहले मैं सब भुवनोंको प्राप्तकर चुका हूँ (योगी नीचेके भूः, भुवः आदि सभी लोकोंका अतिक्रमण करके शुद्ध ब्रह्मपदमें प्रवेश करता है)। (वह ब्रह्मपद वह है) जहाँ देवगण अमृतपान करते हुए समान पदमें (लीन होकर) एक हो जाते हैं (उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता)।

व्रात्य या रुद्रकी महिमाका वर्णन

अथर्ववेदका पन्द्रहवाँ काण्ड उसका सबसे विलक्षण भाग है। उसमें दो अनुवाक् हैं। पूरे काण्डमें व्रात्यकी महिमा गायी गयी है। व्रात्य उस व्यक्तिको कहते थे जो द्विजकुलमें उत्पन्न होकर भी उपनयनादि संस्कारोंसे रहित हो। ऐसा मनुष्य समाजसे बहिष्कृत माना जाता था। यहाँ उसी की प्रशंसा है। पहिला मंत्र कहता है—

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्।

व्रात्यने चलते ही प्रजापतिको प्रेरित किया और अन्तिम मंत्र कहता है—

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय।

व्रात्य दिन और रातमें सबका पूज्य है, व्रात्यको प्रणाम है।

बीचके मंत्रोंमें व्रात्यके शरीरमें सब लोकों और सब देवोंका स्थित होना और उसका वशवर्ती होना दिखलाया गया है। कई मंत्रोंका कोई ठीक अर्थ ही नहीं लगता। उदाहरणके लिए इन मंत्रोंको देखिये—

सोऽनावृत्तां दिशमनुव्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्न मन्यत। (१, ६, १९)

तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणि चानुव्यचलन्। (१, ६, २०)

दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्चप्रियं धाम भवति य एवं वेद। (१, ६, २१)

वह अनावृत्ता दिशाकी ओर चला और वहाँ नहीं रहना चाहिये ऐसा मानने लगा।

दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी उसके पीछे चलीं।

जो ऐसा जानता है वह दिति अदिति इडा और इन्द्राणीका प्रिय धाम होता है ।

सायणने इस काण्डसे हार मान ली । उन्होंने अपने भाष्यमें इतना ही लिखा है कि यह प्रशंसा सब व्रात्योंके लिए तो उपयुक्त नहीं हो सकती, कोई व्रात्य विशेष रहा होगा जो परमयोगी होगा पर व्रात्य होनेसे ब्राह्मण उससे द्वेष करते होंगे । यह उसीकी महिमा होगी । बात इतनी सीधी नहीं है । यह किसी मनुष्य विशेषकी प्रशंसाका गीत नहीं प्रतीत होता । व्रात्य हो या अव्रात्य, योगी पूज्य है, फिर भी जो कुछ कहा गया है वह तो परमात्माका वर्णन प्रतीत होता है । परन्तु क्या कहा गया है यह पूरा पूरा समझ में नहीं आता । विद्वानोंको इन मंत्रोंकी व्याख्या पर परिश्रम करना चाहिये ।

अस्तु, यदि परमात्माका वर्णन है तो उसे व्रात्य, संस्कारच्युत, क्यों कहा गया ? एक जर्मन विद्वान्, हावर, का मत है कि उन दिनों जहां वैदिक यज्ञयोग करनेका चलन था वहीं कुछ योगियोंके भी सम्प्रदाय थे जो किसी भी वैदिक कृत्यको नहीं करते कराते थे अतः व्रात्य थे । या यों कहिये कि पहिले व्रात्य नाम इन्हीं लोगोंके लिए प्रचलित हुआ, पीछेसे उसका प्रयोग सभी संस्कार विहीनोंके लिए होने लगा । जो लोग किसी प्रमादसे व्रात्य रह जाते थे वह तो व्रात्यष्टोमयज्ञसे पुनः शुद्ध किये जा सकते थे पर इन योगियोंके लिये तो शुद्धिका प्रश्न नहीं उठता था, इनके कुछ अपने दार्शनिक विचार थे जो पीछे चलकर सांख्य वेदान्तादिके रूपमें विकसित हुए । यह अपने उपास्यको रुद्र संज्ञा देते थे । जीवको संस्कारोंकी आवश्यकता होती है, नित्य शुद्ध परमात्माको किसी संस्कारकी अपेक्षा नहीं है, अतः रुद्रको भी व्रात्य कहते थे । इस सम्प्रदायवाले अपनी वेपभूषा भी कुछ निराली रखते थे । उसमें उष्णीप (पगड़ी) मुख्य वस्तु थी । इसी वेपमें रुद्रकी भी कल्पना होती थी । यह लोग बस्तीसे बाहर जंगलों, पहाड़ों और श्मशान भूमियोंमें रहते थे । यही कल्पना रुद्रके साथ भी लग गयी । इस परिस्थितिकी ओर कई जगह संकेत मिलता है । और इस मतके आधार पर वेदोंके कई ऐसे अंशोंको समझनेमें सहायता मिलती है जो अन्यथा अस्पष्ट रह जाते हैं ।

विद्वानोंको इस मतकी पर्य्यालोचना करनी चाहिये पर इतना तो मैं भी कह सकता हूं कि इसके समर्थनमें कई बातें मिलती हैं । रुद्रोपासकों, शैवोंका आज तक योग वेदान्तसे अधिक सम्बन्ध है और योगियों साधुओंमें लोकभिन्न वेपभूषा धारण करनेका चलन है । यह लोग प्रायः जटाजूट धारी होते हैं और वैदिक संस्कारोंसे अलग रहते हैं । शिखासूत्र तक कटवा डालते हैं । रुद्रका कपर्दी (जटावाला) नाम तो प्रसिद्ध ही है । इस पन्द्रहवें काण्डसे पता चलता है कि व्रात्यकी कल्पना उष्णीपधारीके रूपमेंकी जाती थी क्योंकि यह कहा गया है कि दिनही उसका उष्णीष (१५-१-२-५) है । शुक्ल यजुर्वेदके सोलहवें अध्यायमें रुद्रका अनेक नामोंसे संबोधन किया गया है ।

वहाँ बाईसवें मंत्रमें रुद्रके लिए नमः उष्णीषिणे गिरिचराय—पगड़ीवाले गिरिचर (गिरीश) को प्रणाम—कहा गया है। अन्यत्र कपर्दी (जटाजूट वाला) नाम भी आया है। यजुर्वेदके इसी मंत्रमें रुद्रको धन्वायी, धनुर्धर, कहा गया है। अथर्ववेदमें व्रात्यके सम्बन्धमें सधनुरादत्त (१५–१–१–५) उसने धनुषको ग्रहण किया—कहा है। रुद्रके बहुतसे प्रसिद्ध नाम महादेव (१५–१–१–४), ईशान (१५–१–१–५) नीललोहित (१५–१–१–७), भव (१५–१–५–२), शर्व (१५-१-५-४), पशुपति (१५–१–५–६), उग्र (१५–१–५–१०) प्रसंगवशात् आ गये हैं। इससे उपर्य्युक्त मतकी कुछ पुष्टि होती है। बहुत सम्भव है कि व्रात्य नामसे उस रुद्रको ही पुकारा गया हो जो लौकिक संस्कारों तथा अन्य आचारोंको छोड़कर योगाभ्यास द्वारा परमात्म तत्वकी खोज करने—होनेवालोंके उपास्य थे। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि महादेव दिगम्बर (नग्न) माने जाते हैं और यहां (१५–१–२–५) में कहा है कि व्रात्यका वस्त्र विज्ञान् है, अर्थात् उसके शरीरपर कोई और वस्त्र नहीं है।

इस रोचक प्रसंगको हम यहीं छोड़ते हैं। इस निबंधको समाप्त करनेके पहिले एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। श्रौत परम्पराके अनुसार प्रत्येक मंत्रका कोई न कोई विनियोग होता है। अर्थात् किसी न किसी विहित कर्ममें उसका उपयोग होता है। किस मंत्रका क्या विनियोग है, उससे कहां काम लिया जाता है, इसके लिये ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रोंको ही प्रमाण माना जा सकता है क्योंकि बहुतसे मंत्र ऐसे हैं कि उनके अर्थसे कुछ भी संकेत नहीं मिलता। परन्तु अर्थको छोड़ा भी नहीं जा सकता। बार-बार श्रुति स्वयं कहती है कि मंत्रका ग्रहण अर्थसहित ही करना चाहिये। ऐसी दशामें मंत्रके अर्थ और विनियोगमें सम्बन्ध ढूंढनेकी इच्छा सहज ही उठती है। चाहे प्रत्यक्ष संबंध न मिले परन्तु प्रत्यक्ष असामञ्जस्य देख कर शंका होती ही है। अथर्ववेदमें ऐसी शंकाके लिए बहुतसे स्थल मिलते हैं। दो एक उदाहरण पर्य्याप्त होंगे।

मैं पहिले वागम्भृण सूक्तका उल्लेख कर आया हूँ, उसके कुछ मंत्रोंको भी उद्धृत कर चुका हूँ। उनमें वाक् कहती है कि मैं रुद्रादिके रूपसे विचरती हूँ, जिसको जो चाहूँ बना सकती हूँ, परमात्माकी भी भी स्रष्ट्री हूँ। सारा सूक्त वेदान्तकी शिक्षासे भरा हुआ है। इसका विनियोग यह है कि नवजात शिशुके जातकर्मके समय शंखपुष्पिका और गंधपुष्पिका जड़ियोंको पीसकर इस सूक्तको पढ़कर सोनेके टुकड़ेसे बच्चोंको चटाया जाय! मैं द्वितीय काण्डके प्रथम अनुवाकके प्रथम सूक्तके कुछ मंत्र अवतरित कर चुका हूँ। सारा सूक्त योगवेदान्त परक हैं। अब उसका विनियोग देखिये। विवाहके पहिले सूक्त पढ़कर कुमारीके सामने खेतकी मिट्टीका एक डला, दीमककी मिट्टीका एक डला, चौरस्तेका एक डला और श्मशानका एक डला रख दे और उससे उनमेंसे एक उठानेको कहे। यदि वह खेतके या दीमकके डलेको

उठा ले तो विवाह कल्याणकारी होगा। शेष दो अमंगल सूचक हैं! पांच गांठवाले बांसके दण्डको सूक्त पढ़कर समदेशमें खड़ा कर दे और जिस कार्य्यका शकुन जानना हो उसका विचार कर ले तथा किसी एक दिशाका ध्यान कर ले। यदि दण्ड उसी दिशामें गिरा तो कार्य सिद्ध होगा, अन्यथा असफलता होगी। छठे काण्डके छठे अनुवाकके पांचवें सूक्तमें छ मंत्र हैं। अन्तिम दो मंत्र यह हैं—

अहं विवेच पृथिवी मुतद्यामहम्हद् तूरंजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च॥
अहं जजान पृथिवी मुतद्यामहम्ह तूरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्निषोमावजुषे सखाया॥

मैंने पृथिवी और द्युलोकको पृथक् किया, मैंने सातों ऋतुओंको उत्पन्न किया। जगत्में जो कुछ सत्य या अनृत बोला जाता है वह मैं बोलता हूं और दैवी वाणीको मैं प्राप्त कर चुका हूं। मैंने पृथिवी और द्युलोकको उत्पन्न किया है, मैंने ऋतुओं और सातों नदियों (या समुद्रों) को उत्पन्न किया है। जगत्में सत्यासत्य जो कुछ बोला जाता है उसे मैं बोलता हूं मैं अग्नि और सोम दोनों सखाओंका सेवनकर चुका हूं। (अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है; तात्पर्य यह है कि मैं ही भोक्ता और भोग्य हूं)।

कितने सारगर्भ मंत्र हैं। परन्तु जिस सूक्तमें आये हैं उसका विनियोग यह है कि सबेरे कौआ देख पड़नेके पहिले इसे पढ़कर घीकी आहुति देनेसे स्त्रीको अच्छा पति मिलता है। पहिले मंत्रमें तो यह कहा गया है कि सूर्य्य कन्याको पति और पुरुषको पत्नी देनेकी इच्छासे उदय हो रहे हैं परन्तु इन दोनों मंत्रोंमें तो कहीं ऐसे भावका लेश भी नहीं है।

अर्थ और विनियोगका यह गठबन्धन अप्राकृतिक है। हम को श्रुतिपर अपार श्रद्धा हो पर जहां ऐसी कोई विलक्षण बात देख पड़े वहां बुद्धिसे काम लेना अश्रद्धाका द्योतक नहीं है। माना कि श्रुति मनुष्य कृत नहीं है, परमात्माके ज्ञानकी शाब्दिक अभिव्यक्ति है परन्तु यह प्रश्न तो उठताही है कि क्या पतिकी खोज और बच्चेको पोषक रस चटानेके लिए ब्रह्मज्ञान परक वाक्योंकी कोई प्राकृतिक आवश्यकता है? क्या परमात्माको ऐसे शब्द नहीं मिल सकते थे जो विषयके अनुकूल होते? वेदान्त वाक्योंको ऐसे निम्न कोटिके कामोंमें खींचकर उनकी अप्रतिष्ठा क्यों की गयी। ऐसे ही वाक्य उपनिषदोंमें संगृहीत होकर किस प्रकार समादृत होते हैं।

एक सम्भाव्य स्पष्टीकरण

मुझे तो एक ही उत्तर समझमें आता है और यह उत्तर वही है जिसकी ओर मैं टोने टोटकेके संबंध में संकेत कर चुका हूं। अथर्व और अंगिरा कुलमें उत्पन्न मंत्र द्रष्टाओंके मुंहसे निकले मंत्रात्मक शब्दोंके

साथ उन गोत्रोंके झाड़फूंक करनेवालों तथा अपदेवताओंके नामपर यज्ञ पूजादि करानेवालोंके वाक्य भी संगृहीत हो गये हैं। लिखनेसे काम लिया नहीं जाता था, स्मरण शक्तिका भरोसा था। ऐसी दशामें वाक्योंका मिल जाना, एक ही सूक्तमें कई व्यक्तियोंके, और कई अवसरोंसे संबद्ध वाक्योंका आ जाना, असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है। आश्चर्य यह है कि और अधिक अन्धेर नहीं मचा। यह भी हो सकता है कि प्रक्षिप्त वाक्योंमें कुछ ऐसे हों जो वस्तुतः अथर्वाङ्गिरस नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके रचयिता दूसरे कुलोंके व्यक्ति थे। ऐसी दशाओंमें विनियोगों व्यक्तिक्रम पड़ जाना भी समझमें आता है। किसी सूक्तका विनियोग कहीं जा बैठा है। मिश्रित सूक्तमें अवश्य ही ऐसे मंत्र मिलेंगे जिनका तथा कथित विनियोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

हो सकता है ऐसा सोचना भ्रान्ति हो परन्तु इस विषयमें और अन्वेषण होना चाहिये। इतनी पुरानी प्रतियां तो स्यात् ही मिल सकेंगी जो प्रक्षिप्त विहीन हों परन्तु सम्भव है विभिन्न शाखाओंको मिलानेसे कुछ प्रकाश पड़े। अभी कुछ दिन हुए लाहौरसे पैप्पलाद शाखाका जो संस्करण निकला है उसमें शौनक शाखासे यथास्थान मिलानेका यत्न किया गया है।

अथर्ववेदके यथार्ह अध्ययनकी आवश्यकता

अथर्ववेद अद्भुत ग्रंथ है। अभीतक भारतीय या पाश्चात्य विद्वानोंने उसका यथार्ह अध्ययन किया ही नहीं है। उसमें जो ऋग्वेदके मंत्र आ गये हैं उन पर तो दुहरा तेहरा विचार होगया है परन्तु शेष या तो कोरी श्रद्धा या उपेक्षा या दुराग्रहका शिकार होकर रह गया। अभी इसमें से बहुतसे रत्न निकल सकते हैं।

अन्तमें मैं तृतीय काण्डके छठे अनुवाकके पांचवें सूक्तके इन मंत्रोंपर इस परिचयको समाप्त करता हूं—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमिवः।
अन्योअन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रमा ॥ ३ ॥

समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।। ४ ।।

मैं तुम लोगोंके हृदय और मन समान करता हूँ, ताकि तुममें आपसमें विद्वेष न रहे। एक दूसरेके साथ इस प्रकार स्नेह करो जिस प्रकार गऊ अपने नवजात बच्चेसे करती है।

पुत्र पिताका अनुकूलचारी हो माता सन्तान पर समान भावसे प्रेम करे। पत्नी पतिके प्रति मधुर और कल्याणकारी वाणी बोले।

भाई-भाईसे और बहिन-बहिनसे द्वेष न करे। एक ही व्रतमें (अनुष्ठान या कर्म्ममें) लगे हुए, एक गतिसे चलने वाले, सब लोग भद्र वाणीसे बोलें।

तुम लोगोंका पौसरा (पानी पीनेकी जगह) एक हो, तुम एक साथ भोजन करो, तुमको मैं एक ही डोरमें बांधता हूं। एक ही उद्देश्यसे काममें लगो जिस प्रकार पहियेके सब अरे एक ही जगह आकर मिलते हैं।



वैदिक कालीन जन्तु

डाक्टर सत्यप्रकाश

आज हम इस कल्पनाके महत्वको नहीं समझ सकते हैं कि मनुष्यने उपयोगी चतुष्पद और द्विपद पशुओंको किस प्रकार व्यवहारके योग्य बनाया। सभ्यताके विकासके इतिहासमें इन पशुओंकी खोज और उनका उपयोग उतना ही महत्व रखता है, जितना कि साधारण तीर कमानसे विकास करते करते अग्निचूर्ण (दारुचूर्ण या बारूद) तकके अन्वेषण, और फिर डायनेमाइटके भी आगे परमाणु-विस्फोटकों तक पहुँच जाना। इस विकासशृंखलाका अध्ययन उतनाही मनोरञ्जक और रहस्यमय है जितना कि वनस्पतियोंके अनन्तर (वनस्पतिसे मेरा अभिप्राय वनमें उगनेवाले समस्त गुल्म, लता, पादप और वीरुधोंसे है) फल, शाक एवं अन्न तककी शृङ्खलाका है। इस लेखमें हम विकासवादके नियमोंकी मीमांसा तो न करेंगे। केवल इस बातके दिग्दर्शनका कुछ प्रयत्न करेंगे कि वैदिक-युगमें हमारा परिचय किन जन्तुओंसे था। हम ऋग्वेदसे आरंभ करेंगे।

ऋग्वेदमें लगभग उन सब पशुओंका उल्लेख आता है, जिनको जनता आजकल प्रमुख रूपसे पालती है। जैसे—

> **अश्वा न या वाजिना पूतबन्धू**—ऋ० ६।६७।४ ॥
>
> **गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिः**—ऋ० १।८५।३ ॥
>
> **तां वां धेनुं न वासरीमंशुं दुहन्त्यद्रिभिः**—ऋ० १।१३७।३ ॥

गाय और घोड़ेके अतिरिक्त ऋग्वेदमें अन्य अनेक पशुओंका उल्लेख आता है। श्यावाश्व सूक्तमें (ऋ० ८।३५) सातवें, आठवें और नवें मंत्रमें क्रमशः हारिद्रवेवपतथो०, हंसाविवपतथो०, और श्येनाविवपतथो० पद हैं जिनमें हारिद्रव, हंस और श्येन इन तीन जन्तुओंका उल्लेख है। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया (ऋ० १।१६४।२०)' नामक आत्मतत्त्वके प्रसिद्ध मंत्रमें सुपर्ण पक्षीका उल्लेख आता है। इसी प्रकार **सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता।** (ऋ० ६।७५।११) में इसका फिर उल्लेख

है। [1]ऋग्वेदके दशम मंडलका एक सूक्त (१०८) सरमा-पणि सम्वादवाला है। इस सूक्तकी वास्तविक व्यञ्जना चाहे कुछ भी क्यों न हो, सरमा शब्दको कुतियाके अर्थमें बहुधा लिया गया है। कुछ लोग इसे इन्द्रकी कुतिया समझते रहे हैं। ऋग्वेदके पहले मण्डलमें ही इसके पुत्रोंका उल्लेख आया है—'**सरमा तनयाय धासिम्**" (१।६२।३)। कहा जाता है कि इसके दो पुत्र थे, चार चारआँखोंवाले—"**सारमेयौ शबलौ श्वानौ चतुरक्षौ**" (ऋ. १०।१४।१०)। सरमाका काम इन्द्रकी गौओंका पहरा देना था। पणि लोग इन गौओंको चुरा ले जाते तो सरमा इनका पता लगाती—"**सरमा गा अविन्दद्**" (ऋ० ५।४५।७)। सरमाकी आख्यायिकाका रहस्य चाहे जो हो, यह स्पष्ट है, कि कुत्ते पहरेदारीके लिये रक्खे जाते थे[2] ? और वे न केवल पहरा ही देते थे, अपितु खोये हुये पालतू पशुओंकी खोज खबर भी ले आते थे।

यजुर्वेदके समान ऋग्वेदमें भी कुछ परिवर्तित रूपमें पुरुष सूक्त है। इस पुरुष सूक्तके एक मंत्रमें पशुओं की यज्ञसे उत्पत्ति इस प्रकार दी है—"**तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो हि जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।**" (ऋ० १०।९०।१०)। इस मंत्रमें अश्वों, उभय पंक्तीमें दांतोंवाले समस्त पशुओं, गायों, बकरी और भेड़ोंका उल्लेख है। इससे पूर्ववाले एक मंत्रमें उसी यज्ञसे उत्पन्न पालतू पशुओं, अकाशमें उड़ने वाले पशुओं (वायव्य) जंगलमें रहनेवाले पशु (आरण्य), और गांवोंमें रहने वाले पशुओं का उल्लेख है—"**पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।**" (ऋ० १०।९०।८)

वैदिक उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि पशुओंमें सबसे अधिक महत्व अश्वको है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कहा है कि अश्व ही राष्ट्र है। अश्वके अनन्तर दूसरी श्रेणीका महत्व गायको है। इन्द्रको एक मंत्रमें स्पष्ट अश्वपति और गोपति कहा है—"**यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी**" (ऋ० १।१०१।४)। ऋग्वेदके पहले मंडलके दो सूक्त १६२ और १६३ अश्वकी प्रशंसामें ही हैं। अश्व राष्ट्रका बल है, शीघ्र

१—ऋग्वेदके दशम मंडलका १४४ सूक्त "तार्क्ष्य-सुपर्ण" है। इसमें सुपर्ण और श्येनका अच्छा विवरण है। यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र अभरत्" (१०।१४४।४)। श्येन और सुपर्णका साथ "मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो" (२।४२।२) मंत्रमें भी है।

२—न केवल सरमा पहरा देती थी, उसके पुत्र सारमेयभी चोरोंके ऊपर भौंकते थे, और उनके पीछे दौड़ते थे—"स्तेनं राय सारमेय, तस्करं वा पुनः सर" (ऋ० ७।५५।३), ये ढोरोंकी जंगली सूअरोंसे भी रक्षा करते थे—"त्वं सूकरस्यदर्दृहि तव दर्दर्तु सूकरः" (ऋ० ७।५५।४)।

गामी और बलिष्ठ होने के कारण सेनाका प्रमुख अंग है। ऋचा कहती है कि—'**श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू**" (ऋ० १।१६३।१) अर्थात् अश्वको श्येन (बाज पक्षी) के ऐसे पक्ष और हरिणके से वेग गामी पैर (बाहु) प्राप्त हैं।

गाय और अश्वके अनन्तर वृषभका भी विशेष महत्व माना गया है। साहित्यके अनेक अंगोंका वृषभसे रूपक बाँधा गया है। पातंजलि महाभाष्यमें चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ वाले तीन स्थलोंपर बंधे हुये बैलकी विशेष व्याख्या है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश॥ (ऋ० ४।५८।३)

अन्यत्र (ऋ० १०।८६।१५) भी वृषभके तीखे टेढ़े सींगों और इसके रौरवका उल्लेख है—"**वृषभो न तिग्मशृंगोऽन्तर्यूथेषु रोरूवत्।**" वृषभ या साँड़की चिंघाड़का सर्वत्र वर्णन है। समुद्रसे उदय होने वाले सूर्यकी उपमा सहस्र सींगोंवाले वृषभसे दी है—"**सहस्रशृंगो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्** (७।५५।७)।

ऋग्वेदके पहले मंडलके एक मरुत् सूक्त (६४) में हाथी और सिंह आदिका उल्लेख आया है जिनसे मरुत्की तुलना की गयी है।

"**मृगा इव हस्तिनः खादथा वना**" (१।६४।७)

अर्थात् जंगली हाथीके समान वनोंको खाजाते हो। आगेके मंत्रमें—

सिंहा इव नानदति प्रचेतसः पिशा इव सुपिशो विश्ववेदसः।

क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित् सबाधः शवसाहि मन्यवः॥

(ऋ० १।६४।८)

अर्थात् सिंहके समान दहाड़ते हो, पिशा हिरणके समान सुन्दर हो, और पृषती-मृग (छींटे दार हरिण) के समान शीघ्रगामी और अहि (सर्प) के समान क्रोध करने वाले हो। इस प्रकार इस मंत्रमें कई वनैले पशुओंका उल्लेख आगया। अन्यत्र नर और मादा दोनों प्रकारके भेड़ियोंका भी वर्णन आया है,

"**मा वां वृको मा वृकीरादधर्षीन्**" (ऋ० १।१८३।४)।

ऋग्वेदके दशम मंडलके ८६वें सूक्तमें इंद्राणी और वृषाकपिकी आख्यायिका है। वृषाकपिका अर्थ बलिष्ठ बन्दर है। सायण वृषाकपिको इन्द्रका पुत्र भी मानता है। वृषाकपिके ऊपर इन्द्राणी बड़ी क्रुद्ध हैं। जिस कपि-स्वभाव का उल्लेख हनुमानके संबंधमें आता है, वैसा यहाँ भी है—

"प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्" (ऋ० १०।८६।५)

अर्थात् कपिने मेरी सब सुन्दर चीजोंको नष्ट भ्रष्ट करडाला है। संभव है कि इन्द्राणी जीकी साड़ी, चोली, आदि चीरफाड़ डाली हो, उनके शरीरमें भी खरोंच आयी हों। वे इतनी क्रुद्ध हैं कि बन्दरको कुत्तोंसे नुचवानेके लिये आदेश दे रही हैं—

"श्वान्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" (१०।८६।४)

अर्थात् वह कुत्ता जो सूअर (वराह) का भी शिकार कर डालता है, इस बन्दरके कानोंको काट खाय। पर इन्द्र कह रहा है कि मैं अपने सखा वृषाकपिके बिना कैसे सुखसे रह सकता हूँ—

"नाहमिन्द्राणिरारण सख्यु वृषाकपेर्ऋते" (१०।८६।१२)

ऋग्वेदमें कुछ पक्षियोंका वर्णन भी आता है। कुछ पक्षियोंके समान राक्षसोंसे सुरक्षित रहनेकी याचना की गयी है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहिश्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥ (७।१०४।२२)

ऐसे व्यक्ति जिनकी प्रकृति उल्लुओं सी, शुशुलूकों सी, (विशेष छोटे उल्लू), कुत्तोंकी सी, या कोक पक्षी (कोयल की सी) या बाजकी सी या गिद्ध की सी हो, उन्हें जैसे पत्थर फैंक कर मारते हैं, ऐसे मार कर हमारी रक्षा करें। उलूक, सुपर्ण, गृध्र और श्येनका उल्लेख वेदमें अनेक स्थलों पर आता है। इस मंत्रमें कोकिलाको भी सम्मिलित कर लिया गया है। अथवा संभव है कि कोक कोई उसी जातिका पक्षी हो जिसके गिद्धादि हैं।

ऋग्वेदके दशम मंडलका एक सूक्त (१६५) कपोत विषयक है। इस पक्षीको निरापद और कल्याण कारी माना गया है। संभवतः पालतू पक्षियोंमें इसकी प्रधानता हो।

"शिवः कपोत दूषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु" (१०।१६५।२)।

कबूतर गौओं और पुरुषोंके लिये कल्याणकर है—

"शंनो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु।" (१०।१६५।३)।

इसके रहने पर उल्लू हानि नहीं पहुँचा सकते हैं—"यदुलूको वदति मोघमेतद्यत् कपोतः पदमग्नौ कृणोति" (४)। यह कहना कठिन है कि कौओंका उल्लेख ऋग्वेदमें है या नहीं, वायस शब्दका एक स्थल पर प्रयोग अवश्य हुआ है, पर संभव है कि यह विशेषणमात्र हो—"दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तम्" (ऋ० १।१६४।५२)।

ऋग्वेदके इन मंत्रोंमें "गावः"[1] शब्द सभी दूध-घी देनेवाले पशुओंके लिये आता हैं जैसे गाय, भैंस, भेड़ और बकरी। दूध-घीकी महिमाके कारण ही इन पशुओंको मूल्यवान् माना गया है— "**तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुहे अक्षितम्**" (ऋ० ५।३१।५) धेनु शब्द संभवतः अकेले गायका ही वाची है—"**धेनुर्वाश्रो अवीवशत्**" (५।३४।६)।

जलचरोंमें सबसे अधिक अच्छा वर्णन मेंढकोंका है। एक पूरे सूक्त (ऋ० ७।१०३) में इनका उल्लेख है। पर्जन्य सूक्त भी इस सूक्तके साथ है जिससे वर्षा ऋतु और मेंढककोंका संबंध स्पष्ट है। इनकी ध्वनिकी तुलना गाय और बछड़ोंकी परस्पर-स्नेह-प्रदर्शिका ध्वनिसे की गयी है—"**गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति**" (७।१०३।२), या पिता-पुत्रकी बातचीतसे। "दादुर धुनि चहु ओर सुहाई। वेद पढ़ें जनु बटु समुदाई" ये चौपाइयां भी निम्न मंत्रमें अपने भाव ग्रहण करती हैं—"**यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।**" अर्थात् गुरुसे सीखते समय बालक जिस प्रकारकी रट लगाते हैं, वैसी ही वापिकामें मेंढक भी परस्पर बोलते समय प्रयोग कर रहे हैं। मेंढकोंको सैकड़ों गौओंका देनेवाला भी बताया है—"**गवां मण्डूका ददतः शतानि**" (१०)। यह इस अभिप्रायसे कि मेंढक वर्षाऋतु लाते हैं जिसके आश्रय पर सैकड़ों गायें जीवित रहती हैं।

यह आश्चर्यकी बात है कि ऋग्वेदमें अन्य जलचरोंका विशेष उल्लेख नहीं है। मत्स्यका उल्लेख एक स्थानपर इस प्रकार है—"**मत्स्यं नदीन उदनि क्षियन्तम्**" (ऋ० १०।६८।८)।

सर्पोंका कुछ उल्लेख आता है। जो लोग भद्र पुरुषोंको कष्ट देते या दूषित करते हैं, हे सोम, तुम उन्हें अहिको सौंप दो—

"**ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः, अहये वा तान् प्रददातु सोम।**" (ऋ० ७।१०४।९)। एक स्थलपर सर्पोंके बलके लिये '**अहिमाया**" (ऋ० १०।६३।४) शब्द भी आया है। वृत्रका तो विस्तृत उल्लेख है।

यजुर्वेदमें पशुशाला

पशुओंका जितना विस्तृत उल्लेख यजुर्वेदके २४ वें अध्यायमें है, उतना प्राचीन साहित्यमें अन्यत्र कम देखनेको मिलेगा। यह अध्याय "**अश्वस्तूपरो गोमृगः**" इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। अश्व तो स्पष्टतः घोड़ा है। शृङ्गोत्पत्ति कालके बीत जाने पर जिस बकरेके सींग नहीं निकलते, उसे संभवतः

१—ऋग्वेदका एक सूक्त (१०।१६९) पूरा "गावः" के विवरण का है। इसी मडलका १९ वां सूक्त "अपः गावो वा", जल और गाय दोनोंके लिये है।

तूपर कहते हैं। गोमृगसे अभिप्राय गवय (गाय मात्र अथवा नील गाय) से है। इस अध्यायमें आरण्य और ग्राम्य दोनों प्रकारके पशुओंका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।१।१३) में इस अध्यायकी ओर थोड़ासा संकेत किया है। अश्वमेध यज्ञके प्रकरणमें इस अध्यायका बहुधा उपयोग होता रहा है। राष्ट्रं वा अश्वमेधः (शतपथ १३।१।६।३), राष्ट्रीय यज्ञका ही नाम अश्वमेध है। अश्वमेधका शाब्दिक अर्थ अश्वकी पूजा है। इसी प्रकारका अर्थ पितृमेध, नरमेध और गोमेध आदि शब्दोंका है। मूलसे परावर्त्ती याज्ञिक युगमें अश्वमेध शब्दकी भावना उस यज्ञसे ली जाने लगी जिसमें अश्व-बधका विधान माना गया। तबसे यजुर्वेदके इस चौबीसवें अध्यायके सभी पशुओंको यज्ञबलिकी सामग्री समझा जाने लगा। शतपथकी कुछ पंक्तियोंके आधार पर, लगभग २०–२१ यूपोंसे १६–१६ के लगभग पशु बांधे जाने लगे। इस प्रकार महीधर आदिके भाष्योंके आधारपर इस यज्ञमें लगभग ३०० पशुओंकी बलि करायी जाने लगी। मेरी दृष्टिमें यह अध्याय उस पशुशालाकी स्थापनाकी ओर निर्देश करता है जो जनताके हितके लिए अश्वमेध यज्ञके समय आजकलके कलकत्ता, लखनऊ, लाहोर, जयपुर आदि स्थानोंके चिड़ियाघरोंके समान स्थापित किये जाते थे। जिस प्रकार आज भी अनेक स्थल-विभाग इन चिड़िया घरोंमें होते हैं, वैसे ही प्राचीन पशुशालामें होते थे। इन स्थल विभागोंका नाम ही "यूप" है। न तो यूप वधस्थली हैं, और न इनके बधसे प्राप्त मांसकी यज्ञमें आहुतियां दी जाती थीं। यज्ञकुण्डके जिन परिमाणोंका अश्वमेध आदिके संबंधमें आदेश है, उनसे स्पष्ट है, कि एक यज्ञमें एक घोड़ेके समस्त मांसके लिये भी तो स्थान नहीं रहता था, तीन सौ पशुओंके मांसकी आहुतियोंका प्रश्न तो दूर रहा। और फिर इस २४ वें अध्यायमें ऐसे जन्तुओंका भी उल्लेख है, जिनके संबंध यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उनकी बलि भी हो सकती है, अथवा जिनके मांसका सेवन किया जा सकता है। अस्तु, यहां हम इस विवादमें नहीं पड़ेंगे कि अश्वमेध यज्ञका क्या अभिप्राय है। हम केवल यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि किन प्रकारके जन्तुओंका उल्लेख यजुर्वेदके इस अध्यायमें पाया जाता है।

१. अजा और मेष—पहले सात मंत्रोंमें मेष या भेड़का तो इतना विस्तृत उल्लेख नहीं है, जितना कि बकरोंका। इनके भेद कई प्रकारसे किये गये हैं। जैसे रंगोंके हिसाबसे—रोहित, धूम्र रोहित, कर्कन्धु रोहित (ये तीन प्रकारके लाल); बभ्रु, अरुण बभ्रु, और शुक बभ्रु (ये तीन प्रकारके भूरे); पृषती, क्षुद्र पृषती और स्थूल पृषती (ये चितकबरे हैं); शितिरन्ध्र, अन्यतः शितिरन्ध्र, और समन्त शितिरन्ध्र अर्थात् कानोंके सफेद छेदवाले ॥ २ ॥

इसी प्रकार पूंछोंके अनुसार—शुद्धवाल, सर्वशुद्धवाल, सौर मणिवाल। बड़े कानों वाले बकरे "कर्णा", और सफेद आंखवाले श्येताक्ष कहलाते थे ॥ ३ ॥

इसी तरह कानोंके अनुसार प्लीहाकर्ण (रुग्णकान), शुण्ठाकर्ण, अध्यालोहकर्ण आदि भेद भी हैं ॥ ४ ॥

काली गर्दनवाले बकरे कृष्णग्रीवा, सफेद भौंहोंवाले शितिभ्रू, और इसी प्रकार अन्य रोहित और श्वेत कहलाते हैं। बादलोंकेसे रंगवालोंको नभोरूप कहा है ॥ ६ ॥

कदके अनुसार बकरोंकी संज्ञा उन्नत, ऋषभ और वामन है। जिसके आगेके पैर सफेद हों उसे शितिबाहु, और जिसके पीछेका भाग सफेद हो उसे शितिपृष्ठ कहा गया है। रंगोंकी दृष्टिसे शुक्ररूप, कल्माप और श्याम अजा भी हैं ॥ ७ ॥

इस अध्यायमें १४, १५, और १६ वें मंत्रोंमें भी बकरों और तूपरोंका उल्लेख है।

२. गाय बैल आदि—कुछ मंत्रोंमें बैल, गाय और बछड़ोंके भेदोंका उल्लेख है। अनड्वाह उन बचकौने बैलोंको कहते हैं, जो बोझा खींचकर ले जाते हैं। वशा संभवतः बांझ गौओंका नाम है ॥ ८ ॥ गाय और बैलोंके भी कृष्ण-ग्रीव, बभ्रुः, श्वेत, अविज्ञात, स्वरूप, आदि रंगोंकी दृष्टिसे भेद हैं। छोटी आयु वाले बछड़ोंको जिनका दूध अभी छुड़ाया गया है वत्सर्ति कहते हैं ॥ ९ ॥ इसी प्रकार कृष्ण, धूम्र, बृहन्त, शबल, सिध्म, श्वेत, अरुण, पृषत् और पिशंग इनके और भेद हैं ॥ १०,११ ॥

१८ महीनेकी आयुवाले बछड़ोंको त्र्यवय, और २½ वर्षकी गौओंको पंचावय, कटे धानोंको पीठपर लेकर चलनेवाली ३ वर्षकी गौओंको दित्यवाह, और अन्य तीन वर्षकी गायोंको त्रिवत्स, एवं चार वर्षकी गायोंको तुर्यवाह कहते हैं ॥ १२ ॥ पीठपर बोझ ढोनेवालोंको पष्ठवाह, और पूर्ण यौवनको प्राप्त वीर्य संचनमें समर्थ बैलोंको उक्षाण (सांड), इसी प्रकार अत्यन्त बली बैलोंको ऋषभ, और गाड़ी खींचने वालोंको अनड्वाह और दूध देनेवाली गौओंको धेनु कहते हैं ॥ १३ ॥ गुणों और रंगोंकी दृष्टिसे इनके भी कृष्णग्रीव, धूम्र, उपध्वस्त, वत्सर्ति, श्याम, पृश्नि, बहुरूप और वशा आदि भेद हैं ॥ १४ ॥

३. पक्षी—इस अध्यायमें अनेक पक्षियोंका भी उल्लेख है। बीसवें मंत्रमें ऋतुओंसे जो सम्बन्ध बताया गया है, वह प्राकृतिक भी है। वसन्तमें कपिञ्जल, ग्रीष्ममें कलविंक (संभवतःपिड़ुकिआ); वर्षामें तित्तिरि (तीतर), शरदमें वर्त्तिक (बटेर), हेमन्तमें ककर और शिशिरमें विककर—इस प्रकार ये ६ पक्षी ऋतुओंके अनुसार हैं ॥ २० ॥ ककर और विककरसे आजकलके किन पक्षियोंका अभिप्राय है यह कहना कठिन है।

एक मंत्रमें हंस, बलाका (माक्ष सारस या बगुला), क्रुञ्च, मद्गु (या पानीमें गोता लगानेवाला छोटा पक्षी), और चक्रवाकों (चकवा) का वर्णन आता है ॥ २२ ॥ इसके अगले मंत्रमें ही कुटरु

(मुर्गा), उलूक (उल्लू), चाष मयूर (मोर) और कपोतों (कबूतर) का उल्लेख है ॥ २३ ॥ इसी प्रकार लवा (बटेरके समान), कौलीक (बया), गोष्यादी (गौओंपर बैठनेवाली 'गुरुसल' या मैना), कुलीक और पारुष्ण पक्षियोंका भी उल्लेख है ॥ २४ ॥ और फिर पारावत (कबूतर विशेष), सीचापू, जतू (चमगादड़[१]), दात्यौह (काले कौए), और सुपर्ण (गिद्ध) इन निम्न श्रेणीके पक्षियोंका वर्णन दिया गया है ॥ २५ ॥

कुछ आगेके एक मंत्रमें मादा सारस (बलाका), शार्ग, सृजय, और शयाण्डकोंका उल्लेख है, जिनके संबंधमें निश्चय नहीं कहा जा सकता कि ये पक्षी हैं, या कोई और जन्तु। एक पक्षी "शुक पुरुषवाक्" का भी उल्लेख है, जिसकी आदमीकी सी बोली हो। यह मैना पक्षी हो सकता है ॥ ३३ ॥ आति, वाहस और दर्विद, और इसी प्रकार पैङ्गराज, अलज कौनसे पक्षी हैं, यह कहना संभव नहीं। लैव और मद्गु ये जलसे संबंध रखनेवाले पक्षी हैं, जिनका भी इसी मंत्रमें निर्देश है ॥ ३४ ॥ आगेके एक मंत्रमें अन्यवाप (अर्थात् कोयल जो कौओंके घरमें अण्डे देती है— "अन्यत्रवपन" करती है), मयूर और सुपर्णका फिर वर्णन है ॥ ३७ ॥ कपि (बटेर), कुटरु और दात्यों (कौए) का उल्लेख फिर ३९ वें मंत्रमें है। पिथक और शकुनि पक्षियोंका वर्णन ४०वें मंत्रमें है।

४. भूमिमें रहने वाले जन्तु—इस अध्यायके २६वें मंत्रमें आखु अर्थात् मूषक, पांक्त (खेतोंके चूहे), कश नकुल (नेवले) और बभ्रुकका वर्णन है। नकुल शब्द ३२वें मंत्रमें भी है। आखु, कश और मान्थल इन तीन प्रकारके चूहोंका उल्लेख फिर ३८वें मंत्रमें आया है। ३६वें मंत्रमें चुहिया (मूषिका) भी है। इस मंत्रमें निर्दिष्ट सुषिलीका पक्षी ऐसा है जो पक्षी होनेपर भी बिल बनाकर रहता है। शल्यक या सेहीका उल्लेख ३५ वें मंत्रमें है। श्वावित् (३३) भी इसीका नाम है।

५. पानीसे संबंध रखने वाले जन्तु—इस अध्यायके २१वें मंत्रमें शिशुमार, मंडूक, मत्स्य, कुलीपय (मुर्गाबी), और नक्र (मगर) नामक जलसे सम्बन्धित जन्तुओंका वर्णन है[२]। (यह कहना कि अश्वमेध यज्ञमें इनकी आहुति पड़ती थी वीभत्स और असंभव है)। साँपोंका आहार बननेवाले मण्डूकोंका वर्णन मूषिका और तित्तिरके साथ भी ३६वें मंत्रमें किया गया है।

६. मृग या हरिण—२७ वें मंत्रमें हरिणकी पाँच जातियोंका उल्लेख है—ऋश्य, रुरु, न्यङ्कु,

---

१—जतू या चमगादड़का उल्लेख रीछ और सुपिलीकाके साथ ३८ वें मंत्रमें फिर आया है।
२—चक्र, मकर और कुलीपय नामक जलजन्तुओंका वर्णन ३५ वें मंत्रमें भी है।

पृषत और कुलुङ्ग। ३२वें मंत्रमें केवल कुलुङ्ग है। कुलुङ्ग शब्द ही परिवर्त्तित होकर कुरंग बन गया है जो आजकल हरिण शब्दका पर्य्याय है। गवय या नीलगायका उल्लेख आगेके मंत्रमें है। गवयके लिए ही पहले और ३०वें मंत्रमें गोमृग शब्द आया है।

३५वें मंत्रमें पुरुष मृग और ३६वें में एणी (काली हिरनी) का उल्लेख भी आता है। ३२ वें ंत्रमें गौरमृगका वर्णन है। यह हरिण है या नहीं यह कहना कठिन है।

७. आरण्य या जंगली पशु—२८ वें मंत्रमें परस्वत नामक पशुका उल्लेख है, जो या तो जंगली भैंसा है या जंगली गधा। २९ और ३०वें मंत्रमें हस्तिन् (हाथी) का नाम आया है जो मूलतः जंगली पशु ही है। ३०वें मंत्रमें अरण्य मेष (जंगली मेढ़े) का निर्देश है। इस मंत्रमें मनुष्यराज और शार्दूल दोनोंमें शब्द देवस्थानीय प्रयुक्त हुए हैं। मनुष्यराजके नाम पर मर्कट (बंदर) नामक पशु और शार्दूलके नाम पर रोहित या लालहरिण अर्पित किया गया है। ऋषभ (सांड) के नामपर गवयी (मादा नील गाय) का विधान है। हस्तीका उल्लेख भी इस मंत्रमें है।

३१वें मंत्रमें उल, हलिक्ष्ण और वृषदंश ये तीन अरण्य पशु हैं। इनमेंसे पहले दोका आज कल क्या नाम है, हम नहीं जानते। वृषदंश संभवतः बिल्ली है।

अरण्य-अज अर्थात् जंगली बकरेका नाम ३२ वें मंत्रमें आया है। क्रोष्टका भी उल्लेख है जिसकी ध्वनि दूरसे ही बुलाती प्रतीत होती है। यह स्पष्टतः जंगली सियार है।

३३वें मंत्रमें ही शार्दूल (सिंह), और वृक (भेड़िया) नामक अरण्य जन्तुओंका नाम है। (चिड़िया घरमें तो ये पशु स्थान पा सकते हैं, पर यज्ञमें इनकी आहुति डालनेकी कठोर कल्पना करना दुस्साहस मालूम होता है। इससे स्पष्ट है कि अश्वमेध यज्ञसे और पशुओंकी बलिसे कोई संबंध नहीं।)

३६वें मंत्रमें एक पशु लोपाश है। कदाचित् यह भी सियार हो। इस मंत्रकी "जहका" क्या है, यह नहीं कहा जा सकता, यह भी संभवतः बिल्लीकी जातिका कोई जंगली पशु है।

३९वें मंत्रमें घृणीवान् क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। एक जंतु वार्ध्रीनस है जो आजकलके गेंडेके समान होगा।

इस अध्यायके अन्तिम मंत्र (४०) में श्वाकृष्ण अर्थात् काले कुत्ते, गर्दभ (गदहा), तरक्षु (चीता), सूकर (जंगली सुअर) और सिंहका नाम आया है। स्पष्टतः ये बलिके पशु नहीं हैं।

८. अन्य जन्तु—इस अध्यायके २८ वें मंत्रमें उष्ट्र (ऊँट) का वर्णन है।

चार प्रकारके साँपोंका नाम इस अध्यायमें है। लाल सांप या लोहिताहिं (३१), कालासांप या असित (३७), विषैला सांप या पृदाकु (३३), और अजगर (३८)।

२९वें मंत्रमें जहाँ हाथी ऐसे वृहद्काय जन्तुका उल्लेख है, वहाँ दीमक या प्लुषी, मच्छर या मशक और भौंरे या भृंगोंका भी वर्णन है। ३० वें मंत्रका कृमि शब्द सभी कीड़ां-मकोड़ांका वाचक है।

इस प्रकार हमने देखा कि यजुर्वेदके चौबीसवें अध्यायमें मच्छर, दीमक और भौंरोंसे लेकर हाथी, ऊँट, शेर और गैंडे तक कई सौ जन्तुओंका उल्लेख है। यह भी स्पष्ट है कि मच्छर, दीमक, भौंरे और शेर एवं गैंडे भी यूपोंसे बाँधे नहीं जा सकते जैसी कि कल्पना महीधर आदि भाष्यकारोंने की है। साधारणतः याज्ञिककालमें भी पशुबलिका जो विधान था, उसमें संभवतः पंच-पशुओंको ही सम्मिलित किया गया था—नर, अश्व, अजा, मेष (भेड़ा), और वृषभ या गौ। इस विधानका आधार अथर्ववेद का एक मंत्र बताया जाता है—

तवेमे पञ्चपशवो विभक्ता गावो अश्वः पुरुषा अजावयः ॥११।२।९॥

मेरा अपना विचार है कि नरमेधसे लेकर अश्वमेध तकके यज्ञोंमें नर या अश्वकी बलि नहीं, प्रत्युत उनका पूजन है। यजुर्वेदके २४वें अध्यायमें उस सार्वजनिक पशुशालाकी स्थापनाकी ओर निर्देश है, जिसकी स्थापना अश्वमेध यज्ञके समय होनी चाहिये। यह आजकलका चिड़ियाघर है, जिसमें छोटे-बड़े सभी जन्तु प्रदर्शित किये जाते हैं।

अथर्ववेदमें जन्तु

जितनी विस्तृत सूची यजुर्वेदके २४वें अध्यायमें है, उतनी अन्यत्र प्राचीन साहित्यमें कदाचित् ही देखनेको मिले। अथर्वमें भी यत्रतत्र अनेक जन्तुओंका उल्लेख मिलता है। ११वें कांडके दूसरे सूक्तको हम "पशुपतिसूक्त" कह सकते हैं। इसमें ईश्वरको भव या पशुपति कहा है—पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ (२८), और दुपाये और चौपाये दोनोंके ऊपर दया रखनेकी प्रार्थना की गयी है। इस सूक्तमें निम्न पशुओंका उल्लेख आया है—

(१) पंचपशु—गौ, अश्व, पुरु, और अजावय। (९, २१)
(२) क्रोष्टार (सियार), श्वान (११)
(३) आरण्य पशु, मृग, हंस, सुपर्ण (२४)
(४) शिशुमार, अजगर, पुरीकयाःजषाः (जलदानव), मत्स्य (२५)

अथर्वमें कहीं-कहीं सप्त-ग्राम्य-पशुओंका भी निर्देश है (३।१०।६), पांचवें वही ऊपरवाले, और

इनके अतिरिक्त गदहा (परस्वान) और खच्चर (अनड्वान)। कुत्तों को भी कभी-कभी अन्य पशुओंमें गिना जाता है।

बन्दर और कुत्तेमें जो परस्पर द्वेष है उसका उल्लेख इस प्रकार है—शुनां कपिरिव दूषणः (३।९।४)। कपिका वर्णन अथर्वमें कई स्थलोंपर आया है, और वृषा कपिका तो एक पूरा ही सूक्त (१२६) बीसवें मंडलमें है, जिसमें ऋग्के वर्णनके समान इन्द्राणी वाली आख्यायिका है।

गाड़ी खींचने वाले बैल (या खच्चर) के नामपर जिसे अनड्वान कहा है, एक पूरा अनड्वान सूक्त (४।११) है। इसी प्रकार प्रौढ़ बैल या ऋषभपर एक सूक्त (९।४) है।

अथर्ववेदमें एक स्थल पर ऊँटके तीन नामों का निर्देश है जिनमें से एक नाम तो हिरण्य है, और शेष दो सन्दिग्ध हैं—

त्रीण्यष्ट्रस्य नामानि, हिरण्यं इत्येके अब्रवीत।
द्वौवाये शिशवः ॥ (२०।१३२।१३-१५)

कहा जाता है कि अथर्वके तीसरे मंडलका २२वां सूक्त हाथियोंके पालतू बनानेसे संबंध रखता है। जब जंगलका हाथी पूर्णतः पालतू हो गया तो उसकी सवारी अन्य मृगोंकी सवारियोंसे अधिक श्रेष्ठ हो गयी--"हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्टावान् बभूवहि।" (३।२२।६)

चीता, शेर, और बाघके लिये अथर्वके एक मंत्रमें ही द्वीपिन, सिंह और व्याघ्र तीन शब्द आये हैं—

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंह हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तास्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीनिमप्स्वन्तः॥ (४।८।७)

अथर्वके ८वें मंडलके ७वें औषधि सूक्तमें अनेक प्रकारकी ओषधियों, वनस्पतियों और वीरुधोंके साथ-साथ अनेक पशुओं का भी उल्लेख है—

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् (८।७।११)।
वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां (८।७।१४)
सिंहस्येव स्तनथः (८।७।१५)। गवांयक्ष्मः (८।७।१५)। (गौओंका यक्ष्मा रोग)।
वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्। सर्पागन्धर्वा या विदुः (८।७।२३)
याः सुपर्णा आङ्गिरसी र्दिव्या या रघटो विदुः

वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वेपतत्रिणः ॥ (८।७।२४)

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः (८।७।२५)

अर्थात् वे ओषधियाँ जिनको गाय (जिसका नाम अघ्न्या भी है, क्योंकि इसके वधका निषेध है), बकरियां और भेड़े खाती हैं, हम सबके लिये सुखद हों। इस प्रकार इस सूक्तमें अश्व, गाय, व्याघ्र, सिंह, सुअर, नेवला, सर्प, चील, बाज, हंस, बकरी और भेड़ इतने पशुओंका उल्लेख है।

एक मंत्रमें भौंरे, चमगादड़ और सर्पोंका विवरण साथ साथ है—

यावतीर्भृङ्गाजत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्ष सर्प्यो बभूवुः ॥ (५।२।२२)

मधुका उल्लेख तो ऋचाओंमें बहुत पाया जाता है, पर मधुमक्षीका वर्णन अथर्ववेदके एक मंत्रमें ही है—

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ॥ (५।१।१७)

ऋग्वेदका उलूकयातुं शुशुलूकयातुं० वाला मंत्र अथर्व (८।४।२२) में भी है, जिसमें उल्लू, बाज, गिद्ध, हंस, कोयल, कुत्ता, आदिके निर्देश हैं।

एक मंत्रमें उस ओषधिका उल्लेख है जो मच्छरों (मशकों) को मारती है—

सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी । (७।५६।२)

सर्प वर्णन—अथर्व की विशेषता सर्पवर्णन में है। सर्प की अनेक जातियोंका इसमें उल्लेख है। तीसरे मंडलके २७ वें सूक्तमें एक एक मंत्रमें एक एक रक्षितृका वर्णन है, और इस प्रकार ६ दिशाओंके साथ ६ रक्षितृ बताये गये हैं। सायणका विचार है, कि ये रक्षितृ ६ प्रकार के सांप हैं—१. असित् (काला), २. तिरश्चिराजी (टेढ़ी मेढ़ी धारियों वाला), ३. पृदाकु (वाइपर या विषैला), ४. स्वजः (यह भी वाइपरकी जाति है) ; ५. कल्माषग्रीव (गर्दनपर छींटेदार) और ६. श्वित्र (सफेद सांप)।

एक अन्य मंत्र इस प्रकार है—

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ ७।५६।१॥

इसमें तिरश्चिराजी, असित् और पृदाकुके अतिरिक्त एक और जातिका साँप दिया है जिसे कङ्कपर्वण कहते हैं, यह भी परम विषैला है। सर्पके विषके समान ही तीव्र विष बिच्छूका होता है—

अरसस्य शर्कोटस्य नीची नस्योपसर्पतः ।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ (७।५६।५)

वृश्चिक (बिच्छू या शर्कोट) के विषका उल्लेख ऋग्वेद (१।१९१।१६) में भी है—**"वृश्चिक स्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्"** इसी प्रकारकी एक पंक्ति अथर्वमें भी है—**सर्वे भरू ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम्** (७।५६।७)

साँपको चीटियाँ और मयूरनी खा जाती हैं, इसका विवरण इस प्रकार है—**"अदन्तित्वा पिपीलिका विवृश्चिन्ति मयूर्यः** (७।५६।७)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अथर्वमें भी अनेक उल्लेखनीय जन्तुओंका विवरण आता है। वैदिक कालीन साहित्यमें अनेक ऐसे जन्तु भी दिये गये हैं, जिनके नामसे हम परिचित नहीं हैं। संभवतः बहुतसे शब्दोंके अब वे अर्थ नहीं हैं, जो प्राचीन समयमें थे। फिर भी हम देखते हैं कि हमारे ग्राम्य और आरण्य पशुओंकी परम्परा बहुत पुरानी है, और यह संदिग्ध ही है कि इधर हम तीन-चार सहस्र वर्षोंमें कितने ऐसे नये पशुको ग्राम्य बना पाये हैं, जिनसे हमारे पूर्वज परिचित नहीं थे। पसुओंको किस प्रकार सर्वप्रथम ग्राम्य बनाया गया होगा, इसका इतिहास आज हमारे पास नहीं है, पर सभ्यता और संस्कृतिके इतिहासमें ग्राम्य बनानेकी कला अति महत्वपूर्ण स्थान रखती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।



जैन आम्नाय

श्री कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

जैनधर्म भारतवर्षके तीन प्रमुख धर्मोंमें से है। किन्तु हिन्दू और बौद्ध धर्मकी तुलनामें इसकी ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये था उतना अभी तक भी नहीं दिया गया। इस धर्मने भारत-भूमिके इतिहास, साहित्य तथा कलाके ऊपर कम प्रभाव नहीं डाला तथा उसके विचार और आचार भी धर्म शोधकोंके लिए कम महत्वशाली नहीं हैं। यहां हम उसकी कुछ विशेषताओंका दिग्दर्शन कराते हैं।

पदार्थ व्यवस्था

इस धर्मके दर्शनमें एक द्रव्य (पदार्थ) ही माना गया है। और, उसे इस रूपमें माना गया है कि उसके माननेपर दूसरे पदार्थोंके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। गुण और पर्यायके आधारको द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्यके ही आत्मस्वरूप हैं, इसलिए ये द्रव्यकी किसी भी हालतमें उससे पृथक् नहीं होते। एक प्राचीन गाथामें द्रव्य, गुण और पर्यायकी व्यवस्था इस प्रकार बतलाई गयी है—

> 'गुण इदि दव्वविधाणं दव्ववियारो हि पज्जओ भणिदो।
> तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं॥

अर्थात्—जो एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे पृथक् करता है उसे गुण कहते हैं। गुण ही द्रव्यका व्यवस्थापक है। यदि द्रव्योंमें गुण न हों तो सब द्रव्योंका संकर हो जाय। जैसे, जीव अपने ज्ञानादिक गुणोंके कारण अन्य पुद्गल आदि द्रव्योंसे पृथक् माना जाता है आर पुद्गल वगैरह अपने रूप-रसादिक गुणोंके कारण जीवसे पृथक् द्रव्य माने जाते हैं। यदि जीवमें ज्ञानादिक, और पुद्गल आदि अन्य द्रव्योंमें रूप रसादिक गुण न माने जांय तो परस्परमें किसी विशेषताके न होनेसे सब द्रव्य एक ही हो जायेंगे। अतः सामान्य रूपसे अन्वयी ज्ञानादि जीवके गुण हैं और रूपादि पुद्गलके गुण हैं। द्रव्य या गुणके विकारको या परिणमनको पर्याय कहते हैं; जैसे, जीव द्रव्यका पर्याय मनुष्य, पशु आदि और ज्ञान गुणका पर्याय घटज्ञान, पटज्ञान आदि।

जैसे वैशेषिक द्रव्य और गुण को दो पृथक् पदार्थ मानकर उनका समवाय सम्बन्ध मानता है, जैनदर्शन वैसा नहीं मानता। जैनदर्शनमें द्रव्य और गुण ये दो पदार्थ ही नहीं हैं। गुणोंका एक

अखण्ड पिण्ड ही तो द्रव्य है। यदि बुद्धिके द्वारा किसी द्रव्यके सब गुणोंको उससे पृथक् कर लिया जाय तो ऐसा कुछ भी शेष नहीं बच सकता जिसे द्रव्यके नामसे पुकारा जा सके। आशय यह है कि गुण और द्रव्यके प्रदेश पृथक् नहीं हैं। जो शुक्ल गुणके प्रदेश हैं वे ही गुणी वस्त्रके प्रदेश हैं, और जिनके प्रदेश जुदा नहीं हैं वे दो वस्तु ही नहीं हैं।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब द्रव्य और गुण ये दो पदार्थ ही नहीं हैं तब एकहीको दो नामोंसे क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि एक द्रव्य केवल एक गुणवाला ही नहीं होता, किन्तु उसमें बहुतसे गुण होते हैं। अतः जब हम द्रव्य कहते हैं तब उन सब गुणोंका ग्रहण होता है या यह कहिये कि, अपने समस्त गुण विशिष्ट वस्तुका ग्रहण होता है, और जब हम किसी एक गुणका नाम लेते हैं तब उस गुणका ही ग्रहण होता है।

गुणोंके कारण ही द्रव्य सजातीयसे मिलते हुए और विजातीयसे विभिन्न प्रतीत होते रहते हैं। अतः न समवाय पदार्थके माननेकी आवश्यकता है, और न सामान्य और विशेष नामके पदार्थ माननेकी आवश्यकता है। गुण, कर्म, समवाय, सामान्य, विशेष और अभाव ये सब द्रव्यकी ही अवस्थाएं हैं; इनमेंसे कोई भी स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, ऐसा जैनदर्शनका अभिमत है। जो जैन दर्शनकी द्रव्य-व्यवस्थाके सम्बन्धमें विशेष जाननेके इच्छुक हों, उन्हें तत्त्वार्थ सूत्रका पांचवां अध्याय और उसकी विविध टीकाएं, प्रवचनसारका ज्ञेयाधिकार और पञ्चाध्यायी आदि ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।

द्रव्य-पर्याय

वेदान्तदर्शन पर्यायको अवास्तविक और पर्यायसे भिन्न द्रव्यको वास्तविक मानता है। बौद्धदर्शन द्रव्यको अवास्तविक और द्रव्यसे भिन्न पर्यायको वास्तविक मानता है। किन्तु जैनदर्शन द्रव्य और पर्याय दोनोंको ही वास्तविक मानकर चलता है। इसीसे न केवल द्रव्य ही वस्तु है और न केवल पर्याय ही वस्तु है, किन्तु द्रव्य और पर्याय दोनोंको मिलाकर एक वस्तु होती है। यदि वस्तुको केवल द्रव्य-रूप ही माना जायगा तो वह कूटस्थ हो जायगी, और यदि केवल पर्यायरूप माना जायगा तो वह क्षणिक हो जायगी। और, केवल कूटस्थ या केवल क्षणिक पदार्थ अर्थ-क्रियाकारी हो नहीं सकता। किन्तु वस्तुका लक्षण ही अर्थक्रियाकारित्व है—उसे कुछ न कुछ करते रहना ही चाहिये। अतः वस्तुको द्रव्य-पर्यात्मक मानना ही पड़ता है। द्रव्य पर्यायके बिना नहीं रहता और पर्याय द्रव्यके बिना नहीं रहती। किन्तु द्रव्य स्थायी है और पर्याय अस्थायी है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि वस्तु द्रव्यपर्यात्मक है तब उसका मतलब होता है कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है।

उदाहरणके लिए तर्कसंग्रहमें पृथिवी आदिको दो प्रकारकी बतलाया है—एक परमाणुरूप पृथिवी

दूसरी कार्यरूप पृथिवी। परमाणुरूप पृथिवीको नित्य कहा है और कार्यरूप पृथिवीको अनित्य। किन्तु वह कार्यरूप पृथिवी परमाणुरूप पृथिवीसे ही तो बनी है। कार्यरूप पृथिवी अवयवी है और कारण रूप पृथिवी अवयव है। वैशेषिकके मतसे अवयवी अपने अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता है। अतः अवयवी अपने अवयवोंसे और वे अवयव उस अवयवीसे सर्वथा पृथक् तो नहीं कहे जा सकते। ऐसी स्थितिमें पृथिवी नित्यानित्यात्मक क्यों नहीं कहलावेगी? जिन परमाणुओंसे वह बनी हुई हैं वे परमाणु चूंकि नित्य हैं इसलिए वह नित्य है; और स्वयं कार्यरूप होनेसे वह अनित्य है।

यहां एक प्रश्न पैदा हो सकता है। जैन दर्शनके अनुसार प्रत्येक वस्तु परिणामी-नित्य है। किन्तु यदि वह परिणामी है तो नित्य कैसे? जब जैनदर्शन प्रत्येक वस्तुको परिवर्तनशील मानता है और वह परिवर्तन प्रत्येक वस्तुके कण-कणमें होता है तब उसमें वह अपरिवर्तित अंश कौनसा शेष रह जाता है जिसे नित्य कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि वस्तुके प्रत्येक अंशमें प्रति समय जो परिवर्तन होता है वह पूर्व समयसे सर्वथा विलक्षण नहीं होता। चूंकि परिवर्तन तो परिवर्तन ही ठहरा, अतः पहले समयमें वस्तु जैसी रहती है, दूसरे समयमें बिल्कुल ज्योंकी त्यों तो नहीं रह सकती; किन्तु ऐसा भी नहीं होता कि परिवर्तनके कारण दूसरे समयमें वह वस्तु बिल्कुल दूसरी ही हो जाय। अतः परिवर्तनमें कुछ सादृश्य पाया जाता है और कुछ वैसादृश्य पाया जाता है। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाममें जो समानता है वही द्रव्यात्मा है; उस रूपसे वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह अनुस्यूत रूप वस्तुकी प्रत्येक अवस्थामें सदा प्रवाहित रहता है, जैसे मालाके प्रत्येक मोतीमें धागा अनुस्यूत रहता है। और, पूर्व तथा उत्तर परिणाममें जो वैसादृश्य पाया जाता है वह पर्याय है; उस रूपसे वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट होती है, अतएव वह अनित्य है। इस प्रकार वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। पर्याय रूपसे उत्पन्न और नष्ट होती है, और द्रव्य रूपसे स्थिर रहती है। इन तीनोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहते हैं। ये तीनों प्रति समय होते हैं; क्योंकि पूर्व पर्यायका नाश हुए बिना उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकता तथा जिस समयमें पूर्व पर्यायका नाश होता है उसी समय उत्तर पर्याय उत्पन्न होता है। पूर्व पर्याय नष्ट हो जाय और उत्तर पर्याय उत्पन्न न हो या उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाय और पूर्व पर्याय नष्ट न हो, ऐसा नहीं होता। उदाहरणके लिए मिट्टीके पिण्डसे कुम्हार घड़ा बनाता है। मिट्टीके पिण्डकी हालत क्षण-क्षणमें बदलती जाती है और नयी-नयी हालत उत्पन्न होती जाती है। इस विनाश और उत्पादके बीचमें एक भी क्षणका अन्तर नहीं पड़ता और उसी समय उत्पाद और विनाशके होते हुए भी मिट्टी ध्रुव रहती है, न वह उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है किन्तु उसकी दशाएँ उत्पन्न होती और नष्ट होती हैं। अतः वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसा नामक प्रकरणमें इस संबंधमें लिखा है—

'न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥'

अर्थात्—सामान्य रूपसे वस्तु न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है; क्योंकि सामान्य रूप तो वस्तुकी प्रत्येक दशामें स्पष्ट अनुस्यूत देखा जाता है। अतः अन्वय रूपसे वस्तु स्थिर या ध्रुव है, और विशेष अर्थात् पर्याय रूपसे नष्ट होती और उत्पन्न होती है। अतः एक वस्तुमें उत्पाद आदि तीनों एक साथ रहते हैं। तीनोंके समुदायका नाम ही वस्तु है। आचार्य समन्तभद्रने अपने उक्त प्रकरणमें दो दृष्टान्तोंके द्वारा वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है। दृष्टान्त निम्नलिखित हैं—

'घट मौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं जनो यातिमहेतुकम् ॥ ५९ ॥'

'एक राजाके पास सोनेका घड़ा है। लड़कीको वह घड़ा प्रिय है, किन्तु राजकुमार उसका मुकुट बनवाना चाहता है। जब घड़ेसे मुकुट बनवाया गया तब लड़कीको घड़ेके नाशसे रंज हुआ, और लड़केको मुकुट बनता देख प्रसन्नता हुई। किन्तु राजा तो सुवर्णका अर्थी था और सुवर्ण घट और मुकुट दोनों दशाओं में वर्तमान था, अतः राजाको न हर्ष हुआ और न शोक। इस प्रकार एक ही वस्तुको लेकर तीन जनोंको जो तीन प्रकारके भाव हुए वे अकारण नहीं हुए। अतः वस्तु त्रयात्मक है।'

दूसरा दृष्टान्त—

'पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रते नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥'

'जिस मनुष्यने यह व्रत लिया है कि मैं आज दूध ही पीऊँगा, वह दही नहीं खाता। यदि दहीमें भी दूध पर्याय मौजूद रहता होता तो वह दहीको नहीं छोड़ता। दूसरी ओर, जो यह व्रत लेता है कि आज मैं दही ही खाऊंगा, वह दूध नहीं पीता। यदि दूध पर्यायमें भी दही पर्याय मौजूद रहता तो वह दूध खाना न छोड़ता। और, जो यह व्रत लेता है कि आज मैं गोरस नहीं खाऊंगा, वह न दूध पीता है और न दही खाता है। यदि दही और दूध दोनों अवस्थाओंमें गोरसत्व अनुस्यूत न होता तो वह दोनोंका त्याग न करता। किन्तु उक्त व्रतवाले उक्त वस्तुओंका सेवन नहीं करते। अतः वस्तु त्रयात्मक है।'

न्याय दर्शनकी तरह मीमांसा दर्शनमें सामान्यकी सत्ता व्यक्तियोंसे पृथक् नहीं मानी जाती; वह व्यक्तियोंमें ही रहता है। मीमांसा दर्शनमें कुमारिलभट्ट एक नवीन युगके उद्भावक माने जाते हैं और

आचार्य शंकरकी तरह उन्हें भी वैदिक धर्मका रक्षक कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शंकराचार्यने वैदिक धर्मकी रक्षाके लिए बौद्धोंसे प्रभावित होकर अद्वैत वेदान्तका व्यवस्थापन किया, कुमारिलने भी संभवतः कुछ ऐसा ही किया है। अपने 'मीमांसा श्लोक वार्तिक'में वे भी समन्त भद्राचार्यके अनुरूप शैलीमें तत्त्वको त्रयात्मक बतलाते हैं। यथा—

'वर्धमानक भङ्गे च रुचकः क्रियते यदा।
तथा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ २१ ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थिति भङ्गानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥ २२ ॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥ २३ ॥'

अर्थात् 'जब सोनेके प्यालेको तोड़कर उसकी माला बनायी जाती है तब प्यालेके अर्थीको रंज होता है और मालाके अर्थीको प्रसन्नता होती है, पर सुवर्णके अर्थीको न रंज होता है और न प्रसन्नता। अतः वस्तु त्रयात्मक है; क्योंकि उत्पाद, विनाश और स्थितिके अभावमें तीन प्रकारके भाव नहीं हो सकते, नाशके बिना रंज नहीं हो सकता, उत्पादके बिना सुख नहीं हो सकता और स्थितिके बिना माध्यस्थ्य नहीं हो सकता। अतः सामान्य नित्य भी है।'

इस प्रकार जैन धर्ममें वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक बतलाया है। इसीसे तत्त्वार्थ सूत्रमें[1] कहा है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है, और जो सत् है वह द्रव्य है।

ऊपर बतायी गयी दो विशेपताओंमें द्रव्यके दो लक्षणोंको बतलाया गया है। एक, जो गुणपर्याय वाला हो वह द्रव्य है। दूसरा, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त हो वह द्रव्य है। किन्तु वास्तवमें इन लक्षणोंमें कोई भेद नहीं है; केवल कथनकी शैलीका भेद है। चूंकि गुण ध्रुव हैं इस लिए गुणवान्‌से ध्रौव्ययुक्त लिया जाता है, और चूंकि पर्याय उत्पाद-विनाशशील होता है अतः पर्यायसे उत्पाद-व्यय लिया जाता है। दोनों परस्पर एक दूसरेके अभिव्यञ्जक हैं। तब प्रश्न होता है कि फिर दो लक्षणोंके कहनेकी आवश्यकता क्या थी? इसपर जैन शास्त्रोंके आलोडनसे कुछ प्रकाश पड़ता है।

जैन परम्परामें सिद्धसेन नामके एक प्रबल तार्किक विद्वान हो गये हैं। उन्होंने अपने सन्मतितर्क

१—उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् ॥३०॥ सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ अ० ५।

नामक प्रकरणमें[1] शास्त्रीय युक्तियोंके आधारपर यह प्रमाणित किया है कि गुण और पर्याय दो जुदा चीजें नहीं हैं; किन्तु दोनों एक ही अर्थके बोधक हैं। द्रव्य और पर्यायकी तरह यदि गुण भी कोई स्वतन्त्र वस्तु होता तो जैसे द्रव्यको जाननेके लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायको जाननेके लिये पर्यायार्थिक नामके दो नय जैन सिद्धान्तमें माने गये हैं, वैसे ही गुणको जाननेके लिए तीसरा गुणार्थिक नय भी मानना चाहिये था। अतः गुण-संज्ञा अन्य दार्शनिकोंके यहाँ है, जैन दर्शनमें नहीं।

'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए जैन न्यायके प्रस्थापक अकलंक देवने[2] सिद्धसेनके उक्त मतका पूर्वपक्ष रूपसे निर्देश करके उसका समाधान किया है। प्रारम्भमें तो उन्होंने कुछ शास्त्रीय प्रमाणोंका उल्लेख करके गुणका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु अन्तमें **'गुणाः एव पर्याया गुणपर्यायाः'** ऐसा निर्देश करके गुण और पर्यायका अभेद भी स्वीकार कर लिया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला लक्षण ही जैन परम्पराका प्रतीक है। जैन आगमोंसे भी पता चलता है कि भगवान् महावीरने सबसे प्रथम अपने उपदेशमें **'उप्पन्नेइ वा धुवेई वा विगमेइ वा'** यही वाक्य कहा था, अस्तु।

अनेकान्त

जब वस्तुका लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है तब सभी वस्तुएँ नित्यानित्य सिद्ध होती हैं। न कोई वस्तु सर्वथा नित्य ठहरती है, और न कोई सर्वथा अनित्य। आकाश आदि जो नित्य कहे जाते हैं उनमें भी प्रति समय उत्पाद-व्यय हो रहा है, और दीपक आदि जो अनित्य प्रतीत होते हैं वे भी द्रव्य रूपसे ध्रुव हैं; क्योंकि द्रव्यका नाश कभी नहीं होता। ऐसी स्थितिमें किसीको नित्य ही और किसीको अनित्य ही कहना वस्तु स्थितिके विरुद्ध है। हां, द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है; ऐसा कहना युक्ति संगत है।

इसी तरह कोई भी वस्तु केवल सत् नहीं है। केवल सत्का मतलब होता है—जो किसी भी तरहसे असत् न हो। किन्तु यदि वस्तुको केवल सत् ही माना जायगा और किसी भी रूपसे उसे असत् न माना जायगा तो सब वस्तुएँ सब रूप हो जायँगी; और किसी भी वस्तुका कोई प्रति नियत असाधारण स्वरूप न रहेगा। प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व दो बातोंपर अवलम्बित होता है—एक स्वरूपका ग्रहण और दूसरे, पररूपका अपोहन। जैसे, घटका घटत्व तभी तक कायम है जबतक वह अपने स्वरूपको अपनाये

१—सन्मतितर्क, काण्ड ३, गा० ८-१५।

२—राजवार्तिक, पृ० २४३।

हुए है, और अपनेसे भिन्न जो अन्य पट आदि वस्तुएँ हैं उनके स्वरूपको नहीं अपनाता। और, यह तभी बन सकता है जब उस घटमें उससे भिन्न सब वस्तुओंके स्वरूपोंका अभाव माना जाय; क्योंकि जिसका भी अभाव उसमें नहीं माना जायगा उसीका उसमें सद्भाव हो जायगा, और सद्भाव हो जानेसे वे वस्तुएँ एक हो जायँगी, अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक वस्तुकी एक मर्यादा है, और वह वस्तु उस मर्यादामें ही रहती है—उससे बाहर नहीं रहती।

वह मर्यादा है—स्वरूप, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र और स्वकाल की। प्रत्येक वस्तुका स्वरूप नियत है, द्रव्य नियत है, क्षेत्र नियत है और काल नियत है। यदि वस्तु स्वरूपकी तरह पररूपसे भी सत् हो तो चेतन अचेतन हो जायगा और अचेतन चेतन हो जायगा, और यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी सत् न हो तो शून्य रह जायगा। इसी तरह यदि वस्तु स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यसे भी सत् हो तो द्रव्योंकी प्रति नियत संख्या नहीं बन सकती। वस्तु जिस क्षेत्रमें वर्तमान है वह उसका स्वक्षेत्र है और जिस कालमें वर्तमान है वह उसका स्वकाल है। स्वक्षेत्रकी तरह परक्षेत्रसे भी यदि उसे सत् माना जाय तो वस्तुका कोई प्रतिनियत क्षेत्र नहीं रहेगा यही बात कालके सम्बन्धमें है। अतः जब हम यह कहते हैं कि वस्तु सत् है तब उसका मतलब होता है कि स्वरूप, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र और स्वकालकी अपेक्षा ही वस्तु सत् है और पररूप, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालकी अपेक्षा असत् है। यह वस्तुस्थिति ऐसी है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि उसको स्वीकार किये बिना किसी भी इष्ट तत्वकी व्यवस्था बन नहीं सकती। इसीसे स्वामी समन्त भद्रने लिखा है—

'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥ आप्तमी०।

अर्थात्—'स्वरूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब सत् हैं और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब असत् है, ऐसा कौन नहीं स्वीकार करेगा; क्योंकि उसके बिना वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती।'

अतः यह मानना पड़ता है कि वस्तु एक रूप नहीं है। वह सत् भी है, असत् भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है, अनेक भी है। इसीका नाम 'अनेकान्त'[1] है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि अनेकान्तवादमें वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। जो ऐसा समझते हैं वे भ्रममें हैं। उनसे हम कुमारिल भट्टकी निम्न पंक्तियाँ देखनेका अनुरोध करते हैं—

१—'सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोऽनेकान्तः।' अष्टस०, पृ० २८६।

'वस्त्वनेकत्व वादाच्च न सन्दिग्धाऽप्रमाणता।
ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात्प्रमाणता ॥७९॥
इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।'

श्लोकवार्तिक, पृ० ६३३।

इसकी व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र लिखते हैं—"भेदाभेदमें से किसी एकका अवधारण न करनेसे सन्देह होगा, और सन्देह होनेसे न भेद ही सिद्ध हो सकेगा और न अभेद ही सिद्ध हो सकेगा।" इस आपत्तिका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारा अनेकान्तवाद वस्तुको विषय करता है और बतलाता है कि वस्तु एकरूप नहीं है। जहां ज्ञान ही अवस्तु रूप अनेकत्वको विषय करता है जैसे यह स्थाणु है या पुरुष, वहां संशय होनेसे वह अप्रमाण है। अनेकान्तवादका तो निर्णय ही यह है कि वस्तु अनेक रूप है; तब वह अप्रमाण कैसे है? इसके पहले कुमारिल लिखते हैं—

'कैश्चिद्व्यतिरिक्तत्वं कैश्चिच्च व्यतिरिक्तता ॥७६॥
दूषिता साधितावाऽपि न तत्र बलाबलम्।
कदाचितन्निश्चितं कैश्चित्तस्मान्मध्यस्थता वरम् ॥७७॥

श्लो० वा०, पृ० ६३२-३३।

'जो अवयव अवयवीमें एकान्तिक भेद या अभेद मानते हैं उन्होंने ही अनेकान्तवादको सिद्ध किया है, क्योंकि उन्होंने अपने-अपने पक्षमें जो प्रबल युक्तियां दीं उन्हींसे भेदाभेद दोनों सिद्ध हैं। अतः दोनोंमें मध्यस्थता ही श्रेष्ठ है।'

इस तरह वस्तु अनेकान्त रूप है। उसको जाननेके दो साधन हैं—एक ज्ञान, दूसरा शब्द। ज्ञानसे ज्ञाता स्वयं जानता है और शब्दके द्वारा दूसरोंको बतलाता है। किन्तु ज्ञान और शब्दमें एक बड़ा अन्तर है। ज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तुको एक समयमें जान सकता है, किन्तु शब्द एक समयमें वस्तुके किसी एक धर्मका ही आंशिक व्याख्यान कर सकता है। अतः वस्तुके अनेक धर्मात्मक होने पर वह समस्या उत्पन्न हुई कि अनेकान्तवादका प्रकाशन कैसे किया जाय; क्योंकि शब्द तो एक समयमें वस्तुके एक ही धर्मको कह सकता था, और उससे श्रोताको गलतफहमी हो सकती थी। अतः यह आवश्यक समझा गया कि प्रत्येक वाक्यके साथ अनेकान्तका द्योतक अथवा सूचक 'स्यात्' शब्द व्यक्त या अव्यक्त रूपसे सम्बद्ध रहे, क्योंकि उसके बिना अनेकान्तका प्रकाशन नहीं हो सकता। 'स्यात्'

शब्दका अर्थ होता है कथंचित् या किसी अपेक्षासे। जब हम कहते हैं 'स्यात् नित्य' तब उसका मतलब होता है कि वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है किन्तु एक दृष्टिसे नित्य है। वाक्यके साथ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द उस वाक्यके तत्त्वको पूर्ण रीतिसे सूचित करता है। जो अनेकान्त तत्त्वके रहस्यको समझते हैं, वे उसका प्रयोग न किये जानेपर भी प्रकृत वाक्यके सम्पूर्ण अभिप्रायको ही ग्रहण करते हैं।

प्राचीन साहित्यका अवलोकन करनेसे जैनेतर साहित्यमें भी अनेकान्तवादकी झलक दृष्टिगोचर होती है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आचार्य शान्तरक्षितने अपने तत्त्वसंग्रहमें लिखा है कि "मीमांसक, जैन और सांख्य इन तीनोंके अनेकान्तवादका समान रूपसे खण्डन हो जाता है।" इससे स्पष्ट है कि उस समय अनेकान्तवादको केवल जैनदर्शनका ही 'वाद' नहीं समझा जाता था। किन्तु अनेकान्तवादका स्पष्टरूपसे जैसा और जितना विवेचन जैन साहित्यमें मिलता है वैसा और उतना इतर साहित्यमें नहीं मिलता। साथ ही साथ, जैनाचार्योंने उसे खूब पल्लवित और पुष्पित भी किया है। आचार्य सिद्धसेनका तो कहना है कि अनेकान्तवादके बिना लोकका व्यवहार ही नहीं चल सकता। स्वामी समन्तभद्रने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरणमें स्याद्वाद और उसके फलित रूप सप्तभंगीवादका सुन्दर सयुक्तिक विवेचन करके अद्वैतवाद-द्वैतवाद, नित्यवाद-क्षणिकवाद, भेदवाद-अभेदवाद, दैववाद-पौरुषवाद, अपेक्षावाद-निरपेक्षवाद, युक्तिवाद-हेतुवाद, अन्तरङ्गार्थवाद-बाह्यार्थवाद आदि एकान्त-वादोंकी निष्पक्ष आलोचनाकी है। इन सब कारणोंसे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैनधर्मके ही प्रतिरूप बन गये हैं। इसीसे शंकराचार्यने अपने शांकरभाष्यमें अनेकान्तका खण्डन करते हुए जैन मान्यताओंका ही खण्डन किया है। अतः स्याद्वाद[1] और उसके फलितरूप सप्तभंगीवाद और नयवाद एक दृष्टिसे जैनदर्शनकी ही देन हैं। सप्तभंगीवादमें एक ही वस्तुके विषयमें प्रचलित विरोधी मन्तव्योंको स्थान दिया गया है, और नयवादमें विविध दर्शनोंको स्थान दिया गया है। इस तरहसे अनेकान्तवाद विचार-भेद और दृष्टि-भेदका सामंजस्य बैठाकर, सबका समन्वय करते हुए सत्य तक पहुंचनेका मार्ग-प्रदर्शन करता है।

जीवात्मा ही परमात्मा है

जैनधर्म, जैसा इसके नामसे स्पष्ट है, 'जिन' अर्थात् विजेताओं द्वारा उपदिष्ट हुआ है। वे 'जिन' पुरुष थे। उन्हें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह किसी ईश्वरकी कृपा या ईश्वरीय पुस्तक द्वारा प्राप्त

१—स्याद्वाद और सप्तभंगीवादके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ'में लेखकका 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' शीर्षक लेख देखिये।

नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने उसे अपने पुरुषार्थके द्वारा सब प्रकारकी वासनाओंपर विजय प्राप्त करके, अपने अनुभवके आधार पर, अपने ही अन्तरात्मासे प्राप्त किया था।

यह बतला देना उचित है कि जैनधर्म किसी अनादि सिद्ध ईश्वरकी सत्ताका हामी नहीं है, और न वह इस जगतको किसीका बनाया हुआ ही मानता है। इस दृष्टिसे एक तरह वह निरीश्वरवादी ही है। किन्तु दूसरी ओर, वह आत्म-बहुत्ववादी है; तथा उसका आत्मा बौद्धकी तरह केवल संस्कारोंका एक पिण्ड मात्र ही नहीं है, बल्कि एक स्वतंत्र अखण्ड अविनाशी पदार्थ है, और उसमें ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। ये गुण सब आत्माओंमें समान हैं, और इसलिए सब आत्माएं समान हैं। किन्तु जैसे सोना खानसे अशुद्ध ही निकलता है, उसी प्रकार सब आत्मा भी सदासे अपने अपने संस्कारोंसे लिप्त ही होते हैं। और, जैसे शोधन प्रक्रियाके द्वारा सोनेमें से मलको दूर करके स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मशोधनकी प्रक्रियाके द्वारा संस्कारोंके बन्धनसे छूट कर प्रत्येक आत्मा शुद्ध हो सकता है। अतएव जैसे मलके चले जानेसे स्वर्णके स्वाभाविक पीतता आदि गुण पूर्ण विकसित हो उठते हैं उसी प्रकार शुद्ध होने पर आत्माके गुण भी पूर्ण विकसित हो जाते हैं; तथा जैसे सब शुद्ध स्वर्ण प्रायः एक ही रूप रंगके होते हैं, उसी प्रकार सब शुद्ध आत्मा भी समान होते हैं। शुद्ध होनेपर उनमें कोई अन्तर नहीं रहता; जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह अपने-अपने प्रबल संस्कारोंकी तरतमांशताके कारण ही होता है। उनके दूर होने पर फिर कोई भेदका कारण ही नहीं रहता। सब शुद्ध आत्मा अपनी अपनी स्थितिको कायम रखते हुए अपने-अपनेमें लीन रहते हैं। उन्हें ही जैनधर्म परमात्मा मानता है। वे ही उसके आदर्श हैं, आराध्य हैं और ध्येय हैं। उनकी दो अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्थाको सकल परमात्मा कहते हैं; क्योंकि उस अवस्थामें आत्मा यद्यपि सशरीर रहता है पर वह रागद्वेषकी दुर्गम घाटीको पार कर चुकनेके कारण पूर्ण ज्ञानी और वीतराग हो जाता है; और इसलिए उस अवस्था में पहुंचकर वह जनताको अपने अनुभवोंसे अवगत कराता है। वह उनके असली स्वरूपका भान कराता है और बतलाता है कि जिस पथ पर चलकर मैं ऐसा बना हूं, उस पथ पर चलकर प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। किन्तु इसके लिए किसीसे प्रार्थना करनेकी या किसीके आगे गिड़गिड़ानेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि स्वयं अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखकर अपने पैरोंपर खड़े होनेकी आवश्यकता है।

इस प्रकार सकल परमात्मा अपने शेष जीवनपर्यन्त प्राणि मात्रके हितका उपदेश देकर, अवशिष्ट शारीरिक बन्धनसे भी मुक्त होकर, विकल परमात्मा बन जाते हैं और सदा आत्म सुखमें मग्न रहते हैं। वे न किसीका भला करते हैं, और न बुरा; न निन्दासे नाराज होते हैं और न स्तुतिसे प्रसन्न। तथापि जो

उनकी पूजा, वन्दना, स्मरण आदि किया जाता है, वह उन्हें रिझानेके लिए नहीं किया जाता किन्तु बुरे कामोंसे स्वयंको बचनेके लिए किया जाता है, जैसे कि स्वामी समन्त भद्राचार्यने लिखा है—

'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्य गुण स्मृतर्निः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥'

स्वयंभू स्तोत्र।

'हे नाथ! यतः तुम वीतराग हो, अतः तुम्हें पूजासे कोई प्रयोजन नहीं हैं और यतः तुम वीतद्वेष हो, अतः तुम्हें निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी तुम्हारे पुण्य गुणोंके स्मरणसे हमारा चित्त पापरूपी कालिमासे पवित्र होता है।'

वेदान्तके सिवा इतर वैदिक दर्शन भी आत्माको स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उसकी मुक्ति भी मानते हैं, किन्तु मुक्तात्माओंको वे ईश्वरके समकक्ष अंगीकार नहीं करते। ईश्वरमें तो सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व आदि अतुल ऐश्वर्य रहता है; उसकी इच्छासे, उसकी कृपासे क्या नहीं हो सकता? किन्तु मुक्तात्मा तो मुक्त होनेके कारण अपने विशिष्ट गुणोंको भी खो बैठता है। फिर उसके मुक्त होनेमें ईश्वरका अनुग्रह भी कारण है, अतः वह ईश्वरके समान कैसे हो सकता है? परन्तु जैनधर्म के अनुसार परमात्मात्व ही सर्वोच्च पद है; वही आत्माका सर्वोच्च लक्ष्य है और उसे अपने ही प्रयत्नसे प्रत्येक आत्मा प्राप्त कर सकता है। और इस तरह जो आज भिखारी है, कल वही भगवान् बन सकता है और भगवान् बनकर वह भगवान्की ही तरह सर्वज्ञ भी हो जाता है, धर्मतीर्थका प्रवर्तन भी करता है। इस प्रकार जैनधर्म मनुष्यको देव बनाकर उसकी पूजा करता है। स्वर्गीय इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के स्थानमें उसने निष्कलंक मनुष्यकी प्रतिष्ठाकी है, और वही उसकी उपासनाका आदर्श है।

विशद अहिंसा

यों तो अहिंसाको प्रायः सभी भारतीय धर्मोंने अपनाया है और उसे अच्छा भी बतलाया है, किन्तु जैन धर्मका तो आदर्श ही अहिंसा है। जैसे उसके विचारका मूल अनेकान्त दृष्टि है उसी प्रकार उसके आचारका मूल अहिंसा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी अहिंसाके पोषणकी दृष्टिसे ही काम करते हैं। जहां हिंसा है, वहां अधर्म है; और जहां अहिंसा है, वहां धर्म है। आचारके सब विधि-विधानोंके मूलमें यही भाव अन्तर्निहित है।

अब प्रश्न यह है कि अहिंसा आदर्श होकर भी क्या व्यवहार्य हो सकती है? इस प्रश्नका

समाधान हमें जैन साहित्यमें मिलता है। जैनधर्मकी यह एक विशेषता है कि उसने अहिंसाको व्यावहारिक रूप देनेका प्रयत्न किया, और उसे कोरा आदर्श बनाकर ही नहीं रखा।

जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मारे जाने या दुखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं, और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं, फिर भी जैनधर्म इस प्राणी-घातको हिंसा नहीं कहता। कषाय या प्रमादके वशीभूत होकर किसीके प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। जो मनुष्य जीवोंको मारने या सतानेके भाव नहीं रखता, उसके द्वारा किसीका घात हो जाने या किसीको कष्ट पहुँचाने पर भी उसे हिंसाका पाप नहीं लगता। जैसा कि कहा है—

'उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्य णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।'

अर्थात्—'जो मनुष्य देख-देख कर रास्ता चलता है, उसके पैर उठानेपर अगर कोई जन्तु उसके पैर रखनेके स्थान पर आ गिरे और उसके पैरसे कुचलकर मर जाय तो उस मनुष्यको उस जीवके मर जानेका थोड़ासा भी पाप नहीं लगता, ऐसा आगममें कहा है।' किन्तु—

'मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मेत्तेण समिदस्स॥'

'जीव मरे या जिये, जो अयत्नाचारी है—असावधान है, दूसरोंके दुःख-सुखका ध्यान न रखकर अपना काम करता है, उसे अवश्य ही हिंसाका पाप लगता है। पर जो सावधानीसे अपना काम करता है उसे प्राणीका घात हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता।'

सारांश यह है कि हिंसा दो तरहकी होती है; एक द्रव्य हिंसा और दूसरी भाव हिंसा। जहाँ सावधानी रखते हुए भी किसीका घात हो जाता है, वहाँ केवल द्रव्य हिंसा है और जहाँ सावधानी नहीं रखी जाती वहां भाव हिंसा है। वास्तवमें भाव हिंसा ही हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसाके साथ सम्बन्ध है। यदि द्रव्य हिंसाको ही हिंसा माना जाता तो फिर कोई अहिंसक न बन सकता, और महाभारतकी निम्नलिखित शंका बनी ही रहती—

'जले जन्तुःस्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तु माला कुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥'

"जलमें जीव हैं, थलमें जीव हैं और आकाशमें भी जीव हैं। इस तरह जब सब संसार जीवोंसे व्याप्त है तब कोई भिक्षु अहिंसक कैसे हो सकता है?"

इसका उत्तर यों दिया गया है—

'सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूल मूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

'जीव दो तरहके होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। जो अदृश्य होते हैं और न किसीसे रुकते हैं तथा न किसीको रोकते हैं, वे सूक्ष्म कहलाते हैं। सूक्ष्म जीवोंको तो कोई पीड़ा दी ही नहीं जा सकती। रहे स्थूल जीव; उनमेंसे जिनकी रक्षा कर सकना शक्य है, उनकी रक्षाकी जाती है। ऐसी स्थितिमें जिसने अपनेको संयत कर लिया है उस भिक्षुको हिंसाका पाप कैसे लग सकता है।'

और भी लिखा है—

विश्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्ध मोक्षौ चेन्ना भविष्यताम्॥

अर्थात्—'जब यह संसार जीवोंसे भरा हुआ है, तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ही ऊपर निर्भर न होता तो इस संसारवासी कौन मोक्ष प्राप्त कर सकता?' इस तरह जब जैनधर्मकी अहिंसा भावों पर निर्भर है तब कैसे उसे अव्यवहार्य ठहराया जा सकता है?

इसके सिवा वह अहिंसा साधु और गृहस्थकी अपेक्षासे भी भिन्न है। उसका सम्पूर्ण पालन तो साधु ही कर सकते हैं। गृहस्थके लिए तो उसके और भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। यथा—हिंसा चार प्रकारकी है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। बिना अपराधके जान-बूझकर जब किसी के प्राण लिये जाते हैं या किसीको कष्ट पहुँचाया जाता है तब उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। जैसे कसाई पशुवध करता है। रोटी बनाने, पानी भरने, झाड़ने-बुहारने, आने-जाने आदिमें सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। व्यापार आदि करनेमें जो हिंसा हो जाती है, उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। अपनी या अपनोंकी रक्षा करनेमें जो हिंसा हो जाती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। इनमेंसे गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसाका त्याग करता है। क्योंकि—

'गृहवासो विनाऽऽरम्भात् न चारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषंगिकः॥'—सागारधर्मामृत॥

कुछ आरम्भ किये बिना घरमें रहना शक्य नहीं है, और ऐसा कोई आरम्भ नहीं है जिसमें थोड़ी

बहुत हिंसा न होती हो। अतः संकल्पी हिंसा ही त्याज्य है, कृषि आदिमें होने वाली हिंसाका त्याग गृहस्थके लिए शक्य नहीं है। अतः जैन गृहस्थ खेती आदि कर सकता है और अपनी तथा अपने कुटुम्ब, देश आदिकी रक्षाके लिये युद्ध भी कर सकता है। जो लोग पशु वधसे आजीविका करते हैं या जिनको मांसाहारपर निर्भर रहना पड़ता है वे भी यदि उसे सर्वथा छोड़नेमें असमर्थ हैं तो सप्ताहमें एक दिन उसका त्याग करके या अमुक पशुका ही मांस खानेकी प्रतिज्ञा करके अपनेको अहिंसाके पथका पथिक बना सकते हैं। जैन पुराणों और कथानकोंमें ऐसे अनेक पुरुषोंकी कथाएँ आती हैं जो हिंसापर ही जीवन यापन करते थे, और जैन साधुओंके उपदेशसे प्रभावित होकर उन्होंने अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसाकी प्रतिज्ञा ली; और उससे ही उनका जीवन सुधर गया। एक यमपाल नामका चण्डाल अपराधियोंको फांसी देनेका काम करता था। उसने प्रतिज्ञा ली कि मैं चतुर्दशीके दिन किसीको फांसी नहीं दूँगा। एक बार राजाने उसे चतुर्दशीके दिन फांसी देनेको विवश किया, किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहा। जैन शास्त्रोंमें वह अहिंसाणुव्रतके पालन करने वालोंमें प्रसिद्ध हुआ।

सारांश यह है कि हिंसाकी ओरसे मनुष्यमें अरुचि उत्पन्न होनी चाहिये और 'जीओ और जीने दो' का रहस्य उसके हृदयमें उतार देना चाहिये। ये दो बातें हो जानेसे अहिंसाका मार्ग उसके लिए खुल जाता है, और फिर वह स्वयं ही उस ओर बढ़ सकता है।

अपरिग्रह

जैन धर्मकी छठी विशेषता उसका अपरिग्रहवाद है। साधारण तौर पर रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद आदिको परिग्रह कहा जाता है। किन्तु जैनधर्म इन वस्तुओंमें मनुष्यकी जो ममत्व बुद्धि रहती है उसे परिग्रह मानता है। चूंकि ये वस्तुएं उस ममत्व बुद्धिमें कारण होती हैं अतः इन्हें भी परिग्रह कहा जाता है। प्रत्येक गृहस्थको चाहियेकि अपने ममत्वको घटाकर अपने जीवनके लिए आवश्यक वस्तुओंका परिमाण करले, और कभी भी उससे अधिककी इच्छा न करे। यह गृहस्थका अपरिग्रहवाद है।

जैनाचारके ग्रन्थोंमें परिग्रहकी बुराइयां तो बतलाई ही हैं किन्तु उसे एक पाप भी बतलाया है। लिखा है कि जैसे, जिस पक्षीकी चोंचमें मांसका टुकड़ा होता है, अन्य पक्षी उस टुकड़ेके पानेके लिए उस पक्षीके पीछे पड़ जाते हैं। इसी प्रकार धनवान् मनुष्यपर सदा चोरोंकी दृष्टि रहती है, तथा धनके उपार्जन और रक्षणके प्रयत्नमें वह बहुतसे बुरे काम कर डालता है। और, जैसे आग कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती वैसे ही कितना भी धन होजाने से उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती। लोभसे अभिभूत होनेके कारण उसे कार्य और अकार्यका ध्यान नहीं रहता, इसलिए परिग्रहसे बचना ही हितकर है।

इस तरह परिग्रहका नियम निर्द्धारित कर जैनधर्म अनुचित संग्रहका प्रतिरोध करता है, और आजके युगमें फैली हुई आर्थिक विषमताको दूर करनेमें मदद कर सकता है। किन्तु मनुष्य इतना स्वार्थी और लोभी है कि वह अपने स्वार्थमें धर्मको बाधक बनाना नहीं चाहता। उसे वह वहीं तक अपनाता है जहां तक उससे उसके स्वार्थमें बाधा नहीं आती या स्वार्थकी पूर्तिमें सहायता मिलती है। स्वार्थोंके दायरे-में तो सभी धर्मोंके धनी एक ही धर्मके अनुयायी हैं। यदि सब सच्ची भावनासे धर्मका पालन करें तो किसीके पास अनावश्यक संचय हो ही नहीं सकता, क्योंकि न्यायकी कमाईसे मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है किन्तु अनावश्यक संचय नहीं कर सकता। अनावश्यक संचय तो पापकी कमाईसे ही होता। जैसा जैनाचार्य गुणभद्रने कहा भी है—

'शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥' (आत्मानुशासन)

अर्थात्—'शुद्ध-न्यायोपर्जित धनसे सज्जनोंकी भी सम्पत्ति नहीं बढ़ती। क्या कभी किसीने नदियोंको स्वच्छ जलसे परिपूर्ण देखा है ?'

अतः जहां अनेकान्तवाद दुनियांमें फैले हुए विचार-भेदके समन्वयकी महौषधि है और अहिंसा युद्धोंसे त्रस्त राष्ट्रोंके क्षतोंके लिये मरहम है, वहां अपरिग्रहवाद फैली हुई अर्थिक विषमताको दूर करनेका सुन्दर सत्प्रयत्न है। काश ! दुनियाने इनसे लाभ उठाया होता। आशा है, जैन धर्मकी कुछ विशेताओं-का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन जैनधर्मको समझनेमें सहायक होगा।



बौद्ध धर्मकी चीन विजय—

श्री भगवतीप्रसाद पान्थरी

चीनी दर्शन सदैव लौकिक रहा है, और उसने सर्वदा सामाजिक और राजनीतिक रूपमें मनुष्य की वर्तमान स्थितिसे संबंध रखा है। इसके महान् गुरु, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक-कनफूसी (५५१ ई० पू०) ने चिनियोंको आदमीके व्यवहारोंका स्वरूप दिखलाया और उन्हें रहनेका सुन्दर ढंग बताया। वे, वस्तुतः अपने ही—युगके ही नहीं, वरन् आनेवाले सभी युगोंके, एक व्यवहारिक राजनीतिज्ञ और सुधारक थे। अपनी इस महत्ताके ही कारण वे चीनके राष्ट्रीय गुरु माने जाने लगे। इस प्रकार एक व्यवहारिक और लौकिक सुधारक होनेके कारण उन्होंने प्रकृतिके जाने और पहिचाने नियमोंके अतिरिक्त दूसरी बातों पर ध्यान देना उचित न समझा। उन्होंने, अपने शिष्योंको अज्ञात ईश्वरको छोड़ देनेकी सलाह दी, और स्वयं भी दैविक चर्चामें न पड़कर, केवल 'मानव' पर ही जोर दिया। उन्होंने अपने एक शिष्यसे कहा 'जब तक तुमने आदमियोंकी सेवा करनी नहीं सीखी, तुम देवताओंकी कैसे सेवा कर सकते हो?' और यह भी कहा 'जब तुम जीवनके सम्बन्धमें अन्धकारमें हो, तुम मृत्युके सम्बन्धमें कोई बात कैसे समझ सकते हो?' किन्तु कन्फूसीवाद मनुष्यकी दैवी और आदर्श शक्तियोंकी भक्ति और पूजा करनेकी नैसर्गिक प्रवृत्ति कि सहायता न कर सका! इस आदर्श दैवी पुरुष की भावना—और आध्यात्मिक क्षुधाकी परितृप्ति बुद्धके विशाल और विशिष्ट धर्मने, जिसे सामान्यतः बौद्ध-धर्म कहते हैं, और जिसका प्रवेश चीन में 'हान' युगमें हुआ, पूरी की।

गौतम बुद्ध और उनका धर्म

बौद्धधर्मके संस्थापक, जिन्होंने चीनकी सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें बहुत योग दिया है, गौतम बुद्ध थे। गौतम बुद्ध भारतके इक्ष्वाकु अथवा सूर्य्य वंशके एक राजघरानेमें उत्पन्न हुए थे। बोधिसत्व प्राप्त करनेसे पूर्व उनका नाम सिद्धार्थ था। वे कपिलवस्तुके (गङ्गाके उत्तरमें स्थित एक छोटासा राज्य) राजा शुद्धोदन और महारानी मायाके पुत्र थे। शुद्धोदन मगधके शाक्य जातिके थे और उनका गोत्र गौतम था। इसीलिए सिद्धार्थ बादमें गौतम बुद्ध तथा शाक्य मुनिके नामसे प्रसिद्ध हुए।

मानवीय दुःखोंसे सारे संसारको आक्रान्त देख सिद्धार्थका हृदय द्रवित हो उठा। वे सोचने लगे कि क्या संसारमें केवल दुःख ही है—'दुःख और केवल मृत्यु!' अन्तमें उन्हें मालूम पड़ा कि सांसारिक दुःखों—जरा, व्याधि और मृत्युसे मुक्त होनेका सच्चा मार्ग जीवनके आनन्दोंके परित्यागमें निहित है। फलतः वे राजसी जीवनके सारे सुखोंको त्याग, घर छोड़, मानवीय दुःखों और क्लेशोंकी औषधि ढूँढ़नेके लिए वनों और जंगलोंमें साधुओं-ऋषियोंके बीच घूमने लगे। काफी भ्रमण और कष्ट उठानेके बाद, एक दिन सिद्धार्थने मगधके एक नगरमें—जिसे आजकल बोधगया कहते हैं, एक पीपलके वृक्षके नीचे बुद्धत्व या पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करने पर सारी चीजें उन्हें प्रत्यक्ष हो गयीं। उन्हें स्पष्ट रूपसे मालूम हो गया कि इस संसारकी सम्पूर्ण वस्तुएँ क्षणिक हैं, और सभी परिवर्तनशील और विनाशवान हैं, तथा जो निर्मित हुआ है उसका अन्त भी अवश्यम्भावी है। संक्षेप में बुद्धको संसारके सभी सुख या आनन्द दुःख तथा कष्टके कारण प्रतीत हुए। इन सब दुःखोंका कारण शाक्य मुनिने 'जीवनकी इच्छा' या 'तृष्णा' समझा। जबतक मनुष्य इस इच्छासे मुक्त नहीं हो जाता उसे 'संसार'के कष्टोंसे छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः जब गौतमको ज्ञान (बोधि) प्राप्त हो गया तो वे मुक्तिका मार्ग लोगोंको बतलानेके लिये वेगसे संसारकी तरफ आये। उनकी मुक्तिका मार्ग था—'अपनी इंद्रियों पर विजय और सर्व प्राणियोंके प्रति प्रेम।' इसलिए उन्होंने संसारको परित्याग करनेका उपदेश दिया जिससे संसारके कष्टोंसे छुटकारा मिल सके और निर्वाण प्राप्त—हो।

जब मनुष्य निर्वाणकी शांति और आनन्द प्राप्त करलेता है, तो वह बुद्धकी सर्वज्ञताका भागी भी हो जाता है। ऐसे सर्वज्ञ आदमीको फिर संसारका कोई क्लेश सता नहीं पाता, क्योंकि वह जानता है कि विश्वके तमाम रूप और दृश्य बिना किसी वास्तविकताके चल-चित्र मात्र हैं।

गौतम बुद्धने यह महत् ज्ञान अपने ही लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण संसारकी मुक्तिके लिए प्राप्त किया था। उनके हृदय-में 'दुःखी मानवताके' प्रति महान करुणा थी। अतः बुद्धत्व प्राप्त करनेके पश्चात् उन्होंने केवल स्वयं संसारको मुक्तिका मार्ग नहीं बताया वरन् उन्होंने अपने उन शिष्योंको भी, जिन्होंने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था, धर्म प्रचार करनेका आदेश देकर संसारके कोने कोनेमें भेजा। बुद्ध जिस प्रकार सर्वज्ञ थे—उसी प्रकार सकरुण भी थे। यही कारण है कि बुद्धका धर्म संसारके धर्मोंमें से पहला धर्म था जिसका प्रसार उस राष्ट्रकी सीमान्तके बाहर तक हुआ, जहां उसने जन्म लिया था। बुद्धका धर्म 'पहला विश्व-धर्म'[1]—

१—ए० ग्रिनवेडेल, बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, अनु० गिब्सन, पृ० ९।

कमसे कम उन सम्पूर्ण प्रदेशोंका धर्म था जो भारतके पूर्व और उत्तरमें मंगोलियाके चारागाहों और तिब्बतकी निर्जन् पहाड़ियोंसे लेकर, जापान और सुदूर पूर्वके भारतीय—द्वीपों तक फैला हुआ है।

बौद्ध धर्मका चीनमें—प्रवेश

बौद्ध-धर्म चीनमें भी पहुंचा। किन्तु अभी तक यह विवादग्रस्त है कि उसने चीनमें कब प्रवेश किया। फालिन नामके एक प्राचीन चीनी इतिहासकारके कथनानुसार, कन्फूसी, लाओजू और बुद्ध समकालीन थे और एक दूसरेसे परिचित थे। फालिन लिखता है कि एक समय जब कन्फूसीसे पूछा गया कि क्या वह पवित्र मानव है, उसने उत्तर दिया कि—'नहीं', किन्तु-साथ ही यह भी कहाकि "पश्चिमी प्रदेशमें एक पवित्र आदमी है[1]।" यह तो निर्विवाद है कि कन्फूसी (५५१-४७८ ई० पू०) और बुद्ध (५६३-४८० ई० पू०) समकालीन थे। 'पश्चिमी प्रदेशसे' अभिप्राय 'भारत' से है। चीन 'मध्य-साम्राज्य'के नामसे कहलाता था। अतः कन्फूसीने जब पश्चिमी प्रदेशके 'पवित्र आदमी' का जिक्र किया तो गौतम बुद्धसे ही उनका अभिप्राय था।

लाओजूके बारेमें फालिनका कहना है कि वह और बुद्ध एक ही थे, तथा 'ताओ' धर्मके प्रणेता शाक्यमुनि ही थे। अतः फालिनका कहना है कि बुद्ध धर्म सी-ह्वांगति' (२२१ ई० पू०) से, जिसने चीनकी महान दीवालका निर्माण कराया था, बहुत समय पूर्व ही चीनमें प्रवेश कर चुका था। चीनके प्राचीन लेखोंमें, जो 'चीन-लू'के नामसे प्रसिद्ध हैं, लिखा है कि बुद्ध धर्म सर्वप्रथम चीन-साम्राज्यके सम्राट च्यंग (२६८ ई० पू०) के राज्यकालके चौथे वर्षमें चीन पहुँचा था। वर्तमान चीनी विद्वान् जुइचीने लिखा है कि (१२१ ई० पू०) के लगभग 'हान सम्राट उ'का एक सेनापति तुर्किस्तानसे लूटमें कुछ सोनेकी मूर्त्तियाँ चीनमें लाया था। ये मूर्त्तियां इतिहासकारोंके लेखानुसार बुद्ध-देवकी थीं और पहली बार ही चीनमें लायी गयी थीं। प्रो० विनय कुमारने बड़ी योग्यता और कुशलतासे यह प्रमाणित किया है कि चीनियोंको बुद्ध-धर्मका ज्ञान चाउ-राज्यकालके प्रथम राजाके समयसे, जो अशोकका समकालीन था, होगया था। आप यह भी कहते हैं कि "यदि अशोक आदिके धर्म-प्रचारकोंका चीन जाना सही न मानकर असंभव समझा जाय, तो भी इतना तो है ही कि उस कालमें दार्शनिक रूपसे, और वस्तुतः मनोवैज्ञानिक आवश्यकताके कारण चीन बौद्ध-धर्मसे परिचित हो चुका था और उससे सहानुभूति रखता था।"[2]

१—बील, बुद्धिस्ट लिटरेचर इन चायना। पृ० १-२।

२—प्रो० वि० कुमार, चाइनीज रिलीजन थ्रू हिन्दू आईज, पृ० १३८-१३९।

इन सब वृत्तोंके आधार पर हम सरलता और बहुत कुछ निश्चयके साथ यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्मका प्रवेश चीनमें लगभग तीसरी शताब्दी ई० पू० में हो चुका था।

विकास और ह्रास

बुद्धधर्मके चीनमें प्रवेश करनेके साथ, 'उसी समय भारतीय विचारधाराका प्रवाह भी पूर्वकी तरफ और विशेषतः चीन तथा भारतके पूर्वकी ओर प्रवाहित हुआ, और यह क्रम शताब्दियों तक चलता रहा।'[1] यह कहा जाता है कि सन् ६५ ई० के लगभग हान वंशके द्वितीय सम्राटने स्वप्नमें अपने सिरके ऊपर 'एक तैरती हुई सुवर्ण-मूर्तिको देखा।' सम्राटने इस स्वप्नके बारेमें अपने भाई और इतिहासकार 'फू-इह'से पूछा। उन्होंने बताया कि 'उड़ती हुई सुवर्णकी मूर्ति' बुद्धकी थी, जिनकी मध्य एशिया और भारतमें पूजा की जाती है, और अब चीनमें भी प्रतिष्ठित होना चाहता है। कहा जाता है कि यह सुनकर सम्राटने, अठारह व्यक्तियोंका एक शिष्ट मंडल बुद्धकी गाथा और उपदेशोंको लानेके लिए पश्चिमी प्रदेशको भेजा। वह शिष्टमंडल भारत आया और यहांसे कुछ बौद्धधर्मकी पुस्तकें, चित्र और शाक्यमुनिकी एक मूर्ति प्राप्त कर 'हान'की राजधानी 'लोयांग'को लेगया। चीनी शिष्टमंडलने तत्कालीन दो प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों—कश्यप मात्तंग और धर्मानन्दको, भी चीन चलनेके लिए आमंत्रित किया। धर्म प्रचारके इच्छुक दोनों आचार्योंने आमंत्रण स्वीकार किया और ६७ ई० सन्में श्वेत घोड़ोंके रथमें अपने साथ बहुतसी पुस्तकें और शाक्यमुनिकी मूर्तियां लेकर चीन गये। चीनका सम्राट उनको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बुद्धकी प्रतिष्ठामें 'शुभ्र अश्व मन्दिर' या 'मठके' नामसे एक विहार स्थापित किया, जो चीनमें स्थापित होनेवाला पहला विहार था। किन्तु बुद्धकी यह प्रतिष्ठा निर्विरोध न हुई। 'ताओ' धर्मके आचार्योंने बौद्धधर्मके प्रचारमें बाधा उपस्थित की; पर बाद्धधर्मके सामने वे अपने धर्मकी श्रेष्ठता प्रमाणित न कर सके। बुद्धके आदेश इतने प्रामाणिक और सर्वप्रिय लगे कि उसे राज्यकी ओरसे 'सच्चा धर्म' स्वीकार किया गया।[2] हान वंशकी गाथाएं कहती हैं—कि धर्मानन्दने कितनेही चीनियोंको—जिनमें राजवंशके १५० व्यक्ति, २८० राज कर्मचारी, ६२० ताओधर्मके माननेवाले और ३२० राजधानीके प्रमुख स्त्री व पुरुष थे, बौद्धधर्ममें दीक्षित किया। इन अनुयायियोंने बुद्धके नामपर दस मन्दिर निर्मित किये जिनमेंसे सात राजनगरीके बाहर और तीन भीतर स्थित थे। बाहरके सात मन्दिरोंमें भिक्षु रहते थे और भीतर के तीन मन्दिरोंमें भिक्षुणी रहती थीं।'[3]

१—बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, पृ० ७९।

२—एस० बील, बुद्धिस्ट लिटरेचर इन चायना, पृ० ४।

३—वही।

सम्राट 'मिंगती'का ऊपर वर्णित स्वप्न, श्री विनयकुमार सरकारके शब्दोंमें, किसी एक व्यक्ति की 'मनोहारी कल्पना' न थी वरन् वह सम्पूर्ण राष्ट्रकी मनोवैज्ञानिक दशाको प्रतिबिम्बित करता है। वह " 'चीनकी कल्पना' थी जिसने बौद्धधर्मको[1] राजाके स्वप्नका रूप दिया।" यही कारण था कि बौद्धधर्मका प्रवेश करते ही इतना स्वागत और सम्मान किया गया; यहां तक कि जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, वह 'हान'के राज कर्मचारियों द्वारा एकमात्र 'सत्य धर्म'के रूपमें स्वीकार किया गया।

हान राज्यकालमें बौद्धधर्मकी लगभग १२३ पुस्तकोंका १४२ भागोंमें चीनी भाषामें अनुवाद किया गया। इसीसे बौद्धधर्मके प्रति तत्कालीन चीन निवासियोंके झुकावका पता लगता है।

इस प्रकार प्रथमतः हान सम्राटोंका प्रश्रय पाकर बौद्ध-धर्म प्रबलतासे चीनमें फैलने लगा और अपने दर्शनसे चीनी जीवनको उसने बहुत कुछ प्रभावित कर दिया। श्री एस. वेल्स विलियम्सने ठीक ही कहा है कि "यह धर्म (बौद्धधर्म) पहिलेही उसके राज्यमें यथेष्टतया फैल चुका था, किन्तु इसके अनन्तर वह चीनियोंका सर्वप्रिय धर्म बना और पूर्वकी ओर जापान तक उसका विस्तार हो चला।"[2]

संभवतः सम्राट 'मिंगती'के बौद्धधर्मकी संरक्षिताका ही फल था कि चू राज्यका अधिपति 'चांगलो' (७६–८५ ई० सन्) भी बौद्धधर्मका अनुयायी हुआ।[3]

हानवंशका पतन—

२२० ई० सन् में हानवंशका ह्रास होने पर चीनकी आंतरिक शांति और समृद्धि विनष्ट हो चली, जिसके फलः स्वरूप चीन अपने सेनापतियों और वैदेशिक आक्रमणकारियोंका क्रीड़ास्थल बन गया। चीन साम्राज्यकी अक्षुण्णता भंग हो गयी और कई स्वतंत्र राज्य पनप उठे, और प्रत्येक शक्ति और साम्राज्यके लिए संघर्ष करने लगे। इस निरर्थक आंतरिक कलहने सम्पूर्ण सामाजिक संघटनको विघटित कर उसके स्वतंत्र विकासको अवरुद्ध कर दिया। फलतः चीनका मध्य और पश्चिम एशिया के बीच जो आर्थिक सम्बन्ध, हान युगमें स्थापित हुए थे, टूट चले और आर्थिक जीवन भी विघटित हो गया। इस प्रकार हान युगका उत्तर काल चीनके इतिहासमें एक विकट संघर्ष और आपत्तियोंका युग माना जाता है। यह युग अपने रौद्र संघर्षोंके लिये कुप्रख्यात है। उसने राष्ट्रके जीवनकी शांति

१—चाइनीज रिलीजन थ्रू हिन्दू आईज, पृ० १३८–१३९।

२—दि मिडिल किंगडम, भा० २, पृ० १६३।

३—चाइनीजन रिलीजन थ्रू हिन्दू आईज, पृ० १४१।

आर समृद्धिको अत्यन्त आघात पहुँचाया। इसलिए आश्चर्यकी कोई बात नहीं यदि विपद्ग्रस्त चीनी जनताने संसार और उसके निवासियोंसे विरक्त होकर अपने दुःखोंसे निवृत्ति पानेके लिए बुद्धके 'निर्वाण'-का आश्रय लिया। बुद्धने संसार और उसके वैभवके परित्यागका आदेश दिया था जो कि सम्पूर्ण दुःखोंका मूल है, और उन्हें, जो ऐसा करनेमें सफल हो सकें, मृत्युके अनन्तर अनन्त सुख वा 'निर्वाण'-का आश्वासन प्रदान किया था। दुःखी चीनी जनता एवं धर्मिष्ठ विद्वानोंको इस दर्शनने, जिसने उन्हें उस समय सुख और शांति देनेका आश्वासन दिया, जब कि उनके लिए संसारमें कोई सुख तथा शांति रह ही न गयी थी, स्वभावतः आकृष्ट किया।

चीनमें बौद्धधर्मके प्रसारका यही एक मात्र कारण न था। हानवंशके बाद कतिपय चीनी सम्राटोंने भी बौद्धधर्मको राजाश्रय दिया, और चीनी जनतामें उसके प्रचारमें बहुत योग दिया। परिणामतः बौद्धधर्म चीनी जनताके जीवनसे बिलकुल सम्बद्ध हो गया और तबसे वह हमेशा "दुःख और सांसारिक विपत्तियोंके समय एक अचूक सहारा देता रहा है[1]।"

सम्राटोंका संरक्षण

पीली घाटीमें स्थित वी राज्यके अधिपति व सम्राट फेई (२४०-२५३ ई० सन्) बौद्धधर्मका परम भक्त था। उसने इस धर्मको अपने राज्यका प्रमुख धर्म स्वीकार किया। राजाज्ञा द्वारा उसने चीनी भिक्षुओंके लिए बौद्धधर्मके आदेशोंका पालन अनिवार्य कर दिया। बौद्धधर्मके आदेशोंको जाननेके लिए बौद्धधर्मकी पुस्तकोंका चीनी अनुवाद एक भारतीय भिक्षु द्वारा राज्यमें तैयार कराया। राजाज्ञानुसार चीनी भिक्षुओंको अपने केश मुड़ा देने पड़े, मंत्र और धार्मिक पुस्तकोंका पाठ करना पड़ा तथा और भी कितने ही कठिन धार्मिक आचार विचार अपनाने पड़े।[2] किन्तु इत्सिंगके, जो ६७१ ई० सन्में भारत आया था, वर्णनसे जान पड़ता है कि चीनके बौद्ध उसके समयतक बौद्धधर्मकी धार्मिक पुस्तकोंमें दिये गये 'विनय'से बहुत कुछ अपरिचित थे।[3]

जो भी हो, अबतक बौद्धधर्मको पूरी तरह राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ था। पहली बार लातु जिन वंशने उसे पूर्ण और शक्तिशाली प्रश्रय प्रदान किया। इस वंशका संस्थापक—सुजमा एन था। उसने

१—गिब्स, दि सिविलिजेशन ऑफ चायना, पृ० ५५।

२—सू ची, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ चायनीज सिविलिजेशन, पृ० १४।

३—ताका कुसू, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इंडिया, पृ० ६५।

पीछे २६५ ई० सन्‌में वोती या वी का नाम ग्रहण किया था। इस वंशके शासक लगभग सन् ३१७ ई० तक लोयहंगमें शासन करते रहे।

इस वंशके प्रभुत्वकाल ही में चीनका प्रथम महान् और प्रसिद्ध बौद्ध यात्री फाय-ह्यान बौद्धसाहित्य और ग्रन्थोंकी खोज तथा संचयके लिए भारतवर्ष आया था।

इस वंशके सम्राट् वोती या वी (२६५-२९० ई० सन् तक) बौद्धधर्मका महान् संरक्षक था, जिसकी आज्ञासे उसके राज्यमें कई विहार स्थापित किये गये थे। सम्राट मिनने भी बौद्धधर्मको प्रश्रय दिया और दो विहार या मठ बनवाये। इस समय चीनी इतिहासकारोंके अनुसार चीनमें लगभग ३७०० बौद्ध भिक्षु थे।

पूर्ववर्ती सम्राटोंकी भांति ही पूर्वी जिन या चीन्सके सम्राट भी एक ही कुलके थे। इस वंशके राजाओंकी राजधानी नानकिंग थी। इस वंशने ३१७ से ४२० ई० सन् तक राज्य किया। और उसके राज्यकालके १०३ वर्ष बौद्धधर्मके विकास और प्रसारमें बहुत महत्वके रहे। यह सुविख्यात बौद्ध यात्री इत्सिंगके इन शब्दोंसे स्पष्ट है कि "उस समय सम्राट् बौद्धधर्मकी प्रतिष्ठा करते थे और जनता भक्तिपूर्ण थी।"[१] राजकीय विवरणमें मिलता है कि पूर्वीय जिन वंशके संस्थापक योन्तिने नानकिंगमें दो विहार बनवाये थे, जिनमेंसे प्रत्येकमें १,००० भिक्षु रहा करते थे।

योन्तिके उत्तरकालीन राजाओं—मिंगती (३२२-३२५) चिंगति (३२६-३४२) किन वेन (३७१-३७२) हिआ वुति (३७३–३९६) और नगन ति (३९७–४१७) का भी बुद्धधर्मके प्रति वैसा ही अनुराग और आदर था। मिंगतीको दो विहारोंका निर्माता कहा जाता है, जिनमें उसने १०० बौद्ध विद्वानोंको प्रश्रय दिया था। चिंगतिने भी, कहते हैं, दो विहार बनवाये थे जिनमें करीब २,००० बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। इसी प्रकार शेष सम्राटोंने भी किसीने दो और किसीने एक विहार निर्मित कराये।

राजकीय विवरणके अनुसार पूर्वीय जिनवंशके १०३ वर्षोंके राज्यकालमें उनके साम्राज्यके अन्तर्गत लगभग १७००० बौद्ध संस्थाएं स्थापित हुईं और २६३ बौद्ध पुस्तकोंका चीनी भाषामें अनुवाद हुआ। 'जिन' सम्राटोंके द्वारा निर्मित संस्थाओंकी ठीक संख्याका पता लगाना आज कठिन है, किन्तु जहां तक अनुवादित पुस्तकोंकी संख्याका सम्बन्ध है वह सही माना जाता है[२]।

अतः निश्चित रूपसे यह कहा जा सकता है कि जिन वंशके शासन कालमें बौद्धधर्म, साम्राज्यका

१—ताका कुसु, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज् इन इण्डिया, २०७।

२—पी० बागची, इंडिया ऐण्ड चायना, पृष्ठ ११।

प्रमुख वा प्रतिष्ठित धर्म था, यद्यपि कनफूसीके आदर्श तथा सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठा भी किसी प्रकार कम न थी[1]।

४१७ ई० के लगभग जिनके सेनापति लियु युने, मौर्य सेनापति पुष्यमित्रकी तरह, अपने स्वामीको मार डाला और ४२० ई० में कंसु नामसे नानकिंगका शासक बन बैठा। उसका वंश उत्तरी शुंग वंशके नामसे प्रसिद्ध है। इस वंशने लगभग ४७९ ई० तक राज्य किया। शुंगोंके बाद ४७९ ई० से ५०२ ई० तक नानकिंगमें जि वंश का राज्य रहा। तदनन्तर लियांग वंशका प्रभुत्व स्थापित हुआ। इस वंशका संस्थापक उ ति था। उसका राज्य यांगलि नदीके दक्षिणमें फैला हुआ था, और उसके उत्तरमें वि वंशका राज्य था।

वुति अपने समस्त शत्रुओं का नाश करनेवाला महान योद्धा, तथा सात्विक और दार्शनिक प्रवृत्तिका व्यक्ति बताया जाता है। उसने साहित्यके अभ्युत्थान और कनफूसीके दर्शनके अध्ययनकी अभिवृद्धिके लिए बहुत कुछ किया। उसकी विकासोन्मुख प्रवृतिका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि उसने भारत और फारससे अपना सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था और इन प्रदेशोंके राजदूत उसके दरबारमें आया-जाया करते थे।

भारतीय सम्पर्कके परिणाम स्वरूप बाद्धधर्मका उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि बुद्धकी भक्तिके आवेशमें उसने अपना सारा राजकाज तक त्याग दिया और 'विहार' में रहने लगा। बादमें राज्यके मन्त्रियोंके दबाव डालने पर उसने पुनः राजदण्ड हाथमें लिया, किन्तु राजदरबारका सारा समय वह एकत्र राजकर्मचारियोंको धर्म बतलाने और बुद्धके सिद्धान्तोंकी समीक्षा करनेमें ही व्यय करने लगा।[2] घर पर भी वह साधुकासा जीवन व्यतीत करता था। कहा जाता है कि वह दिनमें केवल एक बार भोजन करता था, और कभी मांस तथा लहसुन आदि न खाता था। बौद्ध-सिद्धान्त 'अहिंसा'का अनुकरण करते हुए, उसने अशोककी भांति देवताओंकी पशु 'बलि'को रोक दिया। यही नहीं, कहा जाता है कि उसने रेशमी वस्त्र और किनारियोंपर पशुओंके चित्रोंको अंकित करनेपर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसमें भी उसे प्राणियोंकी हिंसा मालूम पड़ी। उसका करुण-हृदय मृत्युदण्डके अपराधियोंका भी मारा जाना न सहन कर सकता था, अतः कहते हैं, वह करुणार्द्र होकर अपराधियोंको मुक्त कर दिया करता था। इस प्रकार यह धर्मात्मा सम्राट साधु-जीवन व्यतीत किया करता था। किन्तु शाक्यमुनिके इस महान् भक्तका अन्त बहुत हृदयद्रावक और करुण हुआ। वृद्धावस्थामें उसे उत्तरी

१—एस० विलियम, दि मिडिल किंगडम, पृ० १६५।

२—वही, पृ० १६०।

शासकोंसे इतनी पराजय उठानी पड़ी कि उसकी शक्तिकी केवल छाया ही बची रह गयी। उसके राज-कर्मचारियोंने भी उससे विद्रोह किया और गृहक्रान्तिने उसकी रही सही शक्तिका भी अन्त कर डाला, और वह कारागृहमें बन्दी कर दिया गया। उस समय इस धार्मिक सम्राट्की आयु ८० वर्षकी हो चुकी थी। वह इस कठोर और निर्मम आघातको सहनेके सर्वथा अयोग्य था। फलतः हृदय विदीर्ण हो गया और वह बन्दीवस्थामें ही, कहते हैं गलेकी पीड़ाके कारण, जिसे शान्त करनेके लिए उसके बन्दीकर्त्ताओंने थोड़ासा शहद देना भी अस्वीकार कर दिया, मृत्युको प्राप्त हुआ।[1]

इस अभागे सम्राट्के शासनकालमें ही महान् भारतीय बौद्ध भिक्षु—बोधिधर्म चीन गये थे और वहां 'ध्यान'के सिद्धान्तका प्रचार किया था। उन्हींके इस प्रचारके फल स्वरूप चीनमें चान (ध्यान)-वादका प्रचार हुआ।

उत्तर चीनमें बौद्धधर्म

चीनमें बौद्धधर्मको दोनों—दक्षिणी और उत्तरीय राजवंशोंका प्रश्रय प्राप्त था। जिन दिनों लिआंग वंश दक्षिणमें बौद्धधर्मका प्रसार कर रहा था, उन्हीं दिनों उत्तरमें वी वंशके सम्राट बौद्धधर्मका प्रचार करनेमें लगे हुए थे। उत्तरके वी वंशकी स्थापना ३८६ ई० में हुई थी और वह वंश लगभग ५३४ ई० तक उत्तरी चीन पर शासन करता रहा। सन् ५३४ के पश्चात् उत्तरी वी वंश पूर्वी और पश्चिमी वी वंश, तथा चान वंशके रूपमें विभाजित हो गया। चानवंशने चनगानमें वी वंशका पूर्ण विनाश कर उत्तर-पश्चिमी चीन पर अधिकार कर लिया। वी वंशके शासक विदेशी बर्बर हूण थे, जो उत्तरकी ओरसे चीनमें प्रविष्ट हुए थे। वी शासक हूण थे इसलिए उनके साम्राज्यको 'हूणीय साम्राज्य' भी कहते हैं।

वीका प्रभुत्वकाल संभवतः उन महान् युगोंमें से एक था जब चीनका अन्य एशियाई प्रदेशोंके साथ सबसे अधिक और घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अतः यह समझना कठिन न होगा कि इस कालमें भारतीय संस्कृतिका चीनमें प्रवल प्रचार क्यों हुआ और वी सम्राटोंने 'विदेशी' धर्म 'भारतीय बौद्धधर्म' को क्यों संरक्षण प्रदान किया?

वी वंशके संस्थापक शाह हु ने ३२५ में एक घोषणा करके अपनी प्रजाको यह अधिकार प्रदान किया कि 'यदि वे चाहें तो बुद्ध की उपासना और बौद्धधर्म ग्रहण कर सकते हैं।'

सहिष्णुताकी इस नीतिने निःसन्देह बौद्धधर्मके लक्ष्यको आगे बढ़ाया और सम्पूर्ण उत्तरी चीनमें

१—गोगलर, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ चायना, पृ० २५।

उसके प्रसारके लिए द्वार खुल गये। राजकीय विवरणसे पता चलता है कि वी वंशके निम्नलिखित सम्राटोंने बौद्धधर्मके प्रसारमें बहुत योग प्रदान किया।

सम्राट् वुति (३८६–४०७)—इसने १५ चैत्य और २ विहार बनवाये, और स्वयं बौद्ध-पुस्तकोंकी प्रतिलिपि की। कहा जाता है, उसने बुद्धकी एक हजार स्वर्ण प्रतिमाएं भी निर्मित करवाई थीं, और प्रति मास वह धार्मिक महासभा बुलाया करता था।

चेंगति (४५३–४६५)—इसने बौद्धधर्मके अध्ययनको बहुत प्रोत्साहन दिया।

हिएन वेन (४६५–४७६)—इसने ध्यानवादके भिक्षुओंके लिए चाओ-इन-सी में एक विहार बनवाया था।

हिओवेनति (४७६–४७९)—इसने भी एक विहार बनवाया था। उसके प्रभुत्वकालमें भिक्षु और भिक्षुणियोंकी संख्या लगभग ४०,००० तक पहुंच गयी थी।

सिउअन वी ति (४९९–५१५)—इसने चार विहार बनवाये। वह स्वयं अपने महलमें बौद्ध पुस्तक 'विमल-कीर्ति-निर्देश' पर व्याख्यान दिया करता था।

हिआस मिंग ति (५१५–५२८)—इसने भी एक विहार बनवाया। उसके उत्तराधिकारीने ५ विहार बनवाये। उसके बाद वुति (५३२–५३४) ने एक विहार बनवाया और वेन्तिने (५३४–५५१) भी एक विहार बनवाया।

इस प्रकार कहा जाता है कि उत्तरी वी शासकोंके शासनकालके १७० वर्षोंमें उत्तरी चीनमें भिक्षु और भिक्षुणियोंकी संख्या लगभग २० लाखतक पहुंच गयी थी, और सम्राटों, राजकुमारों तथा सामान्य लोगों द्वारा निर्मित मन्दिर एवं विहारोंकी संख्या ३० हजारसे अधिक ही थी। राजाज्ञासे चआंग-नगन और येमें ४७ विहार बने थे, राजकुमारों द्वारा ८३९ मन्दिर निर्मित हुए; और सामान्य लोगों या गृहस्थोंने लगभग ३० हजार मन्दिर स्थापित करवाये।[1]

बौद्धोंका वध

बौद्धधर्मका प्रचार बहुत ही सुलभ और सरल रहा हो, ऐसी बात भी न थी। बौद्धधर्मके प्रवेशके समयसे ही, 'ताउ' धर्मावलम्बियोंने उसका विरोध करना शुरू कर दिया था। मिंगतीके समयमें ही 'ताऊ' लोगोंने सम्राट द्वारा बौद्धधर्मको प्रश्रय दिये जानेका यह कहकर विरोध किया था कि बुद्धका धर्म असत्यवादी है और एकमात्र उनका ही धर्म सत्य है। किन्तु दुर्भाग्यवश राज्यकी दृष्टिमें प्रमाणित यही हुआ कि

१—जुइचि ए शार्ट हिस्ट्री आफ चाइनीज सिवीलिजेशन, पृ० ११५।

'ताऊ' धर्म ही असत्य है, और पश्चिमी देशसे आया हुआ धर्म ही—'सत्यधर्म' है[1]। अतः उस समय यद्यपि 'ताउ' लोग बौद्धधर्मके विरुद्ध सम्राट्के क्रोधको प्रज्वलित करनेमें असफल रहे, किन्तु समय-समयपर उनकी ईर्षा बुद्धके अहिंसक अनुयायियोंका वध करानेमें सफल भी होती रही।

बौद्धोंका पहली बार संहार, उत्तरीय 'वी' वंशके सम्राट् ताइ उ (४२१-४५१ ई०) के राज्यकालमें हुआ। अपने ताउ-धर्मी मंत्रीके प्रभावमें आकर उसने आज्ञा जारी की कि "विदेशी प्रदेशसे आये हुए सम्पूर्ण देवताओंको मिटा दिया जाय" और उनका कोई चिह्न शेष न रहने पाये। उन देवताओंकी पूजा प्राणदण्डनीय घोषित कर दी गयी। उनके उपासकोंके समस्त कुटुम्बियोंको भी प्राणदंडका भय दिखलाया गया। बुद्धके समस्त चित्र और मूर्तियों को जलाने या नष्ट करने और वृद्ध एवं युवक भिक्षुओंको जीवित गाड़ देनेकी आज्ञा दी गयी। किन्तु संभवतः इन निर्मम आज्ञाओंका पालन पूर्णतया न किया गया; क्योंकि ५० वर्ष तक इन आज्ञाओंके जारी रहनेके बाद भी, जब निषेध आज्ञाएं उठायी गयीं, लोयांगकी नयी राजधानीमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां इतनी संख्यामें थीं कि जहां देखिये वहां उनके मंत्रोच्चारणकी ध्वनि ही सुनाई देती थी।[2]

तांग-कालमें बौद्धधर्म

तांग वंशने चीनमें ६१८ से ९४८ ई० तक अर्थात् लगभग २९० वर्षोंतक राज्य किया। इस प्रख्यात वंशके शासकोंको, सदियोंके आन्तरिक कलहके बाद पुनः चीनको एक सूत्रमें आबद्ध करनेका श्रेय प्राप्त है। चीनका यह "गुप्त युग" कहा जाता है। इस कालमें संभवतः वह संसारकी सभ्य जातियोंमें सबसे ऊंचा स्थान रखता था।[3] तांग शासनके २९० वर्षोंके भीतर चीनने जैसा बौद्धिक और कलात्मक विकास किया, वैसा उसने न तो पहिले कभी किया था और न बादमें फिर कभी कर सका। यही युग था जिस समय बौद्धधर्मने भी अपूर्व विकास किया। यद्यपि उसे कन्फूसीके अनुयायियोंके बहुतसे तीव्र आक्रमण भी सहने पड़े। बौद्धधर्मके विरुद्ध सबसे शक्तिशाली आन्दोलन (६२४ ई०) चलानेवाला व्यक्ति 'फी-ई' (५५१-६३९) था। उसके प्रभावमें आकर तत्कालीन तांग सम्राट (संभवतः लि येन) ने बौद्धोंका संहार करना आरम्भ किया, किन्तु उसे शीघ्र ही अपनी भूल मालूम हो गयी और उसने बौद्धधर्मके प्रति,

१—बील, बुद्धिस्ट लिटरेचर इन चाइना, पृ० ४।

२—ए शार्ट हिस्ट्री आफ चाइनीज़ सिविलीजेशन, पृ० ११४-११५।

३—मिडिल किंगडम, पृ० १६७।

जो भारत, तिब्बत और मध्य एशियामें पूरी तरहसे घर कर चुका था, असहिष्णुताका व्यवहार करना छोड़ दिया। तांग सम्राटने यह पूर्णतया अनुभव किया कि बौद्धधर्मके प्रति असहिष्णु होने से बौद्ध प्रदेशोंमें उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होगी, अतः अन्तर्राष्ट्रीय सुसम्बन्धको बनाये रखनेके लिए उसने अपनी असहिष्णु नीतिको छोड़ बौद्धोंका संहार करनेके बजाय उन्हें हर प्रकारसे धर्म प्रचारमें सहयोग प्रदान किया।

ह्वेनसांगकी भारत-यात्रासे भी तांग सम्राट् बहुत प्रभावित हुआ। यह महान् यात्री चांगसे ६२९ ई० सन्में यात्राके लिए चला था, और १५ वर्ष तक भारत आदिकी यात्रा करके ६४५ ई० सन्में चीन लौटा। वह अपने साथ ६५० पुस्तकें भी चीन ले गया था। लौटकर राजधानीमें पहुंचनेपर उसका राजा तथा प्रजा दोनोंने स्वागत किया।

ह्वेनसांगकी यात्राकी साहसिक, काल्पनिक एवं वास्तविक विचित्र कहानियाँ चीनी भाटों और कथकड़ोंके लिए बड़े कामकी सिद्ध हुईं। चीनी सम्राट् स्वयं ह्वेनसांगसे उसकी यात्राकी कहानियोंको बड़े चावसे सुना करता था। ह्वेनसांगका अपने देशवासियोंमें बहुत सम्मान हुआ और लोग उसे अपने युगका शाक्यमुनि कहने लगे। ह्वेनसांगकी यात्राओंके प्रभावसे तथा उसने चीन और भारतके बीच जो राज-सम्बन्ध स्थापित किया उसके फलस्वरूप बौद्धधर्मको तांग सम्राटोंका खूब प्रश्रय प्राप्त हुआ। चीन और भारतको सूत्रबद्ध करनेमें बौद्धधर्म ही सहायक था, इसलिए तांग सम्राटोंने स्वभावतः बौद्धधर्मको प्रश्रय प्रदान किया। बौद्ध ग्रन्थोंके चीनी अनुवादोंको खूब प्रोत्साहन दिया गया, विहार निर्मित किये गये और सम्राट् तथा दरबारके सरदारोंने धर्म कार्योंमें तत्परतासे सहयोग किया। कलाका भी खूब विकास हुआ। विशेषतया मूर्तिकलाने तो अभूतपूर्व उन्नति की। तत्कालीन मूर्तिकलाके कुछ उदाहरण आज भी प्राप्त हैं, जो सुन्दरता और भाव-व्यञ्जनाके उत्कृष्टतम प्रमाण हैं। ऐसी सुन्दर मूर्तियां चीनके उत्तर कालमें फिर नहीं मिलतीं।

यह सब होते हुये भी यदा कदा बौद्धोंका संहार भी होता ही रहा। तांग शासनके अन्तिम दिनोंमें वु नामक सम्राट्ने ८४५ में बुद्धकी समस्त मूर्तियों और देवालयों तथा विहारोंको तोड़ डालनेकी आज्ञा जारी की। किन्तु उसका यह धर्म-विद्रोह बौद्धधर्मको नष्ट करनेमें सफल न हो सका। सब प्रकारके विरोधोंके होते हुए भी बौद्धधर्म चीनी जनतामें लोकप्रिय बना रहा; और उसका ह्रास उसी समय हुआ जब चीन स्वयं पतनकी ओर बढ़ा और उसका बौद्धिक जीवन जड़ हो गया।

१—ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ चाइनीज सिवीलिजेशन, पृ० ११६।

बौद्ध धर्मका ह्रास

तांगवंशके पश्चात् सुंग वंशने ९७० ई० से ११२२ ई० तक सम्पूर्ण चीनपर राज्य किया। इस कालमें भी बौद्धधर्म चीनमें विकसित होता रहा और वहाँके बौद्धिक जीवनको प्रभावित करता रहा। सुंगोंके पश्चात विदेशी मंगोलोंने चीनको जीत लिया, और यान नामसे वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इस वंशने १२७७ ई० से १३६७ ई० तक राज्य किया। इन विदेशियोंका झुकाव लामाधर्मकी ओर—जो बौद्धधर्मकी ही एक शाखा है—विशेष रूपसे था। अतः यान शासकोंने कन्फूसियोंके बजाय चीनी बौद्धोंको अपना संरक्षण प्रदान किया। चंगेजखाँके नाती मंगोल शासक कुबला खाँ (१२५९-१२९४) के राज्य कालमें बौद्धधर्म अपने उत्कर्षकी चरम सीमाको पहुँच गया था। बौद्धधर्मके प्रति कुबलाका अधिक झुकाव था। कहते हैं कि वह सम्राट् वर्षमें सैकड़ों बौद्ध उत्सव मनाया करता था, जिसमें हजारों मन आटा, सब्जी, तेल और शहद व्यय होता था।

इस समय देवालयों और विहारोंकी संख्या अत्यधिक हो चली थी, किन्तु आध्यात्मिक और नैतिक रूपमें बौद्धधर्मका पतन होने लगा था। इस कालमें कोई भी महान बौद्ध दार्शनिक अथवा भिक्षु न हुआ। परिणाम स्वरूप यान वंशके समयसे बौद्ध धर्मका चीनमें ह्रास होना आरम्भ हो गया, और वह फिर विकासकी ओर न बढ़ सका। यानवंशके पश्चात् बौद्धधर्म 'जीवित धर्म'के रूपमें चीनसे विदा हो गया।

आज यद्यपि चीनमें सर्वत्र बौद्ध विहार और देवालय मिलते हैं, किन्तु वे अब चीनके बौद्धिक और आध्यात्मिक केन्द्र नहीं रह गये हैं। बौद्धोंके बहुतसे मठ अथवा देवालय गाँवोंके शिक्षणालयोंमें परिवर्तित कर दिये गये हैं जिनमें अब भिक्षु-भिक्षुणियोंके मंत्रोच्चारणकी ध्वनिकी जगह बच्चोंके पाठ रटनेकी ध्वनि गुंजित होती रहती है। जापानी युद्धके समय अनेक विहारोंका उपयोग स्वतंत्रताके लिये लड़ने वाले सैनिकोंकी 'बैरक' अथवा पड़ावके रूपमें किया गया; और आज चीनमें दो चार बौद्ध धर्मावलम्बी भले ही दिखाई पड़ जायँ किन्तु नई पीढ़ीमें शायद ही कोई बौद्ध हो[१]।

१—दि हिस्ट्री आफ चाइनीज़ सिविलीजेशन, पृ० ११८।

भारतीय आर्यधर्मकी प्रगतिशीलता

डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री

भारतीय आर्यधर्मका वास्तविक स्वरूप या लक्षण क्या है ? इस प्रश्नके समाधानार्थ अनेक प्रयत्न किये गये हैं, पर यह मानना पड़ेगा कि अभी तक कोई भी प्रयत्न इस विषयमें पूर्णतः सफल न हो सका है। इस कठिनताका कारण यही है कि, एक सतत समुन्नतिशील नवयुवकी तरह, भारतीय आर्यधर्म भी सदासे ही प्रगतिशील या विकासोन्मुख रहा है। उसके दीर्घकालीन इतिहासमें कभी भी हम उसे विकास-विमुख या जीवनरहित स्थिरता या जड़तासे युक्त नहीं पाते। ऐसा होनेपर भी उसकी सूत्रात्मा एक रही है। इसी दृष्टिसे हम उसे सनातनधर्म भी कह सकते हैं। इस लेखका मुख्य उद्देश्य यही है कि इस सनातन आर्यधर्मकी प्रगतिशीलताको दिखलाते हुए उसकी साम्प्रतिक प्रगतिकी दिशाका भी निर्धारण किया जाय।

भारतीय आर्यधर्मकी प्रगतिशीलताको दिखलानेके लिए, इस लेखमें हम उसकी विशिष्ट अवस्थाओं का ही, उनके मुख्य स्वरूप, गुणपक्ष, दोषपक्ष तथा स्थायी प्रभावको दिखलाते हुए विचार करेंगे। वे अवस्थाएं ये हैं (१) मौलिक वैदिक धर्म, (२) उत्तरकालीन वैदिक या श्रौतधर्म, (३) औपनिषदधर्म, (४) जैनधर्म, (५) बौद्धधर्म, (६) पौराणिक धर्म, (७) सन्तधर्म, और (८) सिखधर्म।

मौलिक वैदिक धर्म

इसके स्वरूपका बहुत कुछ परिचय हमें ऋग्वेदके तथा उत्तरकालीन श्रौतकर्मकाण्डके विकासके अध्ययनसे मिल सकता है। इस समय विभिन्नवादोंके स्थानमें आशामय, सत्योन्मुख, सततकर्मशील, तथा निश्छल जीवनकी प्रधानता थी। प्रकृतिकी गोदमें खेलनेवाले वैदिक आर्योंका अग्नि, वायु आदित्य आदिके दैवी जगत्से साक्षात् संपर्क था। और इस संपर्कका परिस्पन्दन उदात्त भावनाओंसे युक्त उनके जीवनमें स्पष्ट छलकता था। उस समय वेदकी सबसे अच्छी व्याख्या आर्योंका जीवन ही था। ऐसे ही वातावरणमें जीवनयात्राके लिए किसी भी धन्धेको करनेवाले स्त्री-पुरुष ऋषिका तथा ऋषि हो सकते थे **"कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना"** (ऋ० ९।११२।३)

अर्थात्—एक ऋषिका कहना है कि मैं तो कवि हूं, मेरा पिता वैद्य है, और माता पिसनहारी

है यही बात स्पष्ट होती है। ऋग्वेदके मन्त्रोंके अनेक ऋषियोंको पिछले ग्रन्थकारोंने उत्तरकालीन परिभाषामें वैश्य ऋषि, राजन्यऋषि बतलाया है।

वास्तवमें यह समय शुद्ध प्रजातन्त्र तथा साम्यवादका था। सारी आर्यजनता अपनेको 'विश'[1] समझती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनेमें अपना पुरोहित, राजा तथा योद्धा था।[2] संघर्षमय जीवनके कारण शनैः शनैः क्षत्र और ब्रह्म[3] इन दो कामोंकी प्रधानता हो जाने पर भी सबको विश होनेका अभिमान था।

उत्तरकालीन वैदिक (या श्रौत) धर्म

प्रत्येक सभ्यताके इतिहासमें जीवनकी विसंष्टुलताकी वृद्धिके साथ-साथ विभिन्न सामाजिक वर्गोंकी उत्पत्ति होती है। इसी नियमके अनुसार और विशेषतः आर्य-अनार्यके संघर्षके कारण आर्य-जनतामें शनैः शनैः राजा, सेना (स+इना, अर्थात् नायक नेता या राजासे युक्त) क्षत्रिय (=शत्रुके घातसे रक्षा करनेवाला), पुरोहित (पुरः+हित=धार्मिक कृत्यके लिए प्रतिनिधिके रूपमें चुना गया व्यक्ति), ब्राह्मण (=देवताओंकी स्तुति आदि करनेवाला) आदिकी उत्पत्ति हुई। प्रारम्भमें राजाका चुनाव राष्ट्रपतिके रूपमें प्रजाके द्वारा होता था, और ब्राह्मण आदिका विभाग भी कर्म-मूलक था। 'विशि राजा

१—इसी मौलिक अर्थमें, हमने सुना है, 'विट्' या वीट्' शब्दका प्रयोग गढवाल आदिमें आजकल भी होता है। इसका मौलिक अर्थ 'बसनेवाले के' है। इसका साथी शब्द 'कृष्टि' भी प्रजाके ही अर्थमें ऋग्वेदमें प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध स्पष्टतया कृषिसे है। आदिकालमें खेतीके साथ ही बस्तीका प्रारम्भ होता था। उत्तरकालीन 'वैश्य' शब्द 'विश्' शब्दकी तीसरी पीढ़ीमें बना है। 'विश्' से 'विश्य' और उससे 'वैश्य'। इस प्रकार ऋग्वेदमें 'विश्' शब्दका सम्बन्ध उत्तरकालीन 'वैश्य' से नहीं है।

२—उस समयकी प्रजाकी सामाजिक स्थितिको वायु पुराणके शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है :—

'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः।......तुल्यरूपायुषः सर्वा **अधमोत्तमवर्जिताः**। सुखप्राया ह्यशोकाश्चउत्पद्यन्ते कृते युगे। नित्यप्रहृष्टमनसो महासत्त्वा महाबलाः ॥ (वायु पु० १।८।६०–६२)।

३—'क्षत्र' और 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त होते हैं। अतः भाववाचक होनेसे भिन्न भिन्न कामोंके ही द्योतक हैं। 'क्षत्रिय' और 'ब्राह्मण' शब्द उक्त शब्दोंसे उत्तरकालमें निकले। यह ठीक भी है, क्योंकि पहले काम होता है, फिर उससे नाम बनता है। मौलिक वैदिककालमें वास्तवमें, आर्यजनता (= विशः) में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका वर्गीकरण नहीं हुआ था।

प्रतिष्ठितः' (= प्रजामें ही राजाकी स्थिति है), 'राष्ट्रानिवै विशः' (ऐ० ब्रा० ८।२६) 'अर्थात् प्रजा ही राष्ट्र है) ऐसे बचनोंसे यही सिद्ध होता है। पर शनैः शनैः शक्ति और प्रभावके केन्द्रीभूत होनेसे उन उन पदों और वर्गोंमें स्थिरता आने लगी। जनतामें अपने अपने प्रभाव और स्थितिको बढ़ानेकी दृष्टिसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्म और क्षत्रके संघर्षका समय यही था। इसी संघर्षकी स्वप्निल स्मृति परशुराम, वसिष्ठ, विश्वामित्रकी दन्तकथाओंके रूपमें हमारे पौराणिक साहित्यमें सुरक्षित है। इस संघर्षका अन्त अपने अपने कार्यक्षेत्रमें दोनोंकी प्रधानताकी स्वीकृतिमें हुआ। इस प्रकार उक्त सामाजिक संघर्षने सामञ्जस्यका रूप धारण कर लिया। **"ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते"** (ऐ० ब्रा० ३।११) अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रियकी स्थिति परस्पराश्रित है), **"ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रेब्रह्म"** (ऐ० ब्रा० ८।२) (अर्थात् ब्राह्मणमें क्षत्रिय प्रतिष्ठित है और क्षत्रियमें ब्राह्मण) इत्यादि प्रमाणोंमें उसी पारस्परिक सामञ्जस्य का संकेत है।

इस प्रकार उत्तर कालीन वैदिककालमें प्रजातन्त्रके स्थानमें राजतन्त्रकी स्थापना हुई और सामान्य-जनता (= विश् या प्रजा) में से ही ब्राह्मण वर्ग तथा क्षत्रियवर्गके प्रारम्भके साथ, ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्यायसे, वैश्यवर्गका भी प्रारम्भ हुआ। उत्तर कालीन रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्थाका यही सूत्रपात था। इसी कालमें वैदिक कर्मकाण्डकी प्रवृत्ति हुई और शनैः शनैः विकसित होनेपर उसकी व्यवस्था की गयी। इसी बातका संकेत—

तदेतत्सत् यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानित्रेत्रायां बहुधा सन्ततानि।

(मु० उप० १।२।१)

(अर्थात् वैदिक मन्त्रोंसे ही प्रेरणाको प्राप्त करके विद्वानोंने वैदिक कर्मकाण्डका शनैः शनैः विकास किया) इत्यादि वचनोंमें मिलता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रारम्भमें यह वैदिक कर्मकाण्ड मनुष्य जीवनके यावत्कर्तव्य कर्मोंके प्रतीक रूपमें होनेसे जातीय जीवनको स्फूर्ति, प्रोत्साहन और प्रेरणा देनेवाला था। जातीय जीवनमें उसका स्थान औचित्यकी सीमाके अन्दर ही था।

पर शनैः शनैः आर्यजनताके सामने वाह्यसंघर्षके समाप्तप्राय हो जानेपर, मनुष्यकी परलोक विषयक स्वाभाविक अन्धविश्वासकी प्रवृत्ति तथा अनेकानेक लौकिक कामनाओंका सहारा लेकर, पर वास्तवमें स्वार्थ साधनकी बुद्धिसे, पुरोहित वर्गने वैदिक कर्मकाण्डमें अत्यधिकता प्रारम्भ कर दी। यह अत्यधिकता यहां तक बढ़ी कि मनुष्यकी कोई भी उचित या अनुचित वासना और अभिलाषा नहीं थी जिसकी पूर्तिका उपाय ये कर्मकाण्डी न बतलाते हों। अत्यधिक कर्मकाण्डमें ऋत्विजों और पुरोहितोंकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तिको लेकर ही—

"यथा हवा इदं निषादा वा सेलगा वा पापकृतो वा वित्तवन्तं पुरुषमरण्ये गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति, एवमेव त ऋत्विजोयजमानं कर्तमन्वस्य वित्तमादात द्रवन्ति यमनेवंविदो याजमन्ति" (ऐ० ब्रा० ८।११)

(अर्थात्, आदर्शहीन कर्मण्डको करानेवाले ऋत्विग् चोर और डाकुओंके समान होते हैं और यजमानका द्रव्य लेना ही उनका अभिप्राय होता है) ऐसे वचन शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

आदर्शहीन वैदिक कर्मकाण्डकी अत्यधिकताका ही दिग्दर्शन—

प्लवा होते अदृढा यज्ञरूपाः (मु० उप० १।२।७)

(अर्थात्, ये आदर्शहीन यज्ञादिकर्मकाण्ड अदृढ नौकाके समान हैं, इनके सहारे पर मनुष्य अपने जीवनके वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता)।

एवंत्रयीधर्मनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लाभन्ते (गीता)।

(अर्थात्, कामनाओंके पीछे दौड़नेवाले वैदिक कर्मकाण्डी वासनाओंके भंवरमें ही फंसे रहते हैं) इत्यादि प्रकारसे गीता और उपनिषदोंमें किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि अत्यधिक कर्मकाण्डकी प्रवृत्तिसे मनुष्यमें चरित्रकी वास्तविक उच्चता आर सुन्दरताकी अवहेलना होने लगती है। इसी कारण उपनिषदोंमें अत्यधिक कर्मकाण्डको अविद्या कहा है।

उत्तर कालीन वैदिकधर्ममें जिस याज्ञिक कर्मकाण्डका विकास हुआ उसमें इतने ऋत्विजों और दक्षिणादिके रूपमें इतने धनकी आवश्यकता होती थी[1] कि उसका करना साधारण गृहस्थके लिए तो दुःसाध्य ही था। इसी कारण वैदिकधर्म जो मूलमें सामान्य जनता (= विश्) का धर्म था, धीरे धीरे धनैश्वर्यसे सम्पन्न लोगोंका ही धर्म बन गया। फलतः, वैदिक समाजमें, जहां पहले जनताका प्रधान्य था, शनैः शनैः उसकी शक्ति और महत्ता घटने लगी और राष्ट्रकी बागडोर उच्चवर्गके हाथमें पहुंच गयी।

औपनिषद् धर्म

कर्मकाण्डबहुल उत्तर कालीन वैदिक या श्रौतधर्मकी प्रतिक्रियाके रूपमें देशमें क्रमशः औपनिषद् जैन और बौद्ध धर्मोंका उदय हुआ। अनेकानेक देवताओंके सहारे पर चलनेवाले, क्रिया विशेष बहुल, आदर्शहीन कर्मकाण्डमें मनुष्यके वास्तविक कल्याणको न पाकर, औपनिषद धर्मने तत्तद् वैदिक देवताओं-

१—गीतामें इसी अभिप्रायसे वैदिकयज्ञोंको "द्रव्यमय यज्ञ" कहा गया है।

में ओतप्रोत एकताको लेकर ब्रह्ममूलक समष्ट्यात्मक ज्ञानकाण्डको ही अपनाया, और इस तरह उसका साक्षात् सम्बन्ध वैदिक परम्परासे बना रहा। औपनिषद् धर्मका महत्त्व दृश्य जगत्की मौलिक एकताके प्रतिपादनके द्वारा जीव ब्रह्मके अद्वैतको दिखलाते हुए जीवात्माके अनन्त विकासकी भावनाकी स्थापनामें तथा क्षणिक और तुच्छ लक्ष्योंके आधार पर होनेवाले संघर्षकी असारताके प्रतिपादनमें था। संसारका कोई अन्य दर्शन आजतक इस उड़ानसे ऊपर नहीं उठा है।

परन्तु औपनिषद् धर्म स्पष्टतः तत्त्वदर्शी विचारकोंके ही लिए था। उसका स्तर साधारण मनुष्यकी पहुँचसे बहुत ऊंचा है। जो ज्ञानमार्गी हैं उनके भी केवल ज्ञानके मार्गमें बहक जानेकी बहुत संभावना रहती है। केवल ज्ञानको ही परम लक्ष्य बतलाने वाले औपनिषद् धर्मके उपदेशकी निष्ठा 'संन्यास'में ही होती थी। संन्यास आश्रमका विकास भी वस्तुतः इसी धर्मकी देन थी। इस संन्यासकी भावनाका दुरुपयोग कितना हो सकता है इसको हम आजकल भी देख सकते हैं। गीतामें इसीलिए बड़ा प्रयत्न संन्यास विषयक परम्परागत मिथ्या भावनाके हटानेका किया है। प्रायः देखनेमें आता है संन्यासकी नैष्कर्म्म भावना अनधिकारियोंमें अकर्मण्य भावनाका रूप धारण करलेती है। उपर्युक्त कारणोंसे यह स्पष्ट है कि औपनिषद् धर्मका कोई स्थान साधारण जनतामें नहीं हो सकता।

जैन तथा बौद्धधर्म

औपनिषद् धर्मकी उपर्युक्त दुर्बलताके ही कारण जैन तथा बौद्धधर्मोंका उदय हुआ। दोनोंने उपर्युक्त 'वैदिक परम्पराको रूपान्तरित करना अशक्य है' यह समझकर उससे अपने साक्षात् नातेको तोड़ दिया। तो भी, मूल वैदिक कालसे ही सूत्रात्माके रूपमें आनेवाली आर्य भावनाओंका संरक्षण दोनोंने ही दृढ़तासे किया है। दोनोंका कहना है कि प्राचीन परम्परागत पवित्राचरणका ही पुनरुद्धार उन्होंने किया है। दोनोंने उपनिषत्कालीन कोरे ज्ञानमार्गका तथा उसकी समष्ट्यात्मक भावनाका तिरस्कार किया है। उसके स्थानमें दोनोंने आध्यात्मिकताको व्यष्टि या व्यक्तिके क्रमिक नैतिक विकासकी दृष्टिसे ही देखा है। इस दृष्टिसे दोनों मार्ग साधारणसे साधारण कोटिके मनुष्यके लिए भी अनुकूल रहे। दोनोंने आदर्श शून्य वैदिक कर्मकाण्डकी प्रवृत्तिकी उपेक्षा ही नहीं, उसके उच्छेद करनेका भी प्रयत्न किया।

वैदिक (या श्रौत) धर्मकी बड़ी भारी विशेषता उसकी शूद्र-विरोधिनी भावना थी जिसका आधार आर्यजातिका सामाजिक इतिहास ही था। इसलिए स्वभावतः वैदिक मार्गमें द्विजेतर (या आर्येतर) शूद्र या अन्य जातीय मनुष्यके लिये कोई स्थान ही नहीं था। इसके विरुद्ध, जैन और बौद्ध धर्मोंकी, विशेषतः बौद्धधर्मकी, एक मुख्य विशेषता यह थी कि इनका द्वार आर्य, अनार्य, शूद्र, पञ्चम सबके लिए समान रूपसे खुला था; क्योंकि इनका प्रारम्भ ही, मनुष्य क्या, प्राणिमात्रकी हित भावनाको लेकर हुआ था। भगवान् बुद्धदेवका—

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं" (विनय पिटक)। अर्थात्, भिक्षुओ ! मनुष्य मात्रके हित और सुखके लिए, प्राणिमात्र पर दया करनेके लिए, तथा देव मनुष्योंके हित और सुखके लिए पृथ्वीपर विचरो। यह परमोपदेश भारतीय आर्यधर्मकी परम्परामें अनोखा है।

उपर्युक्त दोनों विरुद्ध प्रवृत्तियोंके कारण, जहां वैदिक परम्परामें या तो दूसरोंके लिए धर्मका द्वार खोला ही नहीं गया, या खोला भी गया तो मनुष्यताके नातेसे नहीं किन्तु राजनीतिक कारणोंसे, वहां बौद्धधर्मका द्वार प्रारम्भसे ही मनुष्य मात्रके लिए खुला था और उसकी दृष्टि अन्तर्जातीय थी।

जैनधर्मकी एक मुख्य विशेषता किसी वादके विषयमें कट्टरताका अभाव (=स्याद्वाद) तथा अहिंसाका सिद्धान्त है। दोनोंका आधार पर-सहिष्णुताके मौलिक सिद्धान्त पर है। 'लिव एण्ड लेट लिव'का आधुनिक सिद्धान्त तथा महात्मा गान्धीका अहिंसा सिद्धान्त वास्तवमें दोनों जैन सिद्धान्तोंकी ही व्याख्या हैं। इस दृष्टिसे जैनधर्ममें एक सार्वभौम धर्मकी योग्यता स्पष्ट है। यदि इस धर्मके अनुयायी इस सार्वभौम, न कि साम्प्रदायिक आधार पर अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करें तो अब भी इसके सामने एक भव्य भविष्य हो सकता है। बौद्धधर्मने प्रारम्भसे ही अपनेको मध्यम मार्गानुयायी माना है। उसने न तो शुष्क कर्मकाण्डको ही अपनाया, न कोरे ज्ञानमार्गको। जैनधर्मकी शारीरिक घोर तपस्याके मार्गको भी उसने नहीं पकड़ा।

परन्तु जैन और बौद्ध दोनों धर्मोंकी कमी यह है कि दोनोंने जगत्‌के तथा मनुष्यके द्वन्द्वात्मक स्वभावकी अवहेलनाकी है। सांसारिक जीवन विशुद्ध अहिंसा या सर्वं दुःखम् (=सब दुःखमय है) के आदर्शको लेकर नहीं चल सकता। अवस्था, योग्यता आदिके भेदसे मनुष्यकी कर्तव्यतामें भेद पड़ जाता है। मानवीय स्वभावके इस मौलिक सिद्धान्तकी अवहेलना करनेके कारण ही जैन और बौद्धधर्म को स्थायी या महत्त्वयुक्त स्थान भारतीय जनतामें न मिल सका। इसीसे ये दोनों धर्म आर्यधर्मके प्रवाह पर अपनी अमिट छाप डालकर भी, अपनी ओर व्यापक रूपसे भारतीय जनताको आकर्षित न कर सके। **"यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"** (वैशेषिकसूत्र); अर्थात्, धर्म वही है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी सिद्धि हो। भुक्ति-मुक्ति, या इहलोक और परलोकके सामञ्जस्यके सिद्धान्तका विकास भी ये दोनों मत नहीं कर सके। पर वैदिक परम्पराके अनुयायियोंने कालक्रमसे उक्त सामञ्जस्यके महत्त्वका अनुभव अच्छी तरह कर लिया था। उनके वर्णाश्रम धर्मके सिद्धान्तका आधार वास्तवमें यही सामञ्जस्य था। इसी सिद्धान्तके द्वारा उनका प्रभावक्षेत्र भारतीय जनतामें क्रमशः बढ़ता ही गया, और वह परम्परा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी अपनेको अबतक स्थिर रख सकी है।

पौराणिक धर्म

पौराणिक धर्मका प्रारम्भ क्यों और कैसे हुआ ? यह एक कठिन पर अत्यन्त रुचिकर प्रश्न है। इसमें सन्देह नहीं कि जो अत्यधिक नवीनता इस धर्ममें दिखलाई देती है उसका कारण किसी घोर क्रांतिकी प्रतिक्रिया ही थी। हमारे विचारमें वैदिक परम्परामें पौराणिक धर्मका विकास बहुत करके जैनधर्म, और विशेषकर बौद्धधर्मकी प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ है।

जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रचलित होनेपर भी, वैदिक धर्मकी परम्पराका उच्छेद भारतवर्षमें नहीं हुआ। विरुद्ध वातावरणोंमें भी वह परम्परा बराबर चलती ही रही। सूत्र कालमें और प्रारम्भिक स्मृति कालमें उसे प्रथम बार व्यवस्थित किया गया। आन्तरिक विकासके होनेपर भी, इस समय तक उसपर अपनेसे विरुद्ध या बाह्य परिस्थितियोंका कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखलाई देता। पर जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रचारसे देशमें जो नयी क्रान्ति हुई उससे अधिक दिनों तक वह अप्रभावित न रह सकी, और शनैः शनैः उसने ऐसे रूपान्तरको धारण कर लिया जो प्राचीन वैदिक संस्कृतिसे कमसे कम ५० प्रतिशत भिन्न है। इसी रूपान्तरका दूसरा नाम पौराणिक धर्म है।

वैदिक परम्परासे सम्बन्ध रखते हुए भी पौराणिक धर्म प्राचीन वैदिक धर्मसे नितरां भिन्न है— इसमें विवेचक विद्वानोंका प्रायः ऐकमत्य है। वैदिक धर्मकी अपेक्षा पौराणिक धर्मकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

सबसे पहली विशेषता उपास्य देवोंके विषयमें है। वैदिक धर्मकी अपेक्षा पौराणिक धर्ममें देवताओंकी संख्या अत्यधिक बढ़ गयी है। वैदिक धर्मके अनेक देवता या तो पौराणिक धर्ममें प्रायः विलुप्त ही हो गये हैं या अत्यन्त गौण हो गये हैं। पौराणिक धर्मके शिव, शक्ति और विष्णु ये देवता हैं। वेदमें इनका स्थान या तो गौण है या है ही नहीं। अनेक वैदिक देवताओंका पौराणिक धर्ममें रूपान्तर ही हो गया है।

पौराणिक देव-पूजापद्धति भी वैदिक पूजापद्धतिसे अत्यन्त भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्डमें धूप, दीप, पुष्प, फल, पान, सुपारी, आदिकी पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्डमें इनका अभाव ही है।

अवतारवाद और मूर्तिपूजा भी इसकी अपनी विशेषताएँ हैं।

दोनोंमें दृष्टि और भावनाका भी बड़ा अन्तर है। वैदिक धर्म आशावाद और कर्मशीलताकी भावनाओंसे ओतप्रोत है। पौराणिक धर्ममें प्रायः विपरीत भावनाओंका प्राधान्य है। वैदिक कर्म-

काण्डमें जहां सामूहिक दृष्टि अधिक पायी जाती है, वहां पौराणिक पूजापद्धति प्रायेण वैयक्तिक दृष्टिपर निर्भर है।

वैदिक धर्मका यह कायाकल्प कैसे हुआ इसीको समझानेका प्रयत्न हम नीचे करते हैं।

वैदिक धर्मकी परम्परामें शूद्रविरोधिनी भावनाका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। श्रौत कर्मकाण्डमें शूद्रको कोई अधिकार नहीं था। यहां तक कि शूद्र श्रुतिको पढ़ना तो दूर रहा, सुन भी नहीं सकता था। सूत्रकालमें भी यह भावना ज्योंकी त्यों रही। "न शूद्राय मतिं दद्यात्", तथा "सेवैव तु शूद्रस्य" इत्यादि वचनोंसे यह स्पष्ट है। मनुस्मृति तकमें शूद्र-विरोधिनी भावनाओंका वातावरण व्याप्त है।

स्त्रियोंके भी वेदाध्ययनके विषयमें कुछ ऐसी ही भावना आजकल संस्कृतके पण्डितोंमें पायी जाती है। पर इसका इतिहास कुछ दूसरा ही है। श्रौत कर्मकाण्डमें स्त्रियोंके अधिकार बहुत कुछ पुरुषोंके समान थे। पर धीरे-धीरे श्रौत कर्मकाण्डके विलोपके साथ-साथ उनके प्रति उदारताकी भावनामें संकोच दिखलायी पड़ने लगता है। अन्तमें उनको अध्ययनाध्यायनसे, विशेष कर, वेदाध्ययनसे, वञ्चित कर दिया गया। इस संकोचका मुख्य कारण, हमारी सम्मतिमें, आर्योंकी अपनी सभ्यतासे न्यूनतर स्तरसे सम्बन्ध रखने वाली अनार्य स्त्रियोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध ही था। अथर्ववेदके जायासूक्तसे तथा धर्म शास्त्रकी उस विधिसे जिसके अनुसार ब्राह्मणादि वर्णके लोग शूद्र स्त्रियों तकसे विवाह कर सकते थे यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है। वे स्त्रियां भिन्न भाषा और संस्कृतिको अपने साथ लेकर आयीं। फल यह हुआ कि आर्योंकी अपनी भाषा और धार्मिक भावनाओंमें भी घोर परिवर्तन होने लगे और आर्योंको उन परिवर्तनोंकी धाराके सामने सिर नवाना पड़ा। संस्कृत भाषाके प्राकृत रूपमें आनेमें तथा संस्कृत नाटकोंके उस नियममें जिसके अनुसार स्त्री-पात्र केवल प्राकृत भाषा ही बोलते हैं उपर्युक्त कथनके लिए प्रमाण विद्यमान हैं।

जैन और विशेष कर बौद्धधर्मने मनुष्यमात्रके लिए अपने धर्म और उपदेशका द्वार खोल दिया था। स्वभावतः चिरकालसे दलित और उपेक्षित शूद्र जनता भी उधर आकृष्ट होने लगी। स्त्रियोंको भी उन्होंने अपने धार्मिक उपदेश देने शुरू कर दिये। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन और बौद्धधर्मोंकी उक्त धार्मिक उदारताकी प्रतिक्रियाके रूपमें ही वैदिक परम्परानुयायियोंमें भी स्त्री-शूद्रों को धार्मिक उपदेशके द्वारा अपनानेकी आवश्यकता अनुभवकी जाने लगी; ठीक उसी तरह जिस तरह ईसाई-मुसलमान धर्मोंके प्रभावसे बचानेके उद्देश्यसे सदासे उपेक्षित हरिजनोंको अपनानेकी चिन्ता हिन्दू-समाजको अब होने लगी है। परन्तु शुद्ध वैदिक परम्परामें उन्हें कोई प्रेरणा ऐसी न मिली कि उसका ही प्रचार उनमें किया जाता। कदाचित्

आर्योंने यह भी सोचा होगा कि वैदिक कर्म-काण्ड, भाषा और भावनाके विषयमें स्त्री-शूद्रोंकी रुचि और योग्यता (=अधिकार) के न होनेसे उनके संपर्कसे उन्हें सुरक्षित ही रक्खा जावे। इन कारणोंसे उनके अपनानेका यही उपाय ठीक समझा गया कि उनकी ही परम्परागत भावनाओंको व्यवस्थित किया जावे। इस नवीन भावनाके उत्पन्न होते ही आर्येतर भावनाओंके प्रवाहको रोकनेके लिए जो द्वार चिरकालसे वन्द था वह खुलगया, और उसके खुलते ही वैदिक धर्ममें बड़े वेगसे नयी धार्मिक भावनाओंका प्रवेश शुरू हो गया। अनेकानेक नये देवता, अपने अनुयायी सैकड़ों देवताओंके साथ, अपनी नयी पूजा पद्धति नयी भावनाओं और संस्कृतिको भी साथ लेकर, वैदिक समाजमें घुस पड़े। इस प्रवाहके स्थिर हो जाने पर वैदिक विद्वानोंने क्रमशः इन सबको व्यवस्थित किया और मुख्यतः स्त्री-शूद्रोंकी रुचि और प्रवृत्तिको ध्यानमें रखकर एक नये मिश्रात्मक धर्मका निर्माण किया। इसीको हमने ऊपर पौराणिक धर्म कहा है।

पौराणिक धर्मके उदय और विकासके विषयमें खोज और अनुमानके आधार पर जो ऊपरका सिद्धान्त हमने स्थापित किया है उसकी पुष्टि कुछ परम्परागत विचारोंसे भी हो जाती है। वर्तमान हिन्दू धर्मके लिए, जो पौराणिक धर्मसे अभिन्न है, 'निगमागम धर्म' यह नाम पण्डितोंमें प्रसिद्ध है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि प्रचलित हिन्दू-धर्म निगम तथा आगमधर्मोंका समान्वित रूप है। यहां 'निगम' का मौलिक अभिप्राय हमारी सम्मतिमें चिरकालसे निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परासे है; और 'आगम' का मौलिक अभिप्राय चारों ओर अनार्य जनतामें फैली हुई, अतएव अनिश्चित या अव्यवस्थित धार्मिक परम्परासे है। बौद्धधर्मके साधारण जनतामें प्रचारकी प्रतिक्रियाके रूपमें तथा आर्येतर जनताके साथ चिरकालिक सहवासके कारण वैदिक विद्वानोंने आगमिक संस्कृतिको धीरे धीरे व्यवस्थित किया और उसमें वैदिक संस्कृतिका पुट देकर नवीन पौराणिक धर्मका विकास किया।

पुराणोंमें ही जहां कहीं जब यह प्रश्न उठा है कि उनकी रचना क्यों की गयी तब यही उत्तर दिया गया है कि वैदिक धर्म तथा आचारके पालनमें असमर्थ या रुचि न रखनेवाले स्त्रियों, शूद्रों और साधारण जनताके कल्याणके लिए उनकी रचना की गयी है। उदाहरणार्थ, देवीभागवत (स्क० १ अ० ३ श्लो० २१) के निम्नलिखित श्लोकमें यही बात कही गयी है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानिच ॥

अर्थात्, स्त्री, शूद्र तथा निम्नकोटिकी साधारण जनता वेद-श्रवण नहीं सकती। उन्हींके भलेके लिए पुराणोंकी रचनाकी गयी है। ऐसे ही अन्य प्रमाणोंमे यही सिद्ध होता है कि पुराणोंकी रचना तथा पौराणिक धर्मकी प्रवृत्तिका कारण आर्योंका ऐसे लोगोंसे संपर्क था जिनकी धार्मिक भावनाएं तथा रुचियां वैदिक संस्कृतिसे विपरीत थीं।

शिव, शक्ति, और विष्णु पौराणिक धर्मके मुख्य देवता हैं, यह हमने ऊपर कहा है। इनका इतिहास बड़ा रोचक है। भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस तथा दैत्योंके प्रिय शिव तथा शक्ति मूलमें अवैदिक देवता ही प्रतीत होते हैं। पर पौरुष तथा स्त्रैण[1] रूपमें उन दोनोंकी पूजा इस देशकी आर्येतर प्रजामें, जो कि आर्योंमें कई गुनी अधिक रही होगी, इतनी प्रचलित थी कि उससे अप्रभावित रहना वैदिक लोगोंके लिए प्रारम्भिक कालसे ही अत्यन्त कठिन था। सामान्य जनताके इस प्रबल प्रभावके ही कारण उन्होंने अपने अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता रुद्रके साथ शिवका एकीकरण कर लिया।

शिवके साथ ही शनैः शनैः शक्ति[2]को भी अपनाना पड़ा। अन्तमें वैदिक देवता अदिति तथा औपनिषद् अद्वैत ब्रह्मकी विचारधाराका शक्ति पर आरोप कर उसका वर्तमान दार्शनिकरूप खड़ा किया गया। प्रतीक रूपसे ये ही शिव और शक्ति उपर्युक्त आगमधर्मके मुख्य प्रेरक देवता हैं। इसीलिए तन्त्रों (= आगमों) का प्रारम्भ प्रायः शिव और पार्वतीके संवादसे ही होता है।

उक्त अवैदिक देवताओंका जनता पर गहरा प्रभाव कुछ वैदिकोंको अवश्य ही खलता होगा। साथ ही जनताकी अपनी धार्मिक भावनाओं और रुचियोंका भी प्रश्न था। इसी बातको दृष्टिमें रखकर वैदिक देवता विष्णुका एक नया संस्करण तैयार करके शिव, शक्तिके मुक़ाबिलेमें रखा गया इस प्रकार पौराणिक धर्ममें उसके मुख्य देवताओंकी प्रवृत्ति हुई।

जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रभावमें प्रायेण परम्परागत मूर्त्तिपूजाकी भावनाने जनतामें मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया। विष्णु देवताके नवीन संस्करण पर तो बौद्ध धर्मका प्रभाव प्रायः प्रारम्भसे ही पड़ा है। अवतारवादका प्रारम्भ, जिसका सम्बन्ध विष्णुके ही साथ है, बौद्ध धर्मकी जातक कथाओंसे ही हुआ होगा। पिछले कालमें तो अनेकानेक बौद्ध तथा जैन मूर्त्तियोंको भी विष्णु-मूर्त्तिका रूप दे दिया गया। आजकलके मठों और अखाड़ोंका मूल भी बौद्धोंके संघाराम और विहारोंमें ही प्रतीत होता है। जनताकी चिर परम्परासे प्राप्त त्योहारों और तीर्थोंकी व्यवस्था तो धर्मशास्त्रके आधुनिक निबन्ध ग्रन्थोंके समय तक होती रही है।

ऊपरके लेखसे स्पष्ट है कि पौराणिक धर्मकी प्रारम्भसे ही मौलिक विशेषता यह रही है कि वह बराबर स्त्री-शूद्रोंके सहित साधारण जनताकी स्वाभाविक धार्मिक भावनाओंके साथ वैदिक धर्मके सामञ्जस्य

१—शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
सर्वे स्त्री पुरुषास्तस्मात्तयोरेव विभूतयः॥ (शिवपुराण, वायुसंहिता उत्तरार्ध, अ० ५)

२—चन्द्रोनखलुभात्येष यथा चन्द्रिकयाविना।
नभाति विद्यमानोऽपि तथा शक्त्या विनाशिवः॥(शि० पु०, वा० सं० उत्तरार्ध, अ० ४)

और समन्वयको स्थापित करनेका यत्न करता रहा है। पौराणिक धर्मकी यह प्रवृत्ति सदा विकासोन्मुखी रही है। इसीलिए यह आरम्भसे ही प्रगतिशील धर्म रहा है। उक्त प्रवृत्तिके ही कारण जहां मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रके प्राचीन ग्रन्थोंमें शूद्रोंके लिए द्विजोंकी सेवा करना ही एकमात्र धर्म बतलाया गया है, वहां पीछेसे 'शूद्राचारशिरोमणि' जैसे अनेकानेक ग्रन्थोंमें विस्तारसे उनके लिए आचारका विधान किया गया है। जैसे गङ्गाकी धारामें अन्य नदियोंके मिलने पर भी उसका नाम गङ्गा ही बना रहता इसी प्रकार पौराणिक धर्ममें नवीन विचारोंके समावेशकी अद्भुत शक्ति है। कोई भी नवीन विचार या संप्रदाय ५० या १०० वर्षोंके अनन्तर पौराणिक (या सनातन) धर्मका अङ्ग बन जाता है। इसी कारण आधुनिक हिन्दू-धर्मके एक निश्चित रूपके न होनेसे वह धर्मोंका संघसा बन गया है।

पौराणिक धर्मकी उपर्युक्त समन्वयात्मकता लोक-हित-बुद्धिसे प्रेरित हमारे प्राचीन विद्वानों और आचार्योंके द्वारा किये गये भारतीय जनताकी आन्तरिक धार्मिक प्रवृत्तियोंके गहरे अध्ययन और मननका ही फल है। अपनी इस स्वाभाविकताके ही कारण इस धर्मने जनताके हृदयमें गहरा और स्थायी स्थान बना लिया है। इसी कारण इस धर्मके द्वारा चिरकालसे ही भारतीय कलाकी अभिव्यक्ति और विकासमें बड़ी प्रेरणा मिलती रही है। साथ ही, शैव, शक्ति तथा वैष्णव धर्मोंके द्वारा आध्यात्मिक जगत्‌में क्रमशः योग, साधना, और भक्तिका जो विकास हुआ है वह भी पौराणिक धर्मकी बड़ी भारी देन है।

ऊपर पौराणिक धर्मके गुण-पक्षको संक्षेपमें ही हमने दिखलाया है। इसके साथ दोष-पक्षको भी समझ लेना आवश्यक है। पौराणिक धर्मकी मुख्य दुर्बलता यही है कि उसके द्वारा साधारण जनताकी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्तियोंको अपनाया तो गया है, पर उनके परिष्कार और परस्पर वास्तविक सामञ्जस्य पर अभी तक पूरा पूरा ध्यान नहीं दिया गया है। उसने तथाकथित निम्न जनताको अपनानेका तो यत्न किया, पर उसकी संस्कृतिके स्तरको ऊंचा करके समाजमें उठनेका उसे अवसर ही नहीं दिया। अतिशूद्रोंको तो उसने अस्पृश्य ही बनाकर छोड़ दिया। उपर्युक्त दोषके कारण ही हिन्दु समाजके विभिन्न अङ्गोंमें अपेक्षित संघटनका प्रायः सदासे ही अभाव रहा है। हिन्दू-बिरादरियोंकी पारस्परिक तला-ऊपरी तथा संकोच और ईर्ष्या-द्वेषकी भावनाओंका कारण भी यही है। यही नहीं, धार्मिक नेताओं और पुरोहितोंकी स्वार्थमयी दुकानदारीकी बुद्धिने काफी मात्रामें परस्पर-विरोधिनी धार्मिक भावनाओंको जागरित करने और बढ़ानेका भी प्रयत्न किया है। शैव, वैष्णव आदिके परस्पर धार्मिक विद्वेषके भावोंसे हमारे धार्मिक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, देखिये—

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः॥ (भागवत ४।२।२८)

अर्थात्, शैव धर्मके अनुयायी वास्तवमें पाखण्डी और सच्छास्त्रके विरोधी हैं।

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम्।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः॥ (विष्णुस्मृति)

अर्थात्, श्मशानके काष्ठके समान ही चक्राङ्कित वैष्णवका सर्व कर्मोंसे बहिष्कार करना चाहिये।

सन्तधर्म

वैदिक धर्मकी धार्मिक विषयोंमें भी राजनीतिक दृष्टि तथा शूद्र विरोधिनी भावनाका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पौराणिक धर्मके समयमें भी उसकी परम्परा, किसी न किसी रूपमें, बराबर बनी ही रही। निम्न जनताके प्रति उपर्युक्त संकोचकी भावनाका आधार भी यही थी। खुले हृदयसे निम्न जनताको अपनाना और उठाना आर्य-धर्मकी अब भी एक मुख्य समस्या है। आर्य-धर्मकी परम्परागत इस कमीका ही समाधान मुख्यतः सन्त-धर्मने किया है। आध्यात्मिकताके आधार पर निम्न जनतामें धार्मिक भावना और आत्मसंमानकी स्थापनाके विषयमें कबीर आदि सन्तोंने जो काम किया है वह भारतीय आर्य धर्मके इतिहासमें अनोखा है।

सन्त जनताके ही लोग थे। इनमेंसे अनेकने तो अपने जन्मसे शूद्रातिशूद्रोंके कुलोंको पवित्र किया था। तो भी, प्राचीन ऋषियोंकी तरह ही, ये साक्षात्कृतधर्मा थे। प्रायः इन्हीं कारणोंसे ये लोग विशुद्ध निःस्वार्थता तथा मनुष्यताके मौलिक स्तरसे मानवकी दुर्बलताको और आध्यात्मिकाके आधार पर उसके प्रतीकारके उपायोंका समझने और समझानेमें समर्थ हो सके थे। अपनी जाति और स्थितिके अभिमानको साथ लेकर काम करनेवाले तथाकथित सुधारकोंसे सन्तोंको पृथक् करनेवाली मुख्य बात उनकी निःस्वार्थता और निरभिमानता ही होती है।

उपर्युक्त कारणोंसे सन्तोंका साहित्य भी उसी श्रेणिका है जिससे उपनिषदोंका संबंध है। ऊंच और नीचके भेदके बिना मनुष्य मात्रकी आध्यात्मिक पिपासाको वह शान्त कर सकता है।

सिखधर्म

सिखधर्मका विकास वास्तवमें सन्तधर्मसे ही हुआ है। ऐसा होने पर भी यह उससे भिन्न है। सन्तधर्म जहां केवल सोमात्मक है, वहां इसका स्वरूप अग्नी सोमात्मक है, अपने जीवनके इतिहासमें विषम परिस्थितियोंके साथ घोर संघर्षके कारण ही एक अद्भुत ओज और तेजका समावेश इसमें दिखलाई देता है। उपनिषदों जैसी आध्यात्मिका और मौलिक वैदिकधर्मकी ओजस्विता और

शौर्यका संमिश्रण और सामञ्जस्य ही सिखधर्मकी मुख्य विशेषता है। विरोधी वातावरणमें आर्यधर्मकी भावनाने ही इसको जन्म दिया था। इसकी सफलताका रहस्य, हमारी समझमें, कर्मकाण्डके जङ्गलको निर्मूल करके वैदिक उदात्तभावनाओंके मार्गको प्रशस्त करनेमें ही है। यह हमारे अभिमानकी वस्तु है। एकेश्वर-विश्वास, धार्मिक साम्यवाद, कर्मकाण्डकी सरलता, आशावाद, उद्योगशीलता, शौर्य आदि सिखधर्मकी ऐसी विशेषताएं हैं जिनसे सामयिक पौराणिक हिन्दूधर्मके अपेक्षित विकासमें काफी सहायता मिल सकती है।

आर्यधर्मकी आधुनिक आवश्यकताएं

ऊपरके लेखमे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आर्यधर्म विभिन्न समयों और परिस्थितियोंकी आवश्यकताओंके अनुसार प्रारम्भसे ही अपनेको परिवर्तित करता रहा है। ये परिवर्तन प्रारम्भकी अपेक्षा अन्तमें इतने अधिक और उग्र हो गये हैं कि आपाततः दोनोंकी परम्पराकी समानतामें भी सन्देह होने लगता है। परन्तु आर्यधर्मकी यह प्रगतिशीलता उसकी दुर्बलताकी द्योतक न होकर, उसमें बहती हुई जीवनकी अबाध धाराकी ही द्योतक है।

अब देखना यह है कि आजकलकी परिस्थितिमें, जो उसके जीवनके लम्बे इतिहासमें पहले कभी नहीं आयी, उसकी प्रगतिकी क्या दिशा होनी चाहिये।

आजका समस्त संसारका वातावरण पिछले वातावरणोंसे नितान्त भिन्न है। संसार इतना छोटा हो गया है कि प्रत्येक धर्मका मुकाबला, आजकल, किसी एक संप्रदायसे न होकर, संसारके यावद्धर्मोंसे है। तिसपर, वैज्ञानिक दृष्टिकी व्यापकता इतनी बढ़ती जा रही है कि केवल शब्द-प्रमाणके बल पर या पारलौकिक अन्धविश्वासके सहारे पर कोई धर्म चिरकाल तक नहीं ठहर सकता। तीसरे, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद आदि वादोंके कारण मानव-समाजके प्रत्येक वर्गमें उन्नति, स्वतन्त्रता, आत्म-समान, तथा समानताकी भावनाओंका उद्रेकसा हो रहा है।

उपर्युक्त कारणोंसे यह आवश्यक हो गया है कि परम्परागत आर्यधर्म आत्मपरीक्षण द्वारा देखे कि उसके समादृत जीवनके लिए उसकी नवीन आवश्यकताएं क्या हैं। एक बड़ी कठिनता यह है कि हमारे धर्मशास्त्र अब इतने प्राचीन हो गये हैं कि उनकी अनेक दृष्टियां और व्यवस्थाएं भूतकालीन या असामयिक हो चुकी हैं। जैसे आजकलके सब रोगोंकी चिकित्सा केवल चरक आदिके आधार पर नहीं हो सकती, इसी तरह हमारी सब वर्तमान धार्मिक समस्याओंका समाधान हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रोंसे ही नहीं हो सकता। इसलिए अनेक दिशाओंमें आर्यधर्मके लिए प्रगतिकी आवश्यकता है।

सबसे पहली आवश्यकता है कि आर्य धर्म खुले हृदयसे समाजके प्रत्येक व्यक्तिको अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों और प्रवृत्तियोंके विकासका समान अवसर दे, जिससे किसी भी कुल या जातिमें जन्म लेना उसकी उन्नतिमें बाधक न हो सके। इस विषयमें जो व्यवस्था अभी हालमें बंगालके महामहोपाध्याय पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य आदि विद्वानोंने दी है उसको शुद्ध हृदयसे अपनाना हमारा कर्तव्य है। यह समझ लेना चाहिये कि उसके अपनानेमें हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि शब्दोंको, उनके स्वोत्कर्ष-प्रतिपादक तथा अभिमानाध्यात्मक रूपको छोड़कर, केवल रूढ़मात्र मानना होगा, या इनके लोभको ही छोड़ देना पड़ेगा। इन शब्दोंको पकड़कर 'कर्मणावर्णः' या 'जन्मनावर्णः' की चर्चा हमें तो निरर्थक ही प्रतीत होती है। इन शब्दोंके विकासका इतिहास बड़ा रुचिकर है। उसके विषयमें यहां कुछ न कहकर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जिस वातावरण और परिस्थितिमें इन शब्दोंने हमारे समाजमें जड़ पकड़ी वह परिस्थिति भारतीय समाजके लम्बे इतिहासमें कुछ ही कालतक रह सकी थी। फिर भी वह सारे भारतवर्षमें व्याप्त न हो सकी। वर्तमान परिवर्तित परिस्थितिमें मनुस्मृतिके आदर्शको लेकर यह व्यवस्था वास्तविक अर्थोंमें जीवित रह सकती है, यह केवल दुराशामात्र है।

उपास्य देवोंकी बहुलता भी आर्य धर्मकी एक समस्या है। पिछले कालमें यह किसी प्रकार जीवित रही। पर अब इसका समय नहीं रहा। किसी प्रकारकी पण्डिताऊ दार्शनिक व्याख्या इसको जीवित नहीं रख सकती। आर्य धर्मके विभिन्न सम्प्रदायोंकी जनता भी पिछले ५० वर्षोंसे अबुद्धि-पूर्वक इसको अनुभव कर रही है। आजकल प्रायः प्रत्येक हिन्दू व्यावहारिक बातचीतमें, राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, शक्ति आदि साम्प्रदायिक शब्दोंके स्थानमें, ईश्वर, परमात्मा, भगवान् शब्दोंका प्रयोग करता है। हमारे विचारशील धार्मिक नेताओंका कर्तव्य है कि उक्त प्रवृत्तिसे लाभ उठायें और जनतामें यह भावना बुद्धि-पूर्वक उत्पन्न करें कि हम सबका उपास्य देव एक ही है, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति आदि उसीके नाना रूप या नाम हैं। यह सिद्धान्त पूर्णतः शास्त्र-सम्मत भी है। अब तक प्रायेण स्वार्थ-मूलक प्रवृत्तिके कारण इनके अनैक्यपर जोर दिया जाता रहा है, पर अब एकताको समझाना अत्यावश्यक है। इस नूतन प्रवृत्तिको जागरित करनेके लिए हमारे देव-मन्दिरोंके निर्माण आदिके विकासके विषयमें गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। भविष्य आर्य धर्मकी आशाओंके केन्द्रीभूत काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्रस्तुत देव-मन्दिरके द्वारा इस दिशामें काफी मार्ग-प्रदर्शन किया जा सकता है। आवश्यकता गम्भीर साहस की है। नहीं तो, केवल रूढ़िके अनुसार एक और देवमन्दिर वहां खड़ा कर देनेसे विश्वविद्यालयके छात्रोंकी कुछ भी संख्या उससे लाभ उठा सकेगी, इसमें हमें काफी सन्देह है। हमारी समझमें प्रस्तुत देवमन्दिर भव्यता, विस्तार, शान्ति, उपास्यदेवोंकी मौलिक एकता आदिके विषयमें हमारे भविष्य देवमन्दिरोंके निर्माण

में मार्ग-प्रदर्शक होना चाहिये। आज कलके अनेक देवमन्दिरों तथा तीर्थोंमें देव-मूर्तिको तालेमें बन्द रखने की प्रथा, अशिक्षित तथा चपल नवयुवकोंके द्वारा उनकी पूजा, पैसेके लोभी पण्डोंके द्वारा भोलेभाले यात्रियोंका देव-दर्शन उनका संकीर्ण अशान्त तथा अभव्य वातावरण जनतामें धार्मिक श्रद्धाको बढ़ानेवाली स्थिति नहीं है। धार्मिक नेताओंका कर्तव्य है कि अस्थायी धार्मिक तमाशों और प्रदर्शनोंके स्थानमें इस महत्वके कार्यको अपने हाथमें लें।

हमारे धार्मिक संस्कार, त्यौहार तथा अन्य कर्मकाण्डके अवसर ऐसे हों जिनके द्वारा वैदिक कालीन उदात्त भावनाओंकी पुष्टिके साथ साथ जनतामें समन्वयात्मक बुद्धिकी भी वृद्धि हो। सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि आर्यजनता विशेष धार्मिक अवसरों पर प्रत्येक ग्राममें और नगरमें एक ही विशाल मन्दिर या स्थानमें एकत्र होकर एक ही धार्मिक प्रार्थनाको करना सीखे। विभिन्न संप्रदायोंके लिए इस समान प्रार्थनाको बनाना भी गम्भीर विवेचनासे ही हो सकता है।

भारतवर्ष जैसे विशाल देशमें धार्मिक संप्रदायोंका होना अनिवार्य है। आवश्यकता इस बातकी है कि आर्यजनता उन संप्रदायोंकी मौलिक एकताको सदा समझती रहे, प्रत्येक शिक्षित व्यक्तिको आर्य धर्मके यावत् संप्रदायोंकी देनका गर्व हो, और उनके लिए, उनके धार्मिक साहित्य तथा आचार्योंके लिए उसके हृदयमें सच्चा सम्मान हो। विभिन्न संप्रदायोंकी मौलिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता पर जोर देनेसे ही यह हो सकता है।

देशकी स्वतन्त्रताके साथ ही आर्यधर्ममें एक नये जीवन; ओज और प्रकाशका होना अनिवार्य है। इस नवीन जीवनका प्रकाश संसार व्यापी होगा और विशेपकर भारतीय उपनिवेशोंमें तो उसकी तत्काल आवश्यकता होगी। हमारा कर्तव्य है कि हम उस दिनके लिए तय्यार रहें। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इसका अनुभव करें कि भारतीय आर्यधर्म एक सार्वभौम धर्म है। स्थान स्थानसे इसकी उद्घोषणा होनी चाहिये। वह समय दूर नहीं है जब गंभीरभावसे हमें सोचना पड़ेगा कि संसारके विभिन्न देशोंमें और विशेषकर भारतीय उपनिवेशोंमें, जहां आर्यधर्मकी प्यास है, किस रूपमें हम भारतीय आर्यधर्मको प्रचारित कर सकते हैं।

ऊपर सामान्य रूपसे ही हमने उन दिशाओंको दिखलाया है जिनमें आर्यधर्मके लिए प्रगतिकी आवश्यकता हमें प्रतीत होती है। आशा है हमारे विद्वान् धार्मिकनेता इस पर गम्भीर विचार करेंगे।

राजाके देवत्वकी भावना

डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर,

सामान्य जनताकी यह धारणा है कि 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' 'जो देव नहीं वह कदापि राजा नहीं हो सकता है'—यह सिद्धांत हिंदूधर्म और राज्यशास्त्रको प्राचीन कालसे सर्वमान्य है। आधुनिक यूरोपीय लेखक भी कहते हैं कि हिंदुस्तानकी संस्कृतिको नृपतंत्र ही अनुकूल हो सकता है, क्योंकि वहां जनता राजा को देव मानती है। लेकिन हिन्दुस्तानी तो आज देशमें लोकतंत्र स्थापित करनेमें प्रयत्नशील हैं। इसलिए इस समय राजाके देवतांशत्वके बारेमें थोड़ी चर्चा करना अनुचित न होगा। क्या राजाके देवतांशत्वकी कल्पना सचमुच हमारे देशमें सर्वमान्य थी? यदि हां, तो वह कब उत्पन्न हुई? क्या उसके कारण राजा दंडसे परे माना जाता था? क्या प्रजा जैसे परमेश्वरकी आज्ञा माननेके लिए सदैव बाध्य है, उसी प्रकार नृपतिकी भी आज्ञा माननेके लिए बाध्य थी, चाहे वह सर्वथा अन्याय ही हो? देवतांश माने जाने के कारण दुष्ट नृपतिके बारेमें क्या प्रजा कुछ भी नहीं कर सकती थी?

राजाका देवत्व

यह बात ध्यान देने योग्य है कि राजाके देवत्वकी भावना जैसी ईसाकी पहली सहस्राब्दिमें प्रचलित थी, वैसी वैदिक कालमें न थी। उस कालमें राजाका पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हितके लिए अथवा राष्ट्र और जनका अरिष्ट दूर करनेके लिए होने वाले किसी यज्ञादिका संचालन राजाके कामोंमें शामिल नहीं था।

ऋग्वेदमें केवल एक ही राजा पुरुकुत्सको अर्धदेवका विशेषण दिया गया है (चतुर्थ ४२८९)। अथर्ववेदमें भी केवल एक ही बार और उत्तरकालीन सूक्तमें राजा परीक्षित मर्त्यों में देवता कहे गये हैं, (यो देवा मर्त्यान् अधि २०–१२७–७)। इन स्थलोंसे यह नहीं सिद्ध होता कि उस युगमें राजामें देवत्वकी भावना मान्य थी। पुरुकुत्सको अर्धदेव संभवतः इस कारण कहा गया है कि उनकी विधवा मांने उन्हें और इन्द्र वरुणके विशेष प्रसादसे प्राप्त किया था। जिस ऋचामें परीक्षितको मर्त्योंमें देवकी उपाधि दी गयी है वह उनकी प्रशंसा करनेके लिए ही रची गयी थी। वैदिक वाङ्मयमें अन्य किसी भी राजाको यह उपाधि नहीं दी गयी है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजामें देवत्वकी कल्पना राजा द्वारा उपकृत दरबारियोंके ही मस्तिष्क तक सीमित थी।

धार्मिक विधि और विचारोंके उत्तरोत्तर बढ़ने वाले प्रभावसे ब्राह्मणकालमें ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसमें राजाके देवत्वकी भावना पनप सकती थी। युद्धमें विजय इन्द्र देवकी कृपाका फल कहा जाता था, और इसी तरह शनैः शनैः इंद्रकी उपाधियां भी राजाको दी जाने लगीं।[१] राज्याभिषेकके समय पुरोहित कहते थे कि 'भगवान् सविताके आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है, और यह अभिषेक मनुष्यके हाथों से नहीं वरन् भगवान् पूषण और अश्विनी कुमारों द्वारा होता है।' ऐसा माना जाता था कि अभिषेकके समय राजाके शरीरमें अग्नि, सविता और बृहस्पति आदि देवता प्रवेश करते हैं। अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ द्वारा राजाको देवताका पद मृत्युके बाद प्राप्त होता था। बहुसंख्यक प्रजा एक राजाकी आज्ञा पालन क्यों करती है, इसका कारण कुछ लोगोंके मतमें यही था कि राजा देवाधिदेव प्रजापतिका प्रत्यक्ष प्रतीक है! ब्राह्मण अपनेको भूदेव कहकर अपने लिये देवत्वका दावा कर रहे थे, अतः वे राजाको भी उससे कैसे वंचित रख सकते थे, क्योंकि वही तो उनके विशेषाधिकारोंका संरक्षक था। इन परिस्थितियों और कारणोंसे उत्तर वैदिक कालमें ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था, जो राजाके देवत्वकी भावनाके विकासके लिए विशेष अनुकूल था। ईसवी पहली शताब्दीमें कुषाण राज्यकी स्थापनासे इस भावनाको और भी बल मिला। चीनकी परंपरासे प्रभावित होनेके कारण इस वंशके राजा 'देवपुत्र' होनेका दावा करते थे। उनकी मुद्राओं पर उनकी मूर्तियां आकाशसे अवतरित हुई और दैवी प्रकाशसे आवृत दिखायी गयी हैं।[२] इन कुषाण सम्राटोंने अपने पूर्वजोंके नाम पर मन्दिर भी बनवाये, जिनमें उनकी प्रतिमाएं देव मूर्तियोंके समान पूजी जाती थीं।

कुछ स्मृतियों और पुराणोंने स्पष्ट रूपसे राजाके देवत्वका दावा किया है। मनु कहते हैं कि 'राजा नर रूपमें महान् देवता है। ब्रह्माने आठों दिशाओंके दिग्पालोंके शरीरका अंश लेकर उसके शरीरका निर्माण किया है।'[३] विष्णुपुराण और भागवतमें कहा गया है कि 'राजाके शरीरमें अनेक देवता निवास करते हैं।[४] 'भागवतमें तो यह भी लिखा है कि आदि राजा वेणके शरीर पर विष्णुके शरीरके नाना

१—श० ब्रा० द्वादश ४-४ ३। तै० ब्रा० अष्टादश १०, १०।

२—पंजाब संग्रहालयकी मुद्राओंकी सूची भाग प्रथम, चित्र १।

३—यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥ मनु० ५।

४—विष्णु पु० १-१३-१८।

लांछन भी विद्यमान थे[1]। इस प्रकार राजाको देवता माननेकी परंपरा स्थापित हो गयी थी। परवर्ती कालमें बौद्ध लोग भी राजाको सम्भुति 'संभुतिदेव' कहते थे। इस पदवीका संकेत यह है कि राजाका देवत्व जनताको संमत है।

अस्तु, कुछ स्मृतियों और पुराणोंमें राजाके देवत्वकी कल्पना तो स्वीकार की गयी है, परंतु उसे ईश्वरका साक्षात् अवतार बहुत थोड़े स्मृतिकारोंने माना है। अधिकांश स्मृतियों और पुराणोंमें केवल राजा और देवताओंके कार्योंकी समानताका ही उल्लेख और वर्णन किया गया है। महाभारत (द्वादश, ६६, ४०), नारद स्मृति (सप्तदश, २६), शुक्रनीति (६३) और मत्स्य (२२), मार्कण्डेय (२६, २१) अग्नि (२२५, २६), पद्म (३०, ४५), और बृहद्धर्म (उत्तरखंड ३, २) पुराणोंमें बताया गया है कि राजा अपने तेजसे दुष्टोंको भस्म कर देता है, अतः वह अग्निके समान है। वह अपने गुप्तचरों द्वारा सब कुछ देख लेता है, अतः वह सूर्यके तुल्य है; वह अपराधियोंको उचित दंड देता है—अतः पद्मके समान है और योग्य व्यक्तियोंको प्रचुर पुरस्कार देता है—अतः वह कुबेरके तुल्य है[2]।

अस्तु, अधिकांश ग्रंथकार राजा और देवताओंके विभिन्न कार्योंकी समानतापर ही जोर देते हैं। वे राजाके कार्योंका देवताओंके कार्योंसे तुलना मात्र करते हैं और यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है।

इस प्रकार हिंदू ग्रन्थकारोंने राजपदको दैवी बताया है न कि किसी राजव्यक्तिको। यूरोपमें राजाके देवत्वका सिद्धांत मुख्यतः निरंकुश राजसत्ताके समर्थनके लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारतमें एकमात्र नारद ही ऐसे ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने यह कहनेका साहस किया है कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है, क्योंकि उसमें देवता का अंश है।[3] परन्तु किसीने भी उनकी बात नहीं मानी। दुष्ट राजा वेणने अपने देवत्वकी दुहाई देकर दंडसे बचना चाहा, पर क्रुद्ध ऋषियोंने उसकी एक न सुनी, और उसे तत्काल मार डाला। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि प्राचीन भारतमें केवल अच्छे

१—वही, ४-१३-२३।

२—कुरुते पञ्च रूपाणि कार्ययुक्तानि यः सदा। भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः।
यदाह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रेण तेजसा। मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः।
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः। क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः॥
म० भा, १२-६७-४०-४२

३—राजानि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः। शूले तमग्नौ विपचेद् ब्रह्महत्याशताधिकम्॥
—अ० ८।२ श ३१

और धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। दुष्ट और दुराचारी राजा राक्षस और नरकभाजन दैत्य कहे जाते थे।[1] पोप ग्रेगरीके इस मतसे हिंदू शास्त्रकार सहमत नहीं थे कि देवताके अंश होनेके कारण दुष्ट राजासे भी परमात्माके सिवा अन्य कोई जवाब तलब नहीं कर सकता। राजाके देवत्वके पूर्ण समर्थक मनु भी कहते हैं कि धर्मसे विचलित होने पर इसी जन्ममें राजाको प्राणदण्ड तक भोगना पड़ता है[2]। वे यह भी कहते हैं कि देवत्वका अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषोंके परे है, बल्कि साधारण जनकी अपेक्षा उसके गलती करनेकी आशंका अधिक है (७–४५), क्योंकि उसके सामने प्रलोभन भी बहुत रहते हैं। अतः उसे सर्वदा काम, क्रोध और लोभ अन्य बुराइयोंसे बचनेकी सावधानीसे चेष्टा करते रहना चाहिये। धूर्त खुशामदियोंकी स्तुतियोंसे प्रतारित होकर अपनेको अतिमानुप समझने वाले राजागण किस प्रकार जनोपहासके पात्र होते हैं—इसका वर्णन बाणभट्टने भलीभांति किया है[3]।

ब्लेकस्टोनका यह मत कि राजाके कार्यों में ही नहीं किन्तु विचारोंमें भी दोष या गलतियां नहीं हो सकती हैं, प्राचीन भारतीय विचारकोंको स्वीकार न था। इसके विपरीत वे तो यह मानते थे कि साधारण जनकी अपेक्षा राजाके कर्तव्यच्युत होनेकी आशंका अधिक है। राजाके देवत्वका यह अर्थ भी नहीं माना गया था कि दुष्ट या अनीतिकारी राजाकी आज्ञाओंका भी बिना मीनमेख निकाले पालन करना ही चाहिये। यूरोपीय-विचारकोंमें बिशप बोसुएका मत है कि राजाके पापाचरण करने पर भी प्रजा उसकी आज्ञा पालनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकती। काल्विन कहते हैं कि नीच राजाकी आज्ञा भी सदैव शिरोधार्य मानना चाहिये। प्राचीन भारतके विचारकोंका मत इसके विरुद्ध है, वे अयोग्य या दुष्ट राजाको देवत्वका अधिकारी कभी भी नहीं मानते। वे स्पष्ट कहते हैं कि ऐसा राजा साक्षात् राक्षस है, और प्रजाको उसके विरुद्ध विद्रोह करनेका पूरा अधिकार है। इङ्गलैंडके राजा प्रथम जेम्सका यह मत प्राचीन भारतमें मान्य नहीं था कि प्रजा कदापि राजाको दण्ड देनेकी अधिकारिणी नहीं हो सकती, क्योंकि राजाका अधिकार प्रजा को दंड देना है न कि प्रजाका राजाको। अतः विलोबीका यह कथन भारत पर नहीं लागू होता कि 'प्राचीन कालमें एशियाके सभी राज्योंमें राजा

१—गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः। विपरीतस्तु रक्षोंऽशः स वै नरकभाजनः॥

२—दंडो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हंति नृपमेव स बान्धवम्॥ —मनु· ७-२८

३—प्रणतारणकुशल धूर्तैः अमानुपलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा· आत्मन्यारोपितालीकाभिमानाः मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुपमात्मानमुत्प्रेक्षमाणा प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभवाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयाति। (कादम्बरी—शुकनासोपदेशः)।

प्रजापर शासन करना अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते थे और प्रजा भी बिना चीं-चपड़के उनका यह अधिकार स्वीकार कर लेती थी।'

यह विषय समाप्त करनेके पूर्व हम राजाके देवत्वके विषयमें अन्य प्राचीन देशोंमें प्रचलित विचारोंपर दृष्टिपात करेंगे। प्राचीन मिस्रमें राजा या 'फाराओ' 'रा' या सूर्य देवताका पुत्र माना जाता था। सार्वजनिक यज्ञोंका संचालन और देवतासे किसी बातकी याचना करनेका अधिकार केवल उसे ही था। प्राचीन बवेरू और असीरमें भी राजा ईश्वरके प्रतिनिधि माने जाते थे, और देवताओंकी भांति पूजाके अधिकारी होते थे। प्राचीन यूनानमें भी राजा देव-वंशोत्पन्न माने जाते थे। देवताओंकी इच्छा जाननेकी शक्ति भी केवल उसीमें थी। १० ई० के बाद प्राचीन रोमके सम्राट मृत्युके उपरान्त देवता घोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजाके लिए मन्दिर भी बनवाये जाते थे। १६वीं और १८वीं शताब्दीके यूरोपीय विचारकोंके मतका ऊपर उल्लेख हो ही चुका है।



सामाजिक विकासका समाजवादी विश्लेषण

प्रोफेसर मुकुट बिहारी लाल

समाजवाद विज्ञान और नीतिका सम्मिश्रण है। उसका समाज-शास्त्र वैज्ञानिक और लक्ष्य नैतिक है। समाजकी स्थिति और गतिका वैज्ञानिक विश्लेषण उसका समाज-शास्त्र तथा क्रान्तिकारी शक्तियों द्वारा वर्गहीन समाजकी स्थापना उसका लक्ष्य है। विज्ञान और नीति दोनों ही समाजवादके जरूरी अंग हैं। समाजका वैज्ञानिक विश्लेषण समाजवादके लक्ष्य और नीतिके आधार हैं और लक्ष्य सिद्धि ही उसके वैज्ञानिक विश्लेषणका प्रयोजन है।

विकास समाजवादका मूल सिद्धान्त है। संसार गतिशील है। निरन्तर हलचल संसारका लक्षण है। स्थितिमें गति है, गतिमें विकास है। विकास नित्य और अनन्त है, विकास शक्ति ही संसारकी वृद्धिका कारण है, असंख्य पदार्थों और रूपोंकी जननी है। उसीके कारण मूल प्रकृतिसे जीव और जीवसे मनुष्यकी सृष्टि है।

मनुष्य समाज प्रगतिशील है। गति समाजका प्राण है। गति बिना समाजकी स्थिति असम्भव है। समाजकी गति और विकासका स्वरूप द्वन्द्वात्मक है। संघर्ष और समन्वय दोनों ही उसके लक्षण है। विकास अवयवोंके संघर्ष और समन्वय द्वारा ही होता है। विकासके लिए दोनों ही जरूरी हैं। निरा संघर्ष विनाशकारी है। समन्वय ही विकासकी परिणति है, पर संघर्ष विकासका जरूरी साधन है। समाजके विकासमें संघर्ष और सहयोग दोनोंका ही बड़ा हाथ है। विरोध क्रान्तिकारी संघर्ष, और क्रान्तिकारी समन्वयके द्वारा ही विकासकी धारा आगे बढ़ती है। क्रान्ति विकासका आवश्यक अंग है। विकासकी हर मंजिलको तय करनेके लिए क्रान्तिका सहारा लेना पड़ता है। गुण परिवर्तन विकासकी परिणति है और उसके लिए क्रान्ति आवश्यक है। पर क्रान्ति खिलवाड़ नहीं उसके लिए विशेष परिस्थिति और तैयारीकी जरूरत है। परिपक्व परिस्थिति और उचित तैयारीके बिना क्रान्तिका सफल होना नामुमकिन है। समयसे पहले क्रान्ति बेकार है, हानिकर है। कुछ परिस्थितियोंमें वैधानिक उपायों और रचनात्मक कार्यक्रमका क्रान्तिकारी उपयोग विकासके लिए अनिवार्य है। विकास, रचना और क्रान्तिका समन्वय है।

ऐतिहासिक विकास

ऐतिहासिक विकासकी विभिन्न मंजिलोंका परस्पर सम्बन्ध है। हरेक मंजिल विकास शृङ्खलाकी कड़ी है। पिछली मंजिल उसका आधार है, अगली मंजिलका वह पहला कदम पिछले कदमका मोहताज है और अगले कदमके लिए आवश्यक है। हर मंजिलकी अपनी संस्कृति और समाज व्यवस्था है। उनका ऐतिहासिक विकासमें अपना स्थान है। हरएककी अपनी-अपनी देन है। प्रत्येक सभ्यता पिछली सभ्यताके गर्भमें जन्म लेती, उसकी छत्रछायामें पनपती, फूलती और फलती, उसकी रूढ़ियों और प्रतिक्रिया शक्तियोंके खिलाफ संघर्षमें क्रान्तिकारी मानव शक्तियोंका हाथ बटाती तथा नवयुगमें प्रगतिशील शक्तियोंको पुष्ट और समर्थन करती है। पर हरएक सभ्यता धीरे-धीरे रूढ़ियोंके बन्धनोंमें जकड़ जाती हैं, उसकी गति मन्द पड़ जाती है, उसके लिए समयकी गतिके साथ चलना और नयी-नयी समस्याओं को सुलझाना असम्भव हो जाता है। जब इन सब कारणोंसे सभ्यता और परिस्थितिमें वैषम्य आ जाता है, तब प्रचलित सभ्यता प्रतिक्रियावादी बन जाती है और समाजको नयी संस्कृति और समाज व्यवस्थाकी जरूरत पड़ती है। पर पुरानी रूढ़ियोंके उपासक तथा पुरानी व्यवस्थाके समर्थक सामाजिक शक्तियोंके नये संतुलनकी जरूरत पर ध्यान न दे पुरानी प्रथा पर ही डटे रहते हैं और तब्दीलीका घोर विरोध करते हैं। इस वजहसे नयी प्रथाकी समर्थक-शक्तियोंको पुरानी प्रथाकी पोषक शक्तियोंसे क्रान्तिकारी संघर्ष करना पड़ता है। इस प्रकार संघर्ष-समन्वय द्वारा ऐतिहासिक विकास होता है।

मानव शक्ति और सामाजिक परिस्थिति दोनों ही ऐतिहासक विकासके आधार हैं। मनुष्य विश्वका केन्द्र, अपने भाग्यका विधाता और इतिहासका निर्माता है। वह गतिशील क्रियाशील और जनक है। मानव तुष्टि ही प्रत्येक ऐतिहासिक कार्यका लक्ष्य है। इतिहास मनुष्यकी कारगुजारियोंका परिणाम और खाता है। मनुष्य ही ऐतिहासिक विकासका कारक है। अतः वही विकासका निमित्त, कारण है और हेतु है। पर मनुष्य परिस्थितियोंसे प्रभावित है। उसके व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव और कार्य सबपर परिस्थितियोंकी छाप है। मनुष्यके वही विचार और चेष्टायें, जो परिस्थितिके अनुकूल हों फलीभूत होते हैं। क्रान्तिकारी परिस्थितिमें ही क्रान्ति सम्भव है। प्रचलित प्रथा और गतिशील परिस्थितियोंका वैषम्य ही परिवर्तनका मूल कारण है। विकास परिस्थितियोंका रूपान्तर है। परिस्थितियां ही विकासका परिणामकारी उपादान—कारण हैं।

समाजके विकासका आधार

समाजकी विभिन्न परिस्थितियों और प्रणालियोंका परस्पर सम्बन्ध है। सभी सामाजिक प्रणालियों—राजनीति, आचार, धर्म, साहित्य, कानून आदि—का विश्वमें अपना अस्तित्व और स्थान है। वे सब

गतिशील हैं और उन सबका इतिहासपर प्रभाव है। सम्पर्कसे प्रत्येक प्रणाली अन्य सब प्रणालियोंको प्रभावित करती और उनसे प्रभावित होती है। प्रत्येक युगमें अवस्था और परिस्थिति भेदसे कभी कोई प्रणाली और कभी कोई प्रणाली महत्व प्राप्त कर लेती और समाजको विशेप रूपसे प्रभावित करती है। प्रत्येक प्रणालीके विकासके अपने अपने नियम और गति हैं। पर आर्थिक प्रणालीका समाजमें विशिष्ट स्थान और इतिहासपर व्यापक प्रभाव है। आर्थिक प्रणाली अन्य प्रणालियोंसे अपनी गति और विकासमें प्रभावित होती है पर आर्थिक प्रणाली सम्पूर्ण समाजके विकासका आधार है। समाजका आर्थिक ढांचा ही वह आधार या बुनियाद है जिसपर मनुष्यके अन्य कार्यक्षेत्रोंकी प्रणालियां खड़ी होती हैं। आर्थिक उत्पादनका ढांचा, अर्थात् जीवन निर्वाहके लिए आवश्यक वस्तुओंके पैदावारका तरीका, सामाजिक संघटनकी नींव हैं और सब प्रणालियां और तरीके तो ऊपरी ढांचा हैं। आर्थिक उत्पादनके ढांचा आधारभूत परिवर्तन ही नवयुगका प्रवर्तक है। युग परिवर्तनमें आर्थिक शक्तियोंकी तुलनामें दूसरी सामाजिक शक्तियोंका प्रभाव गौण है यद्यपि क्रान्तिकारी संघर्षका स्वरूप बहुधा राजनीतिक और सैद्धान्तिक होता है; धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक वैमनस्य तथा साम्राज्यवादी प्रभुत्व आदि प्रतिक्रियावादी शक्तियां युग-संघर्षकी अवधि, गति और विधिको प्रभावित करती हैं और प्रत्येक क्रान्तिको क्रान्तिकारी मानव शक्तिकी जरूरत होती है। वास्तवमें क्रान्तिकारी आर्थिक शक्तियां समाजके सभी क्षेत्रोंमें क्रान्तिकारी शक्तियोंको प्रोत्साहित करतीं, उनके द्वारा सभी क्षेत्रोंमें प्रतिक्रियावादी शक्तियोंका मुकावला करती हैं और इस तरह नवयुगके लिए समाजव्यापी क्रान्तिकारी संघर्ष होता है। यों तो सभी राजनीतिक क्रान्तियोंका अपना अपना महत्व है पर वही राजनीतिक क्रान्ति युग परिवर्तन कर सकती है कि जिसका आधार आर्थिक क्रान्ति हो।

आर्थिक क्रांतिका ढांचा एक ऐसा संघात है जिसमें बहुतसे अवयवोंका एक अस्थायी सन्तुलन वर्तमान है। ढांचा देखनेमें सुदृढ़ और टिकाऊ पर वास्तवमें अनित्य, अस्थायी और परिवर्तनशील होता है। प्रत्येक ढांचेमें बहुतसी शक्तियोंका समन्वय और सन्तुलन होता है। पर यह सन्तुलन और समन्वय अधूरा और दोपपूर्ण ही होता है और इसलिए प्रत्येक संघातमें संघर्ष और विरोध बना ही रहता है। वह विरोध दिनवदिन बढ़ता ही जाता है। संघातके गर्भमें और नवीन परस्थितियोंके सम्पर्कसे विरोधी शक्तियां सुदृढ़ होती और पुराने संघातको भंगकर अवयवोंके एक नये सन्तुलन और संघटनके लिए संघर्ष करती हैं। कुछ समय तक पुराना संघात आंशिक तब्दीली कर काम चलाता है पर एक समय आता है कि जब पुराने ढांचे और आर्थिक शक्तियोंमें इतना वैषम्य पैदा हो जाता है कि उसमें आधारभूत परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। पर समाजकी जरूरतों पर जरा ध्यान न देकर पुराने आर्थिक ढांचेसे

जिस समुदायको विशेष लाभ होता है वह अपने हितोंकी रक्षाके लिए परिवर्तनका विरोध करता है। इस प्रतिक्रियावादी समुदायका मुकाबला और क्रान्तिकारी विरोध वह समुदाय करता है जिसे नवीन आर्थिक व्यवस्थामें प्रमुख स्थान मिलनेकी आशा होती है और जिसे पुराने ढांचेमें गौण या निचला स्थान प्राप्त है। इस प्रकार नये सन्तुलन और समन्वयके लिए समाजको क्रांतिकारी और प्रतिक्रियावादी शक्तियोंके संघर्षका सामना करना पड़ता है। यह क्रान्तिकारी संघर्ष परिस्थितियोंके अनुकूल किसी न किसी रूपमें उस समय तक चलता रहता है जब तक पुराने ढांचेके स्थान पर नया आर्थिक ढांचा स्थापित नहीं हो जाता। इस संघर्षका आधार आर्थिक वैषम्य है। पर क्रान्ति राजनीतिक रूप धारण कर लेती है, क्योंकि पुराने आर्थिक व्यवस्थाके समर्थक उसकी रक्षाके लिए राजसत्ताका प्रयोग करते हैं और क्रान्तिकारी शक्तियोंको राजसत्ताका मुकाबला करना पड़ता है। इस तरह आर्थिक क्रान्तिके लिए राजनीतिक क्रान्ति जरूरी हो जाती है। क्रान्तिके सफल होनेके बाद आर्थिक व्यवस्था ही नहीं बदलती बल्कि नवीन आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल सभी सामाजिक व्यवस्थाओं और पद्धतियोंमें मौलिक परिवर्तन हो जाता है। प्रत्येक आर्थिक व्यवस्थाका अपना अपना सामाजिक और राजनीतिक ढांचा होता है और इसलिए आर्थिक व्यवस्थामें आधारमूल परिवर्तन होनेपर सामाजिक और राजनीतिक ढांचेमें भी आधारमूल परिवर्तन होता है। क्रान्तिकारी तब्दीलीसे पुरानी सभ्यता और पद्धतियोंका ह्रास हो जाता है पर वे बिलकुल नेस्त नाबूद नहीं हो जाते। नये सन्तुलन और संघटनमें उनके सजीव अवयवोंका क्रान्तिकारी अवयवोंके साथ क्रियात्मक समन्वय होता है। इस प्रकार विरोधसे समन्वयके विकासकी धारा आगे बढ़ती है।

समाजवादियोंकी धारणा

समाजवादियोंकी धारणा है कि इस तरह क्रान्तिकारी विकासके जरिये समाज बहुत सी मंजिलें तय करता और युगोंमें से गुजरता समाजवादी युगकी ओर बढ़ रहा है। आरम्भमें मनुष्योंको न तो काम करना आता था और न उसे किसी उद्योग-धंधेका ज्ञान था। वह अपनी जीविकाके लिए प्रकृति द्वारा पैदा किये कन्द-मूल, फलोंको तथा छोटे छोटे जानवरोंको पकड़कर खाता था। आगे चलकर उसने जानवरोंके पकड़ने और शिकार करनेके कुछ यन्त्र और तरीके ईजाद किये। अब जीवन निर्वाह पहलेसे आसान हो गया पर अब भी उसे अपनी जीविकाके लिए जंगलोंमें मारा मारा फिरना पड़ता था। पर कुछ काल बाद उसे इस बातका ज्ञान हुआ कि बहुत जानवर ऐसे हैं कि उन्हें मारनेके बजाय अगर पाला जाय तो उनके दूध आदिसे कहीं अच्छी तरहसे जीवन निर्वाह हो सकता था। अब उन्होंने कबीले बना जानवरोंके गोलके गोल रखना शुरू किये। चूंकि उन्हें चारा पैदा करनेके तरीके नहीं आते थे इसलिए अपने गोलके लिए चारेके सुविधाके अनुसार स्थान बदलना पड़ता था। इस तरह वे

खानाबदोशीकी जिन्दगी बसर करने लगे। इस खानाबदोश जिन्दगीमें उन्हें मिलकर रहना पड़ता था क्योंकि इसके बिना पालतू जानवरोंकी देखभाल तथा उनकी शिकारी जानवरों और दूसरे कबीलोंसे रक्षा करना मुमकिन न था। इस तरह खानाबदोशोंका आदिम समाज आर्थिक दृष्टिसे पारस्परिक सहयोगके आधार पर संघटित था।

धीरे-धीरे नयी आर्थिक शक्तियोंका विकास हुआ। मनुष्यने खेती करना सीखा, यन्त्रोंका आविष्कार किया और श्रम विभाजनकी प्रथाको चलाया। अब वह पहलेसे अधिक व्यवस्थित जिन्दगी बिताने लगा और उसने प्रकृतिकी कुछ शक्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। अब जमीनका बंटवारा होने लगा और आर्थिक उपज पर सबका समान स्वामित्व जाता रहा। समाज अमीरों और गरीबोंमें बंट गया। कबीलोंमें संघर्ष होने लगा। एक कबीलेने दूसरे कबीलेको परास्त कर पराजित कबीले पर अपना आधिपत्य कायम किया और राजनीतिक उपायों द्वारा उनका शोषण किया। विजयी स्वामी और पराजित शोषित बन गये। स्वामी और दास, शोषक और शोषितके भेदके कारण भौगोलिक राजसत्ताका उदय हुआ। राजसत्ताका प्रयोजन भिन्न-भिन्न वर्गोंके अधिकारों और कर्तव्योंको निश्चित कर अनेकतामें एकता तथा संघर्षके मध्य शान्ति स्थापित करना था। पर वर्ग-समाजमें राज्य वर्ग-संस्था बना रहा। राज्यने शोषकोंके अधिकारोंको सीमित किया, शोषितके कुछ हकोंको तसलीम किया और समाजमें शान्ति स्थापित की। लेकिन राजसत्ता पर स्वामी वर्गका आधिपत्य कायम रहा और समाजमें वैषम्य, संघर्ष और अशान्ति बनी रही। दास वर्ग राजनीतिक अधिकारोंसे बिलकुल ही वंचित था। कारीगरों और व्यापारियोंका भी राजसत्ता पर कोई विशेष प्रभाव न था। शुरूमें तो वे भी नागरिक और राज-नीतिक अधिकारोंसे वंचित थे। पर आगे चलकर काफी संघर्षके बाद कुछ राज्योंमें उन्हें कुछ परिमित राजनीतिक और नागरिक अधिकार प्राप्त हो गये थे। समाजमें काफी वैषम्य था, काफी लूट-खसोट थी। स्वामी वर्गके अन्दर भी आपसमें काफी संघर्ष था। इस आन्तरिक संघर्षके कारण राज्यविधानमें परिवर्तन होते रहते थे। पर ऐतिहासिक विकासकी दृष्टिसे इन राजनीतिक तब्दीलियोंका कोई खास महत्व न था। इन तब्दीलियोंसे ऊबकर अफ़लातूनने स्वामी वर्गका समष्टिवादके आधार पर संघटन करनेका मशवरा दिया और इस वर्गको 'गार्जियन' की उपाधि दी। पर स्वामी वर्गका समष्टियादी संघटन नहीं हुआ और इस वर्गने संरक्षकों जैसा काम भी न किया। अपने निजी-हितोंकी वृद्धि उनका मुख्य ध्येय बना रहा। इस युगमें ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशलकी काफी उन्नति हुई पर खेती ही प्रधान व्यवसाय बना रहा।

इस युगमें रईसों और गरीबों, शोषक और शोषितोंमें छोटे बड़े संघर्ष होते रहे। पर स्वामी वर्ग

की वृद्धि होती रही और आगे चलकर स्वामी वर्गने सामन्त वर्ग और इस युगने सामन्तशाहीका रूप धारण किया। सामन्तशाहीके जमानेमें सामन्तोंका बोल बाला था। खेतीकी सारी जमीन पर इन्होंने कब्जा कर लिया और राजसत्ताको सामन्तशाहीका रूप दे डाला। इस जमानेमें सामन्तोंकी छत्रछायामें ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशलकी और भी वृद्धि हुई। पुरानी दासप्रथाका स्थान कृषकदासताने लिया। कृषक-दासता पुरानी दासतासे कहीं अच्छी थी। पुरानी दासतामें स्वामी अपने दासके शरीर और आत्माका मालिक समझा जाता था पर यह बात कृषकदासतामें मिट गयी। पर कृषकदासताके अन्दर भी किसानोंको सामन्तकी जमीन पर काम करना पड़ता था, किसानकी जमीन पर सामन्तका अधिकार था, और किसान पर भी सामन्तका प्रभुत्व था। बिचारे किसानको न कोई राजनीतिक अधिकार थे न उसमें इतनी सामर्थ थी कि वह सामन्तोंके प्रभुत्व और लूटखसोटका संघटित मुकाबला करसके। पर उद्योग-धन्धों तथा व्यापार तेजीसे बढ़े और कारीगरों और व्यापरोंने बड़ी तरक्की की। धीरे-धीरे सभी प्रमुख केन्द्रोंमें कारी-गरों और व्यापारियोंने अपने संघ कायम कर लिये। इन व्यापार संघोंका काम वस्तुओंकी कीमत निर्धारित करना, व्यापारियोंके बीच अवांच्छनीय प्रतिस्पर्धा को रोकना, व्यापार की दशाओंका निरीक्षण तथा नियन्त्रण करना और व्यापारियोंके आर्थिक झगड़ोंका निपटारा करना आदि होता था। धीरे-धीरे इन व्यापार संघोंने काफी जोर पकड़ लिया। जर्मनीमें तो एक व्यापार संघ "हेनसियाटिक लीग" ने राजसत्ता भी प्राप्त करली। दूसरे देशोंमें व्यापार संघोंने "हेनसियाटिक लीग" की सी ताकत तो हासिल न कर पायी, पर फिर भी व्यापारियोंने बहुत नगरोंमें सामन्तोंसे नागरिक आजादी और अधिकार खरीद लिये और उन नगरोंके नागरिक जीवन पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। कुछ दिनों इस तरह काम चलता रहा और संघर्ष भी टलता रहा। पर धीरे-धीरे व्यापारियोंको सामन्तों का आधिपत्य बिल्कुल ही अखरने लगा। सामन्तशाही प्रथा और नयी व्यवसायिक आर्थिक शक्तियोंमें इतना वैषम्य होगया कि समाज के लिए आर्थिक शक्तियोंका नया सन्तुलन और संघटन अनिवार्य होगया। व्यापारी वर्गने सामन्तशाहीके खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष शुरू कर दिया। व्यापारी वर्ग किसान दासों जैसा दलित न था। व्यापारी वर्गका समाजमें गौण स्थान था, तथापि उसमें संघटित शक्ति थी और उसे नयी आर्थिक व्यवस्थामें प्रमुख वर्गका स्थान प्राप्त करनेके अवसर और समर्थ था। इसलिए सामन्तशाहीके खिलाफ क्रान्तिका नेतृत्व व्यापारी वर्गके हाथमें रहा। इस क्रान्तिका आधार आर्थिक था पर इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक था। इसका लक्ष्य सामन्तशाहीके स्थान पर पूंजीशाही स्थापित करना था पर व्यापारी वर्गने क्रान्तिको जन-क्रान्तिका रूप दिया, लोकतन्त्रके नाम पर सामन्तशाहीके खिलाफ निम्नश्रेणीके लोगोंको भी अपने साथ शामिल कर लिया। इस क्रान्तिने धार्मिक क्षेत्रमें प्रोटेस्टटेनिज्मका, सैद्धान्तिक क्षेत्रमें लोकतान्त्रिक

विचारोंका, राजनीतिक क्षेत्रमें देशव्यापी लोकतान्त्रिक राष्ट्रका और आर्थिक क्षेत्रमें औद्योगिक क्रान्तिका रूप धारण किया। इस क्रान्तिने धार्मिक क्षेत्रमें पोप और पादरियोंके प्रभुत्वको घटाया, बहुतसे धार्मिक बन्धनोंको ढीला किया, पुरानी रूढ़ियोंको नष्ट किया, और धर्मके नैतिक सिद्धान्तोंपर जोर दिया। पर धार्मिक संघर्ष समाजको बहुत महंगा पड़ा। लोभ और असहिष्णुताके सम्मिश्रणसे क्रान्ति और धर्म दोनोंका ही रूप विकृत होने लगा। धर्मके नाम व्यर्थका खूनखराबा हुआ और इसे ही क्रान्ति समझा जाने लगा। आखिर तंग आकर इस क्रान्तिके बीच ही व्यापारियोंके एक समूहने धर्मके खिलाफ ही सैद्धान्तिक संघर्ष शुरू कर दिया। उसने नास्तिकताको अपनाया और राष्ट्रीयताके लिए राजधर्म और धार्मिक एकताको अनावश्यक बतलाया। जहां सत्रहवीं सदीके अंग्रेज व्यापारियोंकी क्रान्तिका धार्मिक स्वरूप 'प्यूरिटनिज्म' था वहां अठारहवीं सदीकी फ्रान्सीसी क्रान्तिका धार्मिकरूप नास्तिकता था। सैद्धान्तिक क्षेत्रमें व्यापारी वर्गने आजादी, समता और भ्रातृत्वका नारा लगाया, परम्परागत विचारोंको तर्ककी कसौटीपर कसनेका आग्रह किया, मानव-व्यक्तित्वके महत्वपर जोर दिया, लोकतान्त्रिक व्यवस्थाको निर्दोष और सर्वश्रेष्ठ बताया, और राष्ट्रीयता सबक पढ़ाया। राजनीतिक क्षेत्रमें व्यापारी वर्गने अपने नेतृत्वमें सामन्तशाहीकी अराजकता और आधिपत्यके खिलाफ बगावतकी और सामन्तशाहीका नाश कर देशव्यापी लोकतान्त्रिक राज्य स्थापित किये। आर्थिक क्षेत्रमें व्यापारीवर्गने जमीनपर जमींदारोंके आधिपत्यको अन्याय बताया, जमींदारी प्रथाके नाशका नारा लगाया और नये-नये यन्त्रों द्वारा औद्योगिक क्रान्तिकी।

ऐतिहासिक विकासमें व्यापारियोंकी क्रान्तिका बड़ा ऊँचा स्थान है। इस क्रान्तिने पूंजीवादी औद्योगिक युग स्थापित किया। इस युगमें समाजके सभी क्षेत्रों—राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक—में बहुत बड़ी तरक्की हुई। खेती गौण और उद्योग धंधे मुख्य व्यवसाय बन गये। नये नये वैज्ञानिक आविष्कारोंकी मददसे औद्योगिक जीवनका कायापलट हो गया। भाप और बिजलीकी मददसे बने मालसे असंख्य बड़े बड़े कल कारखानोंने देश विदेशके बाजार पाट दिये। ज्ञान-विज्ञानकी वृद्धि और जनतामें प्रसार हुआ। प्रकृतिकी शक्तियोंका ज्ञान और उन पर नियन्त्रण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही चला गया। लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रीय राज्य धीरे धीरे कायम हुए और लोकतंत्रके तत्वावधानमें जनताकी राजनीतिक अधिकारों और शक्तिकी वृद्धि हुई। पददलितोंको भी संघटित होने और राजसत्ता पर अपना संघटित प्रभाव डालनेका अवसर मिला। लोकतन्त्रात्मक राज्यको धीरे धीरे जनताकी संघटित शक्ति और अंगोंके आगे सिर झुका जनताकी हित-वृद्धिके लिए नये नये कानून बनाने तथा मुहकमे खोलने पड़े।

इस तरह पूंजीवादी औद्योगिक युगने समाजका विकास किया और जनताको जाग्रत और शक्ति-

शाली बनाया। पिछले दो ढाई सौ वर्षोंमें संसारने जितनी वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नतिकी है उतनी उन्नति संसारने उससे पहले न की थी। पर यह युग सामाजिक विकासकी अंतिम सीढ़ी या चरम सीमा होनेका दावा नहीं कर सकता। बहुत सी आंतरिक विषमताओंके कारण पूंजीवादी जनहित और सामाजिक विकासमें बाधक है। उसके स्थानपर वर्गविहीन समाजकी स्थापना ऐतिहासिक आवश्यकता है।

पूंजीवादी व्यवस्थाका दोष

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थाका मुख्य दोष समाजके उत्पत्तिके साधनों पर व्यक्तियोंका आधिपत्य है। यही दोष पूंजीवादी युगकी सब विषमताओंका मूल कारण है। इसीके कारण समाज वर्गोंमें विभाजित है, समाजमें वर्ग संघर्ष चल रहा है, समाजके आर्थिक साधनोंका जनहितके लिए पूरा पूरा उपयोग नहीं हो पाता, समाजको नित नये युद्धों और संकटोंका सामना करना पड़ता है और समाजमें बेकारी गरीबी कायम है और समाजमें "आजादी, समता, और भ्रातृत्व" के उच्च आदर्श फलीभूत नहीं हो पाते। निजी सम्पत्तिकी प्रथाके कारण उत्पादनका लक्ष्य और उसकी व्यवस्था ही दूषित हो गयी है। उत्पादनका सही लक्ष्य समाजकी जरूरतोंको पूरा करना ही है। पर पूंजीवादी योजनामें नफा ही उत्पादनका लक्ष्य बना हुआ है। सब काम नफेका ध्यान रखकर होता है। इसका नतीजा यह है कि बहुतसी अनावश्यक चीजोंसे बाजार पटा रहता है जब कि बहुत सी जरूरी चीजोंकी कमीसे जनता कष्टमें रहती है। जनता की वास्तविक जरूरतों और चीजोंकी तैयारीमें आवश्यक सन्तुलनका अभाव है जिसके कारण आर्थिक संकट उपस्थित होते रहते हैं और जनताको नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं। निजी सम्पत्तिकी प्रथाके कारण पूंजीवादी आर्थिक ढांचेमें सामाजिक सहयोग और वर्ग आधिपत्यका वैषम्य है जिसकी वजहसे समाजको सदा संघर्ष और संकटका सामना करना पड़ता है। कल कारखानोंमें हजारों मजदूरों, कारीगरों, वैज्ञानिकों और प्रबन्धकोंके सहयोगसे सामान तैयार किया जाता है। पर वे कल कारखाने पूंजीपतियोंकी मिल्कियत हैं, उनका ही उन कारखानों पर नियन्त्रण और आधिपत्य है। इस मिल्कियत और आधिपत्यकी वजहसे इन कल कारखानोंका इन्तजाम और संचालन थोड़ेसे मालिकोंके हितको ध्यानमें रखकर ही किया जाता है, मालिक और प्रबन्धक मजदूरोंको सहयोगीके बजाय, अपना नौकर और गुलाम समझते हैं, उनसे अधिकसे अधिक काम ले उन्हें कमसे कम मजदूरी दे सब चीजोंका जनतासे कसकर दाम वसूल कर खुद अधिकसे अधिक मुनाफा उठाना चाहते हैं। इस वजहसे मजदूरों और मिल मालिकोंमें संघर्ष बराबर बना रहता है। इस संघर्षकी गति कभी हल्की और

कभी तेज होती है। पर संघर्ष कभी खत्म नहीं होता। आये दिन समाजको हड़तालोंका सामना करना पड़ता है। कुछ विद्वानोंने पूंजीवादी प्रथाको कायम रखते हुए इस संघर्षको दूर करनेके कुछ तरीके बताये हैं। इन तरीकोंको काममें लानेसे संघर्षकी तेजी कुछ अर्सेके लिए कम हो जाती है। पर ये सब तरीके संघर्षको दूर नहीं कर पाते संघर्ष बना ही रहता है और कुछ समयके बाद फिर तेजी पकड़ लेता है। सच तो यह है कि इन तरीकोंके बावजूद संघर्ष तीव्र और भयंकर होता जा रहा है और यह संघर्ष आर्थिक साधनों पर जब तक किसी विशेष वर्गका आधिपत्य है तब तक कायम रहेगा।

राजनीतिक लोकतन्त्र और आर्थिक आधिपत्य, राजनीतिक समता और सामाजिक वर्ग-भेद पूंजीवाद युगमें विद्यमान दूसरी बड़ी विषमतायें हैं। इन विषमताओंके कारण समाजमें लोकतन्त्र और आधिपत्यके बीच संघर्ष चला ही जा रहा है। पूंजीवादी क्रान्तिने सामन्तशाहीका अंत किया, सामन्तोंके राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्यको भी खत्म किया पर उसके स्थान पर पूंजीपतियोंका आधिपत्य कायम कर दिया। पूंजीपति अपने आर्थिक आधिपत्यके कारण राजसत्ता पर भी अपना आधिपत्य जमा बैठे। अपने धन और संघटनके बलपर समाजमें अल्पसंख्यक होते हुए भी लोकतांत्रिक राजसत्ता पर भी उनका प्रभाव बहुसंख्यक जनतासे कहीं अधिक होगया। जनताकी लोकतांत्रिक शक्तियोंने शुरूसे सरमायेदारोंके आधिपत्यका विरोध किया और लोकतंत्रको व्यापक बनानेकी कोशिश की। सरमायेदारोंके आधिपत्य और जनताकी लोकतांत्रिक शक्तियोंके बीच संघर्ष ही पूंजीवादी युगका राजनीतिक इतिहास है। यह संघर्ष कभी धीमे और कभी तेज, कभी वैधानिक और कभी क्रान्तिकारी ढंगसे इस युगमें बराबर चलता रहा है और उस वक्त तक चलता रहेगा कि जब तक सामाजिक ढांचेमें आधिपत्य और लोकतन्त्रका वैषम्य बना है, इस संघर्षमें जनताको बहुतसी नाकामयाबियोंका सामना करना पड़ा। पर संख्या, संघटन और कुर्बानियोंके सहारे जनता आगे बढ़ती गयी। रूसमें क्रान्तिके जरिये और कई अन्य देशोंमें वैधानिक उपायों द्वारा समाजवादी दलोंने राजसत्ता पर अधिकार जमा लिया। इसे देख पूंजीवादियोंने लोकतन्त्रका जामा उतारकर फेंक दिया और फासिज्मका समर्थन शुरू कर दिया। फासिज्म आधिपत्य भावनाका भयंकर स्वरूप है। वह समताको असत्य, लोकतंत्रको निकम्मा और शान्तिको कायरता बताता है और अधिनायकत्व, युद्ध और विश्वव्यापी साम्राज्यका समर्थन करता है। कुछ फासिस्टवादी राष्ट्र पराजित हुए हैं। पर फासिज्मका विनाशकारी विश्वव्यापी संघर्ष किसी न किसी रूपमें उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि निजी सम्पत्ति द्वारा पैदा किया वैषम्य समाजमें कायम है।

सारांश पूंजीवादी आर्थिक और सामाजिक योजना तथा आर्थिक और सामाजिक शक्तियोंमें बड़ा

वैषम्य है और यह विषमता दिनपर दिन बढ़ती ही जा रही है। इन विषमताओंके कारण समाजको विनाशकारी संघर्ष और संकटोंका सामना करना पड़ रहा है। इन सब विषमताओंका मूल कारण निजी सम्पत्तिकी प्रथा ही है। इस प्रथाको दूर करके ही वैषम्य और संघर्ष दूर किया जा सकता है। निजी सम्पत्तिके आधारपर स्थित पूंजीवाद इन संकटोंसे समाजको बचानेमें असमर्थ है। पूंजीवादमें फासिज्म जैसी प्रतिक्रियावादी शक्तियां पैदा होने लगी हैं। समाजवादी योजना ही समाजको निजी सम्पत्तिकी प्रथाके कारण पैदा हुए संघर्षों और संकटोंसे बचा सकती है और समाजको विकासकी ओर ले जा सकती है।

लोकतंत्र और साम्राज्यवादका वैषम्य पूंजीयुगका एक और बड़ा दोष है। राजनीतिक उपायों द्वारा विजित देशका आर्थिक शोषण ही साम्राज्यका लक्ष्य है। साम्राज्यवाद वर्ग-समाजका खास लक्षण है। उसका और वर्ग-समाजका चोली दामनका साथ है। सच तो यह है कि बहुतसे देशोंमें विजयी और पराजितके भेद तथा विजितके शोषणसे ही वर्गसमाजकी उत्पत्ति है। वर्ग-समाजके प्रत्येक युगमें युगपरम्पराके मुताबिक साम्राज्यवाद पाया जाता है। सामन्तशाहीके जमानेमें इसका स्वरूप सामन्तशाही और पूंजीयुगमें इसका स्वरूप पूंजीवादी होता है। सामन्तशाहीके जमानेमें विजयी पराजित जातिकी जमीनों पर अपना सामन्तशाही आधिपत्य जमा पराजितको कृषकदासकी तरह काम करनेपर बाध्य करते थे। विजयी सामन्त देशके उद्योग-धन्धों, कारोबारमें विशेष दखल नहीं देते थे। कारीगरोंको अपने संघों द्वारा अपने उद्योग-धन्धोंका नियन्त्रण करनेका भी अधिकार रहता था। पर पूंजी-युगमें व्यापारीवर्ग ही साम्राज्य नीतिका कर्णधार है, साम्राज्यशाहीका मुख्य उद्देश्य साम्राज्यशाही देशोंके पूंजीवादको उन्नत करना ही है। इस उद्देश्यकी पूर्ति यूरोपके व्यापारीवर्गने मुख्तलिफ ढंगोंसे की। अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया प्रद्वीपोंमें उपनिवेश कायम किये, एशियाके कुछ मुल्कोंको पराजित कर उनपर अपना आधिपत्य कायम किया, तथा बहुतसे देशोंपर राजनीतिक प्रभाव स्थापित किया। उपनिवेशोंमें सामन्तशाही साम्राज्यवादी नीतिका अवलम्बन कर वहांके आदिवासियोंकी जमीनोंपर कब्जा किया और उन्हें मुख्तलिफ तरीकोंसे अपने खेतोंपर काम करनेपर मजबूर किया। पर साम्राज्यशाही द्वारा निश्चित औद्योगिक नीतिका लक्ष्य साम्राज्यशाही देशके पूंजीवादको उन्नत करना ही था। इस उद्देशकी पूर्तिके लिए साम्राज्यशाही देशके व्यापारी वर्गने उपनिवेशों, पराजित देशों, तथा प्रभाव-अधीन जातियोंको साम्राज्यशाही देशके लिए कच्चा माल पैदा करने, उसके कल-कारखानोंमें बने मालको खरीदने तथा उसे अपने देशोंमें व्यापार करनेकी सुविधा पहुंचानेके लिए मजबूर किया। पूंजीवादी साम्राज्यशाहीने बड़ी तरक्की की। वह पूरे विश्वमें फैल गयी। इसको फैलानेमें व्यापारीवर्गने धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयतासे मदद ली। कभी पादरियोंकी रक्षाके नामपर, कभी संस्कृतिके प्रसारके नामपर और कभी

राष्ट्रकी इज्जतके नामपर पूंजीवादी साम्राज्यशाहीने कमजोर जातियोंको दबा उनपर अपना प्रभुत्व कायम किया। इस विश्वव्यापी साम्राज्यशाहीने विश्वव्यापी संघर्ष पैदा कर दिया। एक तरफ साम्राज्यशाही देशोंका राजनीतिक प्रभुत्व और आर्थिक शोषणके लिए कमजोर जातियोंसे तथा परस्पर संघर्ष था, दूसरी तरफ उपनिवेशों और पराजित देशोंका आजादीका संघर्ष था। मानव समाजकी बहुत सी ताकत इन्हीं संघर्षोंमें खर्च होने लगी और संसारकी औद्योगिक उन्नतिके लिए जिस सहयोग और शान्तिकी जरूरत है वह असम्भव हो गयी। इस संघर्षने बढ़ते बढ़ते साम्राज्यशाहीके केन्द्र यूरोपको विनाशकारी विश्वव्यापी युद्धोंका केन्द्र और रणक्षेत्र बना दिया, जिनके कारण सम्पूर्ण संसार ही नहीं यूरोपको भी भयंकर आर्थिक संकटों और औद्योगिक क्षतिका सामना करना पड़ रहा है। इस साम्राज्यशाहीका यूरोपके लोकतांत्रिक जीवनपर भी भयंकर प्रभाव है। इसके कारण साम्राज्यवादी देशोंके मजदूर वर्गका भी एक हिस्सा साम्राज्यशाहीसे प्रभावित है और लोकतंत्रके स्थानपर फासिस्टवादका जोर है।

वर्तमान परिस्थिति

आजकी ऐतिहासिक परिस्थिति युग परिवर्तनके लिए परिपक्व है। पर उसके लिए संघर्ष अनिवार्य है। पूंजीपति ऐतिहासिक आवश्यकताके आगे चुपकेसे सर झुकानेवाले नहीं। वे जानते हैं कि वर्गविहीन समाजवादी समाजमें उन्हें अपने अधिकारोंसे हाथ धोना पड़ेगा और उनका आधिपत्य खत्म हो जायेगा। अपने अधिकारोंको सुरक्षित रखनेके लिए वे मौजूदा पूंजीवादी प्रथाको कायम रखना चाहते हैं। सभी पूंजीवादी वर्गविहीन सामाजिक व्यवस्थाके खिलाफ हैं। इसमें जमींदार और पूंजीपति दोनों साथ हैं उनका मुकाबला वर्ग संघर्ष द्वारा करना होगा। वर्ग संघर्ष वर्गसमाजकी देन है। उसकी जिम्मेदारी निजी सम्पत्तिकी प्रथा और शोषकवर्ग पर है। वर्गसंघर्ष वर्गसमाजमें सदा चलता रहता है और संसारमें उस समय तक चलता रहेगा जबतक वर्गसमाज कायम है। वर्ग संघर्ष द्वारा ही पूंजीपतियोंने सामन्तशाहीको खत्मकर पूंजीवादी युग चलाया था, और वर्ग संघर्षके जरिये ही दलितवर्ग पूंजीवादी युगको खत्म कर वर्गविहीन समाजवादी समाज कायम कर सकता है।

इस वर्ग संघर्षमें कलकारखानोंके मजदूरोंका प्रमुख क्रान्तिकारी स्थान है। मजदूरवर्ग दलित और संघटित है। उसके सहयोगपर ही पूंजीवादी आर्थिक योजना कायम है आर वह चाहे तो सरमायेदारोंके आधिपत्यको खत्म कर सकता है। निजी सम्पत्तिकी प्रथाको खत्म कर उत्पत्तिके साधनोंके राष्ट्रीयीकरण करने और वर्ग विहीन समाजके कायम करनेमें उसका फायदा है। इन सब कारणोंसे मजदूर वर्ग मुख्य क्रान्तिकारी वर्ग है। पर क्रान्तिके लिए मजदूर वर्गको सब दलित वर्गोको अपने साथ

लेना होगा। किसानोंका सहयोग तो बहुत ही जरूरी है। आजकी दुनियामें किसान क्रान्तिकारी हैं। बहुतसे देशोंमें किसानोंकी संख्या सबसे अधिक है। उन्हें अपनाये बिना उन देशोंमें कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। क्रान्तिको क्रान्तिकारी शिक्षित समुदायकी भी जरूरत है। शिक्षित वर्गने कभी भी पूरा-पूरा क्रान्तिका साथ नहीं दिया। उस वर्गके बहुतसे प्रतिष्ठित सदस्य सदा पूंजीपतियों और शोषण वर्गोंका समर्थन करते रहे। उन्होंने तब्दीलीका विरोध और पुरानी प्रथाओंकी पुष्टि की। पर इस वर्गके कुछ सदस्योंने क्रान्तिकी जरूरतको अनुभव किया, क्रान्तिकारी सिद्धान्तोंका प्रचार किया और क्रान्तिका सैद्धान्तिक भी पथप्रदर्शन किया। इन क्रान्तिकारी सैद्धान्तिकोंकी सभी क्रान्तियोंको जरूरत रही। समाजवादी क्रान्तिमें भी इनका बड़ा ऊँचा स्थान है। इन्होंने क्रान्तिके स्वरूपका जनताको ज्ञान कराया, मजदूरोंके आर्थिक आन्दोलनको क्रान्तिका रूप दिया, वर्ग संघर्षका लक्ष्य निर्धारित किया और दलित वर्गके नेताओंके साथ-साथ क्रान्तिका नेतृत्व किया।

यह वर्ग-संघर्ष आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही है। इसका आधार आर्थिक पर इसका स्वरूप राजनीतिक है। इसका लक्ष्य राजसत्ता पर विजय प्राप्त कर पूंजीवादी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाके स्थानपर वर्गविहीन समाजवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना है। इस क्रान्तिकारी वर्ग संघर्षको अकसर प्रतिगामी धार्मिक और सामाजिक संघर्षों तथा प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादका भी सामना करना पड़ता है। शोषक वर्ग दलित वर्गको उलझनमें डालनेके लिए प्रतिगामी धार्मिक और सामाजिक संघर्ष शुरू कर देते हैं। दलित वर्ग इन प्रतिक्रियावादी आर्थिक और सामाजिक संघर्षोंकी उलझनोंसे अपनेको बचाकर ही क्रान्तिकारी संघर्ष कर सकता है। पर साम्राज्यवादका विरोध उसका क्रान्तिकारी कर्तव्य है, उसके क्रान्तिकारी संघर्षका जरूरी अङ्ग है। साम्राज्यवादी आधिपत्यको खत्म करनेके बाद ही किसी समाजमें सामाजिक क्रान्ति संभव है। इसलिए पराधीन देशोंमें क्रान्तिकारी वर्गका स्वाधीनताके लिए क्रान्तिकारी संघर्ष करना पहला कर्तव्य हो जाता है। इस संघर्षमें उसे मध्यम वर्गके साथ काम करना होता है। आजादीकी लड़ाईके लिए मध्यम वर्ग भी क्रान्तिकारी है। उसकी क्रान्तिकारी शक्तियोंका उपयोग इस लड़ाईमें कामयाबीके लिए जरूरी है। पर आजकी दुनियामें यह मध्यम वर्ग सामाजिक क्रान्तिकी सम्भावनासे घबड़ाकर अकसर साम्राज्यवादी शक्तियोंके साथ समझौतेकी ओर झुक जाता है और इसलिए क्रान्तिकारी दलित वर्गोंका कर्तव्य होता है कि वे आगे बढ़ें और आजादीकी लड़ाईका क्रान्तिकारी नेतृत्व करें। ऐसा करना इसलिए भी जरूरी है कि आजादीकी लड़ाईमें विजय प्राप्त कर पूंजीपति देशकी राजसत्तापर अपना अधिकार न जमा बैठें।

सामाजिक क्रान्तिके लिये आम तौर पर विप्लव आवश्यक होता है। लोकतांत्रिक वैधानिक

उपायों द्वारा सामाजिक क्रान्ति बहुत हद तक असम्भव ही है। जिन देशोंमें राजनीतिक लोकतंत्र स्थापित भी है उन देशोंमें भी इस बातका डर है कि सामाजिक क्रान्तिसे घबड़ाकर पूंजीपति और दूसरी प्रतिगामी शक्तियां लोकतंत्रका चोला दूर फेंक फासिज्मका सहारा लें और जनताको लोकतांत्रिक वैधानिक उपायों द्वारा सामाजिक क्रान्तिका अवसर ही न देने दें। जर्मनी आदि बहुतसे देशोंमें ऐसा हुआ भी है। पर यह भी सम्भव है कि क्रान्तिकारी वर्ग पूंजीपतियोंको ऐसी चालें न चलने दे। वह लोकतंत्रकी फासिज्म आदि प्रतिगामी शक्तियोंसे रक्षा कर वैधानिक उपायों द्वारा लोकतांत्रिक राजसत्ता पर अपना आधिपत्य जमाकर वैधानिक उपायों द्वारा सामाजिक क्रान्तिकी कोशिश करे। यह विधि विप्लवसे सरल है और उन परस्थितियोंमें सम्भव है जिनमें विप्लव सम्भव नहीं। इसलिए क्रान्तिकारी शक्तियोंका यह कर्तव्य है कि वे राजनीतिक लोकतंत्रकी प्रतिक्रियावादी शक्तियोंसे रक्षा करें और लोकतांत्रिक वैधानिक उपायोंका क्रान्तिकारी उपयोग करते हुए सामाजिक क्रान्तिको आगे बढ़ायें और सफल करें। पर जरूरत पड़ने पर उचित परिस्थितिमें विप्लवके लिए तैय्यार रहें।

शोषक वर्गकी राज्यशक्तिको नष्टकर राजसत्ता पर अपना अधिकार जमा लेनेके बाद भी वर्ग विहीन समाजको कायम करनेके लिए क्रान्तिकारी वर्गोंके पास काफी काम रह जाता है। उन्हें इन कामोंके लिए एक 'अस्थायी व्यवस्था' बनानी पड़ती है। इस अस्थायी व्यवस्थाका स्वरूप और उसके कार्यका निर्णय इस बातपर होता है कि किन उपायों द्वारा और किन परिस्थितियोंमें क्रान्तिकारी शक्तियोंने विजय प्राप्तकी है। अगर विजय लोकतांत्रिक वैधानिक उपायों द्वारा होती है तो इस अस्थायी व्यवस्थाका स्वरूप भी लोकतांत्रिक होता है। पर अगर विजय विप्लव द्वारा प्राप्त होती है तो इस अस्थायी व्यवस्थाका स्वरूप अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) होता है। पर यह अधिनायकत्व फासिस्टोंके अधिनायकत्वसे भिन्न होता है। जहां फासिस्टवादी अधिनायकत्व एक दलको होता है और सदा कायम रहनेवाला सुदृढ़ होता है, वहां क्रान्तिकारी अधिनायकत्व क्रान्तिकारी वर्गका होता है और वह ऐसा होता है कि वह धीरे धीरे विलीन हो जाय। फासिस्टवादी अधिनायकत्वमें लोकतंत्रका कोई स्थान नहीं। पर क्रान्तिकारी अधिकायकत्वका आधार क्रान्तिकारी वर्गका आन्तरिक लोकतंत्र ही है। ऐसे अधिनायकत्वको क्रान्तिकारी वर्गका लोकतंत्र भी कह सकते हैं और वह आगे चलकर अधिकसे अधिक लोकतंत्रका स्वरूप धारण करता है। क्रान्तिकारी राजसत्ताको प्रतिगामी शक्तियोंकी बची खुची ताकतका मुकाबला करना होता है; समाजके आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवनको नये क्रान्तिकारी ढांचेमें ढालना होता है और इस तरह नये समाजका निर्माण करना होता है। इन कामोंमें काफी देर लग जाती है और समाजको कई अवस्थाओंमें से गुजरना पड़ता है। रूस जैसे देशमें, जहां कि सामाजिक क्रान्तिसे पहले सामन्तशाही भी कायम थी

और पूंजीवादने भी काफी तरक्की न की थी, क्रान्तिकारी राजसत्ताका यह काम भी होता है कि सामन्तशाही-को खत्म करे। वैज्ञानिक और औद्योगिक सामाजिक क्रान्तिके पूरी तरह सफल होनेके बाद वर्ग समाजके स्थान पर वर्गविहीन समाज स्थापित होता है। यह एक ऐसा मानव समाज है जिसमें उत्पत्तिके साधनोंपर समाजका अधिकार होता है, उत्पादनका प्रयोजन मुनाफेके स्थान पर जनताकी जरूरतोंको पूरा करना होता है और कल कारखानोंका प्रबन्ध लोकतांत्रिक ढंगसे होता है। ऐसे समाजमें मानव व्यक्तित्व और समाजोपयोगी श्रमका आदर होता है, प्रत्येक व्यक्तिको स्वतन्त्र, सभ्य जीवनके निर्वाह तथा समाजकी सेवा और नैतिक व सांस्कृतिक उन्नतिका अवसर मिलता है; मानव एकता और बन्धुत्व ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विधान और नीतिके आधार होते हैं, सभी सार्वजनिक कार्योंका लोकतांत्रिक नियन्त्रण होता है और मानवता ही सामाजिक और वैयक्तिक जीवनका आधार होती है। ऐसे समाजमें ही मनुष्यको वास्तविक स्वतन्त्रता हासिल होती है, और उसे वास्तवमें मनुष्यका जीवन व्यतीत करनेका अवसर मिलता है।



आधुनिक अंक-प्रणालीकी उत्पत्ति

डाक्टर अवधीशनारायण सिंह

प्रस्तुत लेखका उद्देश्य पारिभाषिक विशेषताओंसे अनभिज्ञ पाठकोंको, हमारी आजकलकी प्रचलित अंकलिपिके महत्त्वशाली अन्वेषणके इतिहासका, परिचय कराना है। जो अंक-प्रणाली आज हम अपने लड़कोंको सर्वप्रथम सिखाते हैं उसे विकसित और पूर्ण होनेमें कई शताब्दियां लगी हैं। यद्यपि इसका आविष्कार और प्रयोग हिन्दुओंकी कुछ गणित-पुस्तकोंमें ईसाकी प्रथम शताब्दिमें ही मिलता है किन्तु भारतवर्षमें जनसाधारणके बीच इसका प्रचलन ईसाकी छठी शताब्दितक नहीं हुआ था। इस संबंधमें ध्यान देनेकी विशेष बात यह है कि यूरोपमें यह प्रणाली अरबोंके प्रभावके कारण बारहवीं शताब्दिके बाद अपनायी गयी और व्यापक रूपसे प्रयोगमें यह सत्रहवीं शताब्दिमें आयी। यूरोपमें इस अंक प्रणालीका नाम 'अरबअंक' दिया गया यद्यपि अरबोंने इसे 'हिन्दसा' नाम दिया है जिससे उसका उत्पत्ति-संबंधी संकेत मिलता है।

किसी आविष्कारका उत्पत्ति-कालसे इतिहास लिखना और युगान्तरमें उसकी गतिविधिको परखना बहुत महत्त्वपूर्ण और कठिन कार्य है। खोजकी ओर अभिरुचि विशाल मानव-परिवारके सदस्य होनेके नाते हमारे स्वभाव और गठनमें अन्तर्निहित है। कोई वस्तु जो किसी समय मानव विचारको आकर्षित करती है, वह उसके लिए सदैव ही प्रिय और रुचिकर बनी रहती है। यह आकर्षण विशेषतया हमारी जातिके उत्कृष्ट और प्रतिभाशाली मनीषियोंके महत्त्वपूर्ण अन्वेषणों और आविष्कारोंके लिए लागू होता है। आधुनिक समस्त विज्ञानोंमें गणित-शास्त्र प्राचीनतम है और इसने सभ्यताकी उन्नति एवं ज्ञानकी विविध धाराओंके विकास पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। प्राचीनतम इसलिए है कि इसके मूल सिद्धान्त मनुष्य-स्वभावमें नैसर्गिक रूपसे विद्यमान हैं। मेरा विश्वास है कि शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपनी विचार शक्तियोंका प्रयोग कर सकता है यदि वह यह न जानता हो कि "वे वस्तुएं जो किसी एक ही वस्तुके समान हैं परस्पर एक दूसरेके बराबर होती हैं", अथवा "एक और दो में क्या अन्तर है।" फिर भी गणित-शास्त्र जिस ऊंचाई तक आज पहुंचा हुआ है उस ऊंचाई तक अनवरत रूपसे ले जाने वाली सीढ़ीकी ये प्रारंभिक श्रेणियां हैं।

अंक-लेखनकी इस आधुनिक-प्रणालीको जिसमें ९ अंकों और शून्य चिन्हका प्रयोग होता है, विज्ञानके सभी इतिहासकारोंने मानव-बुद्धिका एक महत्त्वपूर्ण, उत्कृष्टतम और अनोखा आविष्कार माना है।

न केवल गणना-शास्त्रके विकास में वरन् निश्चित निष्कर्ष देने वाले सभी यथार्थ विज्ञानों एवं सभ्यताकी सामान्य प्रगतिमें अंक-लेखनका वही महत्त्व है जो पहियेके आविष्कारका कलसंचालित यन्त्रोंमें है। हम भारतवासियोंके लिए गर्वका विषय है कि यह आविष्कार भारतवर्षमें ही हमारे पूर्वजों द्वारा किया गया था। इसने हिन्दुओंके लिए एक पक्का मार्ग निर्मित कर दिया जिसपर गणित संबंधी खोजोंकी प्रगति अभूतपूर्व तीव्रतासे हुई और जिसके परिणामस्वरूप १५वीं शताब्दि तक अंक और बीज-गणितमें हिन्दू समस्त संसारमें अग्रगामी रहे यद्यपि राजनीतिक उथल-पुथलके कारण भारतवर्षकी वैज्ञानिक उन्नति बहुत पहले अवरुद्ध हो चुकी थी। हमें पूर्ण आशा है कि एक बार फिर वैज्ञानिक उन्नतिमें भारतवर्ष संसार को मार्ग दिखायेगा और यह अवसर बहुत शीघ्र ही आना चाहिये।

अंकलिपि, विशेषतया उसके स्थानीय-मानसे हम इतने अधिक परिचित हो गये हैं कि इसके पूर्ण महत्त्वको समझनेमें हम उसी प्रकारसे विमुख रहते हैं जैसे आजकलके युवक मोटर, वायुयान, रेडियो इत्यादिकी महत्ता पर ध्यान नहीं देते। कोई व्यक्ति अंक-प्रणालीका महत्त्व तभी हृदयंगम कर सकता है जब गणित-शास्त्रमें उसने दक्षता प्राप्त कर ली हो और उसकी उन्नति एवं विकासके अध्ययनमें ध्यान लगाना हो। यह समझनेकी बात है कि आधुनिक गणित-शास्त्रका भवन उसीकी नींव पर खड़ा है।

आधुनिक अंक-प्रणालीके आविष्कारके पूर्व संसारके समस्त राष्ट्र इकाइयों, दहाइयों इत्यादिके लिए विभिन्न चिन्होंका प्रयोग करते थे। जैसे इकाइयोंके लिए ९ चिन्ह और दहाईयोंके लिए दस, बीस, तीस इत्यादि ९० तकके लिये ९ चिन्ह, सैकड़ों तथा हजारोंके लिए अलग-अलग ९ चिन्ह प्रयोगमें थे। इस प्रकार एक हजार और उसके आगेके अंकोंको लिखनेके लिए बहुतसे अंक-चिह्नोंका प्रयोग होता था। इस प्रकारके चिन्ह अब भी रोमन में प्रचलित हैं जो घड़ियों और कभी कभी पुस्तकोंके मुख पृष्ठोंपर लिखे हुए पाये जाते हैं।

स्थानीय-मान वाले चिन्होंका सौंदर्य यह है कि विश्वकी संपूर्ण जनसंख्याके समान बड़ी संख्याको हम केवल दस अंकचिन्हों द्वारा किसी पुस्तककी आधी पंक्तिमें लिख सकते हैं। समुद्र तटके बालूकण, केवल इतना ही नहीं सृष्टिके अणुमात्र कुछ ही पंक्तियोंमें अंकित किये जा सकते हैं। ९ अंक और एक शून्य चिह्नके प्रयोग मात्रसे यह चमत्कार दिखाया जा सकता है। कैसा आश्चर्य है? इन दस अंक चिह्नोंमें शून्य-चिह्नका, जो अभाव सूचक है, अत्यधिक महत्त्व है। इस शून्य-चिह्नका प्रयोग उक्त प्रणालीमें एक अंकके रूपमें होता है और इसको एक मूर्त्त महत्त्व, शक्ति और पद प्राप्त है। हिन्दू दर्शन-में इस सृष्टिकी उत्पत्ति शून्यसे मानी गयी है जिसे 'शून्याकाश'के नामसे संबोधित किया गया है। जिस प्रकार हिन्दू मस्तिष्क द्वारा ऐसा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत प्रस्तुत किया गया उसी प्रकार हिन्दू मस्तिष्क

ही था जो गणितमें शून्यकी धारणाकी सृष्टि कर सका और इसे केवल एक ठोस मूल्य ही प्रदान नहीं किया वरन् उसे एक असीम शक्ति भी देदी।

इन चिह्नोंके स्थानीय मानका विकास बोल-चालमें संख्याओंके प्रयोगके परिणाम स्वरूप हुआ। उदाहरणके लिए—यदि एक रुपया दस आने और एक आना दस पाइयोंके बराबर है तो एक रुपया दो आना और तीन पाई बिना रुपया आना पाईकी संज्ञाके ही १२३ अंकोंसे सरलताके साथ अंकित किये जा सकते हैं। ३ अपनी इकाई-स्थानपर होनेके कारण पाई, २ दहाईमें होनेके कारण आने और १ सैकड़ोंके स्थानपर होनेके कारण रुपयेका द्योतक है। ठीक यही बात अंकोंके साथ हुई। एक सैकड़ा, दो दस और तीन अलग अलग कहनेकी अपेक्षा १२३ को क्रमसे लिखने ही से अंकमान स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वे अंक विभिन्न स्थानोंमें अपना अलग-अलग महत्त्व रखते हैं। स्थानीय मानकी भावना हिन्दू दर्शनसे ही ली गयी है। हिन्दू दर्शनका यह एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तुका मूल्य उसके आस-पासकी वस्तुओंके साथ उसके संबंध और विश्वमें उसकी अपेक्षाकृत स्थिति द्वारा निश्चित किया जाता है। हमारे हिन्दू पूर्वजही एसी दार्शनिक भावनाका अंक-लिपिमें उपयोग करनेकी क्षमता रखते थे।

अंकोंके स्थानीय मानके विकासके संबंधमें अभी कुछ समय पूर्वतक वादाविवाद था। इस आविष्कारका श्रेय हिन्दुओं, युनानियों, अरबों, तिब्बतियों आदिको दिया जाता था किन्तु नवीनतम खोजोंने यह निस्संदेह रूपमें स्थापित कर दिया है कि वर्तमान अंक-लिपिके आविष्कारक भारतीय ही हैं। किसी आविष्कारके संबंधमें किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्रका स्वत्व स्थापित करनेके लिए दो बातोंका होना आवश्यक है। प्रथम इस बातका कि उस आविष्कारकी उन लोगोंको आवश्यकता थी और दूसरे यह कि वह आविष्कार उस व्यक्ति अथवा राष्ट्र द्वारा सर्व प्रथम प्रयोगमें लाया गया था। हिन्दुओंको एक संक्षिप्त अंक प्रणालीकी ईसाकी शताब्दियोंके पहलेसे ही आवश्यकता थी। यह हिन्दू, बौद्ध, जैन धर्म, दर्शन और साहित्यसे सिद्ध हो जाता है। जबकि संसारके दूसरे राष्ट्र दस हजारकी संख्यासे अधिकका प्रयोग नहीं करते थे बुद्धने ईसाके एक शताब्दि पूर्व लिखे हुए 'ललित विस्तार'में एक एसी संख्या बतायी है जो हमारी आधुनिक प्रणालीके ५४ स्थान घेरेगी। जैन दार्शनिकोंने २५६ तककी संख्या तकका निर्देश किया है। यह संख्या सृष्टिके अणुओंकी संख्यासे भी बड़ी है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दूओंको जो अपने धर्म और दर्शन ग्रन्थोंमें इतनी बड़ी-बड़ी संख्याओंका प्रयोग करते थे, अन्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा वैज्ञानिक अंकोंकी अधिक आवश्यकता थी।

शून्यका प्राचीनतम उल्लेख ईसाके दोसौ वर्ष पूर्वकी रचना पिंगलके 'छन्द-सूत'में है। शून्य-चिन्हका प्रयोग संस्कृत नाटक 'वासवदत्ता'में अनुरूपताके ढंग पर हुआ है। वायु, अग्नि और विष्णु

पुराणों द्वारा भी स्थानीय मानवाले चिह्नोंका प्रयोग प्रमाणित है। पातञ्जलि 'योगसूत्र'के 'व्यास-भाष्य'में स्थानीय मानकी अनुरूपताको देनेके बाद कहा गया है—वही संख्या इकाईके स्थान पर एक, दहाई पर दस और सैकड़ेके स्थान पर सौ होती है। ऐसा ही कथन शंकराचार्यके 'शारीरक भाष्य'में पाया जाता है।

हिन्दुओंके प्राचीनतम उपलब्ध गणित और ज्यौतिषशास्त्र सम्बन्धी रचनाओंमें 'बखशाली हस्त-लिखित ग्रन्थ' (ईसाकी तीसरी शताब्दिमें लिखा गया), 'आर्य-भटीय' (५वीं शताब्दि) 'पञ्चसिद्धान्तिका' (छठी शताब्दि) आदिमें स्थानीय मानवाले चिन्होंका प्रयोग मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणोंका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि आधुनिक अङ्क-प्रणाली ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें भारतमें प्रचलित और प्रयोगमें थी और इसका आविष्कार ईसाकी दूसरी शताब्दि पूर्वके लगभग हो गया था।

अङ्क-प्रणालीकी हिन्दू-उत्पत्तिके सम्बन्धमें दूसरा सबल प्रमाण यह है कि इन अङ्कोंका प्रयोग ईसाकी छठी शताब्दी और इसके बादके भारतीय शिलालेखों और ताम्रपत्रोंमें बराबर मिलता है। प्राचीनतम शिलालेखोंमें जो ५९५ ई० का है, इनका उल्लेख हुआ है। इसके पश्चात् ६४६, ६७४, ७२५, ७३६, ७५३ ईसवीके शिलालेखोंसे भी इसका प्रमाण मिलता है। मेरी सम्मतिमें शिलालेखोंमें इन संख्याओंके प्रयोगसे स्पष्ट है कि यह प्रणाली जनताकी संपत्ति बन गयी थी और छठी, सातवीं शताब्दिके पश्चात जनता इसको भलीभांति जान गयी थी। उस कालमें उस प्रणालीका प्रयोग भारतवर्षमें ही नहीं वरन् पूर्वमें हिन्दचीन, सुमात्रा और पश्चिममें सीरिया तक हो गया था जैसा कि आधुनिक खोजोंसे अब स्पष्ट है।

हिन्दू-राजा श्रीविजयके सुमात्रामें पालेमबंग और हिन्दचीनमें संबोरमें पाये जानेवाले शिला-लेखोंकी तिथि ६०५ शकसंवत् अर्थात् ६८३ ई० है। इन शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि हिन्दुओंने ७वीं शताब्दि तक हिन्दचीनमें विजय प्राप्तकर अपनी संस्कृतिका प्रचार किया था। वे अपने साथ उस अङ्क-प्रणालीको भी ले गये जिसका प्रयोग वे भारतवर्षमें करते थे।

पश्चिममें इस अङ्क-प्रणालीका प्राचीनतम उल्लेख सीरियाके एक विद्वान् सरवेरुस सेबोख्तकी एक हस्तलिखि रचनामें जो ६६२ ई० की है, मिलता है। इस रचनाके नीचे दिये हुए उद्धरण द्वारा स्पष्ट है कि अङ्कप्रणालीका आविष्कार हिन्दुओंने ही किया और इसकी प्रसिद्धि ७वीं ई० के प्रारम्भमें फरातके किनारे तक पहुंच चुकी थी।

इस उद्धरणका अनुवाद यह है :—

"सीरी जातिसे सर्वथा भिन्न हिन्दुओंके विज्ञान एवं गणित-ज्योतिषके सूक्ष्म अनुसन्धान, जो

यूनानियों और बेबीलोनियोंके अनुसन्धानोंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और उनका गणित जो वर्णनातीत है, उसके विषयमें कोई विवाद नहीं उठाऊंगा। मुझे केवल इतना ही कहना है कि समस्त गणना केवल ९ चिह्नों द्वारा ही की गयी है। इन बातोंका पता पानेपर उन लोगोंको भी जिन्हें यूनानी भाषाभाषी होनेके कारण ऐसा विश्वास हो गया है कि वे ही विज्ञानकी चरम सीमा पर पहुंचे हुए हैं, यह मानना होगा कि उनसे इतर अन्य लोग भी कुछ जानते हैं।"

प्राचीन अरबी लेखकोंने भी अङ्कलिपिकी हिन्दू उत्पत्तिका समर्थन किया है। इनमें इब्न वहशीय (८५५ ई०), जहीज (८६० ई०) और अब्दुल अल-मसूदी (९४३ ई०) उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार सब प्राचीन प्रमाणों द्वारा अङ्क-प्रणालीकी हिन्दू-उत्पत्तिकी पुष्टि होती है। संसारका कोई राष्ट्र ईसाकी ८वीं-९वीं शताब्दिके पूर्व अङ्कलिपिके स्थानीय मानके उदाहरण नहीं दे सकता। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं कि हिन्दू ही इस अङ्क-प्रणालीके आविष्कारक थे। संसार हमारे पूर्वजों—ऋषियोंका ऋणी है जिन्होंने बौद्धिक अन्वेषणोंमें ही अपने जीवनका उत्सर्ग किया और वे ऐसी महत्त्वपूर्ण सिद्धिकी देन हमारे लिए छोड़ गये हैं। जिनके सुन्दर फलोंका उपभोग आज सारा संसार कर रहा है और सदैव करता रहेगा।



श्रीधराचार्य

श्री बलदेव मिश्र

नवीं शताब्दीमें श्रीधराचार्य नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध गणितज्ञ भारतवर्षमें हुए हैं। आजकलके हाई स्कूलके बीजगणितमें एक वर्ग मध्यमाकरण (काडरेटिव इक्वेशन) की सिद्धिमें श्रीधराचार्यकी विशेष रीति लिखी हुई मिलती है। श्रीधराचार्यकी लिखी हुई 'त्रिशतिका' या 'पाटीसार'के अन्तमें किसी-किसी पुस्तकमें एक श्लोक लिखा हुआ मिलता[1] है जिसका अर्थ है कि 'उत्तरमें हिमालय, दक्षिणमें मलय पर्वत, पूर्व-पश्चिममें समुद्र इतने बड़े भूखण्डमें श्रीधरसे बढ़कर दूसरा गणितज्ञ नहीं है।' इससे श्रीधराचार्यके महत्वका पता चलता है। महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदीने १८८५ ई० में इनकी 'त्रिशतिका'को प्रकाशित करायी थी। लखनऊ विश्वविद्यालयके गणितके अध्यापक श्री अवधीश नारायण सिंहको श्रीधर की 'बड़ी पाटी' भी मिली है परन्तु अभीतक उनके बीजगणितकी प्रति प्राप्त नहीं हुई है। श्रीधराचार्यका बीजगणित बहुत बड़ा था यह तो स्पष्ट भास्कराचार्यके लेखसे ही मालूम पड़ता[2] है और उनकी जो रीति आजकलके अङ्गरेजी बीजगणितोंमें पायी जाती है उसके प्रकाशक भी भास्कराचार्य ही हैं। उन्होंने बड़े आदरसे अपने बीजगणितमें श्रीधराचार्यकी इस रीतिका उल्लेख किया[3] है।

श्रीधराचार्यका ज्यौतिप-सिद्धान्तपर भी कोई ग्रन्थ अवश्य था क्योंकि प्राचीन गणकोंका मुख्य विषय ज्यौतिप-सिद्धान्त ही था। इसलिए पाटीगणित और बीजगणितपर श्रीधरके ग्रन्थके प्रमाण मिलनेसे ही यह अनुमान होता है कि उनका सिद्धान्त-ग्रन्थ भी अवश्य था। भास्कराचार्यने अपने ज्यौतिप-सिद्धांत ग्रन्थ 'गोलाध्याय'में बड़े आदरसे श्रीधराचार्यका उल्लेख किया है परन्तु जिस प्रसङ्गमें उल्लेख किया है वह गणित सम्बन्धी ही है इसलिए दृढ़ताके साथ सिद्धान्त-ग्रन्थका होना प्रमाणित नहीं होता। उन्होंने

१—उत्तरतो हिमनिलयं दक्षिणतो मलयपर्वतं यावत्।
प्रागपरोदधिमध्ये नो गणकः श्रीधरादन्यः॥

२—ब्रह्माह्वयश्रीधरपद्मनाभबीजानि यस्मादति विस्तृतानि।
आदाय तत्सारमकारि नूनं सद्युक्तियुक्तं लघु भास्करेण॥

३—तथा च श्रीधराचार्य सूत्रम्।
चतुराहतवर्गसमै रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्।
अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्तौ पक्षौ ततो मूलम्॥

'गोलाध्याय'में यही लिखा[1] है कि "श्रीधराचार्य ब्रह्मगुप्त आदि आचार्योंने 'व्यासवर्गको दशसे गुणकर मूल लेनेसे परिधिका मान होता है, ऐसा जो लिखा है वह परिधिके मानको सुविधासे लानेके लिए ही कहा है। इससे यह अर्थ नहीं है कि वे इस स्थूलताको नहीं जानते थे।" भास्कराचार्यने सूक्ष्म प्रकारसे परिधिका मान बतलाया है परन्तु इन आचार्योंकी स्थूल रीति देखकर यह कहते हैं कि वे लोग भी सूक्ष्म रीतिको जानते थे किन्तु स्थूल रीति गणित करनेमें सुविधाकी दृष्टिसे कही गयी है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्तसे पहले श्रीधराचार्यका नाम लेते हैं। इससे भी श्रीधराचार्यमें विशेष गौरवका आरोप होता है। श्रीधराचार्यका ज्यौतिष फलित विषयक ग्रन्थ भी है, यह केशवाचार्य की 'जातकपद्धति'से मालूम होता[2] है। केशवकी 'जातकपद्धति' पर दिवाकर दैवज्ञकी 'प्रौढ़मनोरमा' नामकी एक बहुत अच्छी टीका है जो १६२५ ई० में लिखी गयी थी उस टीकामें फलित विषयक श्रीधरका एक वचन उद्धृत[3] है तथा उन्होंने श्रीपति और श्रीधराचार्य दोनों गणकोंके विभिन्न मतोंका विचार कर श्रीधराचार्यके मतको ही युक्तियुक्त बतलाया है और उन्हींके मतके प्रामाण्यमें एक युक्ति यह भी दी है कि श्रीधराचार्य श्रीपतिसे पुराने[4] हैं। इस प्रकार फलित ज्यौतिषमें भी श्रीधराचार्यकी विशेषता सिद्ध होती है। इस प्रकार श्रीधराचार्य त्रिस्कन्ध ज्यौतिषके ज्ञाता थे। फलित, गणित, सिद्धान्त तीनों विभागोंके वेत्ता थे। इसीहेतु उनकी इतनी प्रशंसा है कि इतने बड़े भूखण्डमें उनसे बढ़कर ज्यौतिषी दूसरा कोई नहीं था।

१—यत् पुनः श्रीधराचार्यैः ब्रह्मगुप्तादिभिर्व्यासवर्गाद्दशगुणात् पदं परिधिः स्थूलोऽप्यङ्गीकृतः स सुखार्थम्। नहि ते न जानन्तीति। गोलाध्याय, भुवनकोष श्लोक ५२, टीका।

२—श्रेष्ठं रिष्टहर्तौ दशाक्रम् इहौजः श्रीधरादयोदितं।
कष्टेष्टघ्नबलान्तरात् क्व च कृतं तदयुक्तिशून्यं त्वसत्॥ —केशवी ३२ श्लोक।

३—तथा च श्रीधरः—'वर्गनाथान्विचिन्त्यादौ सौम्यपापान्हिताहितान्।
नीचोच्चगांस्तथान्यांश्च शोधयेत्तान् परस्परम्'॥
अत्र समस्यार्धमित्रत्वार्धशत्रुत्वेन हिताहितत्व साम्यात्समो न गणनीय इति प्रोचुः।

४—यतु श्रीपतिनेष्टकष्ट गुणितबलयोरन्तराद्दलमित्युक्तं तत्र यतस्तथा सति रिष्टकरस्य भङ्गकरस्य वा बलपूर्ण पदोच्चचेष्टाबलयोगो रूपं तद्दष्टेकष्टबलयोः साम्यात्तदन्तरबले शून्ये सर्वबलस्य शून्यत्वात् षड्बलपूर्णोऽपि ग्रहो रिष्टहर्त्ता रिष्टकर्त्ता वा न स्यात्। स्वप्राचीन श्रीधराचार्यविरोधश्च। अन्यान्यपि दूषणानि श्रीकेशवप्रणीत-टीकातोऽध्यवसेयानीति संक्षेपः। —जातकपद्धतिकी ३२ श्लोककी टीका।

वराह मिहिराचार्य एक ऐसे ज्यौतिषी हुए हैं जिनका ग्रन्थ कोरा, जातक और ज्यौतिष सिद्धान्तमें प्राप्त है किन्तु उनका कोई ग्रन्थ गणित विषयमें नहीं है। श्रीधराचार्यके यद्यपि सब ग्रन्थ अभी प्राप्त नहीं हैं तथापि वे त्रिस्कन्ध ज्यौतिषके ज्ञाता थे यह सिद्ध हो जाता है; अतएव अपने समयमें यह एक बड़े ज्यौतिषी थे इसमें संशय नहीं।

श्रीधराचार्यका समय

भास्कराचार्यने, जो द्वादश शताब्दीके प्रारंभमें हुए हैं, श्रीधराचार्यके सूत्रोंका उल्लेख किया है, इससे जान पड़ता है कि श्रीधराचार्य भास्कराचार्यसे पहले हुए थे। षोड़श शताब्दीके प्रारंभके दिवाकर दैवज्ञका कथन है कि श्रीधराचार्य श्रीपतिसे पुराने हैं। 'स्वप्राचीन श्रीधराचार्य विरोधश्च' इस वाक्यसे यह स्पष्ट है। श्रीपतिका समय दसम शताब्दीका अन्त है इसलिये उसके पूर्व श्रीधराचार्यका समय है। श्रीपति भी अपने समयके बहुत बड़े ज्यौतिषी हुए हैं। ज्योतिषसिद्धान्तमें सिद्धान्तशेखर नाम का इनका विशिष्ट ग्रन्थ हालमें ही उपलब्ध हुआ है जिसे एशियाटिक सोसाइटीने दो जिल्दोंमें प्रकाशित किया है। दोनों गणितज्ञ एक समयके नहीं हैं इसलिए यदि दोनोंमें एक शताब्दीका भी अन्तर माना जाय तो श्रीधराचार्य नवम शताब्दीके सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त श्रीधराचार्यके समयका दूसरा प्रमाण यह है कि 'गणितसार संग्रह' नामक गणित ग्रन्थके रचयिता महावीर जैनसे भी श्रीधराचार्य प्राचीन हैं। महावीर जैनका समय नवीं शताब्दीका मध्य स्थिर हो चुका है। श्रीधराचार्य उनसे प्राचीन हैं इसलिये श्रीधरका समय नवम शताब्दीका प्रारम्भ या अष्टम शताब्दीका अन्त हो सकता है।

भारतके प्रमुख ज्यौतिषी आर्यभट्ट पांचवीं शताब्दीमें थे, वराहमिहिर छठीमें, ब्रह्मगुप्त सातवीमें थे; श्रीपति आठवीं शताब्दीके हो सकते हैं क्योंकि श्रीधर ब्रह्मगुप्तसे पीछेके मालूम पड़ते हैं यद्यपि भास्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें ब्रह्मगुप्तके सदृश ही श्रीधराचार्यका आदर किया है। किन्तु ब्रह्मगुप्तकी अपेक्षा श्रीधरने गणित-विषयमें नवीन बातें कहीं हैं, इस कारण वे ब्रह्मगुप्तसे पीछे के ही हो सकते हैं। यद्यपि श्रीधराचार्यका बीजगणित उपलब्ध नहीं है। किन्तु उनके बीजगणितकी दो विशेष रीतियां उपलब्ध हुई हैं। एक तो एकवर्ण मध्यमाहरणकी रीति जो 'श्रीधरमेथड' कहकर प्रसिद्ध है। दूसरी रीति यह है कि 'वर्ग चाहे ऋण पदार्थका हो या धन पदार्थका वह धन ही होता है।' उसका मूल धन-ऋण दोनों होता है और ऋणका मूल नहीं होता।' श्रीधरकी इस रीतिको महावीरने अपने 'गणित सार संग्रह' में लिया[१] है।

१—धनं धनर्णयोर्वर्गो मूले स्वर्णे तयोः क्रमात्। ऋणं स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मान्न तत्पदम्॥
—गणितसार संग्रह पृ० ६ श्लो० ५६।

'गणितसारसंग्रह' के अन्य सूत्रोंको तथा श्रीधराचार्यकी त्रिशतिकाके सूत्रोंके पर्यवेक्षणसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि महावीरने बहुत कुछ श्रीधरसे ही लिया है। दोनों ग्रन्थोंमें सदृश प्रकार देखनेसे यद्यपि यह संशय हो सकता है कि श्रीधराचार्यने ही महावीरके ग्रन्थसे लिया होगा परन्तु इस प्रकारका संशय न करनेका दो कारण हैं—एक, यदि कोई किसीसे कोई चीज लेता है तो उसे कुछ नवीनताके साथ ही अपनाता है। ज्योंका त्यों रहने नहीं देता। यह बात महावीरमें है। उसने श्रीधरके प्रकारोंको अलंकृत करके रखा है। दूसरा कारण यह है कि जैन लोगोंने स्वच्छन्दता पूर्वक अजैन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंको पढ़ा है तथा उनका विवेचन किया है किन्तु अजैन विचारके लोग जैन ग्रन्थोंको नहीं पढ़ते थे इसलिए यह संभव नहीं है कि श्रीधरने महावीर जैनसे कुछ लिया हो। अतएव महावीरसे प्राचीन होनेके कारण श्रीधराचार्यका समय अष्टम शताब्दी या नवम शताब्दीका प्रारंभ हो सकता है।

श्रीधराचार्यके ग्रन्थोंका लोप

आज श्रीधर जैसे बड़े ज्यौतिषीका केवल एक ग्रन्थ पाटीसार (त्रिशतिका) ही उपलब्ध है। उनके अन्य ग्रंथ प्राप्त नहीं हैं। इसका कारण क्या है, यह स्वभाविक जिज्ञासा होती है।

दशम शताब्दी तक जितने भी बड़े ज्यौतिषी हुए वे सब उत्तर भारतमें ही हुए। आर्यभट्ट पटनाके रहनेवाले थे, ऐसा उन्होंने अपने आर्यभटीयमें स्पष्ट ही कहा है[1]। वराहमिहिर मगधके निवासी थे ऐसा वराहमिहिरके टीकाकार दशम शताब्दीके भट्टोत्पलने अपनी टीकामें लिखा है। सप्तम शताब्दीके ब्रह्मगुप्त रीवांके रहनेवाले थे; और सम्भवतः श्रीधर भी उत्तर भारतके ही थे। जैनमतका प्रचार मगधसे ही हुआ इसलिए महावीर जैनने भी उत्तर भारतीय श्रीधराचार्यके ग्रन्थका ही अनुकरण किया। इस प्रकार पाँचवी शताब्दीसे लेकर दशम शताब्दी तक—श्रीपतिके समय तक ज्योतिषका प्रसार उत्तर भारतमें रहा। बारहवीं शताब्दीके प्रारंभसे—भास्कराचार्यके समयसे इस ज्योतिष शास्त्रका प्रसार दक्षिण भारतमें होने लगता है। प्रतिभाशाली साहित्य शास्त्र निपुण भास्कराचार्यका जन्म १११२ ई०में सह्य पहाड़के किनारे हुआ। बारहवीं शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दी तक ज्यौतिष सिद्धान्त गणितका प्रचार दक्षिण देशमें ही रहा और वहां भास्करके अतिरिक्त रङ्गनाथ, मुनीश्वर, नृसिंह, गणेश, कृष्ण, विष्णु, मल्लारि, कमलाकर, ज्ञानराज, बापूदेव सदृश बड़े बड़े ज्योतिषके दुर्द्धर्ष विद्वान् उत्पन्न हुए। उन्नीसवीं शताब्दीमें पुनः यह विद्या उत्तर भारतको लौटी—और नीलाम्बर झा, चन्द्रशेखर सामन्त एवं सुधाकर द्विवेदी सदृश विद्वानोंने उत्तर भारतमें जन्म लिया और अपनी पूर्व संपत्ति (थाती) को लौटाया।

१—आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्॥ —आर्यभटीयम्।

भास्कराचार्यके ग्रन्थ गणित और सिद्धान्त दोनों विषयपर बड़े लोकप्रिय हुए। इसके दो मुख्य कारण हैं—प्रथम, भास्कराचार्यने सभी प्राचीन ज्यौतिष सिद्धान्तोंको पढ़कर उनका सार ग्रहण किया और उसमें अपनी विशिष्ट बुद्धि और प्रतिभासे नवीन विषयका समावेश किया और उनकी व्याख्या और उपपत्तियां स्वयं लिखीं। लोकप्रिय होनेका दूसरा कारण यह हुआ कि उन्होंने अपने ग्रन्थोंको इतने सुन्दर प्राञ्जल भाषा और छन्दोंमें लिखा है जो काव्य साहित्यका आनन्द देते हैं। उन्होंने तीसरी बात, भास्कराचार्य की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्वाचार्योंकी चर्चा बड़े प्रेम और गौरवके साथ की है। अगर वे अपने ग्रन्थोंमें श्रीधराचार्यका नाम न लेते, उनकी रीतियोंको न लिखते तो आज श्रीधराचार्यको कदाचित् ही कोई जानता। भास्कराचार्यकी यह बहुत बड़ी उदारता है कि उन्होंने अपने पूर्वाचार्य आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, श्रीपति, श्रीधर, वटेश्वर, मुञ्जाल, चतुर्वेदाचार्य, आदि आचार्योंके नाम बड़े आदरके साथ लिये हैं और यदि किसीका खण्डन भी किया है तो वह शिष्टता तथा नम्रताके साथ किया है। फलतः भास्करके ग्रन्थोंने सभी प्राचीन ग्रन्थोंको दबा दिया। तात्पर्य यह है कि अनेक शताब्दियों तक गणित ज्योतिषका प्रचार दक्षिण भारतमें रहनेके कारण उत्तर भारतमें गणित ज्यौतिषका पठन-पाठन रुक गया। फलतः उत्तर भारतके आचार्योंके ग्रन्थ भी दुष्प्राप्य हो गये—श्रीधराचार्यके ग्रन्थ लोपका यही कारण हो सकता है।

श्रीधराचार्यकी ही कौन बात, ब्रह्मगुप्त ऐसे विद्वान्के भी ग्रन्थ लुप्त थे। यूरोपीय विद्वान् कोलब्रुकने अपने विद्याप्रेमके कारण सबसे पहले ब्रह्मगुप्त के गणित अंशका अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया पश्चात् महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदीने ब्रह्मगुप्तके समस्त ग्रन्थ—ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त पर, अपनी टीका लिख कर प्रकाशित कराया। (इसमें एक ही खेदकी बात हुई कि इस ग्रन्थ पर चतुर्वेदाचार्यकी बड़ी पुरानी टीका थी, उस टीकाको बड़े श्रमसे महामहोपाध्यायजी ने लण्डनसे मंगवाया था और उसकी सहायता ली थी। किन्तु उसे उन्होंने प्रकाशित नहीं करायी इस प्रकार उस विशिष्ट टीकाका लोप ही समझना चाहिये)। भारतको महोमहोपाध्यायजीका अति कृतज्ञ होना चाहिये कि ब्रह्मगुप्त का ही नहीं अन्य प्राचीन कृतियों का भी उन्होंने शोधन किया उनपर सुन्दर टीकायें लिखीं और उन्हें प्रकाशित किया। पुनः आशा की जाती है कि अब ज्यों ज्यों देशमें विद्याका प्रेम बढ़ रहा है, प्राचीन विद्वानोंके ग्रन्थोंकी खोज होनेसे अन्य छिपे हुए ग्रन्थ भी प्रकाशमें आ जायेंगे और उनसे संसारका उपकार होगा।

स्वाधीन भारतका आदर्श और नीति

डाक्टर भीखन लाल आत्रेय

भारतके दीर्घकालीन जीवनमें अनेक अन्धेरी रातें और प्रकाशवान् दिन आये और चले गये। इस समय हम परतन्त्रता, विवशता और दीनताकी एक महान् अन्धेरी रातके समाप्त प्रायः समयसे गुजर रहे हैं और अवश्य उस स्वातंत्र्य-दिवसके अरुणोदयके पूर्वकी ऊषाका अनुभव कर रहे हैं—जिस दिन यह वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और अनुभव वृद्ध भारत, फिर एक बार जगकर पृथ्वीतलके अन्य देशोंका गुरु और नेता बनकर संसारमें शान्ति सुख और समृद्धिकी स्थापना करेगा। यह काल हमारा ब्राह्म मुहूर्त है, जिसमें हम सदासे ब्रह्म-स्मरण पूर्वक आनेवाले कृत्योंपर विचार करते हैं।

जाति और व्यक्ति दोनों हीके जीवनमें प्रत्येक दिन नवीन दिन है; उसकी समस्यायें अपूर्व और नवीन होती हैं, और उनका हल भी अपूर्व और नवीन रीतिसे हुआ करता है। जीवनकी धारा सतत् और सनातन होते हुए भी पगपग पर नवीन रूप लिया करती है। हमारा प्राचीन इतिहास और हमारे प्राचीन रीति और रिवाज, तथा वे ग्रन्थ जिनमें उनका उल्लेख है, केवल इस बातके द्योतक हैं कि हमने भूतकालमें समुपस्थित कठिनाइयोंका सामना किस प्रकार किया, और अपनी निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थियोंमें किस प्रकार आचरण किया है। पर बिना हमारे स्वयं समयानुसार विचार किये इतिहास और शास्त्र हमें अपने वर्तमान कर्तव्यका उचित रीतिसे ज्ञान नहीं करा सकते। अपनी जातिके इस महान् ऊषाकाल और ब्रह्म मुहूर्तमें हमको ही स्वयं, अपने इतिहास और प्राचीन शास्त्रों द्वारा अपनी नैसर्गिक प्रतिभाका ज्ञान रखते हुए, अपनी वर्तमान और भविष्यकी समस्याओंपर, अपनी परिस्थियोंको भली भांति समझते हुए विचार पूर्वक किसी निश्चित कार्यक्रमपर कटिबद्ध होना होगा। क्षण क्षण पर परिस्थितियां बदला करती हैं, और विशेषतः आजकलकी दुनियामें तो क्षण क्षण पर महती घटना घटती और नवीनतर समस्याएं हमारे सामने उपस्थित कर रही हैं। ऐसे शीघ्र परिवर्तनशील कालमें हमको बहुत जागरूक, विचारशील और सक्रिय होनेकी आवश्यकता है। हमारे किसी विचारवान पूर्वजने ठीक ही कहा है—

कः कालः कामि मित्राणि को देशः कौ व्यागमौ।
कोऽहं काच मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

अर्थात्—कैसा समय है? कौन हमारे मित्र (और शत्रु) हैं? देशकी क्या अवस्था है? हमारी आय और व्यय क्या है? हम कौन हैं? और हमारी शक्ति क्या है? इस प्रकारकी बातों पर क्षण क्षण पर विचार करते रहना चाहिये।

सभी भारतीयोंका कर्तव्य

आज इस देशके सामने अनेक जटिल प्रश्न हैं, जिनको हल करना प्रत्येक विचारवान् भारतवासीका कर्तव्य है। हमारे नेता और महापुरुष बड़ी व्यग्रतासे इस विचारमें लगे हुए हैं, और इस कार्यमें वे इतना व्यग्र हैं कि उनको न दिनमें चैन है और न रातमें नींद मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतके इतिहासमें कभी भी हमारे भूतकालीन नेताओं (ऋषियों) को इतना सोचना नहीं पड़ा होगा, जितना कि हमारे आधुनिक समयके नेताओं और द्रष्टाओं, पूज्य मालवीय, महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल आदिको सोचना पड़ा और पड़ रहा है। कर्मयोगियोंमें अग्रगण्य भगवान् कृष्णके जीवनमें हमारे आधुनिक नेताओंकी कठिनाइयोंकी कुछ झलक दिखाई पड़ती है।

वर्तमान जगतकी समस्यायें केवल नेताओंकी ही समस्याएं नहीं हैं, वे प्रत्येक स्त्री और पुरुषकी समस्यायें हो गयी हैं। आज जो कुछ संसारके राजनैतिक, व्यापारिक तथा विचार क्षेत्रमें होता है, उससे प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है। संसारके किसी कोनेकी उथल-पुथल प्रत्येक प्राणी पर कुछ न कुछ प्रभाव डाले बिना नहीं रहती, आजकी दुनिया कलकी दुनियासे बिलकुल ही भिन्न है। विमानोंकी यात्रा, सिनेमा, रेडियो और दैनिक समाचार पत्रोंने पृथिवी-मण्डलको, सारे मनुष्य समाजका एक छोटा सा घर बना दिया है। इस घरमें अब कोई बात किसीसे छिपी नहीं रहती और प्रत्येक घटनाका असर सभीके ऊपर पड़ता है और सभी एक दूसरेके दुःख-दर्दमें शरीक रहते हैं। ऐसी स्थितिको समझते हुए पुनः जागरित भारतको अपने आदर्शों और अपने तरीकों और अपने भविष्यके कार्य-क्रमोंपर भलीभांति विचार करना होगा। जीवनका प्रधान लक्षण यही है कि वह परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार नवीन प्रतिक्रियायें करता रहे। जिस प्राणीमें बदली हुई परिस्थितियों और देश और कालके आवश्यकतानुसार प्रतिक्रिया करनेकी शक्ति नहीं होती, वह प्राणी जीवित नहीं मृत है। आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते हुए भी जो अपने आपको स्थिर या कायम रख सके—वही जिन्दा है—जीवित है। अमेरिकाके विद्वान् विचारक डाक्टर जे० बी० प्रैटने अपने एक बहुमूल्य निबन्ध—(सम्प्रदायोंका अन्त क्यों)? 'व्हाइ रेलिजन्स डाइ'में दिखलाया है कि संसारमें उत्पन्न हुए अनेक सम्प्रदायोंका ह्रास और अन्त केवल इस कारण हुआ कि वे बदलती हुई आवश्यकताओंके अनुसार अपनेको नहीं ढाल सके। रूढ़ियोंको उन्होंने अपना अविच्छेद्य अङ्ग समझकर अपना नाश कर लिया। डाक्टर प्रैटके मतके अनुसार केवल वैदिक धर्म संसारमें अभी तक इसलिए जीवत है कि इसने उन सनातन सिद्धान्तोंको अपनी आत्मा माना है, जिसे सदा और सर्वत्र ही मनुष्य अपनायेगा, और केवल उन्हें अपनाकर उसने अपने बाकी सभी सिद्धान्त रीति-रिवाज पूजा-पाठ आदिको समय समय पर आवश्यकतानुसार बदल और त्याग दिया

था। हमारा इतिहास इस बातका साक्षी है कि हमारी सतत प्रवाहवाली सभ्यता और संस्कृतिने समय समय पर कैसा परिवर्तित रूप ग्रहण किया। अपनी आध्यात्मिकताको सदा अटल और अचल रखते हुए हम सदा नवीन वेशमें जगतके सामने जीवित और जागृत रूपमें उपस्थित होते चले आये हैं। क्या पृथिवी-मण्डलके और किसी समाजको इस बातका गौरव प्राप्त है? आज भी यदि हम अपनत्वके इस महामंत्रका त्याग न कर यथा समय अपनेको परिवर्तनशील बनाते रहें और वर्तमान तथा भविष्यकी आवश्यकताओंको समझकर अपना कार्यक्रम निश्चित करें तो संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमको नष्ट कर सके। हमारे राष्ट्रीय कवि इक़बालने ठीक कहा है—

यूनान, मिश्र रोमा सब मिट गये जहांसे।
बाकी अभी तलक है नामो निशां हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमां हमारा॥

हमारा कर्तव्य क्या हो ?

अब विचारणीय बात यह है कि इस समय जबकि भारतवर्ष स्वाधीनताके मन्दिरमें प्रवेश करने ही वाला है, हमारे राष्ट्रीय आदर्श क्या होने चाहिये। आज जब दुनिया भारत को स्वतंत्र राष्ट्र मानने को तैयार है और हम भारतवासी भी यह उत्तरदायित्व ग्रहण करनेको उत्सुक हैं; और जब हमारी यह उच्चाकांक्षा है कि हम फिर एक बार जगद्गुरुकी पदवीको प्राप्त करें, हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने आदर्शों और लक्ष्योंका पुनरावलोकन कर लें। हमारा अस्तित्व जिस उद्देश्यके लिए है वह हमें पूरा करना है; और अब समय आगया है कि हम अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिए उसको भली भांति समझलें।

भारतवर्ष और संसारकी प्राचीनतम सभ्य जातियोंने दूसरे देशों पर विजय पाकर उनको पद दलित कर उनकी सम्पत्ति, उनकी स्त्रियों और उनकी भूमिका अपहरण करना अपना आदर्श कभी नहीं बनाया था। भारतकी सबसे बड़ी विजय संसारमें सभ्यता, ज्ञान और धार्मिक भावनाका प्रचार करनेमें ही रही है। भगवान बुद्ध और उनके अनुयायियों तथा उनसे भी पूर्वके ऋषियोंने संसार भरमें जीवनको सुखमय, आनन्दमय और शान्तिमय बनानेका संदेश भेजा था। हमारे पुरातनतम ऋषियोंने अपने सामने यह उद्देश रखा था; और यही उनका नारा भी था।

सभी भारतीयोंका कर्तव्य

आज इस देशके सामने अनेक जटिल प्रश्न हैं, जिनको हल करना प्रत्येक विचारवान् भारतवासीका कर्तव्य है। हमारे नेता और महापुरुष बड़ी व्यग्रतामें इस विचारमें लगे हुए हैं, और इस कार्यमें वे इतना व्यग्र हैं कि उनको न दिनमें चैन है और न रातमें नींद मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतके इतिहासमें कभी भी हमारे भूतकालीन नेताओं (ऋषियों) को इतना सोचना नहीं पड़ा होगा, जितना कि हमारे आधुनिक समयके नेताओं और द्रष्टाओं, पूज्य मालवीय, महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल आदिको सोचना पड़ा और पड़ रहा है। कर्मयोगियोंमें अग्रगण्य भगवान् कृष्णके जीवनमें हमारे आधुनिक नेताओंकी कठिनाइयोंकी कुछ झलक दिखाई पड़ती है।

वर्तमान जगतकी समस्यायें केवल नेताओंकी ही समस्याएं नहीं हैं, वे प्रत्येक स्त्री और पुरुषकी समस्यायें हो गयी हैं। आज जो कुछ संसारके राजनैतिक, व्यापारिक तथा विचार क्षेत्रमें होता है, उससे प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है। संसारके किसी कोनेकी उथल-पुथल प्रत्येक प्राणी पर कुछ न कुछ प्रभाव डाले बिना नहीं रहती, आजकी दुनिया कलकी दुनियासे बिलकुल ही भिन्न है। विमानोंकी यात्रा, सिनेमा, रेडियो और दैनिक समाचार पत्रोंने पृथिवी-मण्डलको, सारे मनुष्य समाजका एक छोटा सा घर बना दिया है। इस घरमें अब कोई बात किसीसे छिपी नहीं रहती और प्रत्येक घटनाका असर सभीके ऊपर पड़ता है और सभी एक दूसरेके दुःख-दर्दमें शरीक रहते हैं। ऐसी स्थितिको समझते हुए पुनः जागरित भारतको अपने आदर्शों और अपने तरीकों और अपने भविष्यके कार्य-क्रमोंपर भलीभांति विचार करना होगा। जीवनका प्रधान लक्षण यही है कि वह परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार नवीन प्रतिक्रियायें करता रहे। जिस प्राणीमें बदली हुई परिस्थितियों और देश और कालके आवश्यकतानुसार प्रतिक्रिया करनेकी शक्ति नहीं होती, वह प्राणी जीवित नहीं मृत है। आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते हुए भी जो अपने आपको स्थित या कायम रख सके—वही जिन्दा है—जीवित है। अमेरिकाके विद्वान् विचारक डाक्टर जे० बी० प्रैटने अपने एक बहुमूल्य निबन्ध—(सम्प्रदायोंका अन्त क्यों)? 'व्हाइ रेलिजन्स डाइ'में दिखलाया है कि संसारमें उत्पन्न हुए अनेक सम्प्रदायोंका ह्रास और अन्त केवल इस कारण हुआ कि वे बदलती हुई आवश्यकताओंके अनुसार अपनेको नहीं ढाल सके। रूढ़ियोंको उन्होंने अपना अविच्छेद्य अङ्ग समझकर अपना नाश कर लिया। डाक्टर प्रैटके मतके अनुसार केवल वैदिक धर्म संसारमें अभी तक इसलिए जीवत है कि इसने उन सनातन सिद्धान्तोंको अपनी आत्मा माना है, जिसे सदा और सर्वत्र ही मनुष्य अपनायेगा, और केवल उन्हें अपनाकर उसने अपने बाकी सभी सिद्धान्त रीति-रिवाज पूजा-पाठ आदिको समय समय पर आवश्यकतानुसार बदल और त्याग दिया

था। हमारा इतिहास इस बातका साक्षी है कि हमारी सतत प्रवाहवाली सभ्यता और संस्कृतिने समय समय पर कैसा परिवर्तित रूप ग्रहण किया। अपनी आध्यात्मिकताको सदा अटल और अचल रखते हुए हम सदा नवीन वेशमें जगतके सामने जीवित और जागृत रूपमें उपस्थित होते चले आये हैं। क्या पृथिवी-मण्डलके और किसी समाजको इस बातका गौरव प्राप्त है? आज भी यदि हम अपनत्वके इस महामंत्रका त्याग न कर यथा समय अपनेको परिवर्तनशील बनाते रहें और वर्तमान तथा भविष्यकी आवश्यकताओंको समझकर अपना कार्यक्रम निश्चित करें तो संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमको नष्ट कर सके। हमारे राष्ट्रीय कवि इक़बालने ठीक कहा है—

यूनान, मिश्र रोमा सब मिट गये जहांसे।
बाक़ी अभी तलक है नामो निशां हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमां हमारा॥

हमारा कर्तव्य क्या हो?

अब विचारणीय बात यह है कि इस समय जबकि भारतवर्ष स्वाधीनताके मन्दिरमें प्रवेश करने ही वाला है, हमारे राष्ट्रीय आदर्श क्या होने चाहिये। आज जब दुनिया भारत को स्वतंत्र राष्ट्र मानने को तैयार है और हम भारतवासी भी यह उत्तरदायित्व ग्रहण करनेको उत्सुक हैं; और जब हमारी यह उच्चाकांक्षा है कि हम फिर एक बार जगद्गुरुकी पदवीको प्राप्त करें, हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने आदर्शों और लक्ष्योंका पुनरावलोकन कर लें। हमारा अस्तित्व जिस उद्देश्यके लिए है वह हमें पूरा करना है; और अब समय आगया है कि हम अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिए उसको भली भांति समझलें।

भारतवर्ष और संसारकी प्राचीनतम सभ्य जातियोंने दूसरे देशों पर विजय पाकर उनको पद दलित कर उनकी सम्पत्ति, उनकी स्त्रियों और उनकी भूमिका अपहरण करना अपना आदर्श कभी नहीं बनाया था। भारतकी सबसे बड़ी विजय संसारमें सभ्यता, ज्ञान और धार्मिक भावनाका प्रचार करनेमें ही रही है। भगवान बुद्ध और उनके अनुयायियों तथा उनसे भी पूर्वके ऋषियोंने संसार भरमें जीवनको सुखमय, आनन्दमय और शान्तिमय बनानेका संदेश भेजा था। हमारे पुरातनतम ऋषियोंने अपने सामने यह उद्देश रखा था, और यही उनका नारा भी था।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'

'विश्वको अर्थात् संसार भरको आर्य बनाओ।' आर्य शब्दका अर्थ जाति विशेष अथवा संप्रदाय विशेष से नहीं था। आर्यका अर्थ था—सभ्य और सज्जन, जैसा योग वासिष्ठके इन वाक्योंसे प्रकट होता है—

कर्तव्यमाचरन्काममकर्त व्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारोयः सआर्य इति स्मृतः॥ —यो० वा० ६।१।१२६।५४।
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्तेयः सआर्य इतिस्मृतः॥ (५५)

'जो मनुष्य उचित इच्छाओंको पूरा करता है और अनुचितको नहीं; और जिसका आचरण प्रकृतिके नियमोंके अनुकूल होता है, वही आर्य कहलाता है। जो व्यक्ति शास्त्र, सदाचार, स्वविचार और परिस्थितिके अनुकूल आचरण करता है, वही आर्य है। मनुष्यको आर्य बनानेका अर्थ उसको सभ्य बनाना है, उसको बर्बरता और पशुतासे ऊपर उठाना है।

पशुता, बर्बरता और मनुष्यत्व, वा आर्यत्वमें केवल इतना ही अन्तर है कि जहां पशु और बर्बर दोनों अपनी इच्छाओं और अपने भावोंके गुलाम हैं, वहां सच्चा मनुष्य और आर्य अपनी इच्छाओं और भावोंको अपने वशमें रखता है। वह संयम और नियम द्वारा अपनी इच्छाओं, नैसर्गिक प्रवृत्तियों और भावोंको अपना गुलाम बनालेता है, और उनका उपभोग करते समय समाजके नियमों, अपने उच्च आदर्शों और परिस्थितियोंका स्मरण रखते हुए ऐसा कोई कार्य नहीं करता जो दूसरोंको हानिकर हो आर वह दूसरोंके प्रति वैसाही व्यवहार करना चाहता और करता है जैसा वह अपने प्रति दूसरोंसे आशा करता है।

आर्यधर्म अर्थात् आर्योंका 'शेवा' या तरीका यही है जैसा व्यास जीने महाभारतमें कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रति कूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत्तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

'धर्मका सार सुनो, सुनकर उसपर चलो। वह यह है कि जो व्यवहार अपने प्रति कराना नहीं चाहते हो वह दूसरोंके प्रति न करो और जो जो अपने लिए सोचते हो वही दूसरोंके लिए भी सोचो।'

यह है आर्य मार्ग, और इसको व्यवहारमें लाना और इसका संसार भरमें प्रचार करना है भारतका उद्देश्य! भगवान बुद्धने इसी मूल सिद्धान्तके आधारपर अष्टाङ्गिक आर्य मार्गका निर्माण करके

अपने आप और अपने शिष्यों द्वारा संसार भरमें उसका प्रचार कराया था। आज महात्मा गांधी भी उसी आर्य धर्मका सत्य और अहिंसाके रूपमें संसारको व्यावहारिक उपदेश दे रहे हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि भारतके आर्य (अर्थात् वे व्यक्ति जो आर्य धर्मपर स्वयं चलते हों) देश-देशमें जायें और अपने उपदेश और आचरण द्वारा संसारके उन लोगोंकी, जो दूसरोंसे घृणा करते हैं, जो अपनी इच्छाओं, कामनाओंके गुलाम हैं, आर्य अर्थात् सभ्य बनायें। मनुने, जो भारतके ही नहीं संसारके आदि शिक्षक हैं, यही आज्ञा भारतके आर्योंको सदाके लिए दे रखी है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (म० स्मृ० २।२०)

'पृथिवी-मण्डलके सभी मनुष्योंको भारतवर्षमें पैदा हुए ब्राह्मणोंसे अपने-अपने आचरणकी शिक्षा लेनी चाहिये।' भारतके रहनेवाले आर्यों (सभ्य पुरुषों) ने अपनेको केवल भारतीय कभी नहीं माना। उन्होंने मनुष्य मात्रको अपना समझा था, और पृथिवी-मण्डलको अपना घर और सभी प्राणियोंको अपना बन्धुजन समझा था, जैसा कि कहा है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह अपना है, वह पराया है, ये विचार तो क्षुद्र मन वालोंके होते हैं। उदार व्यक्तियोंके लिए तो सारी पृथिवीके निवासी अपने ही कुटुम्बी होते हैं।'

योग वासिष्ठमें वसिष्ठजीने भी रामचन्द्रजीको यही उपदेश दिया था—

"सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बन्धवः।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काचन॥" (५।१८।४६)
अयं बन्धुरयं नेति गणनालघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु विगता वर्णैव धीः॥ (-६१)

'हे राम संसारके प्राणियोंकी जितनी जातियां हैं, वे सभी तुम्हारे भाई-बन्धु हैं, क्योंकि कोई भी जाति ऐसी नहीं है, जो तुमसे किसी प्रकारसे सम्बन्धित न हों। यह मेरा भाई है, और यह नहीं है, यह बात तो क्षुद्र हृदय वालोंकी हुआ करती है। जो उदार आचरण वाले होते हैं, उनकी बुद्धिपर ऐसा परदा नहीं पड़ा होता।

आज हम भारत वासियोंको सबसे पहले स्वतः तथा संसार भरको व्यावहारिक रूपसे यह पाठ पढ़ाना है। मनुष्य मात्रको चाहे वह किसी जाति, किसी सम्प्रदाय, किसी देश, किसी रङ्ग और अवस्था का क्यों न हो—अपना बन्धु समझ कर उसके कल्याणकी भावनाका पाठ जगतको अभी पढ़ना है, और भारतको दोहराना है।

भारतके आगे सदाके लिए उसकी भूमिपर सहस्रों वर्ष पूर्व विचरते हुये आर्योंने पूर्वोक्त आदर्शसे ऊंचा एक और आदर्श यह रक्खा था, और इसको आज भी हम अपना आदर्श बनाकर अग्रसर हो सकते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥

अर्थात्—संसारके सभी लोग सुखी हों, सभी निरोग हों, सभीकी दृष्टिमें संसार सुन्दर हो और दुःख किसीके पास न फटके। सब अपनी-अपनी कठिनाइयोंको हल कर सकें और सबको अच्छे-अच्छे अनुभव हों, सबको समृद्धि प्राप्त हो और जहां-तहां सब लोग प्रसन्न रहें। दुर्जन सज्जन बनें, सज्जन लोग शान्तिसे रहें, और शान्त लोग स्वतन्त्रता प्राप्त करें और जिन्होंने अपने बन्धन काटकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है, वे दूसरोंको स्वतन्त्र करें।

भारतका नारा और नीति

यह केवल इच्छा और प्रार्थनाका उद्गार ही न रह जाये। भविष्यके भारतका यह घोषणा वाक्य (नारा) उसके भावी विधानकी यह नींव और उसके भविष्यके कार्यक्रमकी यह नीति होनी चाहिये। भारतके आर्योंने कभी किसी संप्रदायको बलात् तबदील करानेका, अथवा किसीको अपने मार्ग पर बिना उसकी इच्छाके चलानेका प्रयास नहीं किया। विचार और आचारकी यहां पूर्ण स्वतंत्रता थी और सदा दूसरोंके विचारों और आचारोंकी अवहेलना न करके उनके प्रति आदरका भाव ही रहा। यही नीति

स्वतंत्र भारतकी होनी चाहिये और हमें पूर्ण आशा है कि यही होगी। यहाँ रहनेवाले सभी संप्रदाय, मत और आचार-विचारवालोंको अभय बनाना आर्योंका कर्तव्य है हमें वशिष्ठके इन वाक्योंको कभी नहीं भूलना चाहिये—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्र देश कालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैरारुरुक्षवः॥
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्र पादृशा।
विचित्र देश कालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव॥

(यो० वा० ५।६६।५१।५३)

'जिस प्रकार बहुतसे मुसाफिर नाना देशोंसे आनेवाले नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं, उसीप्रकार सब संप्रदाय एक ही—परमार्थ पदको विभिन्न विभिन्न देश और कालमें, बने मार्गों द्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुंचते हुए वे लोग—परमार्थका किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण, और बहुधा उसका विपरीत ज्ञान होनेके कारण—परस्पर (नाहक) विवाद करते हैं। जिस प्रकार मुसाफिर लोग अपने अपने मार्गको ही सर्वोत्तम समझ बैठे, उसी प्रकार वे भी अपने अपने सांप्रदायिक सिद्धान्तोंकी प्रशंसा करते हैं।'

इतना ही नहीं भारतकी दृष्टि तो सदासे इतनी प्रयोगात्मक रही है कि यहांके लोगोंने सदा ही प्रत्येक संप्रदाय वालोंको यह शिक्षा दी कि यदि उनको अपने मार्गके अनुसार साधना करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, तो उस मार्ग पर चलना ही उनके लिये श्रेयस्कर है, उसको त्यागना और उसको छुड़वाना अनुचित है। वसिष्टने तो योगवासिष्ठमें यहां तक कहा है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥

(यो० वा० ६२।१३०।२)

'जिस मार्ग पर चलनेसे किसीकी सिद्धि होती हो, उसको वह मार्ग छोड़ कर नहीं चलना चाहिये। ऐसा करना न तो उचित है, न सुख देनेवाला है और न भलाई और सफलताको प्रदान करनेवाला है।'

जहां पर सब लोगोंको अपने अपने मतपर चलने की इतनी स्वतंत्रता दी जा सकती है, वहां सबसे यह भी आशा की जाती है कि वे एक दूसरे सम्प्रदायवालों पर किसी प्रकारका आघात न करें।

आततायियोंका दमन

आर्योंका तरीका जहां दूसरोंके ऊपर आघात करनेका नहीं है वहां पशुओं, बर्बर मनुष्यों और दुष्ट आततायियोंके आघातोंसे वीरताके साथ अपनी रक्षा करना भी है। यदि आपके एक गाल पर चपत लगाकर कोई दुष्ट आपका कम्बल छीनले तो आप उसके आगे दूसरे चपतके लिये अपना दूसरा गाल करदें, और अपना कोट भी उसके हवाले करदे—इस प्रकारकी शिक्षा भारतीय आर्योंने कभी नहीं दी। इस प्रकारकी शिक्षा उन लोगोंमें ही प्रचलित है, जो उसका पालन कभी नहीं करते। यहां तो अपने धर्मोपार्जित धन, अपनी मातृभूमि और अपनी सहधर्मिणी स्त्री तथा अपने आश्रित रहनेवाली भगिनी और पुत्री की रक्षा करना प्रत्येक पुरुषका परम कर्तव्य समझा जाता है, और यदि वह इनकी रक्षा करनेमें कायरता दिखलाता है, तो पापका भागी माना जाता है। हमारी भावी शासन-व्यवस्थामें हमारा यह कर्तव्य होगा कि प्रत्येक स्त्री और पुरुषकी दुष्टोंसे रक्षा करे। यदि राज्यके कर्मचारी ऐसा करनेमें असमर्थ हों तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षाके लिये आपही शस्त्र ग्रहण करे। यही आर्य-सिद्धान्त है, और यही स्वतंत्र भारत में—भविष्यमें—भी माना जाना चाहिये।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदार हरश्चैतान् षड्विद्यातातताथिनः॥ (शुक्रनीति)
नाततायि बधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन्।
योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो बधमर्हति॥ (मनु)

'आग लगाने वाला, गुप्त रूपसे विष खिलाने वाला, हथियार लेकर पागल बना हुआ, धनको लूटने वाला, खेत और स्त्रीको बलपूर्वक छीनने वाला—इन छः कामोंमें किसी कामको करने वाला—व्यक्ति आततायी कहलाता है। आततायीको मारकर अपनी रक्षा करनेमें किसीको कोई दोष नहीं लगता। जो किसी कन्याके साथ उसकी इच्छाके विपरीत बलात्कार करता है, उस दुष्टको तो तुरन्त मार डालना चाहिये।

आततायी चाहे किसी भी जाति, संप्रदाय या अवस्थाका हो, उसके साथ यही वर्ताव होना चाहिये। जहां केवल संप्रदाय, जाति और अवस्थाका विचार करके आततायियोंको राज्य अथवा व्यक्ति द्वारा दण्ड नहीं मिलता वहां समाजमें शान्ति और सुरक्षा नहीं रहती। मनुने कहा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन् ॥

'यदि कोई उपर्युक्त प्रकारका आततायी किसीके ऊपर हमला करने आता दिखाई पड़े तो उसे फौरन मार डालना चाहिये, चाहे वह गुरु, बालक, बूढ़ा, ब्राह्मण तथा कोई वेदपाठी पंडित ही क्यों न हो।'

ज्ञानार्जनके प्रति हमारा दृष्टिकोण

भारतवर्ष सदासे ज्ञान और विज्ञानका प्रेमी रहा है, और रहेगा। अन्तर और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल जगत्की घटनाओं तथा पदार्थोंके कारण और स्वभावकी खोजमें लगे रहने वालोंका इसने सदैव सबसे अधिक आदर किया है, और भविष्यमें भी यही इसकी नीति रहेगी। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इस राष्ट्रमें प्रमुख ब्राह्मण अर्थात् दार्शनिक और वैज्ञानिक ही रहे हैं, और रहने चाहिये। हमारे प्राचीन साहित्यके मध्यकालमें विदेशियों द्वारा अत्यन्त विनाश किये जानेपर भी हमारे यहां सब प्रकारकी विद्याओं कलाओं और दर्शनों पर उत्तमसे उत्तम ग्रन्थ मिलते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थोंके 'सम्बन्ध'में भारतके ऋषियों और विद्वानों ने इतनी गवेषणाकी थी और इतने और ऐसे उत्तम ग्रन्थ लिखे थे कि आज भी संसार उनके सामने नत मस्तक है ज्ञान और विज्ञान के प्राप्त करनेमें उन्होंने विदेशियों से भी जो कुछ मिल सका उसका ग्रहण किया। पाश्चात्य देशोंने हमारी अवनति और निद्राके समयमें जो विज्ञानकी महान् उन्नतिकी है, उसे शीघ्रसे शीघ्र अपना कर हमें उससे आगे विज्ञानकी उन्नतिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। और विज्ञानके दृष्टिकोणमें जो त्रुटियां हैं, उनको दूर करनेका प्रयत्न हमारा कर्तव्य है। हमारे पूर्वजोंकी शिक्षा रही है कि "ज्ञान जहांसे मिले वहांसे प्राप्त करो, और युक्तियुक्त, न्याययुक्त और ज्ञानवर्धक शिक्षाको सबसे ग्रहण करो।" हजारों वर्ष पूर्व, जो शिक्षा वशिष्टने रामचन्द्रको दी थी, वही आज ज्ञान और विज्ञानके सम्बन्धमें हमारी नीति होनी चाहिये।

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृण मिव त्याज्य मप्युक्तं पद्मजन्मना ॥
योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयं मिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरःस्थं तं कोनाशास्त्यतिरागिणम् ॥

अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्ति बोधकम् ।
अन्यत्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैक सेविना ॥

(योग वासिष्ठ २।१८।३,४,२)

'युक्तियुक्त (उचित) बात तो बालकसे भी ग्रहण कर लेनी चाहिये, लेकिन युक्ति हीन बातको, चाहे वह स्वयं ब्रह्माके मुखसे ही क्यों न निकली हो, तृणके समान त्याग देना चाहिये। जो अपनी ही वस्तुओंसे अधिक राग रखने वाला व्यक्ति पासही बहने वाले गङ्गाजलको छोड़कर कूएंका, जल इसलिए पीता है कि वह कुआं उसके बापका बनाया हुआ है, वह मूर्ख है, और ऐसे ही लोगोंके ऊपर सब शासन किया करते हैं। जो न्यायके भक्त (सत्यके पुजारी हैं) हैं उनको चाहिये कि जो शास्त्र (ग्रन्थ) युक्तियुक्त हो और ज्ञानकी वृद्धि करने वाला हो, उसका अध्यन करें, चाहे वह किसी साधारण मनुष्यका ही बनाया हुआ हो, और जो शास्त्र इसके विरुद्ध लक्षणों वाला हो (अर्थात् युक्ति रहित और अज्ञान-वर्धक हो, उसको तृणके समान फेंकदें, चाहे वह किसी ऋषिका ही बनाया हुआ क्यों न हो।

स्वतंत्र भारतमें, स्त्रियोंका समाजमें पुरुषोंके समान ही स्थान होना चाहिये। केवल स्त्री होनेसे वे किसी विद्यासे अथवा किसी समाज सेवा या किसी आदरके पदसे वंचित नहीं रखी जा सकतीं। उनमें पुरुषोंके समान ही बुद्धि और प्रतिभा है और वे भी अपने पुरुषार्थ द्वारा पुरुषोंके समान ज्ञान और शक्तिका सम्पादन कर सकती हैं। वे सरस्वती और दुर्गाकी ही स्वरूप हैं। वसिष्ठके शब्दोंमें 'स्त्रियां आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें पुरुषोंसे भी बढ़कर हैं।'

सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वभर्तुः कुलाङ्गना ॥
मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि ।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥
शास्त्रार्थ गुरुमंत्रादि तथा नोत्तरण क्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ॥

(यो० वा० ६।१।१०९।२८।२६।२७)

कुलीन स्त्रियां अपने पतिकी सखा, बन्धु, सुहृद्, सेवक, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, मन्दिर और दास आदि सभी कुछ होती हैं। अच्छे कुलोंकी प्रयत्नशील स्त्रियां पुरुषोंको अनन्त और अनादि गहरे

मोहसे पार कर देती हैं। शास्त्र, गुरु और मंत्र आदिमेंसे कोई भी संसारसे पार उतारनेमें इतना सहायक नहीं होता जितनी कि स्नेहसे भरी हुई अच्छे कुलोंकी स्त्रियां अपने पतियोंको पार उतारनेमें सहायक होती हैं।'

भारतीय दाम्पत्य प्रेमका जो आदर्श हमारे सामने भवभूतिने निम्नलिखित श्लोकमें रखा है वही स्वाधीन भारतमें भी होना चाहिये।

अद्वैत सुखदुःखयो रनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम्
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम्)

'कितना भाग्यवान् वह सज्जन है, जिसने उस एक प्रेमरसको प्राप्त कर लिया है जोकि सुख और दुःखमें एक समान रहता है, जो सब अवस्थाओंमें उनके अनुकूल प्रकट होता है, जिसमें हृदयको शान्ति प्राप्त होती, बुढ़ापेमें भी जिसका स्वाद घटता नहीं; अधिक काल तक एक दूसरे के समीप रहनेके कारण दोनोंके बीचका परदा हट जानेपर भी जो कम नहीं वल्कि गहरा होता चला जाता है।'

समाजिक संघटन

स्वाधीन भारतके समजिक संघटनका आधार जाति व्यवस्था नहीं हो सकती। जाति भेद चाहे जन्मसे ही अथवा कर्मसे हो—भारतसे हमें मिटाना होगा। इसने लाभकी अपेक्षा हमारी बहुत हानिकी है। वर्ण व्यवस्थाके स्थानपर हमको वरण व्यवस्था स्थापित करनी होगी। वरण व्यवस्थासे मेरा मतलब वही है जिसको पाश्चात्य विद्वान वोकेशनल सेलेक्शन, वोकेशनल गाइडेंस, वोकेशनल ट्रेनिंग आदिके नाम से पुकारते हैं। मनोविज्ञानके पण्डितों द्वारा प्रत्येक बालक और बालिकाकी समय समयपर जांच करा कर यह निर्धारित करना कि उसकी नैसर्गिक प्रतिभा किस प्रकारके कामोंकी ओर है और किस प्रकारके कामोंका वह अधिकारी है। उनको उसी प्रकारके व्यवसायके लिये तैय्यार करना यह वरण व्यवस्था है। समाज अपने भिन्न भिन्न कामोंके लिए व्यक्तियोंको रुचि, प्रतिभा और शिक्षाके अनुसार अपना व्यवसाय, बिना किसी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, जातिगत या सम्प्रदायिक बन्धनके चुननेको स्वतन्त्र हो, ऐसी

व्यवस्थाकी जानी चाहिये। प्रत्येक स्थान पर अधिकारी व्यक्ति ही नियुक्त किया जाय और प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार ही काम मिले और सब लोग अपने वरण किये हुए कामोंको भली भांति कर सकें।

स्वाधीन भारतका यह भी कर्तव्य है कि वह प्राचीन आश्रम व्यवस्थाको अपने अनुरूप नये ढांचेमें ढाल कर पुनः जीवित करे। प्रत्येक बालक और बालिकाको २०-२५ वर्ष तक अविवाहित रहकर कमसे कम व्ययमें ऊंचीसे ऊंची विद्या प्राप्त करनेके साधन प्राप्त हों। राज्यका कर्तव्य होना चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे इस ब्रह्मचर्य (विद्या सम्पादन) कालमें किसी बालक और बालिकाको बिना विद्या या कलाके अभ्यासके कालयापन न करना पड़े या कमाने खानेके लिए विद्याभ्यास त्यागना न पड़े। प्रत्येक बालक और बालिकाको ऊंचीसे ऊंची विद्या प्राप्त करनेका हक और अवसर हो।

विद्यालयोंमें उन सब विद्याओंका स्थान हो जो मनुष्यकी भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें सहायक होती हैं। पूर्ण मनुष्योंको, न कि उसके एक अङ्गको, शिक्षित करनेका प्रयत्न किया जाय। गृहस्थाश्रम या विवाहित जीवनका ऐसा रूप बनाया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने कुटुम्बके पालनके निमित्त २१-२५ वर्षसे लेकर ५५-६० वर्षकी आयु तक, ६० से लेकर ७५ या ८० वर्ष तक समाजके ऋणोंको चुकानेके निमित्त समाजिक, राजनीतिक और नैतिक आदि संस्थाओंकी निष्काम सेवा करें। यही प्राचीन कालका वानप्रस्थ होगा, पर उसे वानप्रस्थाश्रम न कह कर समाजसेवाश्रम कहना उचित होगा। ७५-८० वर्षकी आयुमें, जब मनुष्योंकी शक्ति क्षीण होने लगे और विचारोंमें जड़ता आ जावे, स्मरणशक्ति, देखने, सुनने और विचार करनेकी शक्ति कम हो जावे—मनुष्य सन्यास वृत्ति ग्रहण करे। और समाज और राज्य उनकी सुख सुविधाकी व्यवस्था करे। हम आशा करते हैं कि भावी स्वाधीन भारतमें सामाजिक और आर्थिक जीवनकी ऐसी ही सुव्यवस्था होगी। और यह देश और समाजके लिए मंगलकारी होगा।

कर्मवाद

(बौद्धागमके अनुसार)

आचार्य नरेन्द्रदेव

जीवलोक और भाजनलोककी विचित्रता ईश्वरकृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है जिसने बुद्धि पूर्वक इसकी रचना की हो। लोक-वैचित्र्य कर्मज है। यह सत्वोंके कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म दो प्रकारका है—चेतना और चेतयित्वा कर्म। चेतना मानसकर्म है। चेतना से जो उत्पन्न होता है अर्थात् चेतयित्वा कर्म (चेतनाकृत) वह अन्य दो कर्म हैं—कायिक और वाचिक। इन तीन प्रकारके कर्मोंकी सिद्धि आश्रय, स्वभाव और समुत्थान, इन तीन कारणोंसे होती है। यदि हम आश्रयका विचार करते हैं, तो एक ही कर्म ठहरता है क्योंकि सब कर्म काय पर आश्रित हैं। यदि हम स्वभावका विचार करते हैं, तो वाक्कर्म ही एक कर्म है, अन्य दोका कर्मत्व नहीं है क्योंकि काय, वाक् और मनस्, इन तीनमें से केवल वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि हम समुत्थानका विचार करते हैं, तो केवल मनस्कर्म है क्योंकि सब कर्मोंका समुत्थान मनसे है।

सब कर्म उपचित[1] (संचित कर्म-क्रियमाणानि कर्माणि, आरब्धफलानि कर्माणि) नहीं होते। वही कर्म उपचित होता है जो स्वेच्छासे या बुद्धिपूर्वक (संचिन्त्य) किया जाता है। अबुद्धिपूर्वक कर्म, बुद्धिपूर्वक सहसाकृत कर्म, या वह कर्म जो भ्रान्तिवश किया जाता है, उपचित नहीं होता। भाष्याक्षेपसे अभ्यासवश जो मृषावादका अनुष्ठान होता है, वह अकुशल कर्म है, किन्तु वह उपचित नहीं होता। जो पाषाण देनेकी इच्छासे अव्याकृत[2] चित्त से सुवर्ण पिंड देता है, उसका कर्म उपचित नहीं होता। जो भ्रान्तिवश अपने पिता का बध करता है, वह उपचित कर्म नहीं करता।

जैन कर्मको पौद्गलिक (=भौतिक) मानते हैं। उनका मत है कि अबुद्धिपूर्वक किये काय-कर्मका भी समापत्व है। उनके अनुसार यदि प्राणातिपात अबुद्धिपूर्वक किया गया हो तब भी कर्ताको अधर्म होता है, यथा अग्नि-स्पर्शसे दाह होता है। इस दृष्टान्तसे जब कोई अबुद्धिपूर्वक परस्त्रीका दर्शन या संस्पर्शन करता है, तो उसके लिये पापका प्रसंग होता है। जो निर्ग्रन्थका शिरोलुञ्चन करता है उसके पापका प्रसंग होता है। निर्ग्रन्थ-शास्ताका अधर्म-प्रसंग होता है क्योंकि वह कष्ट—तपकी देशना करते हैं। उस

अन्न-दाताका भी अधर्म-प्रसंग होता है जिसके अन्नसे निर्ग्रन्थको विषूचिका होती है और उसका मरण होता है। माता और गर्भस्थ जो अन्योन्य दुःखके निमित्त हैं, पापके भागी होंगे। बध्यके लिये भी अधर्म-प्रसंग होगा क्योंकि वह प्राणातिपात-क्रियासे अधिष्ठान या विषयके रूपमें सम्बद्ध है : यथा, अग्नि अपने आश्रयका दाह करती है। दूसरी ओर, जो दूसरेसे बध कराता है, उसके अधर्मका प्रसंग न होगा क्योंकि जब दूसरेसे अग्निका स्पर्श कराते हैं, तो उसका स्वयं दाह नहीं होता। क्योंकि जैन बुद्धि-विशेषकी अपेक्षा नहीं करते इसलिये अचेतन काष्ठादि द्रव्यके लिये प्राणातिपातके पापका प्रसंग होता है जब गृह-पातसे प्राणियोंका बध होता है। बौद्ध कहते हैं कि यदि आप इन दोषोंका परिहार चाहते हैं, तो आपको मानना होगा कि अहेतुक दृष्टान्त मात्रसे—अग्नि दृष्टान्तसे—आपके अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये बौद्ध कहते हैं कि बल या छलसे परस्वीकृतका आदान तभी अदत्तादान है जब जिसके द्रव्यका वह अपहरण करना चाहता है उसके विषय में उसे संज्ञा-विभ्रम नहीं होता।

शुद्ध मानसिक कर्म

१. कायिक-वाचिक कर्मके बिना ही मानसकर्म अपने अभीष्टकी प्राप्ति कर सकता है। दण्डकारण्यादिकी कथा है कि ऋषियोंके मनः प्रदोषसे वह निर्जन हो गये। उनके कोपसे दण्डकादि शून्य हो गये और महाजनका व्यापाद हुआ। यह मानसकर्मकी गुरुताको सिद्ध करता है। अतः भगवत् कहते हैं कि तीन दण्डों (कायदण्ड, वाग्दण्ड, मनोदण्ड—दण्ड=कर्म) में मनोदण्ड महासावद्य है और सर्व सावद्योंमें (आपोंमें) मिथ्यादृष्टि सर्वपापिष्ठ है। ऋद्धिमान् चेतोवशिप्राप्त श्रमण या ब्राह्मणकी चेतनाका बड़ा सामर्थ्य है।

२. मानसकर्म कभी अभिध्यादिमें रुचि है। सूत्रके अनुसार तीन मनोदुश्चरित हैं—अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि[३]। सौत्रान्तिक मत है कि यह तीन मनस्कर्म हैं क्योंकि संचेतनीय सूत्रमें इनको कर्म कहा है। सौत्रान्तिक चेतनाको मनस्कर्म नहीं मानते। वैभाषिक कहते हैं कि उनका मत भ्रान्त है। अभिध्या स्वभावतः कर्म नहीं है क्योंकि अभिध्या परस्वके स्वीकरणकी विषम स्पृहा है। विषम उपायोंसे, अन्यायसे, बलसे या छलसे परस्वके स्वीकरणकी स्पृहा अभिध्या है। अतः यह क्लेश है। किन्तु क्लेश कर्म नहीं है। मनस्कर्म चेतनामात्र है। अतः अभिध्या कर्म नहीं है किन्तु कर्मपथ है। यह चेताख्य कर्मका पथ है। वास्तवमें जो चेतना इससे संप्रयुक्त होती है, वह अभिध्याकी गतिसे वाहित होती है क्योंकि अभिध्या-बलसे इसके अनुरूप यह अभिसंस्करण करती है।

इसी प्रकार व्यापादकी योजना करनी चाहिये। इसी प्रकार कुशल छन्द (२ कार्यकी इच्छा अभिप्रेत वस्तुके प्रति अभिलाष), विरति और वैराग्यकी योजना करनी चाहिये। जो चेतना वैराग्यके

अनुरूप अभिसंस्करण करती है वह योगी को अमुक अमुक धातुसे विरक्त करती है। वह चेतना महत्-फलकी देनेवाली है जिसके योगसे योगी समापत्ति[४]से विरक्त होता है, जिसके योगसे यह संप्रधारण कर कि यदि सर्वसंज्ञा अकुशल है तो संज्ञाका अभाव भी मूढ़ता है, वह 'नैवसंज्ञा ना संज्ञायतन'[५] की ओर अभिमुख होता है। इस चेतनासे योगी भवाग्र[६]में ८४००० कल्पकी आयुका लाभ करता है।

मैत्री भावना भी एक चेतना है या चेतना सन्तति है। मैत्री भावनामें कोई प्रतिग्राहक नहीं होता, परानुग्रह नहीं होता, तथापि मैत्री-चित्तके बलसे ही उसके लिये पुण्यका उत्पाद होता है। मैत्री-चित्तमें रुचिका होना ही मानस-कर्म है।

३. मिथ्यादृष्टि या सम्यक्-दृष्टिमें अभिनिवेशको भी चेतना कहते हैं। जिस चेतनाकर्मसे पुद्गल पुनर्भव और कर्मफलकी अपवादिका मिथ्यादृष्टिमें अभिनिविष्ट होता है, वह चेतना है।

इसी प्रकार भगवद्देशनाको श्रवण कर कि सर्व दुःख है, मैं उसमें श्रद्धा उत्पन्न करता हूं, मैं उसमें अभिनिविष्ट होता हूं, अन्तमें मेरी इस देशनामें रुचि होती है और मैं इस दुःख-सत्यका साक्षात्कार करता हूं। यह सब चेतनाख्य कर्म है।

कायकर्म—वाक्कर्म

१. स्थविरवादियोंके अनुसार सब कर्मचेतना मात्र हैं। मानसकर्म शुद्ध चेतना है। काय-वाक्-कर्म वह चेतना है जो काय और वाक्को समुत्थित करती है। 'कायकर्म' से अभिप्राय 'काय द्वारा विज्ञापन' से नहीं है किन्तु एक कायसंचेतना से है। यह संचेतना कायसे सम्बन्ध रखती है और कायको इङ्गित, प्रेरित करती है। सर्वास्तिवादियोंके अनुसार कायकर्म चेतनाकर्मसे समुत्थापित होता है। यह चेतयित्वा कर्म है। यदि प्राणातिपातकी चेतना नहीं है (मानस कर्म) तो प्राणातिपात (कायकर्म) नहीं है किन्तु प्राणातिपात प्राणातिपातकी चेतनासे अन्य है। यह एक चेष्टाविशेष है, कायसन्निवेश विशेष है जिससे सत्वके जीवनका अपहरण होता है। यही वाक्कर्मके लिए है। वाग्ध्वनि, वाग्विज्ञापन चेतनाकृत हैं, किन्तु यह चेतनासे भिन्न है।

२. ऋषियोंकी शुद्ध चेतनासे ही फल होता है, किन्तु सामान्यतः फलप्राप्तिके लिये चेतनाको काय और वाक् का समुत्थान करना होता है।

शत्रुके प्राणातिपातकी चेतना और शत्रुका प्राणातिपात एक नहीं हैं। यदि मैं शत्रुका बध करता हूं, तो मैं उसका अधिक अपकार करता हूं; यदि मैं उसका केवल उपघात करता हूं तो कम अपकार करता हूं। मेरे द्वेषका भाव प्राणातिपातसे दृढ़ और सबल होता है। मानसिक पूजा और भक्तिसे मेरी

चित्त-सन्तति वासित होती है, किन्तु यदि मेरी भक्ति सक्रिय हो तो मेरा पुण्य अधिक हो। चार पुद्गल* (व्यक्ति) 'ब्राह्म पुण्य'का प्रसव करते हैं वह एक कल्प भर स्वर्गमें मोदन करते हैं। इसे 'ब्राह्म पुण्य' इसलिए कहते हैं क्योंकि ब्रह्म पुरोहितोंका आयुष्क एक कल्प है। जो अप्रतिष्ठित देशमें तथागतका शारीर स्तूप प्रतिष्ठित करता है, जो चातुर्दिश भिक्षु-संघको आराम-विहार प्रदान करता है, जो भिन्न संघका प्रतिसंधान करता है, वह ब्राह्मपुण्यका प्रसव करता है।

अतः कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्तिका सामर्थ्य चेतनासे पृथक् है।

कर्म परिपूरि—कर्मकी परिपूर्णता, समाप्तता

चेतना क्षणिक है किन्तु पौनः पुन्येन अभ्यासवश और काय-वाग्विज्ञप्तिका समुत्थान करनेसे इसकी गुरुता होती है। अन्य शब्दोंमें बहुचेतना वश कर्मकी गुरुता होती है। अतः परिसमाप्त और असमाप्त कर्ममें विशेष करना चाहिये।

कर्मकी परिपूर्णताके लिए इनकी आवश्यकता है :—

१. प्रयोग अर्थात् यह आशय कि मैं इस-इस कर्मको करूंगा (यह शुद्ध चेतना है। सूत्र इसे चेतना-कर्म कहता है। यहां चेतना ही कर्म है)।

२. मौल प्रयोग—तदनन्तर पूर्वकृत संकल्पके अनुसार कर्म करनेकी चेतनाका उत्पाद होता है। कायके संचालन या वाग्ध्वनिके निःसरणके लिए यह चेतना होती है। इस चेतनावश वह प्रयोग करता है। यथा एक सत्व पशुके मारनेकी इच्छासे अपने शयनसे उठता है, रजत लेता है, आपणको जाता है, पशुकी परीक्षा करता है, पशुका क्रय करता है, उसे ले जाता है, घसीटता है, उसे अपने स्थानपर लाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वह शस्त्र लेकर पशुको एक बार, दो बार प्रहार देता है। जबतक कि वह उसको मार नहीं डालता तबतक प्राणातिपातका प्रयोग रहता है।

३. मौल कर्मपथ—जिस प्रहारमें वह पशुका बध करता है अर्थात् जिस क्षणमें पशु मृत होता है उस क्षणकी जो विज्ञप्ति और उस विज्ञप्तिके साथ सहजात जो अविज्ञप्ति॰ होती है वह मौल कर्मपथ है। दो कारणोंसे वह प्राणातिपातके अवद्यसे स्पृष्ट होता है : प्रयोगतः और (प्रयोगके) फल परिपूरितः।

४. पृष्ठ—इसके अनन्तरके प्राणातिपातसे उत्पन्न अविज्ञप्ति-क्षण 'पृष्ठ' होते हैं, विज्ञप्ति-क्षणकी सन्ततिभी 'पृष्ठ' होती है। यथा पशुके चर्मका अपनयन करना, उसे धोना, तौलना, बेचना, पकाना, खाना, अपना अनुकीर्तन करना।

प्रयोग पूर्वकृत संकल्प और उसके अनुसार कर्म करनेकी चेतनाका उत्पाद है। यह स्वयं दूसरोंका अपकारक है। बधक पशुका बध करनेके पूर्व उसको पीडा पहुंचाता है। प्रयोग स्वयं प्रायः गरिष्ठ अवद्यसे परिपूर्ण होता है। यथा, जब एक पुरुष काम मिथ्याचारकी दृष्टिसे अदत्तादान या प्राणातिपात करता है।

'पृष्ठ' मौल कर्म पथका अनुवर्तन करता है। इसका महत्व है। यदि मैं हत शत्रुके विरुद्ध भी द्वेष करूं तो मैं द्वेष-भावकी वृद्धि करता हूं। जब पृष्ठका सर्वथा अभाव होता है, तो मौल कर्मका स्वभाव बदलता है। यदि मैं दान देकर कौकृत्य (पश्चात्ताप) करूं तो मेरे दानके पुण्य परिमाणमें कमी होती है।

बुद्धिपूर्वक किया हुआ कर्मही कर्म–पथ होता है। चेतनाके बिना कर्म नहीं होता। कर्म या तो चेतना है या चेतनाकृत है। अतः बुद्धिपूर्वक किया हुआ कर्मही कर्म–पथ होता है।

१. कर्म संपन्न करनेमें संज्ञा-विभ्रम

मूषक का बध करनेकी इच्छासे जो संज्ञा-विभ्रमके कारण अपने पिताका बध करता है वह पितृबध का आपन्न (दोषी) नहीं है।

जब कोई पर-परिगृहीताके साथ इस संज्ञा-विभ्रमके कारण संभोग करता है कि वह मेरी स्त्री है तो कर्म-पथ नहीं होता। एक दूसरे वस्तुपर विविध मत हैं।

जब कोई अमुककी स्त्रीको अमुक अन्यकी स्त्री करके ग्रहण करता है तो कर्म–पथ होता है या नहीं ? कुछके अनुसार 'हां', क्योंकि पर-परिगृहीता कर्मके प्रयोगका अधिष्ठान हुई है, पर-परिगृहीताका परिभोग भी है। दूसरोंके अनुसार 'नहीं' जैसा प्राणातिपातमें है जब आश्रयके विषयमें संज्ञा-विभ्रम होता है : प्रयोगकी वस्तु परिभोगकी वस्तु नहीं है।

यदि एक सत्व बध करता है और साथ साथ यह सन्देह करता है कि मैं सत्वको या किसी वस्तु को आघात पहुंचा रहा हूं, मैं अमुकको या किसी दूसरे को मार रहा हूं, तब क्या यह प्राणातिपात है ? इस सत्वको यह निश्चय होता है कि यह निश्चय ही वही है। इस निश्चयके साथ वह उपघात करता है। अतः उसका परित्याग (मारण चि)—चित्त होता है। इस परित्याग–चित्तके कारण उसका कर्म–पथ होता है। सन्दिग्ध होनेपर भी वह निश्चय करता है कि चाहे यह वह हो या अन्य, मैं मारूंगा।

२. प्रयोग और मौलकर्म

प्राणातिपात कर्म–पथके लिये मृत्यु होना आवश्यक है। यदि मैं बधकी इच्छासे किसी पशुका

उपघात करता हूं किन्तु वह मृत नहीं होता तो प्राणातिपात नहीं है। जिस प्रहारसे तत्काल या पश्चात् मृत्यु होती है वह प्रहार प्राणातिपातके प्रयोगमें सम्मिलित है। जिस क्षणमें पशु मृत होता है उस क्षणकी जो विज्ञप्ति और उस विज्ञप्तिके साथ सहजात जो अविज्ञप्ति होती है वह मौलकर्म-पथ है। अतः यदि मैं इस प्रकार प्रहार करूं जिसमें पशुकी मृत्यु हो जाय, और यदि उसकी मृत्यु तत्काल न हो और मैं उस पशुकी मृत्युके पहलेही मृत हो जाऊं तो मैं प्राणातिपातके प्रयोगसे 'स्पृष्ट' होकर मृत होता हूं किन्तु प्राणातिपातके मौल कर्म-पथसे 'स्पृष्ट' नहीं होता क्योंकि जिस क्षणमें मौल-कर्म सम्पन्न होता है मेरी पुनरुपपत्ति होती है, मैं अन्य होता हूं, मैं अब वह आश्रय नहीं हूं जिसने प्रयोग सम्पन्न किया है।

३. प्राणातिपातकी आज्ञापन विज्ञप्ति

प्राणातिपातकी आज्ञा प्राणातिपात नहीं है। प्राणातिपात तभी है जब आज्ञा का अनुसरण हो और वह उसी क्षणमें है जिस क्षणमें आज्ञाके अनुसार कार्य होता है। एक भिक्षु दूसरे भिक्षुसे अमुकका बध करनेके लिए कहता है। वह दुक्कट[९] (आपत्ति) करता है। दूसरा भिक्षु अमुकका बध करता है। उस समय दोनों भिक्षु एक गुरु अवद्यके आपन्न होते हैं। इससे उनकी भिक्षुता नष्ट होती है। द्वितीय भिक्षुको संज्ञाविभ्रम होता है और वह अन्यका बध करता है। उस अवस्थामें प्रथमका एक अपूर्व दुक्कट होता है, द्वितीयका गुरु अवद्य होता है। द्वितीय भिक्षु अमुककी हत्या यह समझकर करता है कि वह अन्य है जिसे वह स्वयं मारना चाहता है। यदि द्वितीय भिक्षु दूसरेका बध यह जानकर करता है कि यह अन्य है तो किसी प्रथम का उत्तरदायित्व नहीं है।

४. पुण्यक्षेत्र

उपकार और गुणके कारण क्षेत्र विशिष्ट होता है। यथा, माताको दिया दान विशिष्ट होता है। यथा, शीलवान्को दान देकर शतसहस्र विपाक होता है। सब दानोंमें मुक्तका मुक्तको दिया दान श्रेष्ठ है। इस प्रकार कर्मोंकी लघुता और गुरुता जाननेके लिए क्षेत्रका भी विचार रखना होता है। जैसे यह अल्प या महत् होते हैं वैसे कर्म भी अल्प या महत् होता है। पितृ-मातृ बध आनन्तर्य[१०] कर्म हैं। आनन्तर्यका आपन्न दृष्टधर्म (इस जन्म) के अनन्तर ही नरकमें प्रतिसन्धि ग्रहण करता है। किसी भिक्षुको दान देना पुण्य है; किसी अर्हत्को दिया गया दान महत् पुण्यका प्रसव करता है। अर्हत्-बध आनन्तर्य कर्म है।

गुणके कारण विशिष्ट आर्य पुण्य-अपुण्य के क्षेत्र हैं। इनमें किया कुशल या अकुशल महत्पुण्य या महत् अपुण्य का प्रसव करता है।

यदि मैं यज्ञदत्त (जो आर्य नहीं है) का बध करने की इच्छा से आर्य देवदत्त की हत्या करता हूं तो मैं आर्यके बधका आपन्न नहीं हूं क्योंकि आश्रयके विषयमें संज्ञाविभ्रम है। किन्तु यदि मैं बुद्धिपूर्वक, बिना भ्रमके, देवदत्तका बध करूं तो मैं आर्यके प्राणातिपातका आपन्न हूं यद्यपि मुझको उनकी आर्यता का ज्ञान न हो।

यदि मैं एक भिक्षुको जो वस्तुतः आर्य है, सामान्य भिक्षु समझ कर दान दूं तो मैं अमित पुण्य का भागी हूंगा। इसके विपरीत जो अपनेसे छोटे भिक्षुका, जिसके अर्हत-गुणकी वह उपेक्षा करता है, पराभव करता है, वह ५०० बार दास होकर जन्म लेता है।

इसीलिए आर्य अरणा समाधि (कोश, ७।३६) का अभ्यास करते हैं जिसमें उनके दर्शनसे किसीमें क्लेशकी उत्पत्ति न हो, जिसमें उनके लिए किसीमें राग, द्वेष, मानादि उत्पन्न न हों। वह जानते हैं कि वह अनुत्तर पुण्यक्षेत्र हैं। उनको भय है कि कहीं दूसरे उनको देखकर उनके विषयमें क्लेश न उत्पन्न करें (जो विशेषकर उनको हानि पहुंचावे)। उनकी अरणा समाधि का यह सामर्थ्य है कि दूसरों में क्लेश उत्पन्न नहीं होता।

अविज्ञप्ति

'विज्ञप्ति' वह है जो काय द्वारा या वाकद्वारा चित्तकी अभिव्यक्तिको 'ज्ञापित' करती है। प्राणातिपात विरतिका समादान (ग्रहण) जिस वाक्यसे होता है वह वाग्विज्ञप्ति है। प्राणातिपातकी आज्ञा अर्थात् 'अमुक का बध करो' वाग्विज्ञप्ति है। काय का प्रत्येक कर्म कायविज्ञप्ति है।

१. जो पुद्गल प्राणातिपातकी आज्ञा देता है वह वाग्विज्ञप्तिका आपन्न है। जिस क्षणमें बधक बध करता है, वह काय विज्ञप्तिका आपन्न होता है, किन्तु हम कह चुके हैं कि प्राणातिपातकी आज्ञा देने वाला उस क्षणमें बध नामक कायिक विज्ञप्तिका आपन्न होता है। जिस क्षणमें उसकी आज्ञाका अनुवर्तन कर बध होता है। इस क्षणमें वह किस प्रकारका कर्म करता है ? उस समय वह अन्य कार्यमें व्यापृत होता है। कदाचित् वह अपनी आज्ञाको भी भूल गया है। वह उस समय पापचित्तसे संप्रयुक्त नहीं है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बधके क्षणमें आज्ञा देनेवालेमें अविज्ञप्ति कर्मकी उत्पत्ति होती है। यह कुछ 'ज्ञापित' नहीं करता, तथापि वह विज्ञप्तिके समान वस्तु-सत् है। यह अविज्ञप्ति कायिक अविज्ञप्ति कहलाती है यद्यपि यह वाग्विज्ञप्ति (प्राणातिपातकी आज्ञापन विज्ञप्ति) से संभूत होती है क्योंकि यह कायविज्ञप्ति (बधकर्म) के क्षणमें उत्पन्न होती है।

२. जिस पुद्गलने प्रातिमोक्ष संवर[११] (विरति) का समादान किया है वह निस्सन्देह अन्यसे

भिन्न है। जिस भिक्षुने प्राणातिपात विरतिका समादान किया है वह उससे कहीं श्रेष्ठ है जो सुअवसर न पानेके कारण प्राणातिपातसे विरत है किन्तु जो अवसर पाने पर बध करेगा। निद्राकी अवस्थामें भी भिक्षु, भिक्षु ही रहता है।

अतः हम स्वीकार करते हैं कि 'मैं प्राणातिपातसे विरत होता हूं' यह वाग्विज्ञप्ति एक अविज्ञप्तिका उत्पाद करती है। यह विज्ञप्तिके सदृश दूसरेको कुछ विज्ञापित नहीं करती। इसका अनुबन्ध है। निद्रामें, समापत्ति[12] और निरोध समापत्तिमें, विक्षिप्त चित्तमें भी इसकी वृद्धि होती रहती है। यह एक सेतु है जो दौःशील्य का प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार जिसका व्यवसाय बध करना है वह सदा प्राणातिपात का अविज्ञप्ति कर्म करता रहता है।

भिक्षुकी अविज्ञप्ति 'संवर' है; बधिककी अविज्ञप्ति 'असंवर' है। व्रतसमादानसे 'संवर' का ग्रहण होता है। प्राणातिपातकी जीविका होनेसे असंवरका ग्रहण होता है। अथवा यदि कोई 'असंवरस्थ'के कुलमें जन्म लेता है या यदि प्रथम बार पाप कर्म करता है तब असंवरका ग्रहण होता है। इसके लिए कोई विधिपूर्वक असंवरका ग्रहण नहीं करता। सदा पाप क्रियाके अभिप्रायसे कर्म करनेसे असंवरका लाभ होता है।

३. क्या कोई बिना कायिक या वाचिक कर्मके, बिना किसी प्रकारका विज्ञापन किये, मृषावादावद्यसे स्पृष्ट हो सकता है? हां, भिक्षु भिक्षु-पोषध[13]में तूष्णीभावसे मृषावादी होता है। वस्तुतः भिक्षु-पोषधमें विनयधर प्रश्न करता है (अनुश्राव्) "क्या आप परिशुद्ध हैं?" यदि भिक्षुकी कोई आपत्ति (दोष) है और वह उसे आविष्कृत नहीं करता और तूष्णीभावसे अधिवासना (अनुमोदन) करता है तो वह मृषावादी होता है।

किन्तु भिक्षु काय—वाक्से पराक्रम (आक्रमण, मारण) नहीं करता। इसलिए विज्ञप्ति नहीं है। और कायावचरी अविज्ञप्ति वहां नहीं हो सकती जहां विज्ञप्तिका अभाव है। इसका समाधान होना चाहिये। संघभद्र समाधान करते हैं। वह कहते हैं कि अपरिशुद्ध भिक्षु संघमें प्रवेश करता है, बैठता है, अपना ईर्यापथ कल्पित करता है। यह उसकी पूर्वविज्ञप्ति है, यह कायिक विज्ञप्ति मृषावाद की वाग् अविज्ञप्ति का उत्पाद उस क्षणमें करती है जिस क्षणमें वह उस स्थानपर खड़ा होता है।

४. केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नहीं हैं। कर्मके परिणामका भी विचार करना होगा। इससे एक अपूर्व कर्म, एक अविज्ञप्ति होती है।

अतः दान का पुण्य दो प्रकार का है: वह पुण्य जो त्यागमात्रसे ही प्रसूत होता है (त्यागान्वय पुण्य) और वह पुण्य जो प्रतिग्रहीता द्वारा दान-वस्तुके परिभोगसे संभूत होता है (परिभोगान्वय

पुण्य)। मैं एक भिक्षुको दान देता हूं। चाहे वह भिक्षु उस दानवस्तुका परिभोग न करे, चाहे वह दिये अन्नको न खाये, तथापि मेरा त्याग (जो विज्ञप्ति है) पुण्यका प्रसव करता है। किन्तु यदि भिक्षु दान-वस्तु का परिभोग करता है और उपकृत हो उसमें समापत्तिमें प्रवेश करने की शक्ति उत्पन्न होती है, तो इससे एक अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है जिसका पुण्य दानकृत अनुग्रहकी मात्रानुसार होता है। कथावस्तु ७।५ में कहा है कि परिभोग मय पुण्यकी वृद्धि होती है।

दैव और पुरातन कर्म

कर्म चेतना तथा चेतनाकृत शरीर चेष्टा और वाग्ध्वनि है। इससे कर्म-स्वातन्त्र्यका स्वभाव प्रगट होता है। कर्म मानस, कायिक और वाचिक है, कर्मके यह प्राचीन भेद हैं, यह भी यही सिद्ध करते हैं।

किन्तु सब इस स्वातन्त्र्यको नहीं मानते। ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर सत्वोंके कर्मोंका विधायक है। नियतिवादी कहते हैं कि दैव जीवको कर्ममें नियोजित करता है, जैसे, वह सुख-दुखका देने वाला है। दैव क्या है ? या तो यह यदृच्छा है: हमारे कर्म अकारण होते हैं, या यह पुरातन कर्म है (बोधिचर्यावतार ८।८१—दैवं पुरातनं कर्म) इस जन्मके हमारे कर्म पूर्वजन्मकृत कर्मोंके फल हैं।

किन्तु यदि हम स्वतंत्र नहीं हैं, तो हम पाप क्रिया नहीं कर सकते और यदि यदृच्छावश, ईश्वरेच्छावश, पुरातन कर्मवश हमारे कर्म होते हैं तो हम स्वतंत्र नहीं हैं।

जातक माला (२३) में निम्न पांच वादोंका निराकरण है, सब अहेतुक है, सब ईश्वराधीन है, सब पुरातन कर्मके आयत्त है, पुनर्जन्म नहीं है, वर्ण धर्मका सबको पालन करना चाहिये।

किन्तु अपने प्रतिवेशीके स्वातंत्र्यमें विश्वास नहीं करना चाहिये। अंगुत्तर (३, ८६) के अनुसार "जब एक भिक्षु किसी सब्रह्मचारीको अपने प्रति अपराध करते देखता है, तो वह विचारता है कि यह 'आयुष्मान्' जो मेरा आक्रोश करता है, पुरातन कर्मका दायाद है।"

बुद्धि और चेतना

हमने कहा है कि कर्म मुख्यतः चेतना है। सर्वास्तिवादियोंके अनुसार छन्द, (= कर्तुकाम्यता या अनागतकी प्रार्थना) मनसिकार (चित्त का आभोग, आलम्बनमें चित्तका आवर्जन, अवधारण) और अधिमोक्ष (आलम्बनका गुणावधारण) चेतनाके सहभू हैं। इनमें व्यायाम, निश्चय और अध्यवसाय जोड़िये। इनमें वितर्क जोड़िये जो छंदके अनंतर उत्पन्न होता है और जो कभी चेतनाका प्रकार विशेष है और कभी प्रज्ञाका प्रकार विशेष है।

सर्वास्तिवादियोंके अनुसार चेतना एक चैत्त है अर्थात् चित्त सहगत धर्म है। किन्तु पंच-विज्ञान (चक्षुर्विज्ञान ... कायविज्ञान) में चेतना अत्यधिक दुर्बल होती है और मनोविज्ञानमें पटु होती है। मनोविज्ञान आलम्बन और आलम्बनका नाम दोनों जनता है। यह मनोविज्ञान है जो चक्षुर्विज्ञान से अभिसंस्कृत हो वर्णोंकी ओर प्रवृत्त होता है आर इन्द्रियविज्ञानसे पृथक स्मृति विषयकी ओर प्रवृत्त होता है। यह चेतना है, यह सर्व चित्तगत है।

किन्तु सब मनोविज्ञान चेतना नहीं है। जिस चेतनाको भगवत 'मानसकर्म' कहते हैं, वह विशेष प्रकारका मनोविज्ञान है।

यह एक मनसिकार है जो चित्त और कर्मका अभिसंस्कार करता है। चेतना चित्तको आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (=उपपत्ति) विशेषके योग्य बनाती है। क्लेशका विपाक तभी होता है जब यह चेतनाका समुत्थापक होता है। चेतना कर्मका अभिसंस्कार करती है। इसीके कारण शरीर चेष्टा शुभ या अशुभ होती है। जब प्राणातिपात चेतना, संचेतना या अभिसंचेतनासे उत्पादित होता है, तब इसका विपाक नरकोपपत्ति होता है। बुद्धिपूर्वक होनेसे ही कर्म अभिसंस्कृत होता है।

यदि कोई यह समझकर कि वह धान्य दे रहा है, सुवर्ण देता है, तो सुवर्णका दान तो हुआ किन्तु यह सुवर्णदानके कर्ममें अभिसंस्कृत नहीं होता क्योंकि सुवर्णदानकी चेतनाका अभाव है।

प्रत्येक कर्मके लिए एक मनसिकार चाहिये। एक इष्टविषय दृष्टिगोचर होता है। मैं वीतराग नहीं हूं। रागानुशयका[१२] समुदाचार होता है। मैं उस वस्तुके लिए प्रार्थना करता हूं। यदि मैं सहसा बिना विचार किये उसको ग्रहण करता हूं, तो यह कर्म नहीं है क्योंकि कोई चेतना नहीं है। आलम्बनमें मेरे चित्तका आवर्जन होता है। मैं उपनिध्यान करता हूं। यह दो प्रकारका है :—

१. योनिशो-मनसिकार—अनित्यको अनित्य, अनात्मको अनात्म, अशुभको अशुभ, इस सत्यानुलोमिक नयसे चित्तका समन्वाहार, आवर्जन, योनिशो-मनसिकार है (योनि = पथ)।

२. अयोनिशो-मनसिकार (उत्पथ)—अनित्यको नित्य इत्यादि नयसे चित्तका उत्पथ आवर्जन है। पहले मैं इष्टविषयके यथार्थ स्वभावका संतीरण[१४] होता है। तदनन्तर जो कर्म होता है वह कुशल है। दूसरे पक्षमें मनसिकार उत्पथ है, कर्म भी अकुशल है।

आत्माका प्रतिषेध

१. पुद्गल चित्त-सन्तान है। आत्मा नामका कोई द्रव्य नहीं है। केवल पंचस्कन्ध है, शरीरेन्द्रिय—वेदना—विज्ञान—समूह है।

मरणके अनन्तर चित्त–सन्तति नवीन प्रतिसंधि ग्रहण करती है। संक्रान्ति नहीं है, पुनर्भव मात्र है।

२. इससे यह परिणाम निकलता है कि 'कर्म' है, विपाक है किन्तु किसी कारकका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता जो इन स्कन्धोंका निक्षेप करता है और अन्य स्कन्धोंका उपसंग्रहण करता है।

लोकमें कर्म और कर्त्ताकी संज्ञा है। वैयाकरणभी मानते हैं। कि कर्त्ता स्वतन्त्र है। लोग कहते है कि देवदत्त स्नान करता है। किन्तु देवदत्त सामग्री है, वह सशरीरेन्द्रिय चित्त-सन्तान है। देवदत्त प्रज्ञप्तिसत् है।

कुशल-अकुशल मूल

१. शुभ-अशुभका साधन और लक्षण

क शुभ और अशुभ कर्मका फल

कुशल (शुभ) कर्म क्षेम है क्योंकि इसका इष्ट विपाक है और इसलिए यह एक कालके लिए दुःखसे परित्राण करता है (कुशल सास्रव)। अथवा यह निर्वाण प्रापक है और इसलिए दुःखसे अत्यन्त परित्राण करता है (अनास्रव कुशल)। अकुशल (अशुभ) कर्म अक्षेम है। इसका अनिष्ट विपाक है।

लौकिक शुभ कर्मका पुण्यविपाक[११] होता है। इसका विपाक सुख, अभ्युदय और सुगति है।

लोकोत्तर कर्म अनास्रव है। अतः पुण्य-अपुण्यसे रहित है अर्थात् अविपाक है। यह हित, परम पुरुषार्थ अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्तिका उत्पाद करता है। यह निर्वाण परमतः शुभ है क्योंकि यह रोगके अभावके समान सर्वथा शान्त है (यह शुभ है क्योंकि यह राग-द्वेष और मोह का विनाश है)।

अतः जिसका दुःख विपाक है, वह अकुशल है; जिसका सुख विपाक है या जिसका विपाक निःश्रेयस है (स्वर्ग, ध्यानलोक, निर्वाण) वह कुशल है। सम्यक्दृष्टि जो निर्वाण प्रापक है, शुभ है क्योंकि यह सत्य है : यह निर्वाणका आवाहन करती है क्योंकि यह सत्य है। वैराग्य जो ध्यानोपपत्तिका उत्पाद करता है, शुभ है क्योंकि जिन वस्तुओंसे योगी विरक्त होता है, वह औदारिक (=स्थूल) पृथग्जनोचित (पृथग्जन आर्येतरको कहते हैं) और दुःखपूर्ण है। पुण्य कर्म जो स्वर्गका उत्पाद करता है, इसलिए शुभ नहीं है कि वह स्वर्गका उत्पाद करता है किन्तु इसलिए कि वह धर्मताके (धर्मों की अनादिकालिक शक्ति) यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा करता है, क्योंकि यह द्वेष तथा परस्वहरणकी इच्छा से रहित है। पुनः दुःख का उत्पाद करना अकुशल कर्मका स्वभाव ही है। दानके फलका भोग परलोकमें होता है, यह बुद्ध जानते हैं।

ख. कुशल अकुशल मूल—

कुशल मूल आत्मतः कुशल हैं। इनसे संप्रयुक्त चेतना और चित्त संप्रयोगतः कुशल हैं। आत्मतः कुशल या संप्रयोगतः कुशल धर्मों से जिनका समुत्थान होता है, ऐसे कायकर्म, वाक्-कर्मादि उत्थानतः कुशल हैं। लोभ, द्वेष, मोह अकुशल मूल हैं। अलोभ, अद्वेष, अमोह कुशल मूल हैं।

मोह, विपर्यास, मिथ्याज्ञान, दृष्टि है। अमोह इसका विपर्यय है। यह सम्यक्दृष्टि, विद्या, ज्ञान, प्रज्ञा है। अलोभ लोभका अभाव नहीं है, अद्वेष द्वेषका अभाव नहीं है। यथा अमित्र 'शत्रु' को कहते हैं, अनृत 'असत्य' को कहते हैं, इसीप्रकार अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है, अद्वेष द्वेषका प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अविद्या विद्या का प्रतिपक्ष है, विद्या का अभाव नहीं है।

मूलत्रय का सम्बन्ध—लोभ और द्वेषका हेतु मोह है। हम राग-द्वेष केवल इसलिए करते हैं क्योंकि इष्ट-अनिष्टके स्वभावके विषयमें हमारा विपर्यास है। किन्तु पर्यायसे राग-द्वेष भी मोहके हेतु हैं : जो पुद्गल राग-द्वेष वश पापकर्म करता है, उसका विश्वास होता है कि पुनर्जन्ममें पाप का दुःख विपाक नहीं होता। मोहदृष्टिसे कर्मका आरम्भ नहीं होता किन्तु जो पुद्गल पापकर्मके विपाकमें प्रतिपन्न नहीं है, वह राग या द्वेषवश अवश्य करेगा।

मूलों का समुच्छेद—सब पुद्गल पुद्गलभावके कारण कुशल-अकुशलके भव्य हैं क्योंकि उनमें कुशल-अकुशल मूलकी 'प्राप्ति[१७]' है। यह बात नहीं है कि इन सब मूलोंका सदा समुदाचार होता रहता है किन्तु बाह्य प्रत्ययवश (यथा, इष्ट या अनिष्ट वस्तुका दर्शन) इनका समुदाचार नित्य हो सकता है। हम उन पुद्गलोंका वर्जन करते हैं जिनके कुशल-अकुशल मूलका समुच्छेद हुआ है :

१. कतिपय कर्म या लौकिक ध्यानसे योगी अकुशल मूलोंका तात्कालिक समुच्छेद करता है। निर्वाण मार्गसे वह इनका आत्यन्तिक समुच्छेद करता है।

२. मिथ्यादृष्टिवश कुशल मूलका समुच्छेद होता है, किन्तु समुच्छिन्न कुशलमूलका पुनरुत्पाद होसकता है। इसीलिए कुशल-अकुशलसे बलवत्तर है।

द्वेष—अद्वेष

द्वेष सदा अकुशल है। द्वेष कर्मोंका विपाक दुःखमय होता है। द्वेष तथा ईर्ष्या, क्रोध और तज्जनित सर्वक्लेश प्राणातिपात, उपघात, पारुष्य, पैशुन्यका मूल है। अतः इससे परका विघात दुःख होता है। अवद्य वह है जो दूसरेका अपकारक है।

द्वेष अकुशल है क्योंकि यह उसका अपकारक है जो द्वेष करता है। यह चित्त का दूषक है।

द्वेष दोष है। जो द्वेष या ईर्ष्या करता है वह स्वयं दुःखी होता है : वह स्वभावतः दौर्मनस्यसे संप्रयुक्त है।

अतःद्वेष उस समय भी अकुशल है जब वह परापकार नहीं करता। क्रोध सत्व (जीव) असत्वके विरुद्ध आघात (चित्त प्रकोप) है।

अद्वेष्य प्राणातिपातादिसे विरति है; यह क्षान्ति है।

इसके अन्तर्गत दान, सुनृतावाक्, लोकसंग्रहके कार्य, संघ सामग्री, (संघको समग्र रखना, उसमें भेद न होने देना) मैत्री भावनादि (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ये चार ब्रह्म विहार हैं) है। सामान्य आर्योंकी मैत्री अद्वेष है। बुद्धकी मैत्री लोकोत्तर प्रज्ञा है और अमोह स्वभाव है।

लोभ-अलोभ

लोभ अकुशल मूल है। अलोभ या निर्वेद, विराग कुशलमूल है।

लोभ वह छन्द है जो दूसरेके दुःखका हेतु होता है। अभिध्या, अदत्तादान, और काममिथ्याचार लोभज हैं। ईर्ष्या, पैशुन्य, प्राणातपात और द्वेष हेतुक सर्व अवद्य अप्रत्यक्षरूपसे लोभसे प्रवृत्त होते हैं

१. अतः लोभ रागसे अन्य है। राग तभी अकुशल होता है और दुःख विपाक का उत्पाद करता है, जब यह सावद्य होता है। या तो यह दूसरे का अपकार करता है (यथा, परस्त्री गमन, मांसाहारके लिए पशुबध) या वह अपना ही अपकार करता है, यथा, मद्यपान करनेवाला जो शिक्षापदों (अदत्ता दातादि दश शिक्षापद हैं) की रक्षा नहीं करता। अथवा वह ह्री[१८]के नियमोंका भंग करता है (अपनी स्त्रीके साथ अयोनि मार्गसे, अयुक्त स्थानमें, अकालमें संभोग)। वस्तुतः यदि सब अकुशल कर्म ऐहिक सुखके लिए किया जाता है तो इसका विपर्यय ठीक नहीं है। कुछ कामसुख उचित हैं। इनका परिभोग ह्री और अपत्रायप्य[११] की हानिके बिना हो सकता है।

यदि कतिपय कामावचर कामसुखमें राग मना नहीं है, तो अनागत जन्मके सुख, स्वर्गके सुखमें अनुरक्त होना और भी मना नहीं है। यह राग शुभ है क्योंकि यह पुण्य कर्मका हेतु है। किन्तु यह काम राग है, इसलिए यह समाधि, ध्यान तथा सत्वदर्शन द्वारा निर्वाण मार्गके प्रवेशमें प्रतिबन्ध है।

२. समापत्ति-राग और ध्यान लोकोपपत्ति-सुखमें रागकाम सुख नहीं है किन्तु भवराग है। दो उर्ध्व धातुओंके प्रति जो राग होता है, उसके लिए ही भवराग संज्ञा है। इसे भवराग इसलिए कहते हैं क्योंकि इसकी अन्तर्मुखी वृत्ति है और इस संज्ञा की व्यावृत्तिके लिए भी यह दो धातु मोक्ष हैं, इसे भवराग कहते हैं। यह राग शुभ है। इसे लोभ नहीं कहना चाहिये। यद्यपि यह तृष्णा है। यह कुशल धर्मच्छन्द है क्योंकि काम सुखसे यह विरक्त है।

३. अलोभ, विराग, आत्यन्तिक रूपसे सदा कुशल मूल है। यह काम-सुख, समापत्ति तथा निर्वाण-मार्गसे भी वीतराग होता है।

४. निर्वाणका प्रतिलाभ लोभके निरोधसे होता है। निर्वाणकी इच्छा करना क्या लोभ नहीं है? आगम कहता है कि निर्वाण-मार्गका भी प्रहाण करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि जो वैराग्य निर्वाणका आवाहन करता है, उसमें राग नहीं होना चाहिये।

मार्ग कीलोपम (कोल Raft, तमेड़) है। उसका अवश्य त्याग होना चाहिये किन्तु निर्वाणका त्याग नहीं होना चाहिये। निर्वाण प्रणिधि, छन्द और व्रतका आलम्बन है। वस्तुतः निर्वाणकी इच्छा अन्य इच्छाओंसे भिन्न है। इसे 'लोभ या तृष्णा' नहीं कहना चाहिये। अन्य इच्छाएं स्वार्थपर होती हैं। उनमें ममत्व होता है। निर्वाणकी इच्छा ऐसी नहीं है। न यह भव-तृष्णा है, न विभव तृष्णा है। क्योंकि यद्यपि निर्वाण वस्तुसत् है तथापि परिनिर्वृत (जिसका परिनिर्वाण हो गया है) के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व है या उसका अस्तित्व नहीं हैं। निर्वाण अनिमित्त है। यह वस्तुनिरभिलाप्य अनिर्वचनीय स्वभाव है।

मोह और सम्यक्दृष्टि

धर्म परिचय प्रज्ञा—

तृतीय अकुशल मूल मोह है। अमोह, सम्यक्दृष्टि, धर्मप्रविचय,[२०] प्रज्ञाका यह प्रतिपक्ष है।

मोह और अज्ञानमें विशेष करना चाहिये। मोह क्लिष्ट अज्ञान है। यह द्वेष और रागका हेतु है किन्तु अज्ञान अक्लिष्ट हो सकता है, यथा, आर्योंका अज्ञान। केवल बुद्धने ही अक्लिष्ट अज्ञानका सर्वथा अत्यन्त विनाश किया है। अन्य बुद्ध-धर्मोंको, अतिविप्रकृष्ट, देश और कालके अर्थोंको तथा अर्थोंके अनन्त प्रभेदोंको नहीं जानते। आर्य वस्तुओंके सामान्य लक्षणों (उनकी अनित्यता आदि) को जानते हैं और इसी अर्थमें बुद्धने कहा है कि "मैं कहता हूं कि यदि एक धर्मका भी अभिसमय (सम्यक्ज्ञान) न हो तो निर्वाणका प्रतिलाभ नहीं हो सकता।" किन्तु बहुत कम वस्तुओंके स्वलक्षणका उनको ज्ञान होता है। कुछ तीर्थिकोंका मत है कि बुद्धकी सर्वज्ञताका केवल इतना अर्थ है कि यह सर्वज्ञता मोक्ष विषयक ही है।

सर्वमोह क्लिष्ट है किन्तु सर्वमोह अकुशल, पापिकादृष्टि नहीं है। मोह अकुशल है जब उसका स्वभाव अपुण्य कर्मका उत्पाद करना है।

इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जो मोहका प्रतिपक्ष है, कई प्रकारका है। सामान्य जनकी सम्यक्

दृष्टि आंशिक होती है। वह प्रधानतः पुनर्जन्म और कर्म-विपाकमें विश्वास करते हैं। विविध आर्योंको अधिक या कम सत्वदर्शनकी प्राप्ति होती है। लौकिक दृष्टिके चार प्रकार हैं। उनके अनुरूप सम्यक् दृष्टिके भी चार प्रकार हैं।

अकुशल मोह जो अपाय गति (दुर्गति नरक, प्रेत, तिर्यक् और असुर अराय गति है) का उत्पाद कहते हैं इस प्रकार है : मिथ्या दृष्टि,

२. शीलव्रतपरामर्श।

मोह एक है जो अकुशल नहीं है : आत्मप्रतिपत्ति।

अकुशल मोहमें सबसे प्रथम स्थान मिथ्यादृष्टिका है। सब दृष्टियां जो मिथ्या प्रवृत्त हैं, मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु मिथ्यादृष्टिको ही यह संज्ञा प्राप्त है क्योंकि यह सबकी अपेक्षा अधिक मिथ्या है यथा, अत्यन्त दुर्गन्धको दुर्गन्ध कहते हैं। यह नास्ति दृष्टि है; यह अपवादिका दृष्टि है जो दुःखादि सत्य वस्तुसत्का अपवाद करती है। अन्य दृष्टियां समारोपिका हैं। बौद्ध उसको नास्तिक कहते हैं जो कहते हैं कि "न दान है, न इष्टि, न हुत, न शुभ कर्म, न अशुभ कर्म, न माता, न पिता, न यह लोक है, न परलोक है, औपपादुक-सत्व (जिसकी उत्पत्ति रज-वीर्यसे नहीं होती) नहीं है, अर्हत नहीं है।" किन्तु अपवादोंमें सबसे बुरा हेतु फलका अपवाद है। "व कुशलकर्म है न अकुशल कर्म है।" यह हेतुका अपवाद है। "कुशल कर्मका विपाक फल नहीं है" यह फलका अपवाद है। मिथ्यादृष्टि अकुशल क्यों है ? वस्तुतः अकुशल वह है जो नरक यातनाका उत्पाद करता है, जो परापकार करता है। कारण यह है कि जो पुद्गल पापके फलमें विश्वास नहीं करता, वह सर्व अवद्यके करनेको प्रस्तुत रहता है। उसकी ह्री और अपत्राप्यकी हानि होती है।

मिथ्यादृष्टि कुशल मूलका समुच्छेद करती है। अधिमात्राधिमात्र कुशलमूल प्रकार मृदु मृदु मिथ्या दृष्टिसे समुच्छिन्न होता है और इसी प्रकार मृदु मृदु कुशल मूल प्रकार, अधिमात्राधिमात्र, मिथ्या-दृष्टिसे समुच्छिन्न होता है। कुशल मूलोंका अस्तित्व तब तक रहता है, जब तक उनका समुच्छेद नहीं होता। नारकीय सत्व जन्मसे पूर्वजन्मकी स्मृति रखते हैं। पश्चात् वह दुःख वेदनासे अभ्याहत होते हैं। अतः उनमें कर्तव्य–अकर्तव्यकी बुद्धि नहीं होती। उनकी मिथ्या दृष्टि भी नहीं होती जो कुशल मूलका समुच्छेद करती है क्योंकि अपायिकों (दुर्गतिको प्राप्त होनेवालों) की प्रज्ञा चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट दृढ़ नह होती। कुछका ऐसा मत है कि स्त्रियां भी मूलच्छेद नहीं करतीं क्योंकि उनके छन्द और प्रयोग मन्द होते हैं। पुरुषोंमें केवल दृष्टिचरित छेद करता है, तृष्णाचरित नहीं क्योंकि दृष्टिचरितका आशय पाप, गूढ़ और दृढ़ होता है और तृष्णाचरितका आशय चल है। इसी प्रकार षण्ढादि कुशल मूलका समुच्छेद नहीं

करते क्योंकि वह तृष्णाचरित पक्षके हैं क्योंकि उनकी प्रज्ञा अपायिकोंके तुल्य दृढ़ नहीं होती। देव भी समुच्छेद नहीं करते क्योंकि उनको कर्मफलका प्रत्यक्ष होता है। अचिरोपपन्न देवपुत्र विचारता है कि "कहांसे मैं च्युत हुआ? कहां उपपन्न हुआ हूं? और किस कर्मसे?" वह मिथ्यादृष्टिमें पतित नहीं होता। जिसने कुशल मूलका समुच्छेद किया है वह कुशलके अभव्य है। वह द्वेष और अकुशल छन्दमें अभिनिविष्ट होता है। किंतु उसमें इस विचिकित्सा या विमतिका उत्पाद होता है कि कदाचित् अवद्य है, कदाचित् कर्मका विपाक है अथवा उसको यह निश्चय होता है कि अवद्य है और हेतु-फल अवश्य होते हैं। तब कुशलमूल प्रतिसंहित होते हैं।

किंतु जिस आनन्तर्यकारीने कुशलमूलका समुच्छेद किया है वह दृष्टधर्म (इस जन्म) में कुशलमूलका ग्रहण करनेके लिए अभव्य है। किंतु वह नरकसे च्यवमान हो या नरकमें उपपद्यमान हो अवश्य ही उनसे पुनः समन्वगत होगा। दो प्रकार हैं: एक वह जिसने स्वतः मिथ्यादृष्टिका सम्मुखी भाव किया है; दूसरा वह जिसने अयथार्थ शास्ताका अनुसरणमात्र किया है।

शीलव्रत-परामर्श

अहेतुमें हेतुदृष्टि, अमार्गमें मार्ग दृष्टि, शीलव्रत-परामर्श है। अर्थात् महेश्वर, प्रजापति या किसी अन्यको जो लोकका हेतु नहीं है लोकका हेतु मानना: अग्निप्रवेश या जलप्रवेश इन आत्महत्याके अनुष्ठानोंके फलको स्वर्गोपपत्ति मानना; शीलव्रत-मात्रकको जो मोक्ष मार्ग नहीं है मोक्ष मार्ग अवधारित करना तथा योगी और सांख्योंके ज्ञानको जो मोक्षमार्ग नहीं है मोक्ष मार्ग मानना, एवमादि। जो दृष्टि शीलव्रत मात्रकमें बहुमान प्रदर्शित करती है वह दृष्टि शीलव्रतपरामर्शकहलाती है।

यह दृष्टि दूसरेका अपकार करती है (यथा पशुयज्ञमें), अपना अपकार करती है (यथा, गोशील, श्वानशीलके समादानके कष्ट, आत्महत्याका कष्ट)। किंतु इसका सबसे अधिक दोष यह है कि यह स्वर्ग और निर्वाणके द्वारको पिनद्ध करता है क्योंकि यह अमार्गको मार्ग अवधारित करता है। सत्कायदृष्टि आदिमें प्रवृत्त जो संघकी सामग्रीका भेद करता है, वह आनन्तर्यकार्य है और वह कल्प भर अवीचिमें विपत्यमान होता है।

शीलव्रत परामर्शके कुछ उदाहरण

(क) यह समझना कि प्रार्थना और तीर्थयात्रासे पुत्र-लाभ होता है मूर्खता है। यदि प्रार्थना पर्याप्त होती तो प्रत्येकके चक्रवर्ती राजाके तुल्य सहस्र पुत्र होते। तीन हेतु हों तो गर्भावक्रान्ति होती है: माता नीरोग और ऋतुमती हो, माता-पिता मैथुन-धर्म करें और गंधर्व प्रत्युपस्थित हो।

(ख) यह समझना कि मृतक-संस्कार, स्तोत्र-पाठ आर मंत्र-जपसे मृतको स्वर्गका लाभ होता है, घोर मूर्खता है ।

(ग) स्नानसे पापका अपकर्षण नहीं होता । यदि जलसे पापच्छालन होता तो मकरोंकी स्वर्ग में उत्पत्ति होती (थेरगाथा, २३९) । "जलसे शुद्धि नहीं होती । वही शुद्ध यथार्थ ब्राह्मण है, जो सत्यवादी है ।" (उदान १, ९) । किसीने बुद्धसे पूछा : क्या आप बाहुका नदीमें स्नान करते हैं ?

बुद्ध : बाहुकामें स्नान करनेसे क्या होगा ?

यह पुण्य और मोक्षकी देनेवाली नदी है । बहुजन उसमें स्नान करके अपने पापोंका प्रच्छालन करते हैं । किन्तु बुद्ध कहते हैं कि पवित्र नदियोंमें स्नान करनेसे किल्विष करने वाला मनुष्य शुद्ध नहीं होता । जो शुद्ध है, उसका सदा उपोसथ है, उसका व्रत सदा सम्पन्न होता है । हे ब्राह्मण, गया जाकर क्या होगा ? तुम्हारे लिए कूप ही गया है । यहीं स्नान करो । सर्व भूतोंका क्षेम करो, मृषावाद न करो, प्राणकी हिंसा न करो, श्रद्धायुक्त और मात्सर्यरहित हो (मज्झिम १ पृ० ३९) ।

मोक्ष और विशुद्धिके उपाय हैं जिनका प्रयोग श्रमण और प्रव्रजित करते हैं । अन्य तीर्थिक बाहवक गोशील, श्वानशील आदिका समादान करते हैं । वह तृण चरते हैं, विष्ठा खाते हैं, इत्यादि । अन्य अंगच्छेद, जलाग्नि-प्रवेश, पर्वत-निपात, अनशन-मरण आदि कष्टप्रद अनुष्ठान करते हैं । इनसे स्वर्गोपपत्ति या मोक्षका लाभ नहीं होता । इनसे नारक दुःख ही होता है । संघाटि धारण मात्रसे श्रमण नहीं होता, अचलेकमात्रसे श्रमण नहीं होता । (मज्झिम-निकाय, १।२८१)

किंतु शुभमंगल, व्रत, अनुष्ठानका कुछ उपयोग है । कतिपय विद्याओंसे ऋद्धिका प्रतिलाभ होता है । इनसे परचित्तका ज्ञान होता है, ऋद्धि प्रातिहार्य (तिलस्म) होता है, अभिज्ञायोंकी सिद्धि होती है । किंतु यह अकुशल है बुद्धने कुछ अनुष्ठानोंको गर्हित बताया है यथा अचेलक रहना, श्वानशीलका समादान करना । यदि शीलव्रतको मोक्षका साधन समझे तो सब प्रकारके शीलव्रत निन्द्य हैं किन्तु चित्त संशोधनके लिए तथा निर्वाणके लिए कई अनुष्ठान आवश्यक हैं । वह भिक्षु प्रशंसाका पात्र है जो कहता है कि "मैं इस पर्यंक आसनको भिन्न नहीं करूंगा जब तक मैं आस्रवोंसे चित्तको विमुक्त न कर लूंगा ।" (मज्झिम निकाय १।२१९) बौद्ध धर्ममें जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, अनशन मरण मना है ।

हम यहां अनेक मिथ्या दृष्टियोंको गिनाते हैं जो शीलव्रत परामर्श और दृष्टि परामर्शके अन्तर्गत हैं । वसुबन्धु विभाषाके अनुसार मोहज प्राणातिपात, अदत्तादानादि का उल्लेख करते हैं । यथा पशुयज्ञको एक धार्मिक अनुष्ठान समझ कर पशु वध करना, यथा धर्म पाठकोंके अधिकारसे राजा दुष्टोंके स्वका अपहरण करता है, बहुतसे लोग विश्वास करते हैं कि सर्प वृश्चिकादिके बधकी आज्ञा है क्योंकि यह पशु

अपकारक हैं। वह समझते हैं कि आहारके लिए वन्य पशु गो-वृषभ, पक्षी, महिषको मारनेमें पाप नहीं है कुछ जातियोंमें यह विश्वास है कि वृद्ध और व्याधित माता पिताके बधसे पाप नहीं होता किंतु पुण्य होता है क्योंकि मरणसे उनको अभिनव और तीक्ष्ण इन्द्रियोंका लाभ होगा। ब्राह्मण यज्ञके लिए पशुका बध करते हैं और विश्वास करते हैं कि पशुकी स्वर्गमें उपपत्ति होती है। उनके धर्मपाठक कहते हैं कि दुष्टोंको दण्ड देना राजाका मुख्य पुण्य कर्म है। वह स्तेय और मृषावादको युक्त सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं कि "उपहासमें, स्त्रियोंसे, विवाहमें, भयमें मृषावाद अवद्य नहीं हैं।" यह सब अज्ञानवश पापाचरण करते हैं। अतः शीलके लिए तत्वज्ञानकी आवश्यकता है।

तो क्या वह पापका भागी नहीं होता जो यह न जान कर कि वह पाप कर रहा है पाप कर्म करता है ? नहीं। माता पिताका बध चाहे पुण्य बुद्धिसे किया जाय या द्वेषादिसे, पाप है। बसुबन्धु, राजा, धर्म पाठक, सैनिक, डाकू सबको एक ही श्रेणीमें रखते हैं।

ऐसा मोह मिथ्या दृष्टि है जो 'अकुशल' नहीं है। सत्कायदृष्टि और शाश्वतदृष्टि शुभ कर्ममें हेतु हो सकते हैं। मैं शुभ कर्म करता हूं क्योंकि मैं फलकी आशा करता हूं। मैं दूसरे पर करुणा करता हूं क्योंकि उसकी आत्मा भी मेरे समान दुख भोगती है। लौकिक, करुणाके अभ्यासके बिना यथार्थ करुणाका उत्पादन नहीं होता। प्रथम लौकिक करुणाकी साधना होनी चाहिये। इसमें दुखी 'आत्मा' का अवधारण होता है। पश्चात् दुखी सत्वसे पृथक् दुखका अवधारण होता है। बुद्ध और आर्य लौकिक चित्तका प्रत्याख्यान नहीं करते।

किन्तु आत्माभिनिवेश सर्व अकुशलमें हेतु है; "जो आत्मामें प्रतिपन्न है, वह उसमें अभिनिविष्ट होता है। आत्मामें अभिनिविष्ट कामसुखके लिए सतृष्ण होता है। तृष्णावश वह सुख संप्रयुक्त दुखको नहीं देखता।" "जबतक मन अहंकार सहित होता है तबतक जन्म प्रबंध शान्त नहीं होता। जबतक आत्म-दृष्टि होती है तबतक हृदयसे अहंकार नहीं जाता। हे बुद्ध ! आपके अतिरिक्त दूसरा नैरात्म्यवादी नहीं है। अतः आपके मतको छोड़कर मोक्ष मार्ग नहीं है।" (बोधिचर्यावतार पृ० २३०)

आत्मा नित्य है, ध्रुव है, वस्तुसत् है, इस दृष्टिका परित्याग करना चाहिये किन्तु प्रज्ञप्ति सत् आत्माका प्रतिशेध उच्छेद दृष्टि है अर्थात् जो चित्त सन्तति कर्मका उत्पाद करती है और कर्म फलका परिभोग करती है उस प्रज्ञप्तिसत् आत्माका प्रतिशेध नहीं करना चाहिये।

कर्म-फल

सत्व सचेतन है; असत्व अचेतन है। एक और नित्य चित्त सन्तान है जो कभी शुद्ध चित्त-चैत्त

होता है (आरुप्य धातु) और कभी जिसका रूपी आश्रय होता है। दूसरी ओर विविधि रूप अर्थात् महाभूत और भौतिक रूप हैं। यथा, पर्वत, देवविमानादि।

एक ओर सत्वलोक है, दूसरी ओर भाजन लोक।

सत्वोंके उपभोगके लिए रूप है। रूप चित्त-सन्तानको सेन्द्रिय शरीर (आश्रय), विज्ञान विषय, वेदनाविषय, आहार और निवास स्थान प्रदान करता है। रूपी सत्वोंकी चित्त सन्ततिका निश्रय रूप है और इस प्रकार इनकी प्रवृत्ति होती है। रूपका ऐसा उपयोग है वह सत्वोंके लिए ही हैं।

पुद्गल अपने पूर्वकृत कर्मोंका दायाद है। जैसी उसकी चेतना, चित्त और कर्म होते हैं, वैसा वह होता है।

सत्वोंकी अवस्थामें जो वैचित्र्य पाया जाता है वह कर्मज है। सत्वोंकी गतिका प्रत्येकके कर्मके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमुख कारण नहीं है।

सर्वास्तिवादी पुनः कहते हैं कि लोक-वैचित्र्य भी सत्वोंके कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म फल पंचविध है। इनमें अधिपति फल निष्यन्द फल कारणहेतुसे निर्वृत्त फल है। कारणहेतुसे अधिपतिका प्रादुर्भाव होता है। सब धर्म स्वतः से अन्य सबके कारण हेतु हैं। कोई धर्म अपना कारण हेतु नहीं है। इस अपवादके साथ सब धर्म सब संस्कृति धर्मोंके कारण हेतु हैं। क्योंकि उत्पत्तिमान धर्मोंके उत्पादके प्रति प्रत्येक धर्मका अविघ्न भावसे अवस्थान होता है। सत्वोंके कर्मका प्रभाव भाजन लोक पर पड़ता है। सत्वोंके पापसे ओषधि, भूमि आदि बाह्य भाव अल्प वीर्य होते हैं, ऋतु परिणाम विषम होते हैं; यह शिलावृष्टि, धूलिवृष्टि या क्षारवृष्टिसे अविभूत होते हैं। यह अधिपति फल है।

दूसरी ओर विपाकफल और निष्यन्द फल हैं। विपाक एक अव्याकृत धर्म है। यह सत्वाख्य है। यह व्याकृतसे उत्तर कालमें उत्पन्न होता है। विपाक अकुशल या कुशल सास्रव धर्मोंसे उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है किन्तु फल सदा अव्याकृत है। क्योंकि यह फल स्वहेतुसे भिन्न है और 'पाक' है इसलिए इसे "विपाक" (विसदृश पाक) कहते हैं। पर्वत, नदी, आदि असत्वाख्य धर्मोंको विपाक फल नहीं मानते यद्यपि वह कुशल अकुशल कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं। असत्वाख्य धर्म स्वभाव वश सामान्य हैं। सर्व लोक उनका परिभोग कर सकता है। किन्तु विपाकफल स्वभावतः स्वकीय है। जिस कर्मकी निष्पत्ति मैंने की है उसके विपाक फलका भोग दूसरा नहीं करता। विपाक फलके अतिरिक्त कर्म अधिपति फलका उत्पाद करता है। सब इस फलका समान परिभोग करते हैं क्योंकि कर्म समुदाय इसकी अभिनिर्वृत्तिमें सहयोग करता है। अतः भाजनलोक सत्व समुदायके कुशल अकुशल कर्मोंसे जनित होता है। यह अव्याकृत है किन्तु यह विपाक नहीं है क्योंकि विपाक एक सत्व

संख्यात धर्म है। अतः यह कारणहेतुभूत कर्मोंका अधिपति फल है। हेतु सदृश फल निष्यन्द कहलाता है। सभागहेतु[20] और सर्वत्रगहेतु[21] यह हेतुद्वय निष्यन्द फल प्रदान करते हैं। क्योंकि इन दो हेतुओंका फल स्वहेतुके सदृश है। यथा कुशलोत्पन्न कुशल, अकुशलोत्पन्न अकुशल। भाजन लोकका सन्निवेष इस प्रकार है। सत्वोंके कर्मके आधिपत्यसे नीचे वायुमंडलकी उत्पत्ति होती है जो आकाशमें प्रतिष्ठित है।। वायु मण्डल पर संचित अभ्रका पात होता है, वर्षधाराका पात होता है जिसका विन्दु रथकी ईषाके वराबर होता है। इस जलका अब्मण्डल होता है। वायुसे क्षुब्ध होकर जलके ऊपरका भाग कांचनमय हो जाता है, इत्यादि।

ऐसा नहीं है कि केवल सृष्टिके आरम्भमें कर्म रूपकी सृष्टि करता है। जब अण्डज और जरायुज-की उत्पत्ति होती है तब मृतका विज्ञान शुक्र शोणितका उपादान लेता है। संस्वेदजयोनि पृथ्वी आदि भूतोंके संस्वेदसे उत्पन्न होती है। उपोषध राजाके शिरःस्थ पिटकके परिपाक-परिभेदसे मान्धाता पैदा हुए। उपपादुक सत्व भी होते हैं। यह सकृत उत्पन्न होते हैं। यह शुक्र-शोणित-उपादानके बिना उत्पन्न होते हैं। देव, नारक और अन्तराभव (दो गतियोंके अन्तरालमें) ऐसे सत्व हैं। उनका चित् कायका निर्माण करता है। यह कायरूपी काय है। यह माया नहीं है। उनकी इन्द्रियां अविकल और अहीन होती हैं और सर्व अंग प्रत्यंगसे उपेत होते हैं।

सामान्य योनिसे संभूतकाय चित्त-हानिपर शवकी अवस्थामें अवस्थान करता है किन्तु उपपादुक सत्त्वोंका काय मृत्युके पश्चात् अवस्थान नहीं करता। आर्चिके सदृश यह निरवशेष अन्तर्हित होता है। इसी कारण बुद्ध उपपादुक योनिकी अपेक्षा की योनिको पसन्द करते हैं। क्योंकि वह चाहते हैं कि निर्वाणके अनन्तर उनके शरीर धातुका अवस्थापन हो सके।

अधिपति फल और लोकधातु

कर्मके अधिपति फलसे लोकधातुकी सृष्टि और स्थिति होती है। लोकधातु सत्त्वोंके लिए बाह्यभाव प्रदान करता है।

लोकधातु अनन्त हैं। किसीकी संवर्तनी (विनाश) होती है तो किसीकी निवर्तनी (उत्पत्ति) होती है। किसी अन्यकी स्थिति होती है।

एक महा कल्पमें ८० अन्तःकल्प होते हैं। इनमें विवर्त, विवृत्तकी स्थिति, संवृत्तकी स्थिति और संवर्तका सम प्रमाण होता है। एक बार विवृत्त होनेपर यह लोक २० अन्तःकल्प तक अवस्थान करता है।

लोक संवर्तनीके अनन्तर दीर्घकाल तक लोक विनष्ट रहता है; २० अन्तरकल्प तक विनष्ट रहता है। जहां पहिले लोक था वहां अब केवल आकाश है। जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजन लोकके प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते हैं, जब आकाशमें मन्द-मन्द वायुका स्पन्दन होता है उस समयसे २० अन्तरकल्पकी परिसमाप्ति कहना चाहिये जिसमें लोक संवृत्त था और उस २० अन्तरकल्पका आरम्भ कहना चाहिये जिस कालमें लोककी विवर्तमान अवस्था होती है। वायुकी वृद्धि होती जाती है और अन्तमें उसका वायु मण्डल बन जाता है। पश्चात् इस क्रम और विधानसे भाजनकी उत्पत्ति होती है; वायुमण्डल, अब्मण्डल, कांचनमयी पृथिवी, सुमेरू, आदि। विवर्त कल्पका प्रथम अन्तरकल्प भाजन, ब्राह्म विमानादिकी निर्वृत्तिमें अतिक्रान्त होता है। इस कल्पके अवशिष्ट १९ अन्तरकल्पोंमें नरक सत्त्वके प्रादुर्भाव तक मनुष्योंकी आयु अपरिमित होती है। जब विवर्तनकी परिसमाप्ति होती है तब उनकी आयुका ह्रास होने लगता है यहां तक कि १० वर्षसे अधिक आयुका सत्त्व नहीं होता। जिस कालमें यह ह्रास होता है वह विवृत्तावस्थाका पहिला अन्तरकल्प है।

पश्चात् १८ अन्तरकल्प उत्कर्ष और अपकर्षके होते हैं। १० वर्षकी आयुसे वृद्धि होते-होते ८०००० वर्षकी आयु होती है। पश्चात् आयुका ह्रास होता है और यह घटकर १० वर्षकी हो जाती है। जिस कालमें यह उत्कर्ष और अपकर्ष होता है वह दूसरा अन्तरकल्प है। इस कल्पके अनन्तर ऐसे १७ अन्य कल्प होते हैं। २०वां अन्तर कल्प केवल उत्कर्षका है। मनुष्योंकी आयुकी वृद्धि १० वर्षसे ८०००० वर्ष तक होती है। १८ कल्पोंके उत्कर्ष और अपकर्षके लिए जो काल चाहिये वह प्रथम कल्पके अपकर्ष काल और अन्त्य कल्पके उत्कर्ष कालके बराबर है। इस प्रकार लोक २० कल्प तक विवृत्त रहता है। भाजन लोककी निर्वृत्ति एक अन्तर कल्पमें होती है। यह उन्नीसमें व्याप्त होता है, यह उन्नीसमें शून्य होता है, यह एक अन्तर कल्पमें विनष्ट होता है। जब आयु १० वर्षकी होती है तब अन्तर कल्प का निर्याण होता है। तब शस्त्र, रोग और दुर्भिक्षसे जो यथाक्रम सात दिन, सात दिन और सात मास तथा सात दिन सात मास और सात वर्ष-अवस्थान करते हैं कल्पका निर्याण होता है।

कल्पके अन्तमें तीन ईतियां होती हैं। कल्प निर्याणकालमें देव नहीं बरसता। इससे तीन दुर्भिक्ष-चंचु, श्वेतास्थि, शलाकावृत्ति-होते हैं। चंचु कोषका दुर्भिक्ष है, श्वेतास्थि श्वेत आस्थियोंका दुर्भिक्ष है, शलाकावृत्ति वह दुर्भिक्ष है जिसमें जीवन यापन शलाका पर होता है। इसमें गृहके प्राणी शलाकाकी सूचनाके अनुसार भोजन करते हैं; आज गृहपतिकी पारी है; कल गृहपतिनीकी पारी है। अब संवर्तनीका समय उपस्थित होता है। सत्त्व अधर भाजनोंसे अन्तर्हित होते हैं। और किसी ध्यान लोकमें सन्निपतित होते हैं। अग्नि संवर्तनी सप्त सूर्योंसे, जल संवर्तनी वर्षा-वश और वायु संवर्तनी

वायु धातुके क्षोभसे होती है। इन संवर्तनियोंका यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजनका एक भी परमाणु अवशिष्ट नहीं रहता। चतुर्थ ध्यान अनिञ्जित (स्पन्दन हीन) है। इससे उसमें संवर्तनी नहीं है। द्वितीय ध्यान अग्नि संवर्तनीकी सीमा है। इसके नीचे जो कुछ है वह सब दग्ध हो जाता है। तृतीय ध्यान जल संवर्तनीकी सीमा है। इसके जो अधः है वह सब विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु संवर्तनीकी सीमा है। इसके जो अधः है वह सब विकीर्ण हो जाता है। संवर्तनीकी परिसमाप्ति पर जो अवशिष्ट रहता है उसे संवर्तनी शीर्ष कहते हैं। चतुर्थ ध्यान विनाशशील नहीं है किन्तु इसका भाजन नित्य नहीं है। वस्तुतः यह "भूमि" नहीं है। तारकोंके समान यह विविध निवासोंमें विभक्त है। विविध विमानोंका जो सत्वोंके निवास हैं, सत्वोंके साथ उत्पत्ति विनाश होता है।

सबसे प्रथम नरकोपपत्ति बन्द होती है। और नारक सत्वोंकी मृत्यु होती रहती है। जब नरकमें एक भी सत्व अवशिष्ट नहीं रहता तब नारक संवर्तनीकी परिसमाप्ति होती है। इतनी मात्रामें यह लोक संवृत्त होता है। यदि इस लोकमें किसी सत्वके नियत नरकवेदनीय कर्म हैं तो इन कर्मोंके आधिपत्यसे वह अन्य लोकधातुके नरकमें प्रक्षिप्त होता है जो अभी संवृत्त नहीं हो रहा है। इसी प्रकार तिर्यक्संवर्तनो, प्रेतसंवर्तनी होती है। तदनन्तर मनुष्यसंवर्तनी और कामावचर देवसंवर्तनी होती है। तब धर्मतावश ब्राह्मलोकका एक देव द्वितीय ध्यानमें समापन्न होता है। इस ध्यानसे व्युत्थान कर उसका यह उद्गार होता है : समाधिज प्रीति-सुख आनन्द दायक हैं। समाधिज प्रीति-सुख शान्त हैं। इन शब्दोंको सुनकर ब्राह्मलोकके अन्य देव द्वितीय ध्यानमें प्रवेश करते हैं और मृत होने पर आभास्वरों (यह द्वितीय ध्यानके देव हैं) के लोकमें पुनः उपपन्न होते हैं। जब ब्राह्मलोकमें एक भी सत्व अवशिष्ट नहीं होता तब सत्व संवर्तनी निष्ठित होती है।

तब भाजन लोकके आक्षेपक कर्मके परिक्षीण होनेपर लोक शून्यता वश सात सूर्योंका उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव होता है और चतुर्द्वीपसे लेकर मेरू पर्यन्त इस लोकका सर्वथा दाह होता है। इस प्रकार इस लोकको दग्धकर वायुसे प्रेरित अर्चि प्राप्त ब्राह्म विमानको जलाती जाती है। इसी प्रकार अप् संवर्तनी और वायु संवर्तनी होती हैं। सत्व समुदायके कर्मके बलसे यह लोक विवृत्त होता है। और अवस्थान करता है। हममें से प्रत्येकका इसमें दान है। चाहे यह दान कितना ही साधारण क्यों न हो। मनुष्योंमें कोई ऐसे होते हैं जिनका दान उत्कृष्ट होता है। यथा चक्रवर्ती राजा और बुद्ध। अमिताभ बुद्ध अपने कुशल कर्मोंके योगसे सुखावती लोकका निर्माण करते हैं। जहां नरक नहीं है, जहां तिर्यक् और स्त्री नहीं है जहां दुःखविनिर्मुक्त सुख है।

विपाक फल

विपाक फलका स्वभाव ;—

विपाकफल एक अव्याकृत धर्म है। व्याकृतसे इसका उद्भव होता है। यह सत्वाख्य है। विपाककी उत्पत्ति कुशल अकुशल धर्मोंसे होती है। यह फल स्वहेतुसे अन्य है इसलिए इसे विपाक (विसदृश पाक) कहते हैं। विपाकका विपाक नहीं होता।

विपाकफलका स्वभाव द्विविध है :

क—कर्म विपाकतः वेदनीय है। यह वेदना सुखा या दुःखा होती है। यदि पुद्गल शुभ कर्म करता है तो उसको सुख प्राप्त होता है। "यदि वह अशुभ करता है तो उसको दुःख प्राप्त होता है।"

ख—किन्तु वेदना आश्रयको अपेक्षा करता है। बुद्धको शिक्षा है कि हमारे पूर्वकृत कर्म हमारे दाय हैं। वह यह भी कहते हैं कि वर्तमान काय उसका पूर्वकृत कर्म है अर्थात् उसके पूर्व कर्मका फल है। अतः विपाकफल वेदना तथा सेन्द्रियकाय है।

अवधारणार्थ जीवतेन्द्रिय केवल विपाक है पंचविज्ञानकाय और स्त्री-पुरुषेन्द्रिय आरम्भमें केवल विपाक हैं। यह पश्चात् आहारके योगसे सम्वृद्ध और उपचित होते हैं। तब यह औपचयिक भी हैं। काय वेदना विपाक हैं। चैतसिकी वेदना भी विपाक है जब वह कुशल-अकुशलसे सम्प्रयुक्त नहीं होती। शुभ कर्मसे जिस चैतसिक सुखका अनुभव होता है वह विपाक नहीं है। क्योंकि वह कुशल है। दोषोंका वैसम्य जो रोगका उत्पाद करता है पाप कर्मका फल है। दोषोंके क्षोभसे चित्तका जो प्रकोप होता है वह विपाक नहीं है किन्तु कर्मके विपाकसे उत्पन्न होता है।

महाभूतोंका प्रकोप विपाक है। क्षिप्त चित्त उससे संजात होता है। इसलिए वह विपाकज है।

सामासिक रूपसे सर्व उपपत्ति स्ववेदनाके सहित विपाक फल है। पापके कारण अवद्यकारी आपायिक शरीर दुःखभोगके लिए धारण करता है। कर्मजन्मका आक्षेप करता है और इस भवको प्रभावित करता है।

२. आक्षेपक और परिपूरक कर्म

क्या सब कर्म जन्मका आक्षेप करते हैं? यह स्पष्ट ही असमंव है। सिद्धान्तके अनुसार एक कर्म एक जन्मका आक्षेप करता है और अनेक कर्म जन्मके परिपूरक होते हैं। यथा, एक चित्रकार चित्रके क्षेत्रको तूलिकाकी एक रेखासे परिछिन्न करता है और पश्चात इस चित्रको भरता है।

दृष्टान्तः—प्रत्येक मनुष्य-जन्म कुशलकर्मसे आक्षिप्त होता है। यह कुशल कर्मका विपाक फल है। किन्तु कोई भी मनुष्य जन्म सर्वथा सुखमय नहीं होता क्योंकि मनुष्य व्यामिश्रकारी होते हैं, उनके कर्म शुक्ल-कृष्ण होते हैं। इसीलिए मनुष्यत्वके तुल्य होते हुए भी किसीकी इन्द्रियां सकल होती हैं। कोई विकलेन्द्रिय होता है, कोई कर्मबलके उत्कर्षसे वर्ण-संस्थानसे सुन्दर होता है और किसीमें इसका या उसका अभाव होता है। षडायतन का आक्षेप होता है। किन्तु वर्ण, संस्थानादि परिपूरक कर्मके फल हैं। केवल कर्म ही नहीं किन्तु सविपाक धर्म भी जन्मका आक्षेप करते हैं और उसके परिपूरक होते हैं किन्तु कर्मके प्राधान्यके कारण केवल कर्मका ही उल्लेख होता है किन्तु यह धर्म जब कर्मके सहभू नहीं होते परिपूरक हो सकते हैं। किन्तु आक्षेप नहीं कर सकते क्योंकि उनका बल स्वल्प है।

मनुष्य जन्ममें जो कर्म बलसे आक्षिप्त होता है सदा अकुशल कर्मोंका विपाक होता रहता है। जो दुःखा वेदना आदिके जनक हैं। यह अकुशल कर्म मूलमें दो प्रकारके होते हैं। या यह गुरु हैं जिन्होंने पूर्व अपाय जन्म (नारक-तिर्यक-प्रेत) का उत्पाद किया है और जो अब अवशिष्ट बलका क्षय मनुष्य जन्मका परिपूरक हो करते हैं। अथवा यह लघु हैं जो जन्मके आक्षेपक नहीं हो सकते और जिनका सारा बल परिपूरक है। यदि कोई पुद्गल निर्धन है, इसका यह कारण है कि उसने कोई शुभ कर्म किया है जिसके सामर्थ्यसे वह मनुष्य जन्म ग्रहण करता है किन्तु उसने अदत्तादानका अवद्य किया है जिसका विपाक पूर्व नरकमें हुआ और अब उसका दण्ड दारिद्र्यके रूपमें मिला है। अथवा इसका कारण यह है कि मनुष्य जन्ममें जो अन्यथा शुभ है उसने दान नहीं दिया है।

३. विपाक्-काल

(१) दृष्ट धर्मवेदनीय (=इस जन्मयवेदनीय, इसको योगसूत्रमें दृष्ट धर्मवेदनीय कहा है। २।१२)

कर्म नियत या अनियत हैं। जिसका प्रतिसंवेदन अवश्य होगा वह नियत है। जिसका प्रतिसंवेदन आवश्यक नहीं है, वह अनियत है। नियत कर्म तीन प्रकारका है—दृष्ट-धर्म-वेदनीय, उपपद्यवेदनीय अर्थात् उपपन्न होकर वेदनीय, जिसका प्रति संवेदन समनन्तर जन्ममें होगा, अपर-पर्यायवेदनीय अर्थात् देरसे वेदनीय।

अनियत कर्मको संगृहीतकर विपाककी अवस्थाकी दृष्टिसे चार प्रकार होते हैं। एक मतके अनुसार कर्म पांच प्रकारका है। यह अनियत कर्मको दो प्रकारोंमें विभक्त करते हैं—एक वह जिसका विपाक काल अनियत है किन्तु जिसका विपाक नियत है (निपत विपाक)। दूसरा वह जिसका विपाक अनियत है (अनियत विपाक) जो विपच्यमान नहीं हो सकता।

दृष्ट-धर्म-वेदनीयकर्म वह कर्म है जो उसी जन्ममें विपच्यमान होता है या विपाकफल देता है जहां वह सम्पन्न हुआ है। यह दुर्बल कर्म है। यह जन्मका आक्षेप नहीं करते यह परिपूरक हैं। यह स्पष्ट है कि जो पाप दृष्टधर्मवेदनीय है वह उस पापकी अपेक्षा लघु है जिसका विपाक नरकमें होता है।

सौत्रान्तिकोंका कहना है कि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक बलिष्ट कर्मका विपाक दुर्बल हो। इसलिए दृष्टधर्मवेदनीय कर्मके विपाकका अनुबन्ध अन्य जन्मोंमें हो सकता है किन्तु क्योंकि इस विपाकका आरम्भ इस दृष्ट जन्ममें होता है इसलिए इस कर्मका 'दृष्टधर्म वेदनीय' यह नाम व्यवस्थित करते हैं। वैभाषिक इस दृष्टिको नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं कि एक कर्म हैं जिनका सन्निकृष्ट फल होता है, दूसरे वह हैं जिनका विप्रकृष्ट फल होता है। नियत विपाक कर्मके विपाकका स्वभाव बदल सकता है। सन्निकृष्ट जन्ममें नरकमें वेदनीय अमुक कर्म दृष्ट धर्ममें विपाक देगा।

किन लक्षणोंके कारण एक कर्म दृष्ट धर्म वेदनीय होता है ? क्षेत्र विशेष और आशय विशेषके कारण कर्म दृष्ट धर्ममें फल देता है। क्षेत्रके उत्कर्षसे यद्यपि आशय दुर्बल हो : यथा वह भिक्षु जिसका पुरुष व्यञ्जन अन्तर्हित होता है, स्त्री-व्यञ्जन प्रादुर्भूत होता है, क्योंकि उसने संघका अनादर यह कहकर किया कि 'तुम स्त्री हो !' आशय विशेषसे : यथा वह षंढ जिसने वृषभोंको अपुंस्त्वके भयसे प्रतिमोक्षित किया और अपना पुरुषेन्द्रिय फिर प्राप्त किया।

यदि किसी भूमिसे किसीका अत्यन्त वैराग्य होता है तो वह उस भूमिमें पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए इस भूमिमें, किन्तु दूसरे जन्ममें, विपच्यमान कर्म अपने स्वभावको बदलता है और दृष्ट धर्ममें विपच्यमान होता है, चाहे वह कुशल हो या अकुशल।

जो कर्म विपाकमें नियत है किन्तु जो विपाककी अवस्था (काल) में अनियत है वह कर्म दृष्ट धर्म वेदनीय होता है। जो कर्म विपाककी अवस्थामें नियत है उसका उसी अवस्थान्तरमें विपाक होता है। अवस्थान्तरकी जिस भूमिमें उसके कर्मका नियत विपाक है उस भूमिसे उस पुद्गलका अत्यन्त वैराग्य असम्भव है। जो कर्म अनियत विपाक है वह विपाक नहीं देगा यदि पुद्गलका उस भूमिसे वैराग्य है जहां वह विपच्यमान होगा।

निरोध-मैत्री-अरणा समाधि-सत्यदर्शन-अरहत्फलसे व्युत्थित पुद्गलके प्रति किया गया उपकार और अपकार सहसा फल देता है।

(२) उपपद्य वेदनीय कर्म—वह कर्म है जिसका प्रतिसंवेदन समनन्तर जन्ममें होगा। यह आनन्तर्य कर्म है। कोई कर्म, कोई अनुताप इनके समनन्तर विपाकमें आवरण नहीं है। गुरुताके क्रमसे यह इस प्रकार हैं, मातृबध, पितृबध, अर्हत्‌बध, सङ्घ-भेद, दुष्टचित्तसे तथागतका लोहितोत्पाद।

आनन्तर्य सभाग (उपानन्तर्य) सावद्यसे भी पुद्गल नरकमें अवश्यमेव उपपन्न होता है। माताका दूषण, अर्हन्तीका दूषण, नियतिस्थ बोधिसत्वका मारण, शैक्षका मारण, सङ्घके आयद्वारका हरण, स्तूपभेदन, यह पांच आनन्तर्य सभाग सावद्य हैं।

(३) अपर-पर्याय-वेदनीय कर्म—वह कर्म है जो तृतीय जन्मके उद्र्ध्व अपर जन्ममें विपच्यमान होता है।

(४) अनियत विपाक कर्म—कुछ कर्मोंके विपाकका उल्लङ्घन हो सकता है। (देखिये अहोसि कम्म, विशुद्धिमग्गो, ६०१)

कुछ आचार्योंके अनुसार कर्म अष्टविध है :—

१—दृष्टधर्मवेदनीय और नियत विपाक कर्म; २—दृष्टधर्मवेदनीय और अनियत विपाक कर्म; ३—उपपद्य वेदनीय और नियत विपाक कर्म; ४—अपरपर्यायवेदनीय और नियत विपाक कर्म; ५—उपपद्य वेदनीय और अनियत विपाक कर्म; ६—अपरपर्यायवेदनीय और अनियत विपाक कर्म; ७—अनियत या अनियत वेदनीय किन्तु नियत विपाक कर्म; ८—अनियत वेदनीय और अनियत विपाक कर्म।

किस कर्मका विपाक प्रथम होता है ?

उपपद्य वेदनीय कर्मका विपाक-काल नियत है। किन्तु सब लोग आनन्तर्य कर्म नहीं करते। अपर पर्याय वेदनीय प्रकारके बहुकर्मोंका समुदाचार हो सकता है। प्रश्न है कि वह कौन कर्म है जो मृतके समनन्तर जन्मका अवधारण करता है ?

क—समनन्तर जन्मका निश्चय म्रियमाणके चैतसिक धर्मोंके अनुसार होता है। मरण-चित्त, उपपत्ति-चित्तका आसन्न हेतु है। मज्झिम (३।९९)में है कि मरणकालमें पुद्गल जिस लोककी उपपत्तिमें चित्तको अधिष्ठित करता है, जिसकी भावना करता है, उसके वह संस्कार इस प्रकार भावित हो उस लोकमें उपपत्ति देते हैं। किन्तु म्रियमाण अपने अन्त्यचित्तका स्वामी नहीं होता। यह चित्त उस कर्मसे अभिसंस्कृत होता है जिसका विपाक समनन्तर जन्ममें होता है। यदि किसी पापकर्मका विपाक अपाय गतिमें होना है तो उसका मरण-चित्त नारक होगा।

ख—विविध कर्मोंके विपाकका यह क्रम है :—

१–गुरु २–आसन्न ३–अभ्यस्त। जब मरण-चित्त स-उपादान होता है, तब उसमें नवीन भावके उत्पादनका सामर्थ्य होता है। इस चित्तके पूर्ववर्ती सर्व प्रकारके अनेक कर्म होते हैं। तथापि यह

गुरुकर्मसे आहित सामर्थ्य है जो अन्तिम चित्तको विशिष्ट करता है। गुरुकर्मके अभावमें आसन्न कर्मसे आहित सामर्थ्य, उसके अभावमें अभ्यस्त कर्मसे आहित सामर्थ्य, उसके अभावमें पूर्व जन्म कृत कर्मसे आहित सामर्थ्य, अन्तिम चित्तको विशिष्ट करता है। राहुलका एक श्लोक यहां उदाहृत करते हैं : गुरु, आसन्न, अभ्यस्त, पूर्वकृत—यह चार इस सन्तानमें विपच्यमान होते हैं। इसीलिए बौद्धोंमें मरणकालमें विविध अनुष्ठान करते आर उपदेश आदि देते हैं।

वस्तुतः जैसा बुद्धने कहा है कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है।

निष्यन्द फल

१. लक्षण—हेतु सदृश धर्म निष्यन्द-फल है।

कोई धर्म शाश्वत नहीं है। वर्ण केवल वर्ण-क्षणका सन्तान है ; विज्ञान केवल चित्त-सन्तति है। प्रत्येक धर्मके अस्तित्वका प्रत्येक क्षण जो पूर्व क्षणके सदृश या सदृश तुल्य है इस क्षणका निष्यन्द है। इस प्रकार स्मृतिका व्याख्यान करते हैं :—चित्त-सन्ततिमें आहित एक भाव अपना पुनरुत्पाद करता है। प्रायः एक कुशल चित्त एक दूसरे कुशल चित्तका निष्यन्द फल होता है। यह साथ ही साथ कुशल मनसिकार कर्मका पुरुषकार फल भी है।

सूत्रमें उक्त है : अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि भावित, सेवित, बहुलीकृत होनेसे नारक, तिर्यक्, प्रेत उपपत्तिका उत्पाद करते हैं। [यह अभिध्या कर्म, व्यापाद कर्म और उस मानसकर्मके जिससे तीर्थिक मिथ्यादृष्टिमें अभिनिविष्ट होता है, विपाक फल हैं]। यदि लोभी, हिंसक और मिथ्यादृष्टि चरित पुद्गल [पूर्व शुभकर्मके विपाकके लिए] अपर पर्यायमें मनुष्य जन्म प्राप्त करता है तो वह सतृष्ण, दुष्ट और मूढ़ होगा।

लोभ-द्वेष-मोह-चरित लोभ, द्वेष, मिथ्या दृष्टिका निष्यन्द फल है।

वस्तुतः कर्मका निष्यन्द फल होता है यह कहना दुष्कर है। कर्म कर्मका उत्पाद नहीं करता। कोई कर्म ऐसे फलका उत्पाद नहीं करता जो उसके सर्वथा सदृश हो। अभिध्या एक अवद्य है, चित्तका एक अकुशल कर्म है, जो स्वीकृत होता है। यह कर्म नहीं है तथापि मनोदुश्चरित है। दार्ष्टान्तिक (सौत्रान्तिक) इसे मनस्कर्म मानते हैं किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि इस पक्षमें क्लेश और कर्मका ऐक्य होगा। दुश्चरित होनेसे परस्वके स्वीकरणकी विषम स्पृहा नारकादि विपाक प्रदान करती है। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि सामान्यतः काय-वाक् कर्मके समुत्थापक हैं। अभिध्याके स्वीकृत होनेसे यह अपने बलकी वृद्धि करती है और चित्तसन्तानमें दृढ़ स्थानका लाभ करती है। इससे जब यह

वाक्-काय कर्ममें व्यक्त होती है तब यह चित्तसन्तानको वासित करती है। अतः अभिध्याका निष्यन्द-फल अभिध्या है, अभिध्या चरितत्व है।

इसी प्रकार व्यापाद और मिथ्या दृष्टिको समझना चाहिये।

सर्वक्लेश—राग, द्वेष और मिथ्या दृष्टि—के दो आकार होते हैं। कदाचित् यह सुप्तावस्थामें होता है अर्थात् अनुशय होता है। कदाचित् यह पर्यवस्थित होता है। क्लेशानुशय पर्यवस्थित क्लेशका निष्यन्द फल है। पर्यवस्थानकी अवस्थामें जो क्लेश होता है वह क्लेशानुशय तथा बाह्य विषय (इष्ट विषय रागके पर्यवस्थानका समुत्थान करता है) और अयोनिशो मनस्कारकी अपेक्षा करता है। विपाक फल विपाकके बलको क्षीण करता है किन्तु निष्यन्द फलका स्वभाव ऐसा है कि इसका स्वतः अन्त नहीं होता। अकुशल चित्तोंके निष्यन्द फलका समुच्छेद आर्य मार्गकी भावना और स्रोत आपत्ति फलके प्रतिलाभसे होता है। कुशल चित्तोंके निष्यन्द फलका निरोध केवल निर्वाण में होता है।

प्रत्येक सत्व जो यत्किंचित् गतिमें उपपन्न होता है (प्रतिसन्धि, उपपत्ति) जन्म-क्षणमें स्वभूमिके अनुकूल सर्वक्लेशसे (राग, द्वेष, मोहसे) क्लिष्ट होता है। इसका कारण यह है कि अपने पूर्वजन्मके अन्तकालमें उसका चित्त इन क्लेशोंसे क्लिष्ट था।

जो कामधातुमें उपपन्न होता है, उसका चित्त द्वेष, गन्ध-रसके लोभ और मैथुन रागसे समन्वागत होता है। इसी कारण इस चित्तका निश्चय वह सेन्द्रिय शरीर होता है जो इन विविध तृष्णाओं और द्वेष समुत्थित दुःखका वहन कर सकता है। किन्तु कुशल मूलसे समन्वागत होनेके कारण वह स्वभूमिक क्लेशका नाश कर सकता है। मान लीजिये कि एक भिक्षु है जो मरणकालमें द्वेष और सर्व प्रकारके औदारिक रागसे मुक्त है। ऐसा भिक्षु केवल ऐसे ही धातुमें उपपन्न हो सकता है जहां घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रियका अभाव है। यदि इस भिक्षुका राग प्रथम ध्यानके सुखमें है तो मरणकालमें उसका चित्त इन सुखोंसे क्लिष्ट होगा और वह प्रथम ध्यान लोकमें उपपन्न होगा।

मज्झिम (महामालुंक सुत्तमें १।४३२) है कि हे, मालुंक्यापुत्त, दहरकुमारके सत्काय भी नहीं होता तो फिर उसके सत्काय दृष्टि कैसे उत्पन्न होती है उसके धर्म भी नहीं होते तो फिर धर्ममें उसकी विचिकित्सा कैसे होती है, उसके शील भी नहीं होते तो फिर शीलोंमें शीलव्रत परमार्श कैसे होता है, उसके काम भी नहीं होते तो फिर कामच्छन्द कैसे होता है? भगवान् कहते हैं कि इसका कारण यह है कि उसमें क्लेशानुशय है।

हम उन विपाकफलोंका विचार करते हैं जिनका मनुष्य परिभोग करते हैं। नारक दुःखी होते हैं देव केवल सुखका भोग करते हैं। मनुष्य जो वर्ण, संपत्ति, सौन्दर्य, आयुष्य, सुख-दुःखमें विविध होते हैं वह सुखसे सर्वथा विरहित नहीं होते किन्तु रोग और जराके अधीन हैं।

देव शुक्ल कर्मके फलका भोग करते हैं, नारक कृष्ण कर्मके फलका भोग करते हैं और मनुष्य शुक्ल-कृष्ण कर्मका भोग करते हैं। मनुष्य जन्मका आक्षेपक शुक्ल कर्म होता है किन्तु प्रत्येक मनुष्य जन्मके परिपूरक विविध शुक्ल-कृष्ण कर्म होते हैं।

इसी प्रकार मनुष्यका स्वभाव कुशल—अकुशल दोनों है।

प्रत्येक मनुष्य काम-क्रोध, क्लेश तथा मोहसे समन्वागत होता है। इसमें दो अपवाद हैं। १– शैक्ष्य मनुष्य जन्म लेते हैं क्योंकि वह रागद्वेषसे विनिर्मुक्त नहीं हैं किन्तु मोहसे विनिर्मुक्त हैं। २– चरमभविक बोधिसत्व क्लेशसे विनिर्मुक्त हैं किन्तु बोधिकी रात्रिको ही वह मोहसे मुक्त होते हैं।

क्योंकि सर्व मनुष्यजन्म शुभ कर्मसे आक्षिप्त होता है अतः सब मनुष्य तीन कुशलमूलसे समन्वागत होते हैं। वह अद्वेष, अलोभ, सम्यग्दृष्टिके भव्य हैं। अवस्थावश कुशल मूलका समुदाचार होता है। सदुपदेश और सत्संगवश ऐसा होता है।

एक पुद्गल प्रकृतिसे तीव्र राग-द्वेष-मोह जातिक होता है। वह रागज, द्वेषज, मोहज, दुःख-दौर्मनस्यका अभीक्ष्ण प्रतिसंवेदन करता है। वह दुख-दौर्मनस्यके साथ रुदन करता हुआ परिशुद्ध ब्रह्मचर्यका आचरण करता है। वह मरणानन्तर स्वर्गमें उपपन्न होता है। धर्म-समादानसे उसका आयतिमें सुख विपाक होता है। एक पुद्गल प्रकृतिसे तीव्र राग-द्वेष-मोह जातिक नहीं होता। वह रागज-द्वेषज-मोहज दुःख दौर्मनस्यका अभीक्ष्ण प्रतिसंवेदन नहीं करता। वह ध्यानमें सुगमतासे समापन्न होता है और स्वर्गमें उपपन्न होता है। वह वर्तमानमें भी सुखी है और भविष्यमें भी उसका सुखविपाक है।

संसारमें पर्याप्त दुःख है जिससे मनुष्य सरलतासे 'सर्वं दुःखम्' इस सत्यको तथा वैराग्य और निर्वाणको समझते हैं। देव अत्यन्त सुखी होते हैं। दूसरी ओर नारकोंके समान मनुष्यका अविच्छिन्न दुःख नहीं है।

किन्तु मनुष्योंमें भेद है।

कुछ अनेक जन्मोंमें मनुष्यत्वमें नियत हैं। उन्होंने कुशल मूलका आरोपन किया है। कोई स्रोत आपन्न हैं और उनके सात भव और हैं किंतु कभी अकस्मात् मनुष्यत्वका लाभ होता है। कर्मविपाक दुर्विज्ञेय है। नारक और तिर्यक् योनिसे मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है। इसका कारण कोई पूर्वजन्मकृत दुर्बल शुभकर्म होता है। मनुष्य जन्म आश्चर्य घटना है। यथा, काणकच्छपके लिये युगमें ग्रीवाको प्रवेश करना कठिन है, उसी प्रकार विनिपातिगत पुद्गलके लिए मनुष्यत्व दुर्लभ है।

(मज्झिम ३।१६९)

नरकमें दो प्रकारके भिन्न प्रलाप, पारुष्य, व्यापाद होते हैं। भिन्न प्रलाप : क्योंकि नारकीय सत्व परिदेव (विलाप) करते हैं; पारुष्य, क्योंकि नारकीय सत्व अन्योन्य निग्रह करते हैं; व्यापाद, क्योंकि चित्त संतानके पारुष्यसे वह एक दूसरेसे द्वेष करते हैं। नारकीय सत्वोंमें अभिध्या और मिथ्यादृष्टि होती हैं किंतु नरकमें यह सम्मुखी भावतः नहीं होतीं। क्योंकि वहां सर्व रंजनीय वस्तुका अभाव होता है और कर्मफलका प्रत्यक्षत्व होता है। नरकमें प्राणातिपातका अभाव होता है क्योंकि नारकीय सत्व कर्मक्षयसे च्युत होते हैं। वहां अदत्तादान और काम मिथ्याचारका भी अभाव होता है क्योंकि नारकीय सत्वोंमें द्रव्य और स्त्री-परिग्रहका अभाव होता है। प्रयोजनके अभावसे मृषावाद और पैशुन्य नहीं होता।

तिर्यक्का चित्त दुर्बल होता है। किन्तु उनका दुष्ट स्वभाव प्रगट होता है। यह आनंतर्यसे स्पृष्ट नहीं होते। किंतु जिन पशुओंकी बुद्धि पटु होती है यथा आजानेय-अश्व वह सदा आनंतर्यसे पृष्ट होते हैं। अतः जो सत्व पूर्वकृत शुभ कर्मवश नरक और तिर्यक् योनिके अनंतर मनुष्य जन्म लेते हैं वह मनुष्य जन्ममें अपने पूर्वक्लेशसे समन्वागत होते हैं और क्लेश नरकवास या तिर्यक योनिमें वासके कारण बहुलीकृत होते हैं।

कल्प निर्याण कालमें पुद्गल अधर्मराग रक्त, विषय लोभाभिभूत और मिथ्या धर्मपरीत हो जाते हैं। शस्त्र, रोग और दुर्भिक्षसे कल्पका निर्गम होता है। उस समय कषाय अभ्यधिक होते हैं। इस लिये मनुष्योंमें बहुत ऐसे होते हैं जिनमें अभीक्ष्ण क्लेश होता है। यह निर्वाणमें आवरण है। क्लेशावरण सर्व पापिष्ट है। मिथ्या दृष्टिसे समन्वागत मनुष्योंकी संख्या और भी अधिक हैं। लोकके चक्षु शास्ताकी आंखें निमीलित हो गयी हैं। साक्षी जन प्रायः विनष्ट हो गये हैं। जिन्होंने तत्त्वदर्शन नहीं किया है, जो कुतार्किक हैं, निरंकुश हैं, स्वेच्छाचारी हैं उन्होंने शासनको आकुल कर दिया है। भगवत् परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं। उनके शासनके धाता भी परनिर्वृत हो चुके हैं। संसार अनाथ हो चुका है। वह दोष जो गुणोंके घातक हैं सम्प्रति यथेच्छ संचरण करते हैं। यह देखते हुए कि मुनिके धर्मका प्राण कण्ठतक आ गया है और इस कालमें मलोंका प्राबल्य है। मुमुक्षुओंको प्रमाद नहीं करना चाहिये।

विसंयोग-फल

हमने अबतक सास्रव कर्मोंके फलकी परीक्षा की है। यह कर्म कुशल या अकुशल हैं और राग (सुखकी इच्छा या ध्यान लोककी इच्छा) तथा मोह (आत्म-दृष्टि) से क्लिष्ट हैं। तृष्णासे अभिष्यन्दित यह कर्म विपाक फल देते हैं किन्तु अनास्रव कर्मका विपाक नहीं होता क्योंकि यह अन्य तीन कर्मोंका क्षय करता है। यह अशुक्ल है। यह धातु पतित नहीं है। यह प्रवृत्तिका निरोध करता

है। इनके फलको विसंयोग-फल कहते हैं। यह कर्म, मोह और क्लेशके मूलका समुच्छेद करते हैं। अर्थात् क्लेश प्राप्तिका समुच्छेद करते हैं। जो आर्य इन अनास्रव कर्मोंको सम्पादित करता है उसका क्लेश समुदाचार नहीं करता। वह क्लेशोंके निष्यन्द फलका समुच्छेद करता है।

कुछ सास्रव कर्म जो वैराग्यके लौकिक मार्गमें संगृहीत हैं अपने प्रतिपक्षी क्लेशोंसे विसंयोग फल अनैकान्तिक रूपसे प्रदान करते हैं। जो योगी वीतकामराग है वह काम भूमिक क्लेशोंकी प्राप्तिका छेद करता है। पुनः वह पूर्वकृतकर्म और कामकी प्राप्तिका छेद करता है। वह इन कर्मोंके विपाकका उल्लङ्घन करता है।

कर्म-फल

कर्म स्वकीय सामर्थ्यसे अपने फलका उत्पाद करता है यथा बीज। अतः कर्मोंकी धर्मता नियत है। किंतु बौद्ध धर्म यह स्वीकार करता है कि कर्म-फलका उल्लङ्घन संभव है और वह पुण्य परिणामेना(परिणत होना) भी मानता है।

आर्य, ऋषि, आदिका महान सामर्थ्य होता है। उनके मनः प्रदोषसे दण्डकादि निर्जन हो गये।

सत्यक्रिया (सच्चकिरिया) में विश्वास बड़ा प्राचीन है। विशुद्ध पुरुष अपनी विशुद्धिका प्रख्यापनकर धर्मतासे ऊपर उठ जाता है। अशोकका पुत्र कुणाल ज्ञापित करता है कि अपनी माताके प्रति उसका कभी दुष्टचित्त नहीं हुआ। इस सत्य क्रियासे वह अपनी आंखोंसे देखने लगता है।

पुण्य-अपुण्य आशयपर आश्रित है किंतु क्षेत्रके अनुसार पुण्य-अपुण्य अल्प या महान होता है।

कर्म विपाक दुर्विज्ञेय है। कर्म बीजके समान है जो अपना फल प्रदान करता है। यह सुखा या दुःखा वेदना है। कर्मका विप्रणाश नहीं है। जब समय आता है और प्रत्यय सामग्री उपस्थित होती हैं तब कर्मोंका विपाक होता है। वह भूमि या जलमें विपच्यमान नहीं होते किंतु सत्वमें।

यमराजके निरयपाल सत्त्वको ले जाते हैं और यमसे दण्ड प्रणयनके लिए प्रार्थना करते हैं। यमराज उससे कहते हैं कि तुमने देवदूतको नहीं देखा। वह कहता है कि देव! मैंने नहीं देखा है। यम—तुमने क्या जराजीर्ण, रोगी, अवद्यकारीको नहीं देखा है? तुमने यह क्यों नहीं जाना कि तुम भी जाति, जरा, मृत्युके अधीन हो? तुमने यह क्यों नहीं सोचा कि मैं कल्याण कर्म करूं? यह पाप कर्म न तुम्हारी माता ने किया है, न तुम्हारे पिता ने, न तुम्हारे भाई-बहनने, न तुम्हारे मित्र अमात्यने, न ज्ञातृ सम्बन्धियोंने, न श्रमण-ब्राह्मणने, न देवताओंने। तुमने ही यह पापकर्म किया है। इसके विपाकका प्रतिसंवेदन तुम्हीं करोगे।

यह कथा लोक विश्वास पर आश्रित है। यम केवल नारकोंके दण्डका प्रणयन करता है। पुनः

यमके निरयपाल हैं नारकोंको दण्ड नहीं देते हैं। उनकी यातना उनके स्वकीय कर्मोंके कारण है। यथार्थमें कर्म बीजके तुल्य हैं। यह अपनी जातिके अनुसार जल्दी या देरसे, अल्प या महत् फल देते हैं।

किन्तु ईश्वरवादी कहते हैं कि यद्यपि समग्र बीजका वपन उर्वरा भूमिमें हो तथापि वर्षाके अभावमें बीजमें अङ्कुर नहीं निकलते। अतः उनका कहना है कि यह ईश्वरकी शक्ति है जो कर्मोंको विपाक प्रदानका सामर्थ्य देती है। बौद्ध कहते हैं कि तृष्णासे अभिष्यन्दित हो कर्म विपाक देते हैं। आर्य तृष्णा रहित हो कर्म करता है। इसलिए वह कर्मसे लिप्त नहीं होता है।

विद्वानोंके विभिन्न मत

१. सर्वास्तिवादिन् (वैभाषिक)

विपाक फल समनन्तर नहीं होता। कर्मका विपाक सुखा-दुःखा वेदना है। यह विपाक कर्मके सम्पादनके बहुत काल पश्चात् होता है। कहते हैं कि कर्म अपने विपाक फलको क्रियाकालमें आक्षित करता है और कर्मके अतीत होने पर विपाकका दान करता है। एक कठिनाई है।

सर्वास्तिवादीका मत है कि अतीत और अनागतका अस्तित्व है। हेतु प्रत्यय अनागतको प्रत्युत्पन्नमें उपनीत करते हैं। अनित्यता प्रत्युत्पन्नको अतीतमें ले जाती हैं।

प्रश्न—मान लीजिये कि मेरे अतीत कर्मका अस्तित्व है। यह भी मान लीजिये कि इसमें फल प्रदानका सामर्थ्य है। क्योंकि मैं उन क्षणिक धर्मोंकी सन्तति हूं जो नित्य उत्पद्यमान् होते रहते हैं। इसलिए वह क्या है जो इस कर्मको मुझसे सम्बद्ध करता है ?

उत्तर—स्वसन्तान पतित अरूपी संस्कृत धर्म होते हैं (किन्तु यह चित्त विप्रयुक्त है) जिन्हें 'प्राप्ति' कहते हैं। सब कर्म कर्तामें इस कर्मकी प्राप्तिका उत्पाद करता है। इसी प्रकारका सर्वचित्त, सर्वराग, उस चित्त, उस रागकी 'प्राप्ति'का उत्पाद करता है। इस 'प्राप्ति'का निरोध होता है। किन्तु यह स्वसदृश एक 'प्राप्ति'का उत्पाद करती है। जब तक हम इन कर्मोंकी प्राप्तिका 'छेद' नहीं करते तब तक हम अपने कर्मोंकी 'प्राप्ति'से समन्वागत होते हैं। जब हम इस प्राप्तिके निरन्तर उत्पादका निरोध करते हैं तब इस 'प्राप्ति'का छेद होता है। इस प्रकार कर्म कर्त्ताको फल प्रदान करता है।

मध्यमक वृत्ति (१७–१२) और मध्यमकावतार (६–३९) में चन्द्रकीर्तिने इस वादका निराकरण किया है:— कर्म क्रियाकालमें निरुद्ध होता है किन्तु यह कर्त्ताके चित्तसंतानमें एक 'अविप्रणाश' नामक द्रव्यका उत्पाद करता है। ।यह अरूपी धर्म है। किन्तु चित्तसे विप्रयुक्त है। यह 'अविप्रणाश' न कुशल

है, न अकुशल। निरुद्धकर्म 'अविप्रणाश' द्रव्यमें अंकित हो जाता है। यह फलको कर्त्तासे सम्बद्ध करता है।

२. सौत्रान्तिक(विज्ञानवाद)

सौत्रान्तिक अतीत और प्राप्ति नामक धर्मोंके अस्तित्वको नहीं मानते।

यदि अतीत, अनागत द्रव्य सत् हैं तो वह प्रत्युत्पन्न हैं। यदि अतीत कर्मफल प्रदान करता है तो उसका प्राप्त कारित्र है। अतः वह प्रत्युत्पन्न है। यदि बुद्ध अतीत कर्मके अस्तित्व का उल्लेख करते हैं तो उनका अभिप्राय केवल इतना है कि अतीत कर्मका विपाक होगा। बुद्ध प्राप्तियोंका उल्लेख नहीं करते।

सौत्रान्तिकोंके अनुसार कर्म चित्त सन्तानको (चित्त-चैत्त, सेन्द्रियकाय) जिसे तीर्थिक 'आत्मा' कहते हैं विपरिणत करता है। कर्म सन्तानके परिणाम विशेषको निश्चित करता है। इसका प्रकर्ष वह अवस्था है जो कर्मका विपाक है। दुःखा वेदनाका उत्पाद होता है यदि अकुशल चित्तसे सन्तानका परिणाम विशेष होता है यथा यदि रक्तबीजके आरोपणसे बीजके वर्णका पुष्प होता है किन्तु इस वर्णका पल्लव या शाखा नहीं होती उसी प्रकार चित्त सन्तानका कर्मबलसे एक सूक्ष्म परिणाम होता है और कर्मके अनुसार चित्तसन्ततिका निश्चय, दुःख-सुख होता है। सौत्रान्तिक बाह्यभाव और सेन्द्रिय कायका प्रतिषेध नहीं करते किन्तु कर्म और कर्म-विपाकको वह केवल चित्तमें आहित करते प्रतीत होते हैं।

ख—विज्ञानवादी जिन्हें चित्तमात्रवादी कहते हैं :—

(१) एक ओर वह रूपके अस्तित्वका प्रतिषेध करते हैं।

हम इसके बीज वैभाषिक सिद्धान्तमें पाते हैं। 'आत्मा'को चित्तवेदनाकी सन्तान अवधारित करना जो पूर्ववर्ती चित्तवेदनासे निगृहीत होते हैं, यह कहना कि चित्तरूपका उत्पाद करता है, वेदना और सेन्द्रिय कायको 'विपाक-फल' मानना और बाह्यभावको अधिपति फल अवधारित करना विज्ञानवादकी ओर झुकना है।

(२) दूसरी ओर वह सौत्रान्तिकोंका 'सन्तान' और 'सूक्ष्म परिणाम' नहीं मानते। 'आत्मा' प्रवृत्ति विज्ञानके सन्तानसे अन्य होगा। हम यह कैसे मान सकते हैं कि ऐसा सन्तान अनागत चित्तके बीजभूत पूर्व चित्तके चिह्न धारण करता है और इसका 'सूक्ष्मपरिणाम' होता है? वस्तुतः प्रवृत्ति विज्ञानका आश्रय एक आलय विज्ञान होता है जो बीजोंका संग्रह करता है।

कर्मफलका अतिक्रमण

यद्यपि कर्मका विप्रणाश नहीं है तथापि फलका समतिक्रम हो सकता है यदि अनुताप पूर्वक पाप-

विरति हो। मैत्री भावनाद्वारा यदि अवद्यकारी अपनेको विमुक्त करता है तो जो कर्म उसने किया है उसका महत्व कम हो जाता है। प्रवारणा (वर्षावासके अन्तमें भिक्षुओंका एक अनुष्ठान) के समय संघके सम्मुख पाप स्वीकार करनेसे कर्मसे शुद्धि होती है। एक प्रश्न है; कि क्या परिसमाप्त पाप कर्मको पाप-स्वीकरण पाप-विरति क्षीण कर सकते हैं ? नहीं। किन्तु यदि मौल-कर्मकी परिसमाप्तिके समनन्तर ही अनुताप होता है तो पृष्ठके अभावमें कर्मकी परिसमाप्ति नहीं होती। यथा, जब प्रयोगका अभाव होता है या वह दुर्बल होता है तो अवद्य पूरा नहीं होता। उसी प्रकार जब पापी अपने अवद्यको अवद्य मानता है और पाप विरतिका समादान करता है तो अवद्य पूरा नहीं है। यह उसका प्रतिपक्ष है।

नियत-अनियत विपाक

वह कर्म नियत बिपाक, (नियत वेदनीय) है जो केवल कृत नहीं है किन्तु उपचित भी है। उपचितकर्म वह हैं जिसकी परिसमाप्ति हुई है और जिसका विपाक-दान नियत है।

कोई एक दुश्चरित वश दुर्गतिको प्राप्त होता है, कोई दोके कारण, कोई तीनके कारण (काय, वाक मनो दुश्चरित)। कोई एक कर्मपथके कारण, कोई दोके कारण, ... कोई दशके कारण दुर्गतिको प्राप्त होता है। जो जिस प्रमाणके कर्मसे दुर्गतिको प्राप्त होता है, यदि उस कर्मका प्रमाण असमाप्त रहे, तो कर्म 'कृत' है, 'उपचित' नहीं। प्रमाणके समाप्त होनेसे कर्म 'उपचित' होता है। अंगुत्तर निकाय (१।२५०) में है कि थोड़े जलको थोड़े लवणसे नमकीन कर सकते हैं किन्तु यदि बहुमात्रामें भी लवण हो तब भी वह गङ्गाके जलको नमकीन नहीं कर सकता।

तीव्र क्लेश, तीव्र प्रसाद (श्रद्धा) से किया हुआ कर्म और निरन्तरकृत कर्म नियत हैं। वस्तुतः तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग चित्त संतानको अत्यन्त वासित करते हैं। निरन्तर कृत कर्म चित्त-स्वभावको बनाता है। यह लक्षण पूर्व लक्षणके विरुद्ध नहीं है। केवल उसीको तीव्र प्रसाद या तीव्र राग हो सकता है जिसने बहुकुशल या अकुशल कर्म किए हैं।

गुण क्षेत्रमें किया हुआ कर्म भी नियत विपाक है यथा, पितृवध नियत विपाक है। जो कर्म बुद्ध, संघ, आर्य, माता-पिताके प्रति किया जाता है, वह नियत विपाक है।

तीन प्रकारके कर्म हैं। १—जिसका विपाक नियत है और जिसका विपाक-काल नियत है। यथा, जिसने आनन्तर्य कर्म किया है वह उसका फल अगले जन्ममें अवश्य भोगेगा। उसका नरकमें विनिपात होगा।

२—वह कर्म जिसका विपाक नियत है किन्तु काल नियत नहीं है। एक मनुष्यने एक कर्म उपचित किया है जिसका विपाक नियत है और स्वभाव ऐसा है कि वह केवल कामधातुमें ही विपच्यमान

हो सकता है। या जो स्वर्ग या नरकमें फल दे सकता है। किन्तु वह ऐसा नहीं है कि समनन्तर जन्ममें ही यह उपपत्ति हो। एक कर्म दूसरे कर्मसे विहित हो सकता है। वह पुद्गल आर्यमार्गमें प्रवेश करता है और कामसे वीतराग होता है। क्यों कि उसके कर्मका विपाक नियत है, वह इसी जन्ममें उसके फलका प्रतिसंवेदन करेगा। यह अपर-पर्याय वेदनीय कर्म था। यह दृष्टधर्म वेदनीय हो जाता है।

अंगुलिमालका दृष्टान्त द्रष्टव्य है (मज्झिम निकाय २।९७)।

३—वह कर्म जिसका विपाक अनियत है। स्रोत आपन्नकी संततिका, अपाय गामिक पूर्वोपचित कर्मके विपाक-दानमें वैगुण्य है। क्योंकि प्रयोग शुद्धि और त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के प्रति आशय शुद्धिके कारण उसकी संतति बलवान कुशलमूलोंसे अधिवासित है। अबुध अल्प पाप भी करके अधोगतिको प्राप्त करता है। बुध महापाप भी करके अपायका त्याग करता है। थोड़ा भी लोहा पिण्डके रूपमें जलमें डूब जाता है और वह लोहा प्रभूत भी क्यों न हो पात्रके रूपमें तैरता रहता है।

पुण्य-परिणामता

सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है। जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। किन्तु पालि निकायमें भी पुण्य-परिणामना (पत्तिदान आप्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृतकी सहायता हो सकती है। स्थविरवादी प्रेत और देवोंको दक्षिणा देते हैं अर्थात् भिक्षुको दिये हुए दानसे जो पुण्य (दक्षिणा) संचित होता है उसको देते हैं हम अपने पुण्यमें दूसरेको सम्मिलित कर सकते हैं, पापमें नहीं।

निष्कर्ष यह है कि विक्लिष्ट धर्म, सावद्य, क्लेशाच्छन्न, और हीन हैं। शुभ और अमल धर्म ही प्रणीत हैं। जो धर्म न हीन हैं, न प्रणीत वह मध्य हैं। अतः संस्कृत शुभ धर्म ही सेव्य है। इन्हींका अभ्यारोपण संतानमें होना चाहिये। वस्तुतः असंस्कृत धर्म अनुत्पाद्य हैं। उनका अभ्यास नहीं हो सकता। असंस्कृतका कोई फल नहीं है और फलकी दृष्टिसे ही भावना होती है।

मोक्ष अनुत्तर है। किस मार्गका अवलम्बनकर उसकी प्राप्ति होती है इसके निर्देशका यहां स्थल नहीं है अतः उसका वर्णन यहां नहीं किया गया। हमारे देशमें कर्मका बड़ा महत्व है। जातक अवदान तथा पौराणिक कथाओंमें कर्म महत्वको अनेक प्रकारसे दिखाया गया है। इनका हमारे सामाजिक जीवनपर गहरा प्रभाव पड़ा है किन्तु कर्म सिद्धान्तका निरूपण शास्त्रीय रीतिसे प्रायः नहीं किया गया है। योग सूत्रके साधन पादमें इस विषयके केवल दो सूत्र हैं (२।१२,१३) इन सूत्रोंके भाष्य तथा वृत्तिमें कर्मके दो तीन मोटे, मोटे सिद्धान्त ही पाये जाते हैं और उनका विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। किन्तु

बौद्धागम और जैन शास्त्रोंमें कर्म वादका विशद् और विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इसलिए इस लेखके लिखनेकी प्रवृत्ति हुई।

× × ×

टिप्पण

१. उपचित–'कृत' कर्म और 'उपचित' कर्म में अन्तर है। उपचित कर्म की व्याख्या अभिधर्म कोश, ४।१२० में दी है। जो कर्म संचेतना पूर्वक नहीं होता वह 'उपचित' नहीं होता। जो कर्म असमाप्त रहता है वह 'उपचित' नहीं होता। कोई एक दुश्चरितसे दुर्गतिको प्राप्त होता है, कोई दो से, कोई तीन से, कोई एक कर्मपथ से, कोई दो से,······ कोई दस से। यदि जितनेसे दुर्गति की प्राप्ति होती है, वह असमाप्त रहता है, तो कृतकर्म "उपचित" नहीं होता। समाप्त होने परही उपचित होता है। कर्म करनेके उपरांत यदि अनुताप होता है तो कृतकर्म 'उपचित' नहीं होता। पापके आविष्कृत करनेसे पापकी मात्राका तनुत्व या परीक्षय होता है। पाप कर्मका प्रतिपक्ष होनेसे कृतकर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप विरतिका व्रत लेनेसे, शुभका अभ्यास करनेसे, आश्रयबलसे अर्थात् बुद्धादि की शरणमें जानेसे पापकर्म 'उपचित' नहीं होता। जब कर्म अशुभ है और उसका अकुशल परिवार है, तभी कर्म 'उपचित' होता है। जो कर्म विपाकदानमें नियत है वह उपचित होता है; जो अनियत है वह 'उपचित' नहीं होता। 'उपचित' कर्मको वेदान्तकी प्रक्रियामें संचित कर्म कहते हैं। यह वह कर्म हैं जो फल देना आरंभ कर देते हैं। वस्तुतः 'पृष्ठ' से ही कर्मकी परिसमाप्ति होती है। कर्मकी गुरुता प्रयोग, मौलकर्म और पृष्ठ की गुरुता पर निर्भर करती है।

२. अव्याकृत—कुशलत्वेन, अकुशलत्वेन जिसका व्याकरण नहीं होता वह अव्याकृत' है।

३. मिथ्यादृष्टि—मिथ्याप्रवृत्त दृष्टि जो सुखादि सत्य वस्तुसत्का अपवाद करती है।

४. समापत्ति—समाधि चित्तकी एकाग्रता और पुनः पुनः आसेवन है। ध्यान और समापत्तिका भी यही अर्थ है। 'समापत्ति'शब्दका प्रयोग ध्यान लोकके लिए होता है जहांके सत्व नित्य ध्यानावस्थित होते हैं। यह शब्द आठो भूमियोंके लिए प्रयुक्त होता है। इस अर्थमें समापत्तिका विपक्ष कामधातु है जहांके सत्वोंके चित्त असमाहित होते हैं। समापत्तिका यह सामान्य अर्थ है। एक विशेष अर्थमें 'समापत्ति' अरूप धातुकी चार भूमियोंके लिए प्रयुक्त होता है, उस अवस्थामें यह चार ऊर्ध्व भूमि हैं। चार अधर भूमियां चार ध्यान कहलाती हैं।

५. नैव संज्ञा ना संज्ञायतन—लोक धातु तीन हैं–काम, रूप, आरूप्य। आरूप्यमें स्थान नहीं

है। वस्तुतः अरूप्य धर्म अदेशस्थ हैं। किन्तु, उपपत्तिवश यह चतुर्विध हैं। चौथा नैवसंज्ञा ना संज्ञायतन है।

६. भवाग्र—"नैवसंज्ञाना संज्ञायतन"को 'भवाग्र' कहते हैं क्योंकि यह भवका अग्र अर्थात् शीर्ष स्थान है।

७. ब्रह्म पुरोहित—काम धातुसे ऊर्ध्व रूपधातुके सत्रह स्थान हैं। इस धातुमें ४ ध्यान हैं। स्थावरवादियोंके अनुसार चार या पांच ध्यान होते हैं। प्रथम ध्यानमें ब्रह्म-कायिक, ब्रह्म-पुरोहित और महा-ब्रह्म हैं।

८. अविज्ञप्ति—विज्ञप्ति और समाधिसे संभूत कुशल-अकुशल रूप 'अविज्ञप्ति' है। यद्यपि यह अनुबन्ध काय विज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्तिके सदृशरूप—स्वभाव और क्रिया—स्वभाव है तथापि यह विज्ञप्तिके सदृश दूसरेको कुछ विज्ञापित नहीं करता। अतः इसे अविज्ञप्ति कहते हैं (वैभाषिक)। सौत्रान्तिक 'अविज्ञप्ति' न मानकर संतति परिणाम विशेष मानते हैं। उनके अनुसार जब वधके लिए नियुक्त पुरुष वध करता है तब यह न्याय है, कि प्रयोक्ताकी चित्त-संततिमें एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है जिसके प्रभावसे यह संतति आयतिमें फलकी अभिनिष्पत्ति करेगी।

९. दुक्कट=(दुष्कृत एक प्रकारकी आपत्ति अपराध)—महावग्गमें इनका वर्णन मिलता है। पाराजिक, संघादिशेष, पाचित्तिय (प्रायश्चित) आदि आपत्ति हैं जिनके लिए विविध दण्डका विधान होता है। यथा मैथुनसे भिक्षु पाराजिक होता है, अर्थात् अन्य भिक्षुओंके साथ रहने योग्य नहीं होता। यथा संघमें फूट डालनेवाला 'संघादिशेष' का आपन्न होता है। इस अपराधके लिए दण्ड संघ ही दे सकता है इसलिए इसे संघादिशेष कहते हैं। 'पाचित्तिय' वह है जिसका प्रायश्चित्त है। दुष्कृतका उदाहरण शिष्यका अध्यापकके साथ अनुचित व्यवहार, अन्य आश्रयवासियों की अनुपस्थितिको हुए उनकी अनुपस्थितिमें प्रातिमोक्षका पाठ करनेवालेको दुक्कट दोष होता है।

१०. आनन्तर्य पांच कर्म 'आनन्तर्य' हैं—मातृवध, पितृवध, अर्हतवध, संघभेद और लोहितोपाद। यह आनन्तर्य इसलिए हैं क्योंकि यह उपपद्य वेदनीय हैं और अभिभूत नहीं हो सकते। इसका फल अनन्तर ही उत्पन्न होता है।

११. संवर—विनय, अनुशासन। यह 'संवर' इसलिए कहलाता है क्योंकि यह दौःशील्य—प्रबन्धका संवरण करता है। संवर, तीन प्रकारका है। (१) प्रतिमोक्ष-संवर, अर्थात् इस लोकके सत्वोंका शील; (२) अनास्रव-संवर अर्थात् वह संवर जो आर्य मार्गकी भावनासे उत्पन्न होता है; (३)

ध्यानज-संवर अर्थात् वह संवर जो ध्यानसे उत्पन्न होता है। यह रूप धातुका शील है। प्रातिमोक्ष संवर ८ प्रकारका है-भिक्षु, भिक्षुणी, श्रामणेर, श्रामणेरिका, उपासक, उपासिका, शिक्षमाण और उपवासथका संवर।

१२. पोषध—उपवासको पोषध कहते हैं क्योंकि इससे कुशल मूलकी वृद्धि (पोष) होती है अभिधर्म कोष ४-२८। क्योंकि इससे अपने और पराये अनाश्रव चित्तकी वृद्धि होती है इसलिए भगवत इसे 'पोषध' कहते हैं (परमार्थ)। इस शब्दके अनेक पाठ मिलते हैं—उपोसथ, उपोषध (ललित विस्तर, महावस्तु, अवदान कल्पलता) पोषध (महाव्युत्पत्ति, २६६), पोसह (जैन)।

१३. अनुशय—'अनुशय' आस्रव है। अनुशेरते = पुष्टिं लभते, सास्रव धर्मोंमें पुष्टि और प्रतिष्ठाका लाभ कर 'अनुशय'की बहुलता होती है।

१४. संतीरण—चक्षुर्विज्ञानादिके अनन्तर विषयका समय ग्रहण होता है। इस कृत्यको सम्प-टिच्छन् (पालि) कहते हैं। इसका अर्थ है सम्यक् अंगीकरण अर्थात् चक्षुर्विज्ञानादिसे विज्ञात आलंबन कर सम्यक ग्रहण। इसे संवच्छिन-चित्त कहते हैं। मनोधातु द्वारा "सम्पटिच्छित" विषयका सम्यक् विचार विमर्श संतीरण कहलाता है। इस चित्तको अभिधर्ममें अहेतुक विपाक मनोविज्ञान धातु कहते

१५. अनास्रव—आस्रव 'मल'को कहते हैं जो मल रहित है वह अनास्रव है। मार्ग और तीन असंस्कृत (आकाश, प्रतिसंख्या, निरोध और अप्रतिसंख्या) अनास्रव हैं। आकाश वह है जो आवृत नहीं करता। वह रूपसे आवृत भी नहीं होता। यही रूपकी अबाध गति है। सास्रव धर्मोंसे विसंयोग प्रति या निर्वाण है। प्रतिसंख्यासे एक प्रज्ञा विशेषका अर्थात् अनास्रव प्रज्ञाका ग्रहण होता है। एक अन्य निरोध जो उत्पादमें अत्यन्त विघ्नभूत है अप्रति कहलाता है। इस निरोधकी प्राप्ति सम्प्राभिसमयसे नहीं होती। किन्तु प्रत्यय वैकल्पसे होती है यथा मन इन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय एक रूपमें व्यासक्त होते हैं तब रूपांतर (= शब्द, गन्ध, रस, और स्प्रष्टव्य) प्रत्युत्पन्न अध्वका अतिक्रम कर अतीत अध्वमें प्रतिपन्न होते हैं।

१६. प्राप्ति—यह एक चित्त विप्रयुक्त धर्म है। यह द्विविध है। अप्राप्त और विहीनका लाभ; प्रतिलब्ध और अविहीन का समन्वागम। ससंतान पतित संस्कृत धर्मोंकी प्राप्ति होती है। सौत्रान्तिक इसके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि 'प्राप्ति' की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती तथा उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नहीं होता। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि प्राप्तिका कृत्य है। प्राप्ति वह हेतु है जो सत्वोंके भावकी व्यवस्था करता है।

१७. ह्री—आत्म गौरवको देखकर जो लज्जा होती है वह ह्री है।

१८. अपत्राप्य—परगर्हाके भयसे जो लज्जा होती है वह अपत्राप्य है।

१९. धर्म प्रविचय—धर्म पुष्पोंके समान व्यवकीर्ण हैं। उन्हें चुनते हैं और उनका विभाग करते हैं; वह अनास्रव है, यह सास्रव है, इत्यादि। इस कालमें प्रज्ञाका प्राधान्य होता है निर्वाणकी प्राप्ति धर्म-प्रविचयसे होती है, यथा पदार्थके तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयसकी सिद्धि होती है (वैशेषिक)।

२०. सभागहेतु—सदृश धर्म सभाग-हेतु हैं। पांच कुशलस्कन्ध पांच कुशलके सभाग हेतु हैं। क्लिष्ट; क्लिष्टके सभाग हेतु, हैं इत्यादि।

२१. सर्वत्रगहेतु—अनुशय करणमें ११ अनुशय 'सर्वत्रमग' कहे गये हैं क्योंकि यह अपने धातुको साकल्यतः आलम्बन बताते हैं। यह ११ अनुशय इस प्रकार हैं—दुःख-समुदय-दर्शन हेय-दृष्टि-विचिकित्सादि।



घटोत्कचगुप्त

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त

लेनिनग्राड संग्रहालयमें गुप्त सम्राट्की एक सुवर्ण मुद्रा है जिसपर एक ओर प्रभामण्डलयुक्त सम्राट् बांयी ओर मुंह किये हुए खड़े हैं। उनके बायें हाथमें धनुष और दाहिने हाथमें बाण है। सम्राट्के दाहिनी ओर गरुड़ध्वज है और बायें हाथके नीचे इन्दु और उसके नीचे 'घटो' लिखा है इसी ओर चारों ओर कुछ अभिलेख अङ्कित है किन्तु केवल अन्तिम शब्द '(गु) प्त(:)' पाठ्य है। मुद्राकी पीठपर देवीका चित्र है। उनके बायें हाथमें पद्म और दाहने हाथमें पाश है। ऊपर बायें कोनेपर 'प्रतीक' है। इस ओरका अभिलेख भी स्पष्ट नहीं है पर सम्भवतः 'क्रमादित्य' है। एलनने अपने सूचीपत्रमें इस मुद्राका उल्लेख 'अज्ञात सम्राट्की मुद्रा'के रूपमें किया है।[1]

मुद्रापर अङ्कित नामका प्रारम्भिक अंश 'घटो' और किनारेके अभिलेखमें अङ्कित 'गुप्त'में ऐसा जान पड़ता है कि उस मुद्राको घटोत्कच नामक शासकने चलाया था। किन्तु अभी तक चन्द्रगुप्त प्रथमके पिता घटोत्कचके अतिरिक्त इस नामका कोई दूसरा व्यक्ति गुप्तवंशमें ज्ञात नहीं है। किन्तु वह मुद्रा उनकी नहीं हो सकती, क्योंकि, जैसा कि एलनने कहा है, मुद्राकी बनावट और भारसे ऐसा जान पड़ता है कि उसका चलाने वाला शासक पांचवीं शताब्दी ईसासे पूर्वका नहीं हो सकता।[2]

बसाढ़, प्राचीन वैशालीसे एक अंडाकार मुहर प्राप्त हुई है जिस पर एक पंक्तिमें 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' लिखा हुआ है। डाक्टर टी० ब्लाचने इस मुहरके घटोत्कचगुप्तका सामंजस्य चन्द्रगुप्त प्रथमके पिता घटोत्कचसे किया है[3]। विन्सेन्टस्मिथने भी इस पहचानको स्वीकार किया है[4]। किन्तु यह सामंजस्य युक्तिसंगत नहीं है। यह मुहर चन्द्रगुप्त द्वितीयकी पत्नी और गोविन्दगुप्तकी माता ध्रुवस्वामिनीकी

१—ब्रिटिश संग्रहालयकी गुप्त मुद्राओंकी सूची, पृ० १४९, फलक २४ मुद्रा ३ ; भूमिका, पृ० ५४।

२—वही, भूमिका पृ० ५४।

३—भारतीय पुरातत्व विभागकी रिपोर्ट (१९०३–४), पृ० १०७।

४—रायल एशियाटिक सोसाइटीकी पत्रिका (१९०५), पृ० १५०; अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया (चतुर्थ संस्करण), पृ० २६६, पाद टिप्पणी २।

मुहरके साथ पायी गयी थी। इससे यह अनुमान होता है कि इस मुहरको अंकित करनेवाला व्यक्ति चन्द्रगुप्त द्वितीयके परिवारका कोई समकालिक व्यक्ति रहा होगा। एलनका विचार है कि उक्त मुद्रा और इस मुहरका घटोत्कचगुप्त एक ही व्यक्ति नहीं है। उनकी दृष्टिमें मुद्राका निर्माता मुहरके स्वामीका परवर्ती[1] है।

अभी हालमें ग्वालियर राज्यके गूना जिलेके तुमैन नामक स्थानसे एक खंडित शिलालेख मिला है जिससे एक घटोत्कचगुप्तका पता लगता है। इस शिलालेखका आधेसे अधिक बायां हिस्सा टूट गया है और अप्राप्य है। लेखका केवल दाहना अंश शेष है। लेखके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पंक्तियोंका अवशिष्ट अंश निम्नलिखित है :—

२...श्री चन्द्रगुप्तस्य महेन्द्रकल्पः कुमारगुप्त स्तनयस्य (मग्राम्) ररक्ष।
साध्वी मिव धर्मपत्नीं वीर्य्योग्रहस्तैरु पगुह्य भूमिं

३...गोरः क्षित्याम्बरे गुणसमूहमयूखजाले नाम्नादि तस्स तु घटोत्कचगुप्त चन्द्रः।
स पूर्वजानां स्थिरसत्वकार्तिभजर्जितं तंकर्तिम्कीर्तिभमिपपद्य ॥

४...(गुप्तन्वय) सां वसुधेस्वराणा समाहते षोडशवर्ष युक्ते।
कुमारगुप्ते नृपतापृथिव्यां विराजमाने शरदीव सूर्य[2] ॥

इन पंक्तियोंमें चन्द्रगुप्त द्वितीय, उनके पुत्र कुमारगुप्त तथा घटोत्कच नाम व्यक्तिका उल्लेख है जिसने अपने बाहुबलसे अपने पूर्वजोंकी कीर्तिको अक्षुण रखा। यह आमलेख गुप्त संवत् ११६ में उस समय लिखा गया जब कुमारगुप्त पृथिवी पर शासन कर रहा था।

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि घटोत्कचगुप्त गुप्तवंशके कुमारगुप्तका कोई उत्तर-वंशधर था। उसका कुमारगुप्तसे सम्बन्ध बतानेवाला अभिलेखका अंश गायब है, किन्तु अवशिष्ट अंशसे ऐसा आभास होता है कि वह उसका पुत्र रहा होगा[3] और सम्भवतः वह पूर्व मालवका उपारिक (वायसराय) था।

मेरी दृष्टिमें इस अभिलेखका घटोत्कचगुप्त एक ही व्यक्ति है।

यह तो निर्विवाद है कि मुहर ध्रुवस्वामिनीकी मुहरके साथ मिली थी, इस कारण इस मुहरको भी

१—पृ० ब्रि० संग्रहालयकी गुप्त मुद्राओंकी सूची, भूमिका, पृ० ५४।

२—दिनेशचन्द्र सरकार : सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ४९५-४९६; एपिग्रेफिका इन्डिका, भाग २६, पृ० ११७

३—राय चैधुरी : पोलिटिकल हिस्ट्री आव एन्शिएन्ट इन्डिया, पृ० ४८१।

ध्रुवस्वामिनीकी मुहरका समकालिक कहा जा सकता है। ध्रुवस्वामिनीने जिस समय अपनी मुहर जारीकी उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय जीवित था, यह भी स्पष्ट है। इसका मतलब यह हुआ कि मुहर गुप्त संवत् ९३ से पूर्व (जो की चन्द्रगुप्तकी अन्तिम ज्ञात तिथि है)[1] जारीकी गयी होगी। जिस समय गुप्त संवत् ११६ में तुमैनका शिलालेख लिखा गया, उस समय घटोत्कचगुप्त काफी वयस्क रहा होगा, यह भी स्पष्ट है। उसे अपने पूर्वजोंका कीर्तिका रक्षक कहा गया है। अस्तु, बहुत सम्भव है कि जिस समय उसने मुहर जारी की वह अल्प वयस्क रहा हो और उसे समय तक कोई राजपद प्राप्त न हुआ हो। मुहर और शिलालेखके कालके बीच २३ वर्ष या उससे कुछ ही अधिकका अन्तर है। कालका इतना अन्तर इस समाधानमें किसी प्रकार बाधक नहीं होता।

इसी प्रकार इस घटोत्कचगुप्तकी मुद्राका घटोत्कचगुप्त होना भी असम्भव नहीं है। यदि घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्तका पुत्र है, जिसकी सम्भवना अधिक है, तो वह या तो अपने पिताकी मृत्युके पश्चात् राज्याधिकारी हुआ होगा या अपने भाई स्कन्दगुप्तके बाद, और तभी उसने अपनी मुद्रा प्रचलितकी होगी। दोनों ही अवस्थामें मुद्राका प्रचलनकाल वही होगा जिसका अनुमान एलनने बनावट और भारके अधिकार पर किया है।

घटोत्कचगुप्त यदि राज्याधिकारी हुआ तो वह काफी वयस्क अवस्थामें हुआ होगा। ऐसी अवस्था में उसका शासन अल्पकालिक ही रहा होगा यह बात उसकी मुद्राओंके अधिक संख्यामें न मिलनेसे ही स्पष्ट है। यह अल्पकालीन शासन दोनों अवस्थाओंमें सम्भव है चाहे वह अपने पिताका उत्तराधिकारी हो चाहे अपने भाईका। कुमारगुप्त प्रथमकी अन्तिम तिथि जो उसकी मुद्रओंसे ज्ञात हुई है गुप्त संवत् १३० है[2]। साथ ही स्कन्दगुप्तका आरम्भिक ज्ञात काल भी वही है[3]। यदि घटोत्कचगुप्त कुमार गुप्तके बाद शासनारुढ़ हुआ तो उसने कुछ ही मास शासन किया। कुमारगुप्त उस वर्षके आरम्भमें मरा होगा और स्कन्दगुप्त उस वर्षके अन्तिम भागमें शासनरुढ़ हुआ होगा और उन दोनोंके बीच घटोत्कचगुप्तने कुछ दिनके लिए शासन किया या करनेकी चेष्टाकी होगी। यदि वह स्कन्दगुप्तके बाद राज्याधिकारी हुआ तो भी उसका शासन अल्पकालिक रहा होगा; क्योंकि

१—सांचीका शिलालेख : कार्पस इन्स्क्रप्शनम् इंडिकम भाग ३, पृ० २९।

२—एशियाटिक सोसाइटी आव बंगालकी पत्रिका (१८९४), भाग ६३, पृ० १७५।

३—जूनागढ़ शैल लेखक कार्पस इन्सक्रपशनम् इन्डिकम्।

स्कन्दगुप्तकी अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १४८ है[१] और कुमारगुप्त द्वितीयकी प्रारम्भिक ज्ञात तिथि गुप्त संवत् १५५ है[२]। अतः ७ वर्षके इस अल्पकालमें ४ शासकों घटोत्कचगुप्त, पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय शासनारुढ़ होना ही बताता है कि उनका शासन अल्पकालिक होगा।

किंतु उपलब्ध अन्य प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि घटोत्कचगुप्तने अपने पिताकी मृत्युके पश्चात् ही सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया होगा।

स्कन्दगुप्तके दो महत्वपूर्ण शैललेख भितरी[३] और बिहार[४] में हैं। इन लेखोंसे जान पड़ता है कि स्कन्दगुप्त कुमारगुप्तका वैध उत्तराधिकारी और अग्रमहिषी अवगमहिषी की सन्तान न था स्कन्दगुप्तके पूर्वके और उसके बादके सभी गुप्त शासकोंने अपने पूर्वजोंकी चर्चाकी है और अपने पिता, पितामह, प्रपितामह तथा अन्यपूर्व पितामहोंके साथ साथ अपनी माता, पितामही, प्रतिपितामही तथा अन्य पूर्वपितामहियोंका नाम दिया है। स्कन्दगुप्तने इन दोनों लेखोंमें अपने पिता, पितामह, प्रतिपितामह आदिके नामोंके साथ अपने पितामही आदिके नामोंके साथ अपने पितामही, प्रतिपितामही आदिका नाम तो दिया है पर अपनी माताके नाम पर मौन रह गया है[५]। यह मौन इस बातका स्पष्ट संकेत करता है कि वह अपनी माता पर गर्व न कर सकता था और उसका उल्लेख करनेमें उसे लज्जाका अनुभव होता था। इस प्रकार यह इस बातका स्पष्ट संकेत है कि उसका राज्यसिंहासन पर वैध अधिकार नहीं था, भले ही वह ज्येष्ठ रहा हो। उसके लिए राज्य प्राप्तिका एक ही उपाय था कि वह वैध या अवैध रूपसे वैध उत्तराधिकारीको उसके अधिकारसे वंचित कर दे, और जूनागढ़ वाले शैललेखका निम्नलिखित पंक्तियोंसे जान पड़ता है कि उसे राज्य सिंहासनके लिए किसी राजकुमारसे लोहा लेना पड़ा था :—

···व्यापेत्य सर्व्वान् मनुजेन्द्रपुत्रं लक्ष्मीः स्वयम् वरयांचकार[६]।

यह अभिलेख शासनारूढ़ होनेके दो वर्षके भीतर ही लिखा गया था। अतः यह स्पष्ट है कि पुष्यमित्रों और हूणोंकी विजयसे इसका सम्बन्ध नहीं है। यह 'मनुजेन्द्रपुत्र' जिससे उसे लोहा लेना

१—रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका १८८९, पृ० १३४।

२—सारनाथ अभिलेख : भारतीय पुरातत्व विभागकी रिपोर्ट, १९१४।१५, पृ० १२४।१२५।

३—कार्पस इन्सक्रप्शन्म् इन्डिकम, भाग ३, पृ० ५३।

४—वही, पृ० ५०।

५—बिहार अभिलेख भाग २, पंक्ति २२।२३ ; भितरी अभिलेख पंक्ति ७।

६—वही, पृष्ठ ५९, पंक्ति ५।

पड़ा था वह घटोत्कचगुप्त ही हो सकता है। वही वैध उत्तराधिकारी होनेके कारण सिंहासनारूढ़ हुआ होगा और अपना मुद्राएं जारी की होंगी। यदि स्कन्दगुप्तने अपने अधिकार स्वरूप सिंहासन प्राप्त किया होता तो उसे 'लक्ष्मी स्वयं वरयंचकार' की घोषणा करनेकी आवश्यकता न थी।

इस प्रकार यह माननेके पर्याप्त आधार हैं कि कुमारगुप्त प्रथमके बाद शासनका अधिकारी घटोत्कचगुप्त था और वह स्कंधगुप्तसे पूर्व कुछ कालके लिए राज्याधिकारी हुआ और उसे गुप्तवंशके शासन क्रमसे उसका निश्चित स्थान है[1]।



१—कुछ विद्वानोंका विचार है कि स्कन्दगुप्तसे पूर्व पुरगुप्त शासनारूढ़ हुआ। पुरगुप्त शासनारूढ़ हुआ या नहीं, यह अभी विवादका विषय है। किन्तु यदि वह शासनारूढ़ हुआ तो वह स्कन्दगुप्तके बाद ही हुआ होगा, न कि पहले। यदि स्कन्दगुप्तने पुरगुप्तसे संघर्ष करके राज्य प्राप्त किया होता, तो पुरगुप्त और उसके अधिकारियोंको पुनः सर उठानेके लिए जीवित न छोड़ता। ऐसा करना उसकी सबसे बड़ा राजनीतिक भूल होती। स्कन्द जैसे शासक से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। हम देखते हैं कि स्कन्दगुप्तके बाद पुरगुप्तके वंशज शासनारूढ़ हुए और यह तभी संभव है जब पुरगुप्तने स्कन्द गुप्त के बाद राज्य प्राप्त किया हो।

पृथ्वीराजरासो

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा

गत ६० वर्षोंसे हिंदी साहित्यके इतिहासों तथा पत्र-पत्रिकाओंमें पृथ्वीराजरासोके संबंधमें प्रधानतया एक ही बातकी चर्चा होती रही है, कि रासो प्रमाणिक ग्रन्थ है अथवा नहीं। इस वाद-विवादका प्रारम्भ कविवर श्यामलदासने १८८६ ई० के बंगाल एशियाटिक सोसायटीके जर्नलमें किया था और आज भी इसी पिष्टपेषणमें हमारा विद्वत् समाज तथा अध्यापक और विद्यार्थीवर्ग लगा हुआ है, आश्चर्य है कि हमलोग अभीतक इस वादविवादको समाप्त नहीं करपाये हैं और न इस तर्क वितर्क से ऊबे ही हैं।

प्रस्तुत निबंधमें इस समस्याकी चर्चा नहीं उठायी गयी है। मान लीजिये कि रासो १२ वीं शताब्दीकी रचना नहीं है और चन्दकृत भी नहीं है—लेखक इस संबंधमें कविवर श्यामलदास, डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और पं० रामचन्द्र शुक्लके मतको सत्यके अधिक निकट समझता है तथा श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डा० श्यामसुन्दर दास अथवा श्रद्धेय मिश्र बन्धुओंसे सहमत नहीं हैं—तो भी उतना तो सभी विद्वान मानते हैं कि यह बृहत्काव्य ग्रन्थ १६ वीं शताब्दीमें लिपिबद्ध किया गया था—रासोकी सबसे पुरानी प्रति १५८५ ई० की बतायी जाती है, यद्यपि अधिकांश प्राप्त पोथियोंका लिपिकाल १६०० ई० से १७०० ई० के बीचमें पड़ता है—और तबसे आज तक यह उस कालमें प्राप्त रूपोंमें चल रहा है और आजभी उलब्ध है। आखिर हिंदीमें १६ वीं शताब्दीसे पहलेके कितने प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ हैं—सूरसागरका रचना काल १५३० और १५५० ई० के बीचमें पड़ता है, जायसीका पद्मावत १५४० ई० में लिखा गया था और रामचरितमानस १५७५ ई० में। रासोके वर्त्तमान स्वरूप लगभग इसी समयके हैं। ऐसी अवस्थामें क्या यह उचित नहीं था कि कमसे कम १६ वीं शताब्दीके एक प्रबंध काव्यके रूपमें ही इसका अध्ययन किया जाता।

यदि इस दृष्टिसे देखिये तो वास्तवमें परिस्थिति अधिक उत्साहवर्धक नहीं है। नागरी प्रचारिणी सभाकी कृपासे रासोकी एक परंपराका पूर्ण संस्करण (रासो सार सहित) प्रकाशित हो गया यह सौभाग्य-का विषय है। क्या ही अच्छा होता यदि बंगाल एशियाटिक सोसायटीने ग्रन्थके संपादनका कार्य अधूरा न छोड़ दिया होता। संपादनकी दृष्टिसे भी रासोकी समस्त परंपराओंके पूर्ण तथा वैज्ञानिक संस्करणोंकी

अत्यंत आवश्यकता है। आशा है कि बीकानेरके संस्करणसे इस त्रुटिकी आंशिक पूर्त्ति हो सकेगी। किंतु सभाके संस्करणके इतने वर्षोंसे उपलब्ध रहने पर भी रासो पर एक भी आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ, न कोई संक्षिप्त संस्करण ही किसीने संकलित किया और न कोई रासोका कोष अथवा व्याकरण ही निर्मित किया गया। काव्यगत गुण दोषोंके विवेचनकी दृष्टिसे कोई गंभीर लेख भी रासो पर नहीं लिखे गये। वास्तवमें रासोके अध्ययनके संबंधमें इस असाधारण उपेक्षाको देखकर आश्चर्य तथा दुःख होता है। गत वर्ष रासोका एकबार फिर साधारण पारायण करनेका अवसर मुझे मिला। इस पारायणके फलस्वरूप कुछ प्रमुख प्रवृत्तियोंकी ओर हिंदी विद्वानोंका ध्यान प्रस्तुत लेखके रूपमें आकृष्ट करना चाहता हूँ। ये केवल कुछ सुझाव मात्र हैं जो भविष्यके विस्तृत गंभीर अध्ययनमें कदाचित् सहायक होसकें। सभाके संस्करणके आधार पर ही ये सुझाव लेखबद्ध किए जा रहे हैं।

रासोका मुख्य समय

यह तो हिंदी साहित्यके प्रत्येक विद्यार्थीको विदित है कि पृथ्वीराज रासो ६८ समय अथवा अध्यायोंमें विभक्त (६९ समयोंमें नहीं) लगभग २५०० पृष्ठोंका एक बृहत् प्रबंध काव्य है। ६८ वें समयके अन्तमें ग्रंथ समाप्ति अरौ उपसंहार संबंधी अंश मिलते हैं। उसके उपरान्त जोड़ा हुआ हुआ महोबा समय, जिसकी कथा वस्तु आल्हखंडकी कथा वस्तुसे मिलती जुलती है, वास्तवमें परिशिष्ट स्वरूप है, मूलग्रन्थका भाग नहीं। उसे ६९ वाँ समय मानना भूल है। इन ६८ समयोंकी भी यदि आकार, कथा वस्तु तथा शैली आदिकी दृष्टिसे परीक्षाकी जावे तो मुख्य समय ६१ वां अर्थात् कनवज्ज समय मालूम होता है जिसमें पृथ्वीराज और संयोगताके विवाहका वर्णन है। सभाके संस्करणके अनुसार उसकी पृष्ठसंख्या ३८४ है। पहले और ६६ वें समयोंको छोड़कर अन्य समयोंकी पृष्ठ संख्या २ से १०६ पृष्ठोंके बीचमें है। अधिकांश समय ३० पृष्ठोंसे अधिकके नहीं हैं। २८ समयोंमें १६ के अन्दर ही पृष्ठ संख्या है और इनमें १२ समय तो ८ पृष्ठों से भी कमके हैं। पाठक पर पहला प्रभाव यही पड़ता है कि ६१ वाँ कनवज्ज समय रासोका प्रधान केन्द्रीय समय है। आश्चर्य नहीं कि पृथ्वीराजके संयोगताके साथ विवाहके अनुकरणमें अन्य कवियोंने शेष नौ विवाहोंको भी धीरे धीरे कल्पना कर डाली हो। इसी प्रकार संयोगताके पूर्वजन्म तथा पूर्वानुराग आदिमें संबंध रखनेबाले अनेक समयोंकी, जो ४५ से ६६ समयोंके बीचमें पाए जाते हैं, कल्पना धीरे धीरे हुई हो।

कनवज्ज समय सबसे अधिक रोचक तथा सबसे अधिक पूर्ण समय है। काव्य की दृष्टिसे यह कदाचित् सर्वोत्तम समय माना जा सकता है। इस समयके विषयोंका सार नीचे दिया जाता है:—

"षट्ऋतु वर्णन; कैमासके स्थान पर जैनरावका राजमंत्री होना; ११५१ सं० को १०० सामन्तों और ११००

चुने हुए सवारोंके साथ पृथ्वीराजका कन्नौजको कूँच करना; सामन्तोंकी सूची; अशकुन व शकुन; यात्रा वर्णन; कन्नौजपुरीका वर्णन; गगा महात्म्य; पनहारिनों तथा स्त्रियोंका नखशिख वर्णन; देवीस्तुति अनेक वर्णन—पुरजन वर्णन, दरबार वर्णन, सेना आर गढ़रक्षाका वर्णन, जयचन्द के दरबारियोंका वर्णन, जयचन्दका वर्णन ; चन्दका दरबारमें जाना व साथमें पृथ्वीराजका सेवकके रूपमें होना ; चन्द-जयचन्द संवाद ; पृथ्वीराजका शाहबुद्दीनसे जयचन्दके राज्यकी रक्षा करनेका उल्लेख चन्द द्वारा ; पानलानेवाली दासियां ; चंदका डेरा व सत्कार ; मिठाई लानेवाली दासियोंका नखशिख, पुनः गंगामाहात्म्य ; जयचन्दकी सभामें नृत्य ; चन्द आदिका डेरे पर जाना ; जयचन्दके शहर कोतवाल रावणका सेना सहित पृथ्वीराजको घेरनेका यत्न व युद्ध । पृथ्वीराजकी गंगाके किनारे संयोगतासे भेंट; गंधर्व विवाह ; प्रातः पड़ाव पर लौटना ; संयोगता सहित पृथ्वीराजकी रक्षामें सामंतोंका तीन दिन तक युद्ध ; पृथ्वीराजका दिल्ली जानेके लिए सम्मत न होना ; जयचन्दकी सेनाके शंखधुनियोंका पराक्रम ; चन्दके विशेष अनुरोधसे अन्तमें पृथ्वीराजका दिल्ली जानेको सम्मत होना, पृथ्वीराजके दिल्लीकी ओर चलने पर भारी युद्ध, कन्हके युद्धके संबंधमें अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ; पृथ्वीराजका सोरों तक पहुँचना, किस सामंतके युद्धमें पृथ्वीराज कितने कोस गये इसका उल्लेख, सब सामंतोंके मारे जाने पर पृथ्वीराजका स्वयं कमान खींचना ; अन्तमें दोनों ओर शान्ति व जयचन्दका कन्नौज लौट आना ; पृथ्वीराजका दिल्ली पहुँचना और प्रजावर्गको बधाई । जयचन्दका पृथ्वीराजके घायलोंको उठवाकर तैंतीस डोलियोंमें दिल्ली पहुँचाना ; जयचन्दका बहुत सा दहेज देकर अपने पुरोहितको दिल्ली भेजना, दिल्लीमें पृथ्वीराज और संयोगिताका विवाह और दंपति विलास ।”

आकार और महत्वकी दृष्टिसे दूसरा मुख्य समय ६६ वां बड़ो लड़ाईका प्रस्ताव शीर्षक है जिसमें पृथ्वीराज आर शाहबुद्दीनके अंतिम युद्धका वर्णन है । इसकी पृष्ठ संख्या २८१ है । आश्चर्य नहीं कि ६१ और ६६ समयोंकी रचना लगभग एक साथ हुई हो । महाराज पृथ्वीराजसे संबंध रखनेवाली इन दो प्रधान घटनाओंकी कल्पना राज कवि चन्दकी कल्पनाके साथ किसी कविने कदाचित् पहले पहलकी आर ये कल्पनाएं धीरे धीरे जनतामें भी फैल गयीं । यह बहुत संभव है कि मूल कविके इस युद्ध संबंधी वर्णनके अनुकरणमें दूसरे कवियोंने सोलह अन्य युद्धोंकी कल्पना धीरे-धीरे कर डाली हो । ६७ वां बानवेध प्रस्ताव ६६ प्रस्तावके बाद कदाचित् लिखा गया अथवा दोनों समयोंका साथ लिखा जाना भी असंभव नहीं है । ६६ वें बड़ी लड़ाई शीर्षक प्रस्तावके मुख्य विषय निम्नलिखित हैं :—

“समर सिंहका दिल्ली जाना ; पृथ्वीराज विलासमें लिप्त ; शाहकी आक्रमणकी तैयारी ; इस समाचारसे दिल्लीकी प्रजाका व्याकुल होना ; प्रजाके महाजनोंका नगरसेठके यहाँ जाना (महाजनोंकी सूची), इनका गुरुराय पुरोहितके यहाँ जाना, पुरोहितका इन्हें लिवा कर चंदके पास जाना, अन्तमें

सबका राजद्वार जाना ; चन्दका पत्र पाकर पृथ्वीराजका रनिवाससे निकलना व युद्धकी तैयारी ; नये सामन्तोंका समरसिंहसे परिचय कराना ; भोजन वर्णन ; चामंडका छुड़वाना ; बीरभद्रकी कथा ; महाभारतका उल्लेख ; सामंतोंके साथ मंत्रणा ; अशकुन ; कुमार रैनसीका राज्याभिषेक ; संयोगताका विरह वर्णन ; शाहकी फ़ौजका चिनाव पार करना ; चन्दका जालंधर गढ़ जाना व हम्मीरको समझाना ; हम्मीर चन्द संवाद, जालंधरी देवीकी पूजा; हम्मीरके साथ पुंडीरका युद्ध व हम्मीरका शाहसे मिलजाना; राजपूत और शाहकी सेनाकी तैयारी व मुक़ाबला; दोनों सेनाओंके सरदारोंका वर्णन; राजनीति; पृथ्वीराज और शाहका सत्रहवां युद्ध ; विस्तृत वर्णन, जैनराव चामुंड आदिका मारा जाना; यक्ष आदि द्वारा शिवजीके सामने युद्धका वर्णन । म्लेच्छ सेना द्वारा पृथ्वीराजका घिर जाना ; गुमराम पुरोहितका मारा जाना ; गिद्धनीका संयोगतासे युद्धका वृत्तान्त सुनाना, समस्त सेनाके मारे जाने पर पृथ्वीराजका अकेले युद्ध करना ; पृथ्वीराजका पकड़ा जाना ; होतव्यताका संकीर्त्तन ; पृथ्वीराजका कैद करके गजनी ले जाया जाना ; पृथ्वीराजका बंधन समाचार सुनकर संयोगताका सहसा प्राण त्याग देना ; राजपूत रमणियोंका सती होना ; शाह द्वारा पृथ्वीराज की आँखें निकलवाने की आज्ञा; पृथ्वीराजका पश्चात्ताप व कई दिन निराहार रहनेके बाद भोजन करना ; वीरभद्रका युद्धका हाल चन्दको बताना व चंदका संताप ।"

इन दो केन्द्रीय समयोंके चारों ओर धीरे धीरे अन्य समयोंकी कल्पना हुई ऐसा मालूम होता है । अन्तमें १६ वीं शताब्दीके अन्तमें किसी संपादकने इन्हें एकत्रित करके तथा कथा प्रवाह पूरा करनेके लिए बीच बीचमें कुछ अन्य समयोंको बढ़ा कर तथा ग्रंथके आदि और अन्तके रूपको स्पष्ट करनेके लिए प्रथम समय और ६८ वें समयोंको जोड़ कर हमें एक पूर्ण प्रबंध काव्यका रूप दे दिया । समस्त ग्रन्थको ध्यानसे पढ़नेसे ऐसा आभास होता है ।

अन्य महत्वपूर्ण समय

उपर्युक्त दो समयोंके अतिरिक्त वर्तमान रासोमें अन्य महत्वपूर्ण समय निम्नलिखित आठ माने जा सकते हैं :—

१. आदि पर्व (पृष्ठ संख्या १८१), इसमें मंगलाचरणके उपरान्त वंश वर्णन, सामंतोंके नाम तथा कवि और उसकी स्त्री में प्रश्नोत्तर है । १३२ पृष्ठके उपरान्त पृथ्वीराजकी कथा प्रारंभ होती है ।

९. हुसेन कथा (४०), इसमें हुसेन और उसकी प्रेमिका चित्ररेखाके पृथ्वीराजकी शरणमें आनेकी कथा है । इसीके फलस्वरूप शाहबुद्दीन गोरीके साथ पृथ्वीराजका प्रथम युद्ध हुआ जिसका वर्णन इस समयमें है । हम्मीर रासोकी कथासे यह घटना बहुत मिलती जुलती है । अन्योन्य प्रभावकी दृष्टिसे इन दोनोंका अध्ययन रोचक होगा ।

१२. भोलाराम समय (७२), इसमें आबूके राजा सलष पंवारकी कन्या इच्छिनीसे पृथ्वीराजके विवाह ठहरने तथा फलस्वरूप भोलाराम भीमदेव चालुक्यसे वैर और युद्धका वर्णन है।

१४. इच्छिनी व्याह कथा (२३), इसमें इच्छिनीसे विवाह होनेका विस्तृत वर्णन है। इच्छिनी पृथ्वीराजकी पटरानी थी।

१८. दिल्लीदान प्रस्ताव (१४), इसमें पृथ्वीराजके नाना अनंगपाल तोमरका पृथ्वीराजको दिल्लीके राज्य देनेका तथा पृथ्वीराजके राज्याभिषेकका वर्णन है।

३९. सोमवध समय (२४), इसमें गुजरातके चालुक्य राजा भीमदेवके द्वारा पृथ्वीराजके पिता सोमेश्वरकी मृत्युका वर्णन है। सोमेश्वर अजमेरमें राज्य करते थे।

६७. बानवेध प्रस्ताव (८३), इसमें निम्नलिखित विषयोंका उल्लेख है: कवि द्वारा राजाके उद्धारका निश्चय; भवानीसे ग्रंथसमाप्तिके लिए विनय; रासोकी छंद संख्या; ढाई महीनेमें रासोकी रचना; कविका जल्हको रासो पढ़ाना व स्त्रीसे विदा; योगसंबंधी चर्चा व देवी स्तुति; कविका राजनी पहुँचना, शाहसे भेंट, चंद बादशाह संवाद, चंदकी पृथ्वीराजसे भेंट, पृथ्वीराजका सात घड़ियाल छेदनेके बहाने शब्दभेदी बाणसे शाहका प्राणान्त करना, कवि चन्दका छुरीसे अपना सिर काट कर राजाको भी छुरी सौंप देना, पृथ्वीराजका प्राणान्त, पृथ्वीराजका गुणगान।

उपर्युक्त दस समयोंमें ग्रंथके सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश आ जाते है। इन दस समयोंकी पृष्ठ संख्या ११३१ अर्थात् आधेसे कुछ ही कम बैठती है। शेष आधे ग्रंथमें ५८ समय हैं। यहां इस बातकी ओर ध्यान आकृष्ट कर देना अनुचित न होगा कि विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओंकी भिन्न भिन्न परीक्षाओंके पाठ्यक्रमोंमें रासोके जो समय चल रहे हैं, जैसे पद्मावती समय, रेवातट समय, घूघटकी लड़ाई आदि, इनमेंसे कोई भी समय महत्वपूर्ण नहीं है। इनमेंसे कईके अंग्रेजी अनुवाद प्रारंभमें हुए थे इसी सुभीतेके कारण कदाचित् इन्हें पाठ्यक्रमोंमें स्थान मिल गया है।

पृथ्वीराज रासोके संकलनकर्ताका मुख्य ध्येय प्रधान पात्र महाराज पृथ्वीराजका शौर्य वर्णन करना मालूम होता है—इस शौर्यका प्रदर्शन दस विवाहों और लगभग १७ युद्धोंके रूपमें किया गया है। एक आदर्श सामन्तके शौर्यकी कल्पना मध्य कालमें इसी रूपमें हो सकती थी। प्रबन्ध काव्यकी दृष्टिसे कथानक अथवा समयोंका क्रम सुसंबद्ध नहीं है,—चरित्र चित्रणमें ही कोई क्रमबद्ध विकास मिलता है। वर्णन की पुनरावृत्तिसे रासो ओतप्रोत है—एक युद्ध वर्णन अथवा एक स्थलके शृङ्गार वर्णन सम्बन्धी अन्य समस्त वर्णन मिलते-जुलते हैं। १५वीं शताब्दीके आसपास राजस्थानके सामन्तोंके परम्परागत जीवनका चित्रण रासोमें आज भी सजीव रूपमें सुरक्षित है—जन साधारणके जीवनके चित्रणसे इसका सम्बन्ध नहीं है।

रासोकी मुख्य विशेषता

वर्णन रासोकी सबसे बड़ी विशेषता है। रसके परिपाककी ओर हम असाधारण रचनाके लेखकोंका ध्यान नहीं था। ग्रन्थके लेखक बादके रसवादी भक्त कवियों अथवा अलंकारवादी आचार्य कवियोंसे भिन्न थे। वर्णनोंमें अनेक सुन्दर ऋतु वर्णन आर उत्सव वर्णन रासोमें मिलते हैं। युद्ध वर्णनके सिलसिलेमें सेना और रणक्षेत्रका वर्णन बार-बार मिलता है। इस सम्बन्धमें लेखकोंका सबसे प्रिय रूपक समुद्र या वर्षाका है। रणक्षेत्रकी तुलना विस्तारके साथ समुद्र अथवा वर्षासे की गयी है। सभा वर्णन और राजनीतिसे सम्बन्ध रखने वाले भी अनेक स्थल रासोमें पाये जाते हैं। शृङ्गार रसके सिलसिलेमें रूप वर्णन, नखशिख वर्णन तथा वस्त्र आभूषणोंका आद्योपान्त वर्णन अनेक समयोंमें है। वास्तवमें सफल फुटकर वर्णन-चित्र रासोकी सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

रासोमें प्रयुक्त अलंकारों तथा छन्दोंका वातावरण बंधा हुआ है। अलंकारोंमें प्राचीन सरल अलंकार जैसे रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा तथा उदाहरण प्रधानतया मिलते हैं और इनमें भी उपमानोंका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। छन्दोंमें दोहा, कवित्त, कुण्डलिया और भुजङ्गी सबसे अधिक पाए जाते हैं और इनके बाद कण्ठशोभा, दण्डमाली, मोतीदाम और रसावला जैसे छन्दोंका स्थान आता है। यह विस्तृत अध्ययनका एक भिन्न विषय है जिसका विस्तार यहां देना सम्भव नहीं है।

रासोको पढ़ते समय महाभारत, भागवत, हम्मीररासो तथा पद्मावत आदिके अनेक स्थलोंका स्मरण हो आता है। उदाहरणार्थ ३८ समय वरुण कथा शीर्षक है जिसमें यमुना स्नानके समय पृथ्वीराजके पिता सोमेश्वरका वरुणके 'वीरों'के साथ युद्धका वर्णन है। समय-समयमें दशावतार वर्णन है। ये दोनों ही विषय भागवतमें मिलते हैं। समय ४८ में जयचन्द द्वारा राजसूय यज्ञकी तैयारी युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञका स्मरण दिलाती है। संयोगता स्वयंवरकी कथाका भाव भी द्रौपदी स्वयंवर तथा सुभद्रा हरणकी कथाओंसे मिलता जुलता है। समय ४७ में शुकवर्णन पद्मावतके इस अंशसे साम्य रखता है। इस सिलसिलेमें समय ६२ का शुकचरित्र प्रस्ताव भी उल्लेखनीय है। हुसेन कथाके सिलसिलेमें इसके हम्मीर रासोकी कथासे साम्यका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। समय ६३, रानियोंके साथ पानीपतमें गोठ पिकनिकके अवसर पर धोकेसे मुनिको कष्ट देना व मुनिका शाप कि जिसने मुझे कष्ट दिया है वह शत्रु द्वारा अन्धा किया जाय, महाभारतकी राजा परीक्षितकी कथासे कदाचित् ज्योंका त्यों ले लिया गया है। वास्तवमें रासोका अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन पूर्ण विस्तारके साथ होना चाहिए।

रासोको धार्मिक विचारधारा

एक अन्य बात जिसकी ओर पाठकका ध्यान आकृष्ट होता है वह ग्रन्थकी धार्मिक विचारधारा है। आदिसे अन्त तक रासोके अनेक समयोंमें शाक्तसम्प्रदाय सम्बन्धी उल्लेख बिखरे पड़े हैं। उदाहरणके लिए समय ६ में शक्ति देवीके एक 'वीर'के वरदानका वर्णन है, समय १२ में शाक्त और जैन संघर्षका उल्लेख है, समय २४ में भी अन्तमें देवीके विषयमें कुछ सामग्री है, समय ५६ में योग सम्बन्धी कुछ विचार मिलते हैं, समय ५७ व ५८ में कवि चन्द पर देवीकी कृपाका उल्लेख है—वर देनेकी शक्ति देवीसे मिलनेके कारण ही कविका उपनाम बरदाई पड़ा, समय ६० में शिवपूजाका उल्लेख है, समय ६४ में देवीकी पूजाका वर्णन मिलता है, समय ६६ में जालन्धरी देवीकी पूजाका उल्लेख है, समय ६७ में योग सम्बन्धी चर्चा व देवीस्तुति है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि ग्रन्थ शाक्त और शैव परम्परासे सम्बद्ध है, वैष्णव सम्प्रदायोंसे इसका सम्बन्ध नहीं है। भिन्न प्रकारके धार्मिक उल्लेखोंमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैः—समय १२ में पायी जानेवाली जैनधर्म सम्बन्धी विचारावलीका उल्लेख किया जा चुका है। समय ४२ में चन्दकी द्वारका यात्राका वर्णन है और इस सिलसिलेमें रणछेत्र स्तुति भी है। समय ४५ में सगुण मंजुघोषाकी उपासनाका तथा अवतारोंका महत्व दिया गया है। समय ६१ में गंगामाहात्म्य तथा हरिद्वार और सोरोंका उल्लेख है। उससे पूर्व समय २८ में भी हरिद्वार, पंचनद और बद्रीनाथके नाम आते हैं। २२ और २३ समय क्रमसे होलीकथा और दीपमालिका कथासे सम्बन्ध रखते हैं। महोबा समयमें गोरखनाथका तथा गोरखपन्थमें दीक्षित होनेका एक स्थल पर उल्लेख मिलता है। किन्तु इस प्रकारकी भिन्न धार्मिक सामग्री फुटकर रूपमें ही मिलती है।

कुछ अन्य फुटकर रोचक उल्लेखोंमें धुमाइन कायथका वर्णन है। यह व्यक्ति दिल्लीका भेद गोरीके पास भेजता रहता था (देखिए समय १९ व ५८)। समय २४ में एक खत्री 'वकील'का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक दिखलाई पड़नेवाले जिन सैकड़ों राजाओं, सामन्तों, मुसलमान सरदारों तथा अन्य व्यक्तियों और स्थानोंके नामोंसे रासो भरा पड़ा है उनका तो पृथक ही पूर्ण अध्ययन होना चाहिये।

रासोकी भाषा

रासोकी भाषाका प्रथम अध्ययन ग्राउज ने किया था और उन्होंने अपने परिणामोंको १८३७ ई० के बंगाल एशियाटिक सोसायटीके जर्नलमें प्रकाशित किया था। इस विद्वानके रासो सम्बन्धी लगभग आधे दर्जन अन्य लेख भी इस तिथिके आसपास इस जर्नलमें प्रकाशित हुए हैं। ग्राउजकी दी हुई

रासोके व्याकरणकी रूपरेखासे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां तक व्याकरणके ढांचेका प्रश्न है, रासोकी भाषा प्रधानतया १६ वीं शताब्दिमें साहित्यके क्षेत्रमें प्रयुक्त होनेवाली ब्रजभाषा है न डिंगल अथवा प्राचीन साहित्यिक मारवाड़ी है और न अपभ्रंश। किन्तु शब्द समूहमें अपभ्रंशाभास और डिंगल रूपोंका प्रयोग रासोमें बहुत अधिक हुआ है। यह एक साहित्यिक शैलीमात्र थी जिसका उपयोग वीररस सम्बन्धी स्थलोंपर अनेक समकालीन कवियोंने किया है। अन्तर इतनाही है कि युद्ध प्रधान ग्रन्थ होनेके कारण रासोमें इसका प्रयोग आद्योपान्त और अधिक मात्रामें मिलता है। इस शब्दावलीके कारण ही रासोकी भाषाके डिंगल अथवा अपभ्रंश होनेका सन्देह पाठकोंको होने लगता है और इसी कारण यह असाधारण ढंगका अत्यन्त प्राचीन काव्य मालूम पड़ता है। कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि पूरा रासो अपभ्रंशमें ही लिखा गया था और बादको इसका भाषा रूपान्तर हुआ। इस मतकी पुष्टि करनेवाले तर्क अभी अकाट्य नहीं हैं। जो हो रासोकी भाषाका व्याकरण तथा शब्दसमूह दोनों हीका विस्तृत अध्ययन होना चाहिये। यह अध्ययन ग्रंथके वैज्ञानिक संपादनमें तथा कालनिर्णयमें सहायक सिद्ध होगा।

रासोमें उल्लेखित तिथियों तथा ऐतिहासिकताकी चर्चा इस निबंधमें जान बूझ कर नहीं उठाई गई है। इस संबंधमें पर्याप्त विचार हो चुका है। किंतु इस विषयकी अन्तरंग सामग्रीके पूर्णविश्लेषण और परीक्षाकी आवश्यकता है। रासोके साधारण अध्ययनसे पाठक इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि यह ग्रंथ कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओंके आधारपर लिखे गये पृथ्वीराज संबंधी अनेक कल्पित खंड काव्यों तथा प्रबंध वाक्योंका एक ग्रंथके रूपमें संकलन है। इस क्रमबद्ध जंजीरको तैयार करनेमें लंबी-छोटी, सुडौल-बेडौल, अनेक हाथोंसे गढ़ी हुई पृथक् पृथक् कड़ियोंका उपयोग किया गया है जो एक दूसरेके साथ बादको जोड़ दी गयी है। ऐसा होने पर भी यह जंजीर असाधारण ही है।

हमारी शिक्षा-समस्या और उसका समाधान

आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री

हमारे देशमें आज शिक्षा की समस्या जटिल रूपमें दृष्टि गोचर हुई है। देश दरिद्र है, तिस पर इसका बहुत-सा धन धार्मिक अन्धता की वेदी पर बलि हो जाता है। धर्मके नाम पर दिया हुआ पैसा एक जमानेमें सार्वजनिक हितके कार्योंमें खर्च हुआ करता था। राजस्वका जो अंश अब तक शिक्षा पर व्यय होता रहा है वह अत्यन्त सामान्य है। फिर इस मामूली धनका भी अधिकांश व्यर्थके ढकोसलोंमें उड़ जाता है। मकान चाहिये, टीमटाम चाहिये, फर्नीचर चाहिये और अनेक प्रकारके योजना बनाने वाले यंत्र चाहिये! इतने पर भी जो बच रहता है वह शिक्षाके व्यापक प्रचारके लिए व्यय न होकर 'एफिसि-एंसी' के नाम पर संकुचित क्षेत्रमें सीमाबद्ध कर दिया जाता है। शिक्षा-शालाके लिए सरकारी साहाय्य देनेके नियम इतने कठोर हैं कि उसे पालन करनेके लिये जितनी तैयारी की आवश्यक है उतनी कर लेनेके बाद यदि वाह्य उपकरणों पर जोर न दिया जाय तो सरकारी सहायता पाये बिना भी काम चल सकता है। कठिनाइयां और भी हैं। सब मेरी जानी हुई भी नहीं हैं और सब की चर्चा करने की आवश्यकता भी नहीं है।

शिक्षककी योग्यता

इनके गिनाने की विशेष आवश्यकता नहीं है, हमें तो इन कठिनाइयोंके बीचसे रास्ता निकालने की बात सोचनी होगी। धीरे धीरे देश की शासन व्यवस्था देशवासियोंके हाथमें आ रही है। इन कठिनाइयोंमें से बहुत-कुछ दूर की जा सकेंगी, बहुत-सी रह भी जांयगी। हमारी सबसे बड़ी समस्या है मनुष्य पाने की। शिक्षक सबसे पहले मनुष्य हो यही वाञ्छनीय है। सबसे पहले शिक्षकको गुरु बनना पड़ेगा। मानवीय ज्ञान और रसके भाण्डारको नवीन समृद्धियोंसे समृद्ध करना ही गुरु की साधना है। गुरुके लिए हमारे पूर्वजोंने जो नियम बनाये हैं उनमें मुख्य बातें दो हैं:—

(१) नाना मूलोंसे ज्ञान और सत्यको आहरण करके अपने भीतर प्रतिष्ठित करना और (२) स्वयं आचरण करके चरित्रके दर्पणमें सत्यको शिष्यके सामने रख देना। यह ऐसा-वैसा काम नहीं है। यह दीर्घ साधना और तपस्यासे सिद्ध होता है। बहुत दिनोंसे पश्चिममें धनके आकर्षणसे गुरुको आकृष्ट करने की प्रथा चली आ रही है। हमारे देशमें धन न देकर अपरिमित श्रद्धा देने की

ही प्रथा थी। ऐसा तो नहीं है कि इस देशमें धनसे गुरु प्राप्त करनेका उदाहरण मिलता ही नहीं पर अधिकतर श्रद्धासे ही महान् गुरु प्राप्त हुए हैं। श्रद्धा वही पा सकता है जिसके ज्ञान और चरित्रमें वजन है। गुरु अर्थात् भारी, वजनदार। यह वजन चरित्र और ज्ञानका है।

मैं अपने बाल्यकालमें काशीमें पढ़ता था। हमारी पाठशालाएं पुराने ढंग की थीं। वहां विद्यार्थी गुरुके अपने लड़कों की तरह ही प्यार और डांट पाते थे। उन दिनों "दस बजे-चार बजे" वाले संबंध प्रतिष्ठित नहीं हो पाये थे। हम लोगोंने गुरुका परिपूर्ण स्नेह पाया है। अब वह चीज दुर्लभ होती जारही है। गुरुने भी उन दिनों जैसी श्रद्धा पायी थी वह आजकल सोची भी नहीं जा सकती। हमारे देशमें इस समय पाश्चात्य देशों के समान प्रचुर धन दे सकने की क्षमता नहीं है और अपरिमित श्रद्धा देना भी हम भूल गये हैं। इस उभय विभ्रष्ट व्यवस्थाका कुफल हम भोग रहे हैं। आज शिक्षणके क्षेत्रमें न तो कोई श्रद्धा पानेकी आशासे आता है व अर्थलाभकी आशा से। अवस्था प्रायः यह है कि 'येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः !' जो कहीं भी जगह नहीं पाता; सब ओर से निराश हो जाता है वही प्रायः इस मार्गमें आ जाता है।

हमें यदि अपने देश का भविष्य उज्वल बनाना है तो हमें इस अवस्था का अन्त करना ही होगा। सबसे पहले शिक्षकोंको ही सम्हलना पड़ेगा। उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे सच्चे गुरु बनें। सच्चे गुरुके प्रति आज भी इसदेशमें श्रद्धाका स्रोत सूख नहीं गया है। शिक्षक अपने चरित्रबलसे और अकृत्रिम प्रेम-बलसे देशकी इस भुलायी हुई सम्पत्ति को लौटा सकता है। हमारा देश आज भी पुराने आदर्श को एकदम छोड़ नहीं चुका है। मेरा दृढ़ मत है कि हम शिक्षक ही शिक्षकके पद को महत्त्वपूर्ण बना सकते हैं और देशवासियों की उस भावना को सच्चे रास्तेमें ला सकते हैं जो नाना प्रतिकूल कारणों से गलत रास्ते चली गयी है। दुःख, दारिद्र्य, अश्रद्धा और विरुद्धताके होते हुए भी हम श्रद्धेय बनना चाहें तो कहीं कोई बाधा नहीं है। हमें याद रखना होगा कि हमारे पूर्वज समस्त जगत् को सदाचार की शिक्षा दे चुके हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

हम अपने ही प्रयत्नोंसे उस महान् आदर्शको फिरसे पा सकते हैं। दूसरों की ओर देखते रहने से केवल हमारी अपनी ही शक्ति नष्ट होगी।

हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

साधारणतः भारतवर्षकी पुरानी शिक्षा प्रणालीकी बात उठतेही गुरुकुल प्रणाणी याद आजाती है। कभी यह भी प्रश्न उठता है कि यह गुरुकुल प्रणाली केवल 'आदर्श' के रूपमें स्वीकृत थी या व्यवहारमें भी ऐसीही थी। वस्तुतः हमारे देशका इतिहास बहुत विशाल है और उसमें जीवनके इतने क्षेत्रों और इतनी परिस्थितियोंका वैचित्र्य भरा पड़ा है कि किसी एक प्रणालीको भारतीय प्रणाली कहना उचित नहीं है। भारतीय मनीषियोंने जीवनकी अनेक समस्याओंको अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें देखा था और यथा-अवसर उनके समाधानका नया रास्ता सोचा था। सब समय ये रास्ते एकही समान नहीं थे और न सब परिस्थितियोंमें सोचे हुए समाधान अच्छे ही थे। आज परिस्थिति बहुत बदल गयी है। हमारे सामने शिक्षा और ज्ञानके प्रसारके लिए नये और शक्तिशाली साधनभी हैं और हमारे मार्गमें अननुभूत नयी बाधाएंभी हैं। हमारे पूर्वजोंने भी अननुभूत परिस्थितियोंका सामना किया है और हमें भी करना है। हमारे दीर्घ इतिहासके सबसे कठिनसे कठिन समयमें भी हमने धैर्य नहीं खोया है। आजभी नहीं खोना चाहिए।

ब्राह्मण और विद्या

भारतवर्षके सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्यमें ही ब्राह्मण आर विद्याका संबंध बहुत घनिष्ट पाया जाता है। जाति व्यवस्था जैसी इस समय है वैसीही बहुत प्राचीन कालमें नहीं रही होगी। परन्तु 'ब्राह्मण' बहुत कुछ एक जातिके रूपमें ही रहा होगा इसका प्रमाण पुराने साहित्यसे ही मिल जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत पुराने जमानेसे ही भारतवर्षमें 'विद्या' 'कला' के दो अलग अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिये गये थे। वेदों और ब्रह्म-विद्याका अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञानके रूपमें था और लिखना पढ़ना, हिसाब लगाना, तथा जीवन-यात्राके उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहलेसे ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांगका नाम हो गया था और इसीलिए लिखना, पढ़ना, हिसाब-किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलोंकी जानकारी 'कला' नामसे चलने लगी थी। विद्याका क्षेत्र बहुत पहलेसे ब्राह्मणके हाथमें रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रियों, राजकुमारों और राजकुमारियों, तथा वैश्योंके लिए नियत था। भारतवर्षके दीर्घ इतिहास यह नियम हमेशा बना रहा होगा ऐसा सोचना

ठीक नहीं है। वस्तुतः इस प्रकारकी स्थिति एक खास अवस्थामें ही रही होगी। पुराने साहित्यमें अनेक उदाहरण हैं जहां ब्राह्मण क्षत्रियोंसे ब्रह्मविद्या पढ़ते हैं, शतपथ ब्राह्मण (११-६-२१-५) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्यने जनकसे विद्या सीखी थी। काशीके राजा अजात शत्रुसे बालाकि गार्ग्यने विद्या सीखी थी यह बात बृहदारण्यक और कौशीतकी उपनिषदोंसे मालूम होती है छान्दोग्यसे जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेयने प्रवाहल जैबालसे ब्रह्मविद्या सीखी थी। इस प्रकारके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। डायसन जैसे कुछ चोटीके यूरोपियन विचारकतो इस प्रसंगोंसे यहां तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्मविद्याके मूल प्रचारक वस्तुतः क्षत्रियही थे। यह अनुमान कुछ अधिक व्याप्तिमय जान पड़ता है परन्तु यह सत्य है कि कर्मकाण्डके उग्र और मृदु विरोधियोंमें क्षत्रियोंकी संख्या बहुत अधिक थी और जिन महान् ज्ञानी नेताओंको भारतवर्ष आजभी याद किया करता है। उनमें क्षत्रियोंकी संख्या बहुत बड़ी है। जनक, श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर—सभी क्षत्रिय थे। महाभारतसे तो अनेक शूद्र कुलोत्पन्न ज्ञानी गुरुओंका पता चलता है। मिथिलामें एक धर्मनिष्ठ व्याध परम ज्ञानी थे। तपस्वी ब्राह्मण कौशिकने उनसे ज्ञान पाया था (वन० २०६ अ०) शूद्रागर्भजात विदुर बड़े ज्ञानी थे। सूत जातिके लोमहर्षण, संजय और सौति धर्म प्रचारक थे। सौतिने तो महाभारतका ही प्रचार किया था। परन्तु सम्पूर्ण हिंदू शास्त्रोंमें प्रधानतः ब्राह्मणही गुरु रूपमें स्वीकृत पाये जाते हैं।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है तथापि संसार भरमें आदिम युगमें खास खास कौशल वर्ग-विशेषमें ही प्रचलित पाये जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि साधारणतः पितासे विद्या सीखनेकी प्रथा हुआ करती थी इसलिए विशेष विद्याएं विशेष विशेष कुलोंमेंही सीमाबद्ध रह जाती थो, वेदोंसे ही पता चलता है कि ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएं वंशपरंपरासे सीखी जाती थीं; बादमें तो इस प्रकारकी भी व्यवस्था मिलती है कि जिसके घरमें वेद और वेदोंकी परम्परा तीन पुश्त तक छिन्न हो उसे दुर्ब्राह्मण समझना चाहिये (बौधायन गृह्य-परिभाषा १-१०-५-६)। परन्तु नाना कारणोंसे पितृपरंपरासे शिक्षा प्राप्तिका क्रम चल नहीं पाता। समाजमें जैसे धनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गयी और बड़ेबड़े राजा और सेठ प्रमुख होते गये वैसे वैसे जानकारियोंसे द्रव्य उपार्जनकी आवश्यकता और प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। विद्या सिखानेके लिये भी धन मिलने लगा आर धनकी इस वितरण-व्यवस्थाके कारण विद्या वंशके बाहर जाने लगी। ब्रह्मविद्या भी वंशपरम्परा तक सीमित नहीं रह सकी। महाभारतमें दो प्रकारके अध्यापकोंका उल्लेख है। एक प्रकारके अध्यापक तो अपरिग्रही होते थे। उनके पास विद्यार्थी जाते थे। भिक्षा मांगकर गुरुके परिवारका और अपना खर्च चलाते थे और गुरुके घरका सब कामकाज करते थे। कभी कभी तो गुरु

लोग विद्यार्थियोंसे बहुत काम लेते थे। इसकी प्रतिक्रियाके भी उदाहरण महाभारतमें मिल जाते हैं। अपने गुरु 'वेदाचार्यके' पास रहते समय उत्तङ्कको अनेक दुःखपूर्ण कार्य करने पड़े थे। जब स्वयं उत्तङ्क आचार्य हुये तो उन्हें पुरानी बातें याद थीं और उन्होंने अपने विद्यार्थियोंसे काम लेना बन्द कर दिया था (आदि ३।८१) परन्तु सब मिलाकर गुरुका अपार प्रेम ही अपने शिष्योंपर प्रकट होता है। दूसरे प्रकारके ऐसे अध्यापक थे जिन्हें राजा लोग अपने घरपर वृत्ति देकर नियुक्त कर लेते थे। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसे ही अध्यापक थे। द्रौपदी और उत्तराकी कथाओंसे पता चलता है कि राजकुमारियोंके लिए इसी प्रकार वृत्तिभोजी अध्यापक रखे जाते होंगे। बौद्धयुगमें भी यह प्रथा पायी जाती है। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल 'कला' सिखानेके लिए ही घर पर अध्यापक नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्मविद्या सिखानेके लिए भी अध्यापक बुलाकर पास रखनेके उदाहरण मिलते हैं। राजर्षि जनकने आचार्य पञ्चशिखको चार वर्षतक घरपर रखा था। सम्भवतः उन्होंने कोई वृत्ति स्वीकार नहीं की थी।

ब्राह्मणका आदर्श

ब्राह्मणके लिए आदर्श यह था कि वह अत्यन्त निरीह भावसे गरीबीकी जिंदगीमें रहे परन्तु ऊंचा से ऊंचा ज्ञान और चरित्रबल रखे। फिर भी उसकी वृत्तिकी कोई न कोई व्यवस्था रहती ही होगी। प्रतिग्रह, याजन और अध्यापक ये तीन मार्ग थे जिससे ब्राह्मण जीविका अर्जन कर सकता था। एक बार ऐसी भी अवस्था अवश्य आयी थी जब याजन (यज्ञ कराना) और अध्यापन (पढ़ाना) बहुत अधिक अर्थकर मार्ग नही रह गये थे। संभवतः उसी समय दान लेनेको (प्रतिग्रहको) सर्वोत्तम ब्राह्मण वृत्ति मान लिया गया था। स्मृतिचंद्रिकामें यमका एक वचन है जिसमें कहा गया है कि 'प्रतिग्रहाध्यायन या जनानां प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति' अर्थात् प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन इन तीनोंमें प्रतिग्रह ही सर्वोत्तम वृत्ति है। अनुमान किया जा सकता है कि जिन दिनों आर्यावर्तपर यवनों, ऋचीकों, तुषारों, हूणों और शकोंके बार बार आक्रमण होरहे थे उन दिनों याजन और अध्यायनके कार्य बन्द हो गये होंगे। उस समय प्रतिग्रहको श्रेष्ठ कहकर पंडितोंकी परंपरा बचा रखनेकी व्यवस्था की गयी होगी।

बौद्धयुगमें राजकुमारों और राजकुमारियोंके लिए वृत्ति योगी शिक्षकोंके रखनेकी प्रथा प्रचलित थी। ललितविस्तरके अनुसार कुमार सिद्धार्थको ८६ कलायें सिखायी गयी थीं। इनमें लिखना, पढ़ना, हिसाब किताबभी है, उचकना, कूदना, तलवार चलाना, घोड़े पर सवारी करना आदि भी हैं, पोथी लिखना, चित्रकारी करना, बाजा बजाना, गाना नाचना आदि भी हैं, वस्त्रों और मणियों का रंगना, दवा

वाल्, तित्तिर-बटेर, हाथी घोड़े सबकी जानकारी भी है और वेद, शास्त्र, ज्योतिष, राजनीति, पक्षिविद्या आदि भी हैं। इन ८६ कलाओं के अतिरिक्त ६४ काम कलायें भी सिद्धार्थ को सिखायी गयी थीं। राजकुमारने इन विद्याओंमें से अधिकांशको घर परही सीखा था। गणिकाओंको भी नाना प्रकार की कलाएं सीखनी पड़ती थीं। यशोधरा को 'शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव' कहा गया है। वस्तुतः जिन विद्याओंको 'कामकला' कहा जाता था उनमें भी अनेक उपयोगी विद्याएं थीं। यह भी मालूम होता है कि स्त्रियोंके सीखनेके लिये कलाएं और थीं और पुरुषोंके लिए और तरहकी। वात्स्यायनकी बतायी हुई कलाओंमें एक तिहाई के करीब तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। कुछ ऐसी हैं जो प्रेमियोंके मन बहलावके साधन हैं, कुछ ऐसी भी हैं जो प्रात्यहिक जीवनमें काम आ सकती हैं। रूप्य-रत्न-परीक्षा, वास्तु विद्या या गृह निर्माणकला, कीमती पत्थरोंका रंगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़पौधोंकी जानकारी आदि कलाएं उपयोगी भी थी और उस युगकी समृद्धिके अनुकूल भी। इस युगमें बड़े-बड़े नगर रहे होंगे और नगरके लोग गांवके लोगोंसे बहुत भिन्न तरहका जीवन बिताते होंगे। उनके लिए शिक्षाकी विधियां भी अलग तरहकी होंगी। कामसूत्र और उसी प्रकारकी अन्य पुस्तकोंसे इसका यथेष्ट आभास मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय केवल गुरुसे ही विद्या सीखना आवश्यक नहीं रह गया था। सरस्वती मन्दिरों, समाजों, कविसम्मेलनों नागरिकगोष्ठियों आदिमें नाना प्रकारसे शास्त्र-चर्चा होती थी और बहुतसी बातें अनायास सीख ली जा सकती थीं। पुस्तकोंसे भी विद्या प्रचार होता होगा। नहीं तो पुस्तक लिखना परिश्रम-साध्य कला नहीं मानी जाती। दूसरी तरफ महाभारत और पुराणोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि यज्ञों, मेलों, तीर्थों और राजसभा द्वारा आयोजित शास्त्रार्थोंसे भी जनताको ज्ञान-विज्ञानका परिचय मिलता रहता था।

यद्यपि नानाभावसे समाज और राज्यकी ओरसे इन ज्ञान प्रचारकोंकी सहायताकी जाती थी तथापि कलासे या विद्यासे वृत्ति चलाना अच्छा नहीं समझा जाता था। ग़रीब नागरिक जब 'कला' से वृत्ति पैदा करने लगते थे तो ऊंची मर्यादासे भ्रष्ट मान लिये जाते थे। शूद्रकके मृच्छकटिक नाटकमें वसन्तसेना नामक गणिकाने एक संवाहकका परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता प्रकटकी कि तुमने तो अच्छी कला सीखी है। संवाहकने लजाकर उत्तर दिया कि क्या बताऊं आर्ये, 'कला' जानकर ही सीखी थी पर अब तो यह 'जीविका' बन गयी है! निश्चय तो राजकुमारों, राजकुमारियों तथा अन्य समृद्ध लोगोंके घर कलाओंके जो शिक्षक नियुक्त होते होंगे वे ब्राह्मण ही नहीं होते होंगे। उन दिनों कलाके नाम पर ऐसी अनेक उपयोगी विद्याएं प्रचलित थीं जिन्हें ब्राह्मण लोग अच्छी वृत्ति नहीं मानते थे।

गुरुका प्राधान्य

इस प्रकार हमारे सुदीर्घ इतिहासमें नाना भावसे शिक्षण देनेके उदाहरण पाये जा सकते हैं। ये सब भारतीय प्रथाएं हैं, यद्यपि इनमें देशकाल पात्रके अनुसार किसीको कम किसीको ज्यादा महत्त्व प्राप्त होता रहा है। इन सारी प्रथाओंके भीतर एक बात सर्वत्र सामान्यरूपसे पायी जाती है। वह है गुरुका प्राधान्य। भारतीय मनीषाने अनेक प्रयोगोंके भीतर एक बातको सदा मुख्य स्थान दिया है। शिक्षाका मुख्य साधन उत्तम गुरु है। कोई निश्चित प्रणाली या योजना उतने महत्वकी वस्तु नहीं है जितना उदार निस्पृह और प्रेमी गुरु। दूसरी बात जो अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि बदली हुई अवस्था के साथ सदा सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयास किया गया है। उपलब्ध साधनोंका—यज्ञोंका, तीर्थोंका, मेलोंका, गोष्ठियोंका, सामाजोंका यथेच्छ उपयोग किया गया है। विद्या जीवनसे विछिन्न कभी नहीं की गई है। पुस्तकोंका सहारा लेनेमें भी नहीं हिचका गया है। किन्तु सर्वत्र और सर्वदा 'गुरु' का आदर्श वही रहा है—निःस्पृह, उदार, प्रेमी और चरित्रवान्।

मध्ययुगमें भी बदली हुई परिस्थितियोंके साथ सामंजस्य स्थापित किया गया था। पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षोंसे इस मार्गमें बाधा पड़ी है। परिस्थितिके साथ भारतीय मनीषाको निबटनेका मौक़ा नहीं दिया गया। विदेशी विद्वानोंने अपने लाभालाभ को सामने रखकर इस देशके लिए एक योजना बनायी और उस योजनाके सांचेमें आदमी ढाले जाने लगे। यही काल क्षेपकका काल है। इसके पहले यद्यपि भारतीय विद्या नाना कारणोंसे म्लान हो आयी थी फिर भी उसने अपनी शिक्षा प्रणाली को एक ढंग पर लानेका प्रयत्न किया था। सन् १८१५ के आस पास वार्ड नामक अंग्रेजने भारतवर्षके नाना स्थानों की अवस्था देखकर "हिन्दूज" नामक एक पुस्तक लिखी थी। काशीमें उसने अनेक पाठशालाएं देखी थीं। इनमें विद्यार्थियों की अधिकसे अधिक संख्या २५ और कमसे कम १० थीं। प्रत्येक पाठशालामें एक गुरु होते थे। उनकी वृत्ति साधारणतः मठों और मंदिरोंसे बंधी होती थी। वार्डने इन पंडितोंके अध्याप्य विषयोंकी भी सूची दी है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों शिक्षण-व्यवस्था-का भार मठों और मंदिरोंने संभाल लिया था। लेकिन सरकारी व्यवस्थाने इस व्यवस्थाको अधिक स्वस्थ और सबल होनेमें बाधा पहुँचायी और मंदिरों और मठोंसे शिक्षा का जो योग था वह कट गया। अब समय आया है कि बाहरी हस्तक्षेप की उपेक्षा करके हम संपूर्ण उपलब्ध साधनोंका उपयोग करके बदली हुई अवस्थाके साथ अपनी शिक्षा प्रणाली का सामंजस्य स्थापित करें। हमें पुराने साहित्यमें इतने प्रकारके प्रयोग मिलते हैं कि किसी विशेष प्रथा को अपनी राष्ट्रीय प्रथा माननेका बंधन

स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। केवल एकही बात हमारी राष्ट्रीय परंपरा की देन है और हमारे स्वभाव और संस्कारोंसे अविच्छेद्य रूपमें संबद्ध है—'गुरु' का प्राधान्य। हमें बंधी योजनाओं और प्रणालियों पर उतना जोर नहीं देना चाहिये जितना आदर्श गुरु की खोज पर। योजनाओंके सांचेमें मनुष्य को नहीं ढालना है; मनुष्यके आदर्श पर योजनाओं को मोड़ना है। इसी एक अर्थमें भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को 'गुरु कुल' प्रणाली कहा जा सकता है क्योंकि इस व्यवस्थाके केंद्र में 'गुरु' का रहना आवश्यक है।



हमारे राष्ट्रीय विद्याप्रतिष्ठान

प्रो० धूर्जटिप्रसाद मुखर्जी

गत चालीस सालोंमें विचारशील भारतीयोंने विश्वविद्यालयकी शिक्षाके नाम और रूपकी आलोचनाकी है। लेकिन कार्यकुशल व्यक्ति उन नयी संस्थाओंके निर्माणमें आगे बढ़े हैं जो शिक्षा और दृष्टिकोणको राष्ट्रीय दिशा देती हैं इन संस्थाओं के नाम सुपरिचित हैं। इनमें बंगाल की 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद' और 'शांति निकेतन' राष्ट्रीय आंदोलन के प्राथमिक उत्थानके फल हैं; दिल्लीकी 'जामिया' और 'काशी विद्यापीठ' के उद्‌भवका श्रेय गांधी वादी युगको है। पूना शालाओं की चालक शक्तियां कुछ अन्य भी रही हैं और 'भारतीय विद्याभवन' अपने प्रवर्त्तक की विचारधारासे बहुत कुछ प्रभावित है। इन रूढ़िवाद्य संस्थाओं द्वारा जो शिक्षा–परम्परा निर्मित हो रही है उसीका मूल्याङ्कन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी या अलीगढ़ विश्वविद्यालय का कोई उल्लेख इस कारण नहीं किया गया कि दोनोंमें से कोई भी पाश्चात्य शिक्षा पद्धति या अंग्रेजी राज्य द्वारा प्रचारित नौकरीके आदर्शसे बहुतदूर नहीं जाता। अनुसन्धान परिषदों का भी कोई उल्लेख नहीं है। कारण यहकि वे न तो राष्ट्रीय आंदोलनसे संबधित हैं और न उनका निर्माण भारतीय शिक्षा पद्धति की जीवित परम्पराके आधार पर हुआ है। लेखक को विश्वास है इस स्पष्टीकरणके पश्चात् पाठकों को उस संबंधमें किसी प्रकार का अन्यथाभाव न उत्पन्न होगा। इसका भी ध्यान रहे कि प्रस्तुत विचार किसी संस्था–विशेषके संबन्धमें नहीं है।

विद्यार्थियोंकी विशेषताएं

इर दिशामें उस काम हुआ है जिसकी कुछ झलक हम इनके विद्यार्थियोंके सीधेसादे वेशभूषा और व्यवहारमें पा सकते हैं। विद्यालय छोड़नेके बादभी ये विद्यार्थी खद्दर पहनना नहीं छोड़ते और खद्दर उनको प्रतीकगत गौरवके अतिरिक्त स्वच्छता भी प्रदान करता है। साधारणतः इन विद्यालयोंके शिक्षार्थी व्यवहारमें निष्कपट होते हैं; बाबूपन और कृत्रिमतासे घृणा करते हैं। जीवनके प्रति इनके दृष्टिकोणकी मुख्यतः दो विशेषताएं हैं: (अ) संघर्ष और विरोधमें विश्वास (ब) भारतकी प्रत्येक समस्याके सभी रूपोंको विदेशी राज्यद्वारा सिद्ध करना। पहली विशेषताका प्रभाव सभी स्तरों पर होता है और चरित्रकी यह बहुत उपादेय सहायिका है। इन विद्यार्थियोंमें चरित्र-बल पर्याप्त होता है। कभी कभी संघर्ष पर अत्यधिक ध्यान उनको दलबंदीमें फंसा देता है, लेकिन अधिकतर इसके फलस्वरूप उनमें सावधानीसे आगे बढ़ने और संतुलित निर्णयके लिए धैर्यका युवकोचित

मात्रासे कहीं अधिक अभाव होता है। राजनीतिक कार्यक्षेत्रमें उनकी विशेष देनको उन्हींके शब्दोंमें 'क्रांतिकारी जोश' कह सकते हैं। इस 'जोश' की मात्रा प्रत्येक विद्यालयमें भिन्न है। लेकिन जहां इसकी अतिशयता हुई है, इसमें कई न्यूनताएं आगयी हैं। मूलतः कांग्रेस आंदोलनकी जंगजू प्रवृत्तियों द्वारा परिचालित होनेके कारण यह 'जोश' उनकी आलोचनामें अक्षम है। इसी जोशके फलस्वरूप राष्ट्रीय विद्यार्थियोंमें राष्ट्रीय आंदोलनसे संबंधित कुछ उन विस्तृत उत्तेजनाओं और आदर्शोंके प्रति भी उपेक्षा भाव आगया है जो भारतको उसकी भौगोलिक परिधिसे बाहर खींचते हैं और उसको मानव-जातिके संघर्षमें स्थान पानेपर अधिकार दिलाते हैं। दुर्भाग्यवश मुस्लिम संघर्षकी यथार्थता भी स्वीकार नहीं की जाती चाहे यह संघर्ष स्वतंत्रताके लिए हो अथवा उच्चकर किन्तु संकीर्ण जीवनतलपर पहुंचनेके लिए हो। लेकिन असली न्यूनता अन्य क्रांतियोंसे अनभिज्ञता है। कभी कभी ऐसा ऐसा लक्षित होता है कि दूसरे देशों और अन्य युगोंमें जो मौलिक, आकस्मिक और सर्वव्यापी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं उनके तुलनात्मक अध्ययनकी कोई परम्परा इन संस्थाओंमें नहीं है। मार्क्स या गांधीवादी कार्यपद्धति सभी अवसरोंपर उपादेय समझी जाती है। फल यह होता है कि दोनोंका पर्यवसान बाकुनिन और ब्लाङ्कीके मतवादमें होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि क्रान्तिकारी उत्साहका सुधार यदि दशा विशेषका बृहत्तर आंदोलन या आंदोलनोंकी पृष्ठि भूमिमें स्थित कर सकनेकी क्षमता द्वारा न हो तो इसका अंत रोमांचक, उत्तेज और तद्भावित वैयक्तिक बलिदानके पंथ और सामूहिक, स्वयंभू उथलपुथलके प्रति अत्यधिक अनुरागमें होता है। राष्ट्रीय संघर्षके विचारमें तल्लीनताका दूसरा और सूक्ष्मतर रूप तर्कशास्त्रके क्षेत्रमें मिलता है। इन विद्यालयोंके शिक्षित युवकोंकी अधिकतर प्रवृत्ति शुद्ध अरस्तू पद्धतिपर तर्क करनेकी होती है। पहले अंग्रेज चले जांय तब समाजवाद आ सकता है। या तो आप उनके साथ हैं अथवा उनके विरुद्ध हैं, और यदि विरुद्ध हैं तो शत्रुदलके साथ हैं। इस प्रकारकी प्रमाण प्रणाली और ऐसे निगमन सर्वत्र मिलेंगे। एक तरहसे वे स्वाभाविक हैं। फिर भी कभी कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि एक समय एक ही वस्तु, अस्ति अथवा नास्ति, और प्रारम्भिक प्रतिज्ञापर पहुंचनेके लिए निषेधका निषेध—इस प्रकारकी तर्क पद्धति यंत्रवत है; और इसका तारतम्य न तो किसी आन्दोलनके प्रवाहके साथ है और न ऐतिहासिक रूपान्तरोंके न्यायके साथ। यद्यपि इसमें संदेह है कि इस संबंधमें न्याय शास्त्रकी बात उपयुक्त हो सकती है। प्रसङ्गतः यह भी कहना पड़ता है कि यह न्याय न तो किसी उत्तम अर्थमें भारतका है, न मार्क्सका, न लेनिनका।

इन विद्यालयोंकी अधिकांश संतानोंके मतमें भारतके सभी सुख-दुःख आधिदैविक हैं और हमारी सभी व्याधियां विदेशी प्रेतकी बाधा हैं। इस प्रकारकी निदान पद्धति स्वदेशी आंदोलनकी देन है।

जबसे साम्राज्यवाद शब्द व्यापक हुआ है वैयक्तिक घृणा एक ऐतिहासिक शक्तिमें साधारणीकृत हो गयी है और जिसकी प्रतिक्रिया सरकारके हरकार्यके पीछे देखी जाती है। कई प्रकारसे यह मनोवृत्ति लाभदायक भी हुई है। आतङ्कवादका ह्रास हुआ और वासनात्मक बुद्धिके स्थानपर शुद्ध बौद्धिक विचार-प्रणाली आयी। राजनीतिक चेतनाका रूप इस प्रकार वृद्धिशाली हुआ और आंदोलनके समाजकी जीवित आवश्यकताओंसे संबंधित हो जानेसे अकस्मात् राष्ट्रीयताकी परिधि भी विस्तृत हुई। इसका प्रभाव विद्या संस्थाओंपर भी पड़ा। इनके शिक्षार्थी साम्राज्यवाद-विरोधी युद्धके अग्रमदलमें आये। लेकिन जब आंदोलनका वेग कुछ कम होने लगा तो साम्राज्यवादका विरोध विदेशी राज्यके रहस्योद्घाटनके कौशल मात्रमें सीमित हो गया। इस अवस्थामें सर्वग्राही शङ्कालुताका उद्भव सहज था जिससे मानस रोगके विशेषज्ञ सुपरिचित हैं। आजकल ह्वाइटहाल और लंदन, फ्लीट स्ट्रीट और वालस्ट्रीट, प्रत्येकके गुह्यतम रहस्योंके समझनेके लिए साम्राज्यवाद शब्द एकमात्र कुञ्जी है। अगस्त १९४२ के बाद यह भावना सामाज्य विरोधी रहस्य साधनाके प्रति राष्ट्रीयतावादी युवकोंके आकर्षणको और भी पुष्ट करती है। पता नहीं यह मनोदशा आदिम निवासियों की शंबूक-गवेषणा (सर्च फार स्केपगोट) की उस प्रवृत्तिसे कहां तक भिन्न है जिसको यहूदियोंके प्रति अपनी नीति द्वारा हिटलरने आधुनिक रूप दिया है। एकीकरण शिशु मनोदशाका लक्षण है और जब तक इसका स्थान विचार नहीं ले लेता, राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओंका एक महत् कार्य छूटा पड़ा रहेगा। सरल जीवन बड़ी उच्च वस्तु है, और निश्छल व्यवहार भी अनुकरणीय आदर्श है। लेकिन जब सम्पूर्ण परिस्थितिकी विविधता उपस्थित होती है और उसकी परिवर्त्तनशील गतिविधि समझनेका प्रश्न उठता है, उस समय इन दोनों आदर्शोंकी अक्षमता प्रतीत होने लगती है।

संभवतः इन विद्यालयोंकी भारतीयता इनका सबसे बड़ा गुण है। शिक्षकों और शिक्षार्थियोंके दैनिक आचार विचारमें, शिक्षाके माध्यम, इतिहास और दर्शनके अध्ययनमें—सर्वत्र भारतीयताका महत्व और भारतकी छाप लक्षित होती है। सारे वायुमण्डलमें भारतके प्रति अनुराग और उसकी पूजाका भाव भरा है। कभी कभी यह भाव भारतीय संस्कृतिकी सर्वोत्कृष्टताका अभिमान उत्पन्न करता है। लेकिन यह अभिमान अब पुराने ढंगका नहीं रह गया है। यह अब वर्तमान घटनाओंकी अभिज्ञताके पर्याप्त पुट द्वारा संतुलित और भावी भारतके निर्माणकी हार्दिक इच्छा द्वारा परिमार्जित है। इस इच्छा का उद्देश्य भारतकी सामाजिक विषमता, निष्क्रियता और उसकी अकथनीय दरिद्रताको दूर कर देना है।

इन विद्यालयोंमें जनतंत्रवाद नूतन और सुन्दरतर समाज व्यवस्थाके लिए सरकारी शिक्षालयोंकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रयत्न पाया जाता है। इस महत्वपूर्ण अर्थमें विद्यालय पूर्णरूपेण सफल कहे जा सकते हैं। सेवाभावसे प्रेरित जीवन यहीं मिल सकता है, दूसरे विद्यालयोंमें नहीं।

जनताकी उदासीनता

दुर्भाग्यवश जनता इनके प्रति बिल्कुल उदासीन है। सभीको धनाभावका कष्ट है, और इससे भी दुःखद बात यह है कि इनको भारतके पंडितोंका पर्याप्त सहयोग नहीं प्राप्त है। अच्छे विद्यार्थियों को भी उनके माता पिता यहां नहीं भेजते क्योंकि यहांकी उपाधियोंका कोई मूल्य नहीं है। पता नहीं सरकारी सहायता अथवा इन उपाधियोंकी राजकीय स्वीकृति कहां तक स्थितिमें सुधार कर सकेगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुरको 'विश्वभारती' की एक संस्थाको कलकत्ता विश्वविद्यालयसे सम्बद्ध करनेके लिए बाध्य होने पर बड़ा कष्ट पहुँचा था। लेकिन शायद अब अच्छे दिन आने वाले हैं। इस समय तो जहांतक इन संस्थाओंका संबंध जनता (शिक्षार्थी युवकोंके अभिभावक) और प्रबुद्ध वर्ग (इन युवकोंके शिक्षक) से है इनकी स्थिति शोचनीय रूप रक्षणात्मक है। इसकी प्रतिक्रिया इन संस्थाओं पर भी होती है। परिणामतः आत्म संतोष और उच्चताकी संकीर्ण भावनाको प्रश्रय मिलता है, तथा एक इस प्रकारका कुलीनताभिमान विकसित होता है जो विनम्रताके कवच द्वारा व्यक्तिगत ईर्ष्याको छिपाता है। भारतीय संस्कृतिका स्वरूप विश्लेषण और उसके अर्थका व्याख्यान तो अलग चीज है। कहना पड़ता है कि श्री ठाकुर और श्री अरविंदके बाद भारतीय इतिहास और संस्कृतिका कोई महत्वपूर्ण दर्शन इन सस्थाओं द्वारा न निर्मित हुआ है आर न प्रचारित हुआ है।

ललित कलाओंकी उपेक्षा

एक दूसरी भारी कमी ललित कलाओंकी अपेक्षाकृत उपेक्षा है। संभवतः शांति निकेतन अकेला अपवाद है। कुछ ऐसा मालूम होता है मानों भारतीय राष्ट्रीयताने अपने सौन्दर्याभिज्ञानको 'शांति-निकेतनको' सौंपकर अपने धर्मकी इति श्री मानली है और अब केवल कला-कौशलमें विशेष प्रवीणता प्राप्त करनेमें संलग्न है। यह बात तो छोड़ दीजियेकि यह त्याग इतना विशाल नहीं है कि जैसाकि दिखाई देता है। लेकिन जरूरी बात यह है कि यह त्याग अनैतिहासिक तर्क विरुद्ध और आधुनिक शिक्षा पद्धतिकी सभी स्वस्थ प्रवृत्तियोंके विरोधमें है। उपयोगी और ललित कलाओंमें विभेद खड़ाकर देना वर्तमान पाश्चात्य सभ्यताकी एक महान दुष्टता है। अंग्रेजी प्रभुत्वकी छत्रछायाने हमारी शिक्षा-परम्पराको एकाङ्गी और जीविकोपार्जनका साधनमात्र बना दिया है। आशाकी जाती है कि ज्यों ज्यों राष्ट्रीय विचारधारा इस दृष्टिकोणसे मुक्त होगी, संगीत, चित्रकारी आदि कलाओंका अनुशीलन हमारी शिक्षाका अविभाज्य अङ्ग होगा। हमें अंग्रेजोंके चले जानेकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। जैसा संकेत

किया जा चुका है, यह तर्क भ्रामक है। इसका आधार विद्या और कलाका एकाकी अध्ययन है। ललित कलाएं अवकाशके युगमें ह्रासोन्मुख होती हैं। सृजन सदैव हलचलमें ही होता है, यद्यपि उसके स्वाद का स्मरण शांतिपूर्ण युगोंमें किया जाता है। यहां पर कोई व्यक्तिगत आलोचना अपेक्षित नहीं है। क्योंकि कलाकी उपेक्षा राष्ट्रीय आंदोलनके पिछले इतिहासमें निहित सी रही है। फिर भी कभी कभी इस उपेक्षा पर हार्दिक खेद होता है। हमारे नेताओंमें से बहुतसे पंडित, साहित्यकर्ता और साहित्यानुरागी रहे हैं; लेकिन लेखकने किसीको 'एलोरा' और 'अजंता' के संमुख आनन्दविभोर होते नहीं देखा, किसीको वीणा पर दरबारीके भव्य कौशल पर विमुग्ध होते नहीं पाया। यथार्थवाद बहुत सुंदर वस्तु है, पर अफलातून भी गलती पर नहीं था।

राष्ट्रीय शिक्षासंस्थाओंका भविष्य

इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओंके भविष्यका प्रश्न उठता है। स्पष्टतः यह राष्ट्रीय आंदोलनकी प्रगति और दिशा पर निर्भर होगा। यदि अंतर्कालीन सरकार भवितव्यताका आभास है तो यह निश्चित है कि उन राज्योंके साथ सहयोगके प्रयत्नको बल मिलेगा जिनका इतिहास, सामाजिक व्यवस्था और दृष्टिकोण साम्राज्यवाद विरोधी हैं। अगर ऐसा हुआ तो विकासशील मस्तिष्क स्थानीय और अल्पकालीन संघर्षकी संकुचित परिधिमें विचार करनेके भारसे मुक्त हो सकते हैं। और इस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्रके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रोंमें सहयोग भावना के विकास की सहायतासे विस्तृत स्वतंत्रता प्राप्तकी जासकेगी। परन्तु यदि विगत संघर्ष भावी और कटुतर युद्धकी भूमिका हैं तो इसका उपचार केवल यही सुझाया जा सकता है कि क्रांतिकालीन युगोंके तुलनात्मक इतिहासोंका एकसाथ वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ किया जाय। इसी प्रकार वर्तमान पाठ्यविषयमें कलाकौशलका इतिहास सम्मिलित करनेका प्रस्ताव भी किया जा सकता है।

दोनों प्रस्तावोंका उद्देश्य विद्यार्थियोंमें मनुष्य और ज्ञानकी एकताका भाव जागरित करना है। मनुष्य और ज्ञानकी एकताकी व्यञ्जना है : मानव जातिके सारे संघर्षों, सारे सहयोगों और उसकी उच्चतम सफलताओंका इतिहास। समय आ गया है कि हमारे ये राष्ट्रीय प्रतिष्ठान विश्वविद्यालयोंका रूप प्राप्त करनेके लिए तैयार हो जायं। इन्हींके लिए भविष्य है क्योंकि इनको अपेक्षाकृत कम कठिनाइयां पार करनी हैं और इन्हींमें लक्ष्यसाधनके लिए प्रज्वलित उत्साह है।

विद्यापीठ और शिवप्रसादजी

श्री श्रीप्रकाश

श्री शिवप्रसाद गुप्तजीको बाल्यावस्थासे ही देशकी स्वतंत्रताकी खोज थी। उनक देशमें अंग्रेजोंका आधिपत्य और समाजमें अंग्रेजी भाषाके प्रचारसे जैसे मार्मिक कष्ट होता था और वे अपनी शक्ति भर और अपनी बुद्धि भर अपने सब साधन ऐसे कार्यमें लगानेके लिये उपस्थित थे, जिससे देशका राजनीतिक बंधन टूटे, देशका सांस्कृतिक उत्थान हो। अंग्रेजोंका देशसे बाहर जाना, अंग्रेजी भाषामें लिखना-पढ़ना, बोलना बन्द होना, वे अपने आदर्शकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य समझते थे। नाना प्रकारसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वे आरम्भसे ही प्रयत्नशील थे, और जब वे अपनी पैतृक सम्पत्तिके स्वामी हुए, तो उन्होंने दिल खोलकर उसे अपने इष्ट कार्योंमें लगाना आरंभ किया। अवश्य ही राजाका बड़ा प्रभाव प्रजा पर रहता है। प्रजाके लिये राजाकी नकल करना स्वाभाविक है। बहुत जल्दी प्रजा राजाकी तरह व्यवहार करने लगती है, राजाकी भाषा बोलने लगती है। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही रूपोंमें यह सत्य चरितार्थ होता है। शास्त्रकारोंने तो लिख ही दिया है—"राजा कालस्य कारणम्"। इसी कारण जब प्रजामेंसे कोई राजाका विरोध करने उठता है, सामयिक गतिको रोकना चाहता है, प्रचलित विचार-धाराओं और कार्य-प्रणालियोंका प्रवाह बदलना चाहता है, तो उसे बड़े संकटोंका सामना करना पड़ता है, और बड़ी कठिनाईसे वह अपने कार्यकी सिद्धि अंशतः भी कर पाता है। श्री शिवप्रसाद गुप्त कोई अपवाद नहीं थे।

विदेशी प्रभावकी पराकाष्ठा

श्री शिवप्रसादजीकी बाल्यावस्था और युवावस्था ऐसे समय बीती है जब यों कहना चाहिये कि अंग्रेजी साम्राज्यका लौकिक और नैतिक बल अपने देशमें पराकाष्ठा पर था। किसीको यह विचार होता ही नहीं था कि इसका अंत हो सकता है। उस समय बहुतसे लोग ऐसे मौजूद थे जिन्होंने पिछली शताब्दीकी मारकाट स्वयं देखी थी और जिनके हृदयमें अंग्रेजोंके प्रति वास्तविक कृतज्ञता भी थी कि इन्होंने देशमें शान्ति स्थापित की। उस समयके प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ भी अधिकसे अधिक यही चाहते थे कि देशमें शिक्षाका प्रचार हो, देशवासियोंको अच्छी सरकारी नौकरियां मिलें, जिससे आगे चलकर हम इस योग्य हों कि अपने पैरों खड़े हो सकें, और इंगलैंडसे सम्बद्ध रहकर हम अपना कार्य

चला सकें। वही ऐसा समय भी था, जब देशमें अपने पुरातन विचारोंके प्रति घृणा सी हो गयी थी। अंग्रेजी पढ़नेमें सबको ही अधिक रस था। इसीमें लोग अपना और अपने देशका वास्तविक उद्धार और उत्थान मानते थे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि देशमें ऐसे लोग नहीं थे जो दूरदर्शी थे आर जो विदेशी शासन और विदेशी भाषामें अपनी आध्यात्मिक हानिको समझते हुए उसके अन्तका स्वप्न ही नहीं देखते थे पर उस समय स्वप्नको कार्यान्वित करनेमें प्रयत्नशील भी थे। बिना घरवालोंके और निकटतम मित्रोंके भी बिना जाने ऐसे लोगोंका ही साथ शिवप्रसादजीने बहुत छोटी उमरसे कर रखा था।

विद्यापीठका सूत्रपात

जब शिवप्रसादजी १९१४ में अपनी प्रथम विदेश यात्राको निकले, तब उन्होंने कितने ही देशोंका भ्रमण ही नहीं किया, वहांकी संस्थाओंका अध्ययन भी किया, और अपने देशके लिये उपयुक्त बातों पर विचार किया। उन्होंने भिन्न भिन्न देशोंके विशिष्ट व्यक्तियोंसे सम्पर्क भी स्थापित किया। जहांतक मैं जान सका हूँ, जापानके एक विशेष शिक्षा संस्थाका उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। इनसे मुझसे जो कुछ बातें हुईं, उससे मुझे यह मालूम हुआ कि इस संस्थाकी विशेषता यह थी कि न उसपर वहां के राजका नियंत्रण था, और न यह संस्था राजसे कोई सहायता ही लेती थी, तिस पर भी यह बड़ी लोकप्रिय थी, इसमें सहस्रों बालक बालिकाएँ पढ़ती थीं, यहांके स्नातकोंकी देशमें बड़ी मांग थी और सभी लोग इसका बहुत आदर और सम्मान करते थे। जापान ऐसे देशमें ऐसी शिक्षासंस्थाका होना अवश्य ही आश्चर्यकी बात थी। वहां देशभक्ति और राजभक्तिमें कोई अन्तर ही नहीं है। वहां राजसे पृथक् प्रजाका कोई प्रबन्ध सोचा ही नहीं जा सकता। और जब वहां भी ऐसी संस्थाका केवल अस्तित्व ही न था, पर उसकी आवश्यकताका अनुभव भी किया गया, तो शिवप्रसादजी ऐसे व्यक्तिके मस्तिष्कमें ऐसी संस्थाको अपने देशमें स्थापित करनेका विचार उठे तो क्या आश्चर्य। जहांतक मैं समझ पाया उन्होंने उसी समय ऐसी संस्थाकी स्थापनाकी प्रतिज्ञा अपने मनमें की।

कार्यारंभ

उन्होंने वहींसे श्री कर्वेको पत्र लिखा और श्री कर्वे महोदयने मुझसे कहा है कि उस पत्रका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने महिला विद्यालयको उन्हीं सिद्धान्तों पर चलाया जिनका श्री शिवप्रसाद गुप्तने जापानी संस्थाके आधार पर निर्देश किया। शिवप्रसादजीने पृथक्से भी ऐसी

संस्थाको कायम करनेकी चिन्ता भारत लौटनेके बादसे ही आरम्भ किया। अन्य लोगोंकी तरह शिवप्रसादजीका भी यह दोष था कि वे नामके पीछे बहुत दौड़ते थे। और मेरे हजार समझानेपर भी वह इस हस्तामलक सत्यको माननेको नहीं तयार थे कि काम करनेसे ही नाम हो सकता है, और होता है, और जिन लोगोंका संसारमें नाम है वे अपने कामके ही कारण प्रसिद्ध हुए हैं। देशके प्रसिद्ध लोगोंके फेरमें वे पड़े। उनको आशा हुई कि संभवतः पंडित मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालय-को उनके आदर्शके अनुसार चलावें। इसमें उन्हें निराश होना पड़ा। यह १९१६ की बात है। उसके बाद ही महात्मा गांधीने देशमें एक विशेष प्रकार की धारा प्रवाहित की। श्री शिवप्रसादजीने उनसे सम्पर्क फौरन ही कायम किया और अन्य नामी लोगोंसे भी वे बातें करते रहे। श्री शिवप्रसाद गुप्त इस बात पर तयार नहीं होते थे कि बिना नामवाले पर सच्चे उत्साही लोगोंका वे संग्रह करें, जो उनके आदर्शके अनुसार और अनुकूल कार्य करें और पीछे इस कारण प्रसिद्ध भी हो जायँ। वे किसी लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति और व्यक्ति समूहके खोजमें रहे।

१९२० का आंदोलन

चार वर्षोंतक यही स्थिति थी। १९२० में महात्मा गांधीने अपने असहयोग आन्दोलनको एक निश्चित रूप दिया जिसमें श्री शिवप्रसाद गुप्तके दोनों ही आदर्श—राजनीतिक स्वतंत्रता और देशी भाषामें शिक्षा—झलक रहे थे। श्री शिवप्रसादजीकी बड़ी इच्छा थी कि सेंट्रल हिन्दू कालेज और काशी विश्वविद्यालयसे विरक्त होकर पिताजी जब कर्मक्षेत्रसे पृथक् हो रहे हैं, तो वे इस नये कार्यका नेतृत्व ग्रहण करें। जब पिताजीने अधिक उत्साह नहीं दर्शाया और अपने ही पठन-पाठनमें रहना अपने लिये अधिक इष्ट माना, तो शिवप्रसादजीने महात्मा गांधीजी द्वारा भी उनको कहलवाया और जिस समय सरकारी आर अर्ध-सरकारी शिक्षालयोंके बहिष्कारकी पुकार महात्माजीने मचायी और असहयोग आन्दोलनने उग्र रूप पकड़ा तो काशी विद्यापीठकी स्थापना भी हो ही गयी। कितने ही राजनीतिक नेतागण उस समय उसके आरम्भोत्सवमें उपस्थित हुए। श्री शिवप्रसादजीने बहुत बड़े दानका वचन दिया। आचार्य नरेन्द्रदेव प्रभृति विद्वानोंने भी सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार काशी विद्यापीठका जन्म हुआ।

सिंहावलोकन

आज जब विद्यापीठकी रजत् जयन्ती मनायी जा रही है, तब मुझे उसके एक छोटेसे पुराने कार्यकर्त्ता होनेकी हैसियतसे परस्परके वे सब विचार-संघर्ष भी याद आते हैं जिनका अनुभव मुझे बराबर

होता रहा। मेरे लिये यह उचित होगा कि मैं इनका यहां वर्णन करूँ जिससे यदि संभव हो तो हमारे सार्वजनिक कार्यकर्त्तागण कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें और विद्यापीठके कार्यकर्त्ताओंसे अपने काममें अधिक सफलता प्राप्त कर सकें। मैंने शिवप्रसादजीके आन्तरिक विचारोंको ऊपर बतलाया है। उनकी केवल यह इच्छा थी कि हिन्दी भाषा द्वारा उच्चसे उच्च शिक्षा विद्यापीठमें दी जाय। चाहे परराज हो चाहे स्वराज हो, इसमें राजकी तरफसे न कोई आर्थिक सहायता ली जाय, न उसका किसी भी प्रकारका नियंत्रण माना जाय। यह संस्था राजसे सर्वथा स्वतंत्र रहे। आदर्शकी दृष्टिसे वे इस संस्थाका राजनीतिसे कोई भी संबंध नहीं रखना चाहते थे और उनकी हार्दिक अभिलाषा यही रही कि यह सर्वथा शिक्षा संस्था ही रहे और इसके कार्यकर्त्ता और शिक्षकगण पूरी तरह अपना ध्यान विद्यापीठके ही कार्यपर रखें। पर जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, शिवप्रसादजी नामकी खोजमें बहुत रहते थे और यह अनुचितपर अपने देशके लिये स्वयं सिद्ध सत्य है कि राजनीतिमें नाम बहुत जल्दी आर बहुत अधिक भी हो जाता है। छोटे छोटे राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंका नाम शीघ्र ही सुन पड़ने लगता है, ज्ञान विज्ञानके बड़े बड़े अन्वेषक पड़े ही रह जाते हैं।

राजनीति से संबंध

जब विद्यापीठ एक उग्र राजनीतिक आन्दोलनके समय स्थापित हुआ, जब श्रेष्ठ राजनीतिज्ञोंको उसका निरीक्षक, प्रबंधक, अध्यापक होनेके लिये निमंत्रित किया गया, तो यह अनिवार्य था कि विद्यापीठ शिक्षा संस्था न मानी जाकर राजनीतिक संस्था ही मानी गयी। आरम्भोत्सवमें पिताजीके भाषणके बाद ही जो बातें पंडित मोतीलालजीको और शिवप्रसादजीकी हुई थीं, वह मुझे आज भी अच्छी तरह याद हैं। मोतीलालजीको शिक्षाके सुधारमें कोई रस नहीं था। वे तो अंग्रेजी शिक्षाके बड़े भारी समर्थक थे। उन्होंने अपने कुटुम्बके सभी नवयुवकोंको विदेशोंमें शिक्षाके लिये भेजा था। उनका तो विचार ही था कि जबतक हम लोग अंग्रेजों की ही तरह नहीं हो जाते हमारा उद्धार नहीं हो सकता। उन्होंने शिवप्रसादजीसे कहा कि हम तो राजनीतिक दृष्टिसे ही विद्यापीठको देख रहे हैं, पर ऐसा प्रतीत होता है कि तुम तो शिक्षाके सुधारकी चिन्तामें हो। मौलाना मुहम्मद अली भी उस समय वहां थे। उनके भी यही भाव थे। विचार संघर्ष अनिवार्य था, और इसकी छाप विद्यापीठके कार्यमें उस समयसे लेकर अबतक मौजूद है। यह संघर्ष सदा जारी रहा, और हर समय और हर स्थानपर उठता रहा। रजत् जयन्तीके अवसरपर उचित है कि इस पर सब लोग अच्छी तरह विचार कर लें।

कार्यकर्त्ताओं की आकांक्षा

जो हमारे पास आरंभमें विद्यार्थी आये, वे भी राजनीतिक विचारोंसे प्रेरित होकर ही आये।

जो अध्यापक यहां आते रहे, वे भी उन्हीं भावोंसे प्रेरित होकर आये, और राजनीतिको ही उन्होंने अपने हृदयोंमें प्रधान स्थान दिया। इसके दो दुःखद परिणाम हुए। विद्यापीठमें विद्वानसे विद्वान अध्यापकों और परिश्रमीसे परिश्रमी, बुद्धिमानसे बुद्धिमान विद्यार्थियोंके रहते हुए भी विद्यापीठने शिक्षाका बहुत ही कम काम किया और राजनीतिमें इसका बहुत बड़ा हाथ रहा। राजनीतिक संघर्षों और आन्दोलनोंके समय न अध्यापक न विद्यार्थी रोके जा सकते थे। ऐसे समय विद्यापीठ सदा ही अस्तव्यस्त हो जाता था। सामयिक इतिहासमें राजनीतिक कार्यमें तो विद्यापीठका बहुत बड़ा हाथ रहा है, पर शिक्षामें उसकी प्रायः कोई देन नहीं है। तथापि रूप शिक्षा संस्थाका ही देनेके कारण, विद्यापीठने खुलकर राजनीतिक कार्यकर्त्ताओंके निर्माणका काम भी अपने हाथमें नहीं लिया, जिससे हम न पूरी तरह इधरके रहे, न उधरके रहे। दूसरा परिणाम यह हुआ कि विद्यापीठके निरीक्षकों, प्रबन्धकों, अध्यापकों और अन्य कार्यकर्त्ताओंके ही कुटुम्बोंके बालक और नवयुवक इसमें शिक्षा नहीं लेते थे। वे सब उन्हीं शिक्षालयोंमें भेजे गये, जिनसे असहयोग कर यह संस्था कायम की गयी और इसमें आनेका विद्यार्थियोंको निमंत्रण दिया गया। इस अद्भुत दृश्यका भी जो कुछ प्रभाव हो सकता था, वह हुआ, और वह किसीसे छिपा भी नहीं है।

भविष्यका प्रबन्ध

इस स्थितिमें सब कार्यकर्त्तागण सदा व्यामोहमें रहे। वे प्रायः किंकर्त्तव्य-विमूढ रहे, वे प्रायः असन्तुष्ट भी रहे। विद्यार्थियोंकी भी यही दशा थी। इसके संस्थापक श्री शिवप्रसादको विशेष ग्लानि रही, पर वे अपनी प्रकृतिसे विवश थे, और यों ही पचीस वर्ष बीत गये। वे भी उठ गये। अवश्य ही जो लोग रह गये हैं उनका कर्त्तव्य बड़ा गंभीर है। क्योंकि जब तक वे अपने आदर्शको स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट नहीं करते, और उसपर दृढ़तासे चलनेके लिये कटिबद्ध नहीं होते, तबतक विद्यापीठ उतनी सेवा देश और समाजकी नहीं ही कर सकता, जितनीकी इतने त्याग और तपस्याके बाद उसे कर सकना चाहिये था। मेरा यह मतलब कदापि नहीं है—और इसमें कोई भ्रम किसीको नहीं होना चाहिये—कि मैं विद्यापीठकी उपयोगिता नहीं स्वीकार कर रहा हूँ, उसके कार्यकर्त्ताओंको पर्याप्त श्रेय नहीं दे रहा हूँ, उसने जो कुछ किया उसकी अवहेलना कर रहा हूँ। ऐसे भाव मेरे कदापि न हैं, न हो ही सकते हैं। विद्यापीठने अपना सर्वस्व खो खोकर और हर प्रकारका संकट उठाकर राजनीतिक कार्योंमें भाग लिया है। उसके कार्यकर्त्ताओं और विद्यार्थियोंने नाना प्रकारकी यातनायें सही हैं। उससे संबद्ध लोगोंने बड़े बड़े कार्य भी किये हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

विद्यापीठकी देन

विद्यापीठके एक अध्यापक प्रांतके मन्त्रिमंडलमें शिक्षामंत्री रहे हैं, और आज फिर हैं। इसके आचार्य, राजनीतिक गगनमें विशेषरूपसे प्रज्ज्वलित नक्षत्रके समान हैं, एक प्रभावशाली दलके मान्य नेता हैं, और विद्या, साहस और वक्तृत्व शक्तिमें वे अद्वितीय हैं। इसके कितने ही अध्यापक और स्नातक विभिन्न व्यवस्थापक सभाओंको सदस्यता बड़ी योग्यताके साथ कर रहे हैं। कई पार्लमेंटरी सेक्रेटरीके पदोंको विभूषित करते हैं। व्यवस्थापक सभाओंके बाहर वे कितनी ही राजनीतिक समितिओं और दलोंमें नेतृत्व कर रहे हैं। हमारे स्नातक रचनात्मक कार्यमें—पत्रकार, शिक्षक और खादी आदि उद्योग धन्धोंके कार्यकर्त्ताके रूपमें—सभी जगह विद्यमान हैं। सभी स्थानोंमें उनकी पुकार है। वे सबके ही विश्वासपात्र हैं। यह विद्यापीठकी संसारको देन है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसकी प्रशंसा करनी ही होगी। इसके महत्त्वको मानना ही होगा। पर आज मैं साग्रह यह अवश्य निवेदन करना चाहता हूँ कि जो इसके कार्य्यकर्त्ता गण हैं, वे विगत पचीस वर्षोंके इसके इतिहासको, इसके प्रारम्भिक उद्देश्योंको, इसकी वास्तविक कार्यप्रणालीको, अच्छी तरहसे देखें और समझें और आगेके लिये ऐसी योजना बनाकर कार्य करें जिससे सबके हृदयोंमें प्रसन्नता रहे, सब यह अनुभव करें कि हम कुछ कर रहे हैं, सबके मनसे वह ग्लानि, वह क्षोभ, वह व्यामोह, वह किंकर्त्तव्यविमूढता दूर हो, जो उन्हें सता रही है और जिनके कारण वे आदर्श और व्यवहारका समन्वय नहीं कर पा रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यदि कुछ लोग शिक्षाके लिये लोकसेवाके भावसे प्रेरित होते हैं, तो अधिकतर लोग, जीविकाके उपयुक्त साधनको प्राप्त करनेके लिये शिक्षा लेते हैं। ऐसे लोगोंके उचित भावोंका भी आप्यायन होना ही चाहिये।

हमारा कर्त्तव्य

हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि समाजकी कुछ आवश्यकतायें होती हैं, समाजकी कुछ भावनायें होती हैं, जिनकी पूर्ति करना शिक्षा संस्थाओंका कर्त्तव्य होता है। हम उनके भी विपरीत पूरी तरह नहीं जा सकते। हम यह भी नहीं भूल सकते कि राजकी तरफ जितना आकर्षण हमारे देशमें है, उतना और कहीं नहीं है, इस कारण राजका नियंत्रण बिना माने और राजसे बिना सहायता लिये हुए भी, हम राजके रूपकी अवहेलना नहीं ही कर सकते और हम सदाके लिये यह प्रतिज्ञा नहीं ही कर सकते कि राजसे हमारा किसी भी प्रकार का कभी भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे संबंध नहीं होगा। जब देशमें श्रेष्ठ और विशिष्ट लोग राजमें प्रविष्ट हो रहे हैं, तो छोटोंसे हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे

उधर आंख भी न उठावेंगे। संसारके कार्यमें हम वास्तविकतासे पृथक नहीं रह सकते। हमारे संस्थापक श्री शिवप्रसाद जी गुप्त बड़े आदर्शवादी थे। उनके कार्यका भार जिन लोगोंके ऊपर पड़ा है, उन्हें आदर्शवादके साथ साथ व्यावहारिक भी होना होगा और मैं यही आशा कर सकता हूँ कि अब आगेके लिये कोई ऐसे मार्गका अवलम्बन किया जायगा जिससे आदर्श और वास्तविकताका सच्चा समन्वय हो सके और विद्यापीठका कार्य बिना बार बार अस्तव्यस्त हुए चलता रहे। मुझे यही आशा है कि आगे चलकर हम ऐसे कार्यकर्त्ताओंका संग्रह कर सकेंगे जो इसीमें पूर्णतया तल्लीन रहेंगे और यहांके अपने कार्यके कारण प्रसिद्धि प्राप्त करेंगे, और विद्यापीठसे लगातार ऐसे स्नातक निकलते रहेंगे जो समाजके विविध अंगोंको पुष्ट करते हुए देशकी वास्तविक सेवा करेंगे। मैं यह भी आशा करता हूँ कि पचीस वर्ष पीछे जब विद्यापीठकी स्वर्णजयन्ती मनायी जाय तो उस समय जो कोई कार्यकर्त्ता हों, वह सच्चाई और दृढ़तासे कह सकें कि हमने विद्यापीठको देशकी संस्थाओंमें उपयुक्त स्थान दिलाया है, समाजके निर्माणमें हमने उपयुक्त हाथ बटाया है, हमने इसके सम्मानित संस्थापकके उद्देश्यकी सिद्धि की है और इसके सुयोग्य प्रारंभिक कार्यकर्त्ताओं और विद्यार्थियोंके त्याग और परिश्रमको पूर्णरूपसे सफलता भी प्रदान की है।



काशी विद्यापीठ : एक सिंहावलोकन

श्री विश्वनाथ शर्मा

अंग्रेजोंकी गुलामीका हमारे देशके तनपर ही नहीं मनपर भी पूरा प्रभाव पड़ा। हम उसके मादक तथा विषाक्त प्रभावसे अपनी संस्कृतिका ज्ञान भुलाकर अंग्रेजोंकी अच्छाइयोंकी तो नहीं बल्कि उनकी बुराइयोंकी अधिक नकल करने लगे। हमने उनके गुणोंको तो नहीं लिया, उनके अवगुणोंको ही अधिक अपनाया। हमें अपने देशकी भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन सभी बुरी लगने लगी। देशके सौभाग्यसे हमारे उदार नेता और मनीषियोंका इस ओर ध्यान गया। अंग्रेजोंकी चलायी हुई शिक्षा प्रणालीके दोषोंसे बचनेके विचारसे ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओंकी स्थापना हुई जो सब प्रकारसे सरकारी नियंत्रणसे मुक्त हों, क्योंकि सरकारी नियन्त्रणका प्रभाव यह होता था कि हमारी गुलामीकी जञ्जीर दिन-पर-दिन कसती जाती थी तथा सांस्कृतिक पतन बढ़ता जाता था।

नवचेतन युग

अंग्रेज शासकोंके सम्पर्कका फल यह हुआ कि उनके अपमानपूर्ण व्यवहारके कारण राजनीतिक उत्तेजना बढ़ी। राष्ट्रमें स्फूर्ति और नवचेतन आया। सन् १९१४–१८ के महायुद्धकी समाप्तिके बाद साम्राज्यवादियोंने अपने वादे पूरे न करके भारतकी राजनीतिक चेतनाको पाशविक बलसे कुचलनेका प्रयत्न किया, जिसका परिणाम जलियानवाला बागका भीषण हत्याकांड है, जहां नरनारी, बूढ़े और बच्चे बिना किसी भेदके भून गये। उसके बाद ही सारे पञ्जाबमें अत्याचारका भीषण दावानल उन वीर पञ्जाबियोंके कुटुम्बोंको भस्म करने लगा, जिन्होंने अपनी जानकी बाजी लगाकर अंग्रेजोंके साम्राज्यकी रक्षा की थी। कांग्रेसने विश्ववन्द्य महात्मा गांधीके नेतृत्वमें इनका प्रतिकार करनेका निश्चय किया और सन् १९२१ में असहयोगकी घोषणा की। सरकारी शिक्षा संस्थाओंका बहिष्कार इसका मुख्य अंग था। राष्ट्रकी पुकारपर विद्यार्थियों और अध्यापकोंने सरकारी और अर्ध सरकारी शिक्षा संस्थाओंका बहिष्कार किया और सारे देशमें सरकारी प्रभावसे स्वतन्त्र शिक्षा संस्थाओंकी स्थापना होने लगी। सुप्रसिद्ध दान वीर श्री शिवप्रसादजी गुप्तकी बहुत दिनोंसे यह इच्छा थी कि काशीमें ऐसी शिक्षा संस्थाकी स्थापना की जाय जो सब प्रकारसे सरकारी बन्धनोंसे मुक्त हो, सरकारी सहायता न ले, और न उसका निरीक्षण स्वीकार करे तथा जिसमें मातृभाषा हिन्दी द्वारा उच्च कोटिकी शिक्षा दी जाय।

काशी विद्यापीठकी स्थापना

काशी नगरीका स्वाधीनताके संग्राममें सदा ही बड़ा गौरवमय स्थान रहा है। उसने असहयोग आन्दोलनमें बड़ा शानदार हिस्सा लिया।- वर्त्तमान राष्ट्रपति आचार्य कृपालनीके नेतृत्वमें काशी विश्व विद्यालय तथा अन्य शिक्षा संस्थाओंके कितने ही अध्यापक और विद्यार्थी सरकारी और अर्ध सरकारी शिक्षा संस्थाओंका बहिष्कार करके बाहर आये और ईश्वर गंगी मुहल्लेमें श्री गांधी आश्रमकी स्थापना की गयी। इसी समय महात्मा गांधीकी प्रेरणा, पूज्य श्री भगवानदासजीके ज्ञानदान तथा श्री शिवप्रसादजी गुप्तके धनदानसे विद्यापीठकी स्थापनाकी गयी तथा २८ माघ संवत १९७७ (१० फरवरी १९२१) को महात्मा गांधीके पवित्र हाथोंसे काशी विद्यापीठका उद्घाटन हुआ। उद्घाटनके समय पण्डित मोतीलाल नेहरू, मौलाना मुहम्मद अली, सेठ जमनालाल बजाज, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि देशके मान्य नेता सम्मिलित हुए थे।

सरकारी बाधाएं

प्रायः छब्बीस वर्ष पहले जिसका महात्मा गांधीजीके हाथों बीजारोपण हुआ था, वह आज एक वृक्षके रूपमें संसारके सामने है। इस अवधिमें इसको कितनी ही बार सरकारी कोपका भाजन होना पड़ा है। पुलिसकी भीड़की भीड़का किसी छात्र या अध्यापककी तलाशी या गिरफ्तारीके लिए आना मामूली बात थी। वर्षोंतक सरकारी अधिकारियोंने इसके भवनोंमें ताला बन्द कर रक्खा था। सरकारी गल्लोंका गोदाम तो अभी कुछ ही महीनों पहले हटा है। इन सरकारी विघ्नबाधाओं भरे छब्बीस वर्षोंमें यह संस्था अभी तक जीवित है और अपने अध्यापकों तथा विद्यार्थियों द्वारा भारतके स्वातंत्र्य-संग्राममें सदैव अग्रसर रही है, यह बड़े संतोष की बात है। नवचेतनाके युगमें भारतके कोने कोनेमें बहुत सी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हुई थी। परंतु दुःख की बात है कि प्रतिकूल परिस्थितियोंके कारण हमारे बीच आज वे सब विद्यापीठ अपने उन्नत रूपमें नहीं हैं, लेकिन संतोष यही है कि उनमें से बहुतों का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व अभी भी बाकी है। मुझे पूरा विश्वास है कि शीघ्र ही वह शुभ दिन आवेगा जब हम फिर स्वतंत्र वायुमंडलमें अपना सिर ऊंचा उठाकर चलेंगे।

उद्देश्य

जिन उच्च उद्देश्यों को सामने रखकर काशी विद्यापीठ की स्थापना हुई थी वे ये हैं:—

"अध्यात्म विद्याकी नींवपर प्रतिष्ठित भारतीय शिष्टताके संस्कार और विकासमें तथा भारतमें बसी हुई सब जातियोंके भारतीय समाजमें यथा स्थान सन्निवेश और भारतमें प्रचलित आचार विचारोंके समु-

चित समन्वयमें, तथा स्वाधीनता तथा देश प्रेमके साथ साथ लोकसेवा और मानव मात्रकी बंधुताके भावके संचारमें, तथा संसारके प्राचीन और नवीन शास्त्र, शिल्प, कला, ज्ञान, विज्ञान आदिकी वृद्धि और प्रचार करनेमें सहायता देना और इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ऐसी संस्थाओंकी स्थापना करना, कराना, सम्मिलित करना आदि जो किसी प्रकारसे गवर्नमेंटसे सहायता न लेवें, और उसके अधीन न हों और जो ऐसे प्रकारसे हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि द्वारा शिक्षा दें जो भारतवर्षकी अवस्था और आवश्यकताओंके अनुकूल और उपयोगी हों।"

शिक्षाका क्रम

जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान डा० भगवान्दास जी इसके प्रथम अध्यक्ष, आचार्य तथा कुलपति हुए। उनके संरक्षणमें इसके पठन पाठनकी व्यवस्था हुई। पुस्तकोंकी कोरी शिक्षा तो कितने ही विद्यालयोंमें दी जाती थी, परंतु जीवनमें वास्तविकता लानेवाली शिक्षा कम जगहों पर होती थी, विद्यापीठके अध्यापक, देशके लिए बहुत बड़ी देन रहे हैं। उनका जीवन सरल और त्यागमय था। वे अपके आदर्शोंसे विद्यार्थियोंको सरल जीवन और उच्च विचारकी ओर प्रेरित करते रहे। अपने अपने विषयोंके वे विख्यात पंडित थे। उनके सामने जीवनका एक स्पष्ट ध्येय था। वे ज्ञान प्राप्तिको आदर्श मानते हुए भी भारतकी स्वाधीनताकी प्राप्ति अपना मुख्य कर्तव्य मानते थे। उनका विचार था कि जब तक देश परतंत्र है, केवल ज्ञान प्राप्तिसे किसी लक्ष्यकी ओर नहीं पहुंचा जा सकता, तदर्थ वे ज्ञानके साथ साथ कर्मकी भी शिक्षा देते थे। इस बातकी सतत चेष्टाकी जाती थी कि विद्यार्थियोंमें मूढ़ग्राह नहीं बल्कि विचार स्वातंत्र्य उत्पन्न हो।

पाठ्यक्रम

आरंभमें विद्यापीठके पाठ्यक्रममें हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत अनिवार्य विषय थे और दर्शन, गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र आदि वैकल्पिक विषय थे। इसके साथ साथ विद्यार्थियोंको शिल्पकला तथा दस्तकारीकी शिक्षा दी जाती थी। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया विद्यापीठके विद्यार्थियोंकी रुचि तथा देशकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर अब केवल समाज शास्त्रके अध्ययन-अध्यापनकी व्यवस्था रखी गयी है। यह विषय बहुत ही व्यापक है, और इसमें कई विषयोंका समावेश हो जाता है। यह पाठ्यक्रम चार वर्षोंमें समाप्त होता है। अध्ययन समाप्त होने पर विद्यार्थियोंको समाज शास्त्रसे संबद्ध किसी विषय पर निबंध लिखना पड़ता है। प्रथम वर्षमें वे ही विद्यार्थी भर्ती किये जाते हैं जो काशी विद्यापीठ की विशारद या समकक्ष परीक्षामें उत्तीर्ण हों।

विशेषता

विद्यापीठके विद्यार्थी अपने विषयके विशिष्ट विद्वान् अध्यापकोंके सम्पर्कसे कक्षाओंमें ज्ञान प्राप्त करनेके साथ साथ पुस्तकालयकी सहायतासे अध्ययन करके थोड़े ही समयमें अपने विषयका बहुत ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अध्ययनका माध्यम मातृभाषा हिन्दी है। इसका अनुभव तो सभीको है कि विदेशी भाषा द्वारा अध्ययनमें कितना समय नष्ट होता है। मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षाका जो प्रयोग काशी विद्यापीठने आजसे पचीस वर्ष पहले आरंभ किया था, उसे आज भारतकी सभी शिक्षा संस्थाएं अपना रही हैं। यहांसे शिक्षा पाया हुआ विद्यार्थी पाठ्यक्रमकी विशेषताके कारण बड़ी सरलतासे बहुश्रुत और बहु पठित हो जाता है। यहांके विद्यार्थी वर्तमान समस्याओंको भली भाँति समझते हैं और उनपर अपने विचार गम्भीरता तथा स्वतंत्रताके साथ प्रकट करते हैं।

कुमार विद्यालय

विद्यालय विभागके अतिरिक्त इसके नीचेकी कक्षाओंकी पढ़ाईके प्रबंधके लिए आरंभसे ही कुमार विद्यालयकी स्थापनाकी गयी थी। यह विभाग अर्थाभावके कारण बंदकर देना पड़ा। परंतु एक अच्छे कुमार विद्यालय तथा एक अच्छी बाल पाठशालाका अभाव सभी शिक्षा प्रेमियोंको खटकता रहता है। बिना अपने आदर्शोंके अनुकूल कुमार विद्यालय चलाये हमें केवल महा विद्यालय चलानेमें पूरी सफलता नहीं मिल सकती।

हिन्दी भाषा प्रचार

संवत् १९९१ में दक्षिण भारतके हिन्दी प्रेमियों की उच्च शिक्षाके लिए हिन्दी भाषा प्रचार विभाग की स्थापना की गयी और हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त करके २८ हिन्दी कोविद निकले, जो दक्षिण भारतके विभिन्न भागोंमें सफलता पूर्वक हिन्दी प्रचार कर रहे हैं। जिन लोगोंने दर्शन या समाज शास्त्रका अध्ययन करके शास्त्री की उपाधि प्राप्त की है, उनमेंसे भी कई सज्जन हिन्दी भाषा का प्रचार कर रहे हैं।

शिक्षा-योजनाएं

संवत् १९७९ में भारत-की सब राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओंका एक सम्मेलन काशीमें निमंत्रित किया गया, जिसमें सभी राष्ट्रीय विद्यापीठोंके प्रमुख शिक्षा शास्त्रियोंने १५ दिनों तक विचार करके एक विस्तृत योजना तैयारकी थी। संवत् १९८८ में फिर राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलनकी योजनाकी गयी और विद्यापीठ की ओरसे राष्ट्रीय शिक्षाका इतिहास प्रकाशित किया गया था। किन्तु उसके बाद ही सत्याग्रह आन्दोलन

प्रारंभ होजानेके कारण इन योजनाओंके अनुसार काम नहीं हो सका। तबसे आज तक देश अपनी गुलामी की बेड़ियां काटनेमें इस प्रकार लगा था कि उसे शिक्षाकी समस्याकी ओर ध्यान देनेका पर्याप्त अवसर नहीं मिला। सन् १९३७ में कांग्रेस द्वारा मंत्रिपद ग्रहण करनेके बादही इस ओर ध्यान दिया जा सका।

प्रांतीय शिक्षा योजनाएं

काशी विद्यापीठके अध्यापक, सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा देशभक्त श्री सम्पूर्णानन्द जीने शिक्षा मंत्रीका पद ग्रहण करनेके बाद स्वभावतः शिक्षा योजनाओंकी ओर ध्यान दिया। यूनवर्सिटी, माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षापद्धति ठीक करनेके लिए आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री श्रीप्रकाश, श्री रामशरण, श्री बीरबलसिंह आदिकी कमेटी बनी। संस्कृतशिक्षा पद्धतिके सुधारके लिए डा० भगवानदासजीकी अध्यक्षतामें कमेटी बनायी गयी थी। इन कमेटियोंने बड़े विचारके बाद शिक्षायोजना तैयार की थी, पर इतनेमें ही कांग्रेसने मंत्रिपद त्यागका निश्चय किया। अब सन् १९३९ से १९४६ तक अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद फिर कांग्रेस पदारूढ़ है। पूर्व योजनाके अनुसार युक्त प्रांतमें तो शिक्षापद्धतियोंमें आमूल परिवर्तन हो रहा है। आशा है १० वर्षोंके भीतर युक्तप्रांत शिक्षाके संबंधमें अग्रणी रहेगा।

पुस्तकालय

काशी विद्यापीठके पुस्तकालयमें प्रायः ३५ हजार पुस्तकें हैं। पूरा पुस्तकालय डिवीकी दशमलव पद्धतिके अनुसार वर्गीकृत है। पुस्तकोंकी दो सूचियां हिन्दी और अंग्रेजीमें अलग अलग वर्ग क्रम और लेखकोंके नाम क्रमसे कार्डों पर बनी हुई हैं। कार्ड सूची साधारण गिनती और अकारादि क्रमसे बनी होनेके कारण पाठकगण अपने अभीष्ट विषयकी पुस्तकें स्वयं बड़ी सरलतासे पा सकते हैं। श्री शिवप्रसादजी गुप्तके ग्रंथ संग्रहके प्रेमस्वरूप यह पुस्तकालय इतना बड़ा और उपयोगी है। इस पुस्तकालयका प्रधान अंग समाजशास्त्र और इतिहास संबंधी साहित्य है। राजशास्त्र और अर्थशास्त्र सम्बन्धी नये आवश्यक साहित्यसे इस संग्रहको पूर्ण रखनेका बराबर प्रयत्न किया जाता है। दर्शन विषयका हमारा प्राच्य संग्रह उल्लेखनीय है, कितने ही दुर्लभ भाष्य और पांडुलिपियां हैं। वैदिक और बौद्ध साहित्यका तो अमूल्य संग्रह है। पुस्तकालयमें बैठकर अध्ययन करनेकी सुविधाएं दी जाती हैं। सदस्यताके लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता है। केवल आठ रुपया प्रति पुस्तक धरोहर जमा करना होता है, जो सदस्यता समाप्त होने पर वापस कर दिया जाता है। विद्यापीठके अधिकारी चाहते हैं कि भारतमाता मन्दिरके प्रांगणमें स्थित इस पुस्तकालयमें भारतीय राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, संस्कृति तथा और समस्याओं पर सभी साहित्य मिल सके।

हिन्दी साहित्य और विद्यापीठ

काशी विद्यापीठके उद्देश्योंमें एक उद्देश्य यह भी है कि 'संसारके प्राचीन और नवीन शास्त्र, शिल्प, कला, ज्ञान विज्ञान आदिकी वृद्धि और प्रचारमें सहायता देना।' इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए संवत् १९८२ से प्रकाशन विभाग खोला गया। इतिहास, अर्थशास्त्र राजनीति, दर्शन, समाजशास्त्र, पुराशोध आदि विषयोंपर अब तक २६ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनका देशके विद्वानोंने समुचित आदर किया है। हमारा उद्देश्य ही ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करना है जो हिन्दी साहित्यकी श्रीवृद्धिमें सहायक हों, लेकिन जिन्हें अन्य पुस्तक प्रकाशक तात्कालिक अर्थलाभ न होनेके कारण प्रकाशित करनेमें हिचकते हैं। हमारी योजनाकी सफलता हिन्दी साहित्यके विज्ञ पाठकों पर निर्भर करती है।

विशिष्ट प्रकाशन

विद्यापीठसे प्रकाशित श्री सम्पूर्णानन्दजी द्वारा लिखित "समाजवाद"का सारे देशमेंसमुचित आदर हुआ है। इस विषयकी सर्वोत्तम पुस्तक होनेके कारण विद्वान् लेखकको हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वारा १२०० रु० का 'श्री मंगला प्रसाद' तथा ५०० रु० का 'मुरारका पुरस्कार' मिला है। इस पुस्तकमें समाजके स्वरूप, उसकी त्रुटियां, उसकी विषमताओं तथा उसके सुधारकी समस्यापर भारतीय दृष्टिसे विचार किया गया है। इस विषयपर हिन्दी भाषा तो क्या शायदही किसी भारतीय भाषामें इस प्रकार-की पुस्तक हो। इसका चौथा संस्करण प्रकाशित हो चुका है तथा कितनी ही अन्य भारतीय भाषाओंमें इसके अनुवादकी आज्ञा दी जा चुकी है। विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शब्द संग्रह" की देशी तथा विदेशी विद्वानोंने बड़ी प्रशंसाकी है। यद्यपि हिन्दी भाषामें कितने ही और कोष है। पर एक जिल्दमें प्रकाशित यह कोष हिन्दी संसारमें अद्वितीय माना गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आये हुए शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए हिन्दीके मान्य ग्रन्थोंसे प्रायः आठ हजार उदाहरण भी इसमें दिये गये हैं कोषका तीसरा संस्करण अभी हालमें प्रकाशित हुआ है। इस बार इसमें प्रायः एक हजार शब्द और बढाये गये हैं। जिनकी सहायतासे ब्रजभाषाके साथ साथ आधुनिक कविता समझनेमें भी पूरी सहायता मिल सकती है।

अन्य प्रकाशन

प्रसिद्ध विद्वान् श्री सम्पूर्णानन्दजी ने वेदोंसे लेकर जितने भी प्राप्त ग्रंथ हैं सबका मंथन करके 'गणेश'की रचना की है। श्रुतिमें गणपति, गजाननका जन्म, गणेशजीके स्मरणीय कार्य,- योगशास्त्रमें

गणेश, जैन और बौद्ध धर्ममें विनायक, चीन और जापानके आध्यात्मिक जीवनमें गणेशका स्थान आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तककी देश तथा विदेशके विद्वानोंने प्रशंसाकी है। नागरी प्रचारिणी सभाने विद्वान् लेखकको सर्वोत्तम ग्रन्थ होनेके कारण 'छन्नूलाल स्वर्णपदक' प्रदान किया है। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके संतसाहित्य संबंधी लेखोंका संग्रह 'योग प्रवाह' के नामसे प्रकाशित हुआ है। आशा है विद्वज्जन इसका आदर करेंगे। 'साम्राज्यवाद' 'संसारकी समाज क्रांति' ट्राट्स्कीकी जीवनी, 'जापान रहस्यका' हिन्दी संसारने समुचित आदर किया है।

त्रैमासिक पत्रिका

विद्यापीठकी ओरसे 'विद्यापीठ' नामकी त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित होती रही है। इसमें देशके विशिष्ट विद्वानों, विद्यापीठके अध्यापकों और शास्त्रियोंके दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, हिन्दी साहित्य, इतिहास आदि विषयों पर महत्वपूर्ण और उच्चकोटिके लेख प्रकाशित होते थे। आर्थिक कठिनाइयोंके कारण १५ अंकही प्रकाशित करनेके बाद इसका प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा। आशा है हम निकट भविष्यमें इसके प्रकाशन मेंसफल हो सकेंगे।

काशी विद्यापीठके अध्यापक और उनकी साहित्य सेवा

काशी विद्यापीठके अध्यापक, शास्त्री तथा विद्यार्थी बराबर यथाशक्ति साहित्य सेवामें लगे रहते हैं। डाक्टर भगवानदास, आचार्य नरेंद्रदेव, श्री श्रीप्रकाश, श्रीसम्पूर्णानन्द, श्रीराजाराम शास्त्री, श्रीमुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, श्री राजवल्लभ सहाय, श्री विश्वेश्वरप्रसाद सिनहाका हिन्दी संसारमें आदरणीय स्थान है।

पत्रकार कला

पत्रोंके सम्पादन, संचालन और प्रकाशनमें काशी विद्यापीठके स्नातकों और विद्यार्थियोंने जो स्थान प्राप्त किया है वह किसी भी शिक्षा संस्थाके लिए गर्वकी वस्तु है। हिन्दी संसारमें विद्यापीठके स्नातकोंने विशेष स्थान बना लिया है। हमारे कई स्नातक हिन्दी पत्रोंमें प्रधान सम्पादक तथा संचालक हैं। श्री कमलापति त्रिपाठी, श्री त्रिभुवननारायण सिंह, श्री देवव्रत, श्री परिपूर्णानन्द, श्री युगलकिशोर सिंह, श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', श्री सुमंगलप्रकाश, डा० सत्यनारायण, श्री रामनाथ 'सुमन', श्री विद्याभास्करका नाम वर्तमान हिन्दी साहित्यके निर्माताओंमें आदरके साथ लिया जाता है। हिन्दीके प्रायः सभी पत्रोंसे हमारे स्नातक किसी न किसी रूपमें अवश्य ही सम्बन्ध रखते हैं। विद्यापीठने पत्रकार कलाकी विशेष शिक्षाकी व्यवस्थाकी है, जिसके फल स्वरूप आज हिन्दीके सभी प्रतिष्ठित पत्रोंमें यहांके स्नातक और विद्यार्थी बड़ी सफलताके साथ पत्रोंके सम्पादनमें सहायक हो रहे हैं।

विदेशमें अध्ययन

विद्यापीठके स्नातकोंने विदेशोंमें जाकर जो स्थान प्राप्त किया है, वह प्रशंसनीय है। हमारे पांच स्नातकोंने विदेशोंमें जाकर उच्च अध्ययन किया तथा ससम्मान डाक्टरकी उपाधि लेकर लौटे हैं। एक स्नातक अभी अमेरिकामें पत्रकार कलाकी विशेष शिक्षा लेने गये हैं। फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि देशोंकी शिक्षा संस्थाओंमें विद्यापीठका विशिष्ट स्थान है।

विद्यापीठ और कांग्रेस

पचास वर्षके जीवनमें सत्याग्रह संचालन तथा आन्दोलनोंमें काशी विद्यापीठका बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। इसके अध्यापकों, शास्त्रियों तथा विद्यार्थियोंने अपने शहर, जिले या प्रान्तोंका ही नहीं बल्कि सारे देशका काम बड़ी सुयोग्यतासे संभाला है। विद्यापीठके निरीक्षक, प्रबन्धक, अध्यापक तथा कार्यकर्ता निम्नलिखित कांग्रेस पदों पर कार्य कर चुके हैं।

राष्ट्रपतिः—महात्मा गांधी, स्वर्गीय लाला लाजपतराय, स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरु, स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली, पण्डित जवाहरलाल नेहरु, डा० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य कृपालानी।

प्रधान मन्त्रीः—श्री श्रीप्रकाश, डाक्टर बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर।

कोषाध्यक्षः—श्री शिवप्रसादगुप्त, श्री जमनालाल बजाज।

कार्यसमितिके सदस्यः—श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री रफीअहमद किदवाई।

प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी—

सभापतिः—श्री भगवानदास, स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरु, स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद गुप्त, पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री श्रीप्रकाश, श्री रफी अहमद किदवाई, आचार्य नरेन्द्र देव, श्री दामोदरस्वरूप सेठ।

प्रधान मंत्रीः—श्री सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश, श्री दामोदरस्वरूप सेठ, श्री लालबहादुर शास्त्री।

स्थानापन्न प्रधानमंत्रीः—श्री बीरबल सिंह, श्री रामशरण, श्री कृष्णचन्द्र शर्मा।

मंत्रीः—श्री ठाकुरदास, श्री कमलापति त्रिपाठी।

कोषाध्यक्षः—श्री श्रीप्रकाश, श्री विश्वनाथ शर्मा।

विद्यापीठ और राज्य संचालन

जिस प्रकार विद्यापीठ स्वतंत्रताके आन्दोलनोंमें प्रमुख भाग लेता रहा, उसी प्रकार उसके निरीक्षक, प्रबन्धक, शास्त्रीगण राज्यके संचालन, विधान निर्माण तथा व्यवस्थामें भी सफलतापूर्वक सहयोग कर रहे हैं। हमारे निरीक्षक पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा श्रीराजेन्द्रप्रसाद मध्यकालीन भारत सरकारके मंत्री हैं। श्री श्रीप्रकाशजी तथा श्री दामोदरस्वरूप सेठ केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य हैं। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन युक्तप्रान्तीय व्यवस्थापक सभाके अध्यक्ष हैं तथा पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त प्रधान मंत्री, श्री सम्पूर्णानन्द शिक्षा तथा अर्थमंत्री, श्री रफीअहमद किदवाई रक्षा और डाक्टर कैलाशनाथ काटजू न्याय मंत्री हैं। श्री लालबहादुर शास्त्री तथा श्री रघुकुल तिलक युक्तप्रान्तमें और श्री भोला पासवान शास्त्री बिहारमें पार्लीमेंटरी सेक्रेटरी हैं।

विद्यापीठ तथा व्यवस्थापक सभा

विद्यापीठके आचार्य नरेन्द्र देव, श्री बीरबल सिंह, श्री रामशरण, श्री खानचन्द गौतम, श्री अलगूराय शास्त्री, श्री कमलापति शास्त्री, श्री हरिहरनाथ शास्त्री, श्री राजाराम शास्त्री, श्री रामकुमार शास्त्री, श्री बृजमोहन लाल शास्त्री, श्री भुवनेश्वरी नारायण वर्मा युक्तप्रांतीय व्यवस्थापक सभाके सदस्त हैं।

समाजवादी दल और विद्यापीठ

समाजवादी दलका एक प्रकारसे विद्यापीठसे ही जन्म हुआ है। इसके प्रथम सभापति आचार्य नरेन्द्र देव थे। द्वितीय सभापति श्री संपूर्णानंदजी थे। आज भी समाजवादी दलमें प्रभावशाली स्थानों पर विद्यापीठके ही लोग हैं। मजदूर आंदोलनमें विद्यापीठके शास्त्रियोंने बड़ा ही प्रमुख भाग लिया है। विद्यापीठके लोगों ही प्रमुख समाजवादी मासिकपत्रिका "जनवाणी" का सम्पादन कर रहे हैं।

उपसंहार

काशी विद्यापीठके अध्यापकों तथा विद्यार्थियोंने स्वाधीनता प्राप्तिके आन्दोलनमें जिस प्रकार सर्वस्व हवन किया है, वह इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य वस्तु है। इस कठिन मार्ग पर चलते हुए फांसी, गोली, का सामना नजरबन्दीकी सजाएँ पानवालोंमें काशी विद्यापीठका गौरवमय स्थान है। प्रांत और देशके सभी प्रतिष्ठित कार्यकर्ता और नेता इस बातको मानते हैं कि विद्यापीठके अध्यापक या विद्यार्थीको कोई

कार्य सौंपनेका अर्थ है कि वह उसे यथाशक्ति और यथा बुद्धि पूरा करेगा। यह संतोष और गौरवकी बात है कि परिमित शक्ति, सामग्री और समयके साथ साथ प्रचलित प्रथा और व्यवस्थाके विरुद्ध चलकर विदेशी सरकारका कोपभाजन बनकर अपने पचीस वर्षोंके जीवनमें विद्यापीठ इतना कर सका है । चाहे सत्याग्रह संचालन, राज्य संचालन, मजदूर आन्दोलन तथा हिन्दी साहित्यसेवा विद्यापीठने हर क्षेत्रमें गौरवमय स्थान प्राप्त किया है। मुझे आशा ही नहीं पूरा विश्वास है कि काशी विद्यापीठ अपने पूर्व गौर की रक्षा करता हुआ भारतवर्षको शीघ्र ही पूरा स्वाधीन बनानेमें सहायक होगा।



स्वप्न और प्रतीक

श्री राजाराम शास्त्री—

"एक मनचली सुन्दर नवयुवतीने बताया कि वह स्वप्नमें पानीके किनारे बैठी हुई थी। पानी में बड़ी बड़ी मछलियाँ तैर रही थीं। उसके सुन्दर बालोंकी लम्बी वेणीके सिरे पर लाल फीतेका फन्दा था। वह इसे पानीमें लटकाये हुए थी और मछलियाँ आ आकर उसकी वेणीको काटती और गायब हो जाती थीं। आखिरकार एक मछली फँस गयी और उसने विस्मयके साथ देखा कि वह मछली उसके एक परिचित युवकके रूपमें परिवर्तित हो गयी।" (हूप)

इस प्रकारके स्वप्न जिनकी व्याख्या प्रायः प्रत्येक व्यक्ति एकही प्रकारसे करेगा, बहुत कम होते हैं। अधिकांश स्वप्न जटिल और रहस्यात्मक होते हैं। उनमें ऐसे सरल आर स्पष्ट रूपकों और प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग नहीं होता, बल्कि ऐसे गहन 'प्रतीकों' का प्रयोग होता है जो कुछ कारणोंसे पहचाने नहीं जाते, उनसे उनके अर्थोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाई देता और वे हमारे विचारों और ज्ञानके लिए सर्वथा अपरिचित जान पड़ते हैं। हमें यहाँ पर यही देखना है कि हम ऐसे प्रतीकोंका प्रयोग कैसे करते हैं जिनका हम अर्थ ही नहीं जानते। विशेष और सामान्य रूपकों अथवा अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध उपमाओंके विवेकसे शायद इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़े। इसलिए इनकी उद्भावना विधिपर थोड़ा विचार कर लेना चाहिये।

रूपक और उपमाओं का प्रयोग सादृश्य के बल पर होता है। एक व्यक्ति किसी वस्तुका स्वानुभूत गुण या स्वरूप दूसरे ऐसे व्यक्तियों को, जो इनसे अनभिज्ञ हैं, बतलाना चाहता है, तो ऐसी वस्तुओं की समता द्वारा बताता है जिनसे वक्ता और श्रोता दोनों परिचित हैं।[1] (स्पष्ट है कि वक्ता के भाव का श्रोता के द्वारा सजीव ग्रहण तभी होगा जब कि दोनों वस्तुओं का सादृश्य स्पष्ट, पर्याप्त और उपमानके

१—उपमामें सादृश्य कम द्योतित होता है और उसमें उपमेय वस्तुके गुणोंका ही अभिव्यञ्जन होता है और इसीलिये उसमें उपमेय वस्तुका उल्लेख प्रकट या अप्रकट रूपसे अवश्य रहता है। किन्तु रूपकमें सादृश्यका अतिशय व्यक्त होता है यहाँ तक कि उपमान उपमेयस्थानीय हो जाता है और इस तादात्म्यके कारण उपमेयका उल्लेख भी आवश्यक नहीं रहता।

विशिष्ट तथा प्रधान गुणके द्वारा अभिव्यञ्जित हो।) इस प्रकार कुछ सर्वानुभूत उपमान समय पाकर अपने विशिष्ट गुणोंके लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं और तद्गुणविशिष्ट अनेक सर्वानुभूत पदार्थोंके रूप या गुणके ज्ञापनार्थ इनका प्रयोग होता रहता है इस प्रकार कुछ प्रसिद्ध उपमानोंसे कुछ प्रसिद्ध उपमेयोंका प्रसिद्ध सम्बन्ध स्थापित हो जाता है[1]। अप्रसिद्ध उपमान सर्वानुभूत न होनेके कारण जनसाधारणकी सम्पत्ति नहीं बनते। इनका तात्पर्य श्रोताके लिए स्वयंसिद्ध नहीं होता। वक्ताको किसी न किसी प्रकार इनके उपमेयोंका ज्ञापन करना पड़ता है। सामाजिक सम्पत्ति होनेके कारण प्रसिद्ध उपमानोंके लिए यह आवश्यक नहीं होता। सामाजिक मनके अंग हो जानेके कारण, ये उपमान प्रत्येक व्यक्तिके मनके ही अंश हो जाते हैं। (क्योंकि हर व्यक्ति सामाजिक ज्ञान और संस्कारका ग्रहण बोध और अबोधपूर्वक जन्मसे ही अनेक स्थानोंसे करता रहता है।) अतः प्रसिद्ध उपमानोंके उल्लेखमात्रसे आपाततः उनके उपमेयोंका ग्रहण हो जाता है, और इनका प्रयोग भी वक्ताके निजी अनुभवसे प्रेरित हो, यह आवश्यक नहीं है, यद्यपि आरम्भमें ये अप्रसिद्ध ही थे और प्रयोक्ता की मौलिक कल्पना द्वारा उद्भावित थे। और अप्रसिद्ध उपमायें भी सदा प्रयोक्ताकी अपनी सूझ ही नहीं होतीं। एकबार किसीके द्वारा प्रयुक्त होने पर कोई भी, जिसे इस प्रयोगका ज्ञान हो, उनका दुबारा प्रयोग कर सकता है। केवल उस व्यक्तिको उनका बोध होना आवश्यक है। तभी वे सार्थक होती हैं। यही बात प्रसिद्ध उपमाओंके बारेमें भी लागू होती है। जिसको यह ज्ञान ही न हो कि अमुक अमुक उपमानका प्रसिद्ध उपमेय क्या है, उसके लिए ऐसी उपमायें तथा रूपक निरर्थक हैं। उसके लिए उन रूपकातिशयोक्तियोंका क्या मूल्य है जो प्रसिद्ध उपमानोंके अर्थज्ञानको मानकर ही चलती हैं। इनमें ऐसे ही उपमानोंका प्रयोग होता है, जिससे वह पहिली दृष्टिमें उनका संश्लिष्ट तात्पर्य भले ही न समझे, पर बतलाने पर तो अवश्य ही समझ लेता है, क्योंकि जिन सादृश्योंके बलपर इनका प्रयोग होता है, वे इतने स्पष्ट होते हैं कि इनके सम्बन्धमें कोई शंका नहीं होती और जो इनका प्रयोग करता है उसे तो इनका तात्पर्य प्रारम्भसे ही स्पष्ट होता है, नहीं तो भला वह इनका प्रयोग ही कैसे कर पाता !

किन्तु प्रतीकोंकी यही विशेषता है कि व्यक्ति उनके साथ उनके उपमेयोंका कोई सम्बन्ध

१—यहाँपर इस बातका खयाल कर लेना चाहिये कि इन प्रसिद्ध उपमाओं और अन्य उपमाओंकी उद्भावना-विधिमें कोई मौलिकभेद नहीं है। कालसिद्ध सामान्य अनुभव ही इनकी विशेषता है।

नहीं देख पाता। वे उसकी व्यक्तिगत अनुभूतिसे स्वतन्त्र होते हैं। उसे यदि उनका तात्पर्य बताया जाय, तो भी वह यह नहीं समझ पाता कि उनका यह अर्थ क्यों और कैसे हुआ। और तमाशा यह कि वह स्वयं ही इनका प्रयोग करता है। कोई दूसरा व्यक्ति किसी उपमेयके लिए किसी उपमानका प्रयोग करे और उसे उनका सादृश्य बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता हो, किन्तु दूसरे व्यक्ति का ध्यान, चाहे सादृश्य की कठिनाई के कारण या उस व्यक्तिके रुचि-वैचित्र्यके कारण उस सादृश्य पर न जाय और वह उस रूपकका बिम्ब ग्रहण न कर सके, उसके हृदयमें उस उपमानसे वही भाव न जगे, जो प्रयोक्ताके हृदयमें जगा था, तो इसमें कोई आश्चर्यको बात नहीं है। पर स्वयं प्रयोक्ता ही उसे ग्रहण न कर सके यह तो तभी हो सकता है जब कि वह स्वयं अपनेमें ही विभक्त हो, यानी उसके मनके दो पृथक् भाग हों और एक की बात दूसरे पर सर्वथा प्रकट न हो। वस्तुतः मनोवैज्ञानिकोंने स्वप्नके अतिरिक्त मनुष्यके अन्य अनेक व्यवहारोंके अध्ययनसे मनके इसी प्रकार के दो पक्षोंका पता लगाया है जिन्हें व्यक्त तथा अव्यक्त मन कहते हैं। व्यक्त मन मनका वह भाग है जिसका हमें किसी समय विशेषमें बोध हो रहा हो। हमारे वे अनेक अनुभव और स्मृतियाँ, जिनका मनको इस समय बोध नहीं है, सामूहिक रूपसे अव्यक्त मन कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त यह तो प्रत्यक्ष ही है कि हमें हर समय हर बात याद नहीं रहती। किन्तु अवसर पर इनकी उपस्थिति हो जाती है। बीचमें ये बातें न जाने कहाँ पड़ी रहती हैं। इनकी इसी अनुभवसिद्ध स्थितिको मनकी अव्यक्तावस्था कहते हैं। किन्तु यहाँ तक तो मनकी इन दो अवस्थाओं को 'विभाग' का नाम नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इनमें निरन्तर पारस्परिक आदान प्रदान होता रहता है। जो बात एक क्षणमें अव्यक्तावस्था में है, दूसरे ही क्षण याद आ जाती है यानी व्यक्त हो जाती है। और जो इस समय व्यक्त है तुरन्त ही अव्यक्त हो जाती है। किन्तु कुछ बातें मनोवैज्ञानिकोंने ऐसी भी देखी हैं जिनका मनकी एक अवस्थासे दूसरीमें जाना इतना सरल नहीं होता। साधारणतः ये मनके अन्य अनुभवों तथा स्मृतियोंसे इस प्रकार पृथक् हो जाती हैं कि साधारण अवस्थाओंमें वे चेतनाके सामने नहीं आतीं, जबतक कि मनके अन्य भाग चेतनासे हट न जाँय। मानो मनके अन्य भाग इन्हें अपने सामने न आने देते हों। इस क्रियाका नाम मनोवैज्ञानिकोंने 'निरोध' रखा है। उनका ख़याल है कि प्रेतबाधा में मनुष्य जो ऐसी बातें कहता है, जो 'आवेश' के पहिले और पीछे भी उसे याद नहीं रहतीं—यहाँतक कि याद कराने पर भी याद नहीं आतीं—किन्तु दूसरे आवेशमें याद आती हैं, इसका कारण इस तरहका निरोध ही है। 'सम्मोहन' में कृत्रिम रूपसे भी ऐसी अवस्था लायी जाती है। इस प्रकारके अनेक अनुभवोंसे मनकी एक अत्यन्त अव्यक्तावस्था सिद्ध होती है जिसे 'निरुद्ध अव्यक्त' का नाम दिया जाता है। और इसके मुकाबिलेमें उपर्युक्त अस्थायी अव्यक्तता को 'उपचेतन' कहा जाता है।

अब यदि यह मान लिया जाय कि स्वप्न-प्रतीकोंकी उद्‌भावना अव्यक्त रूपसे हुई थी या उद्‌भावनाके बाद वे निरुद्ध हो गये थे तो व्यक्त रूपसे उनका तात्पर्य न समझमें आनेकी समस्या हल हो सकती है। तब यह समझ लिया जा सकता है कि व्यक्त मनके द्वारा निरुद्ध होनेके कारण उन प्रतीकोंके अर्थ चेतनामें नहीं आते। इस प्रश्नका उत्तर भी दिया जा सकता है कि फिर ये प्रतीक ही चेतनामें क्यों आते हैं। ऐसा हो सकता है कि व्यक्त मनका उन प्रतीकोंसे कोई विरोध न हो। वे जिन वस्तुओं और भावोंके प्रतिनिधि हैं, वे ही निरुद्ध हों। ऐसी हालतमें प्रतीक तो चेतनामें आ सकते हैं, किन्तु उनसे सम्बद्ध विचार नहीं। किन्तु हर हालतमें चाहे व्यक्त अथवा अव्यक्त अवस्थामें प्रतीकोंका उनके अर्थोंसे सम्बन्ध तो व्यक्तिके जीवनमें स्थापित हुआ होना ही चाहिये। और निरोध दूर कर देनेकी अवस्थामें—चित्तविश्लेषण इसी क्रियाको कहते हैं—उनकी इस प्रारम्भिक उद्भावनाका स्मरण होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। ऐसी स्थितिमें प्रश्न यह उठता है कि प्रतीकोंका प्रमाण ही क्या? अर्थात् उनके अर्थोंका विश्वास ही किस आधार पर किया जाय? किन्तु इस प्रश्नका उत्तर हम पीछे देंगे। पहले हम यह देखें कि यदि प्रतीकोंका अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाय तो जब चित्तविश्लेषणसे चित्तके निरोध दूर हो जाते हैं तब उनकी उद्भावनाका स्मरण न होनेका क्या कारण हो सकता है? क्या अव्यक्तकी कोई ऐसी भी काष्ठा है जो कभी व्यक्त हो ही न सके? व्यक्तिके जीवनकी किसी भी स्मृतिको मनोवैज्ञानिकोंने सर्वथा लोप्य नहीं माना है। तो फिर क्या इन प्रतीकोंकी उद्भावना व्यक्तिके जन्मसे पूर्वकी बात है? इस अपेक्षाकी पूर्तिस्वरूप कुछ आचार्योंने 'व्यक्तिगत अव्यक्त' के अतिरिक्त एक 'जातिगत अव्यक्त' की कल्पनाकी है जो मानवजातिके प्रत्येक व्यक्तिको जन्मसे ही प्राप्त होता है। इसमें जातिके अनुभव सन्निविष्ट होते हैं। इस सम्बन्धमें यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि यह जातिगत अनुभव व्यक्तिमें किस प्रकार आ सकता है। वैज्ञानिकोंने वंशानुक्रमसे विचारों अर्थात् मानसिक प्रत्ययोंकी प्राप्ति नहीं मानी है। कुछ शारीरिक प्रवृत्तियाँ ही वंशानुगत मानी जा सकती हैं। ये प्रवृत्तियाँ किसी विषय या स्थितिको प्राप्त करनेकी आकांक्षास्वरूप होती हैं। जैसे भूखकी परिसमाप्ति भोजनकी प्राप्तिमें होती है। यद्यपि नवजात शिशुको भोजनका अनुभव प्राप्त नहीं रहता और उसे अपनी आकांक्षाके विषयका ज्ञान नहीं होता, फिर भी उस आकांक्षाका विषयविशेषसे सम्बन्ध निर्दिष्ट है। इसी तरह सभी सहज प्रवृत्तियाँ अपना अपना विषय रखती हैं। विशेष विशेष रूप रंग और आकार विशेष विशेष प्रवृत्तियों-निवृत्तियोंको उद्‌बुद्ध करते ही हैं, चाहे इनसे किसी इष्टानिष्टकी प्राप्तिका अनुभव न हो। बड़ा शब्द सुनकर या बड़ा आकार देखकर सद्यःजात शिशु भी भयभीत हो जाता है, कुछ रूप-रंग और ध्वनियाँ स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। चूँकि ये प्रवृत्तियाँ अन्धी होती हैं। अतः यदि किसी विषयमें उनके वास्तविक तर्पक

विषयके साथ कुछ समता हो तो उससे भी वे उद्बुद्ध हो जाती हैं, जैसे प्रिय वस्तुकी समता हमें आकृष्ट करती है। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि स्वप्नके प्रतीक विशेष विशेष सहज प्रवृत्तियोंके सहज विषयोंसे समानता रखनेवाले पदार्थ हैं जो अपने रूप-रंग, आकार-प्रकारके कारण उन प्रवृत्तियोंको स्वरूपतः उद्बुद्ध करते हैं, चाहे उनके द्वारा इन प्रवृत्तियोंके तृप्त होनेका अनुभव हमें कभी न हुआ हो और हम उनके सम्बन्धको बिल्कुल न जानते हों। प्रियवस्तुसे संपृक्त पदार्थ और स्थान अथवा हमारे प्रिय अनुभवोंकी भूमिके समान दृश्य हमें अबोधपूर्वक और अनायास ही आकृष्ट करते हैं। हम उनके आकर्षणका कारण कहाँ जानते हैं! हम तो स्वयं हैरान होते हैं और समझ नहीं पाते कि आखिर इसमें क्या बात है जो हमें लुभाती है। इतना समझते हैं कि कोई बात है जरूर। कारणका ठीक स्वरूप तो विश्लेषणके बादही मालूम होता है। किन्तु क्या इससे हम इस बातसे इनकार करेंगे कि उसका आकर्षण प्रियवस्तुके सम्पर्कका ही आकर्षण होता है और उससे हमें अंशतः वही तृप्ति होती है जो प्रियवस्तुकी प्राप्तिसे होती! इस प्रकारके अबोधपूर्वक तर्पणका सम्बन्ध विश्लेषण द्वारा अनुभूत प्रियवस्तुसे देखने या दिखाये जानेके बाद तो हरएक उस आनन्दके स्वरूपका कायल हो जाता है। वस्तुतः उस भावको वह स्वाभाविक भाषा मिल जाती है जो उसपर बिल्कुल चस्पां हो जाती है और उसकी व्याख्या कर देती है, उसकी पहचान करा देती है। फिर उसमें सन्देह नहीं रह जाता। किन्तु यदि उस आनन्दका स्रोत इस जन्मका न हो, यानी वंशप्राप्त हो, तो हरएकको इस प्रकारका विश्वास दिलाना स्वभावतः कठिन है, क्योंकि उसका सम्बन्ध किसी वस्तुविशेषसे न होकर प्रकारविशेषके विषयोंसे होगा जिनका प्रिय अनुभव हमारे पूर्वजोंको प्राप्त हो चुका है और जिनके अनुसार पूवजोंकी तथा हमारी शारीरिक प्रवृत्तियोंका निर्माण हुआ है, जिससे वे उसी विशेष प्रकारके विषयसे सन्तुष्ट होती हैं। फिर भी इन विषयों द्वारा प्राप्त तृप्तिका सम्पर्क किस प्रकार-की प्रवृत्तिसे है, यह तो बतानेपर पहचानमें आ ही जाता है। मानव-चित्तमें अन्तर्दृष्टि रखनेवालोंने सदा ही इस प्रकारके रहस्यात्मक भावोंका कारण पूर्वजन्मका संपर्क ही समझा है। देखिये कवि कालिदास क्या कहते हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं, भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

हम विशेष प्रकारके विषयोंसे विशेष प्रवृत्तियोंके जातिगत सम्बन्धके और भी कायल हो जाते हैं, जब हम देखते हैं कि इन विषयोंका प्रतीक रूपसे इन्हीं प्रवृत्तियोंके द्योतन अथवा तर्पणके लिए प्रयोग न केवल स्वप्नमें बल्कि साहित्य, कला, पुराण, हास्य, व्यङ्ग, भाषाके मुहाविरों आदिमें भी होता है, इन सबोंमें ये प्रतीक स्थिर चिह्नोंके रूपमें देखे जाते हैं।

इस बातको ज़रा और स्पष्ट कर लेना चाहिये कि विशेष प्रकारके विषयोंसे विशेष प्रवृत्तियोंका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है। चेतन प्राणियोंमें परिस्थितिको देखकर चलनेकी स्वाभाविक शक्ति होती है। उन्हें परिस्थितिका मुकाबला करके अपने जीवनकी रक्षा करनी पड़ती है। यदि किसी जीवकी शारीरिक बनावट ऐसी है–और अविकसित बुद्धि वाले सभी प्राणियोंकी शारीरिक बनावटके अनुसार उनकी कार्यक्षमताकी सीमा होती है–कि वह जीवन-यात्रामें सामने आनेवाले एक विशेष परिमाण तकके अन्य जीवों तथा पदार्थोंको अपने अंगोंके द्वारा या तो अपने मार्गसे अलग कर देता है या उनका अपने भोजनादिमें उपयोग कर लेता है, किन्तु उस विशेष परिमाणसे अधिक बृहत् आकारके जीवों और वस्तुओंके मुकाबिलेमें उसका वश नहीं चलता तो ऐसे पदार्थोंके सामनेसे वह स्वयं ही हट जानेकी चेष्टा करेगा, अन्यथा या तो उस रुकावटसे उसकी जीवन यात्रा आगे नहीं बढ़ सकेगी, अथवा वह स्वयं दूसरे जीवका भोग्य बन जायगा। बाधाके सामनेसे हट जानेकी इसी प्रवृत्तिका नाम 'भय' है। प्राकृतिक चुनावके वैज्ञानिक नियमके अनुसार जिन जीवोंमें यह प्रवृत्ति न होगी, वे जीवनकी प्रतियोगितामें नष्ट हो जायंगे और जिनमें यह होगी, वे ही जिन्दा रहकर अपनी वंश-परम्पराका विस्तार करनेमें समर्थ होंगे। ऐसे जीवोंमें यह प्रवृत्ति अभ्यासवश अधिक दृढ़ होती जायगी, क्योंकि इस प्रवृत्तिसे हीन जीवोंके नाशके अनुभव और उनके मुकाबिलेमें अपने कार्यकी सफलताके कारण, वैसे अवसरोंकी आवृत्ति पर वह जीव उसी कार्यकी आवृत्ति करेगा। एक बार कर चुकनेके कारण अन्य संभव कार्योंके मुकाबिले उसी क्रिया-कलापमें अभ्यास नियमके अनुसार जीव सहज ही प्रवृत्त होगा। आवृत्तिके साथ साथ यह अभ्यास यान्त्रिक हो जायगा। इस क्रिया-कलापमें शरीरके जिन-जिन अंगोंका योग प्रारम्भमें यत्नपूर्वक करना पड़ा था उनके बारबार साथ संचालित होनेके कारण उनका साहचर्य क्रमशः सरल होते होते ऐसा दृढ़ हो जायगा कि वे सब एक सूत्रमें निबद्ध हो जायँगे और बृहत् आकारके देखनेके साथ ही उसके अनुकूल सारा क्रियाकलाप एक साथ ही निष्पन्न होगा तथा इस अवसर पर अन्य प्रकारके कार्यकी संभावना बिल्कुल न रहेगी। इस तरह इस विशेष प्रकारके विषयके साथ इस विशेष प्रवृत्तिका स्थिर सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। स्थिर हो जानेपर यह साहचर्य सम्बन्ध वंशानुक्रमसे जीवकी सन्तानको जन्मना प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि इस प्रकारका प्रवृत्तिका सम्बन्ध किसी वस्तुविशेषसे न होकर रूप-रंग आकार अथवा शब्द, स्पर्श, गंधादि विषयविशेष या इन विषयोंमेंसे अनेकके योगसे होगा। तद्वत् विषय अथवा योग पूर्णतः या अंशतः अनेक वस्तुओंमें हो सकता है। जिस किसी वस्तुमें वह होगा, वही उसके अनुकूल प्रवृत्तिकी उद्बोधक और, यदि यह विषय प्रिय हुआ तो, पूर्णतः या अंशतः तर्पक होगी। अप्रिय होनेकी

हालतमें विषयसे निवृत्ति तर्पक होगी। ऊपर जो भयका उदाहरण दिखाया गया है वह निवृत्तिरूपही है। इनसे उल्टी स्थिति अर्थात् प्रियकी अप्राप्ति और अप्रियकी प्राप्ति खेदजनक होती है क्योंकि प्रवृत्ति या प्रवृत्तिकी अबाध चरितार्थता ही सुख है,और इस चरितार्थतामें बाधाही दुःख है। इस विचारसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जन्मना प्राप्त प्रवृत्तियोंको अन्धी क्यों कहा गया है। यद्यपि इनका सङ्गठन अनुभूत विषयोंके अनुकूल ही हुआ है किन्तु यह अनुभव स्वरूपतः एकांगी होता है। प्रवृत्तियोंका सम्बन्ध सीधे वस्तुओंसे न होकर इन्द्रिय विषयों तथा तज्जनित शारीरिक अर्थात् नाड़ीकी क्रियासे है। यह क्रिया समान रूपरंगकी ऐसी वस्तुओं द्वारा भी उद्‌बुध हो सकती है, जिनका जीवकी जीवनरक्षा और जीवन विस्तारमें कोई उपयोग नहीं है, जीवन तथा सभ्यताके विकासमें जिनके प्रति व्यवहार करनेके दूसरे उपयोगी तरीके निकल आये हैं। किन्तु यहाँपर हमें इस बातसे कोई मतलब नहीं है। इस विचारसे हमें यही देख लेना है कि प्रवृत्तियोंके वस्तुरूपी प्रतीक हमें जन्मना नहीं प्राप्त होते, बल्कि उनके रूप-रंग आकारादि ही प्राप्त होते हैं। फिर तो, स्वप्न और आदिम साहित्यादिमें हमें प्रतीकोंके रूपमें वस्तुओंकी जो स्थिरता मिलती है, उसकी व्याख्या जन्मनाप्राप्त प्रवृत्तियोंसे अंशतः ही होती है। इसकी पूर्ण व्याख्याके लिए हमें मानव-जीवनकी आदिम समानता और बचपनमें प्राप्त संस्कारोंका सहारा लेना पड़ेगा। आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगोंसे सिद्ध हो चुका है कि बचपनमें हमारा मन पारिपार्श्विक वायुमण्डलसे अत्यधिक संस्कार ग्रहण करता है। हमें इस तथ्यकी प्रतीति साधारणतः इसलिये नहीं होती कि ये संस्कार असाधारण अवस्थाओंमें ही चेतनामें जाग्रत होते हैं, अन्यथा अव्यक्त रूपसे विस्मृतिके गर्भमें पड़े रहते हैं। साधारण जीवनमें इनका कोई काम नहीं पड़ता। किन्तु अनुकूल ,अवस्था पाते ही ये स्मृतियाँ उद्‌बुध हो जाती हैं। इसका प्रमाण सम्मोहन और विक्षेपकी अवस्थाओंमें विशेष रूपसे प्राप्त होता है। बचपनमें हमने अपनी मां, नानी, दादी आदिसे जो कहानियाँ सुनी हैं तथा अपने समाजकी भित्तिस्वरूप जिन पौराणिक कथाओंको चारों ओरके वायुमण्डलसे ग्रहण किया है, वे हमारी जातिगत विरासत हैं। हमारे अपेक्षाकृत नये विचार तथा आविष्कार तो कुछ लोगोंमें ही सीमित होते हैं और शिक्षा द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। ये हेतुओं द्वारा सिद्ध किये जानेकी भी अपेक्षा रखते हैं। किन्तु यह प्राचीन सामग्रीही जन-साधारणके वायुमण्डलमें सिद्धवस्तुके रूपमें व्याप्त रहती है और हमें बचपनमें अनायासही प्राप्त हो जाती है। बचपनका दिमाग़ बड़ा संग्राही भी होता है। और बचपनके संस्कार विशेष रूपसे अमिट होते हैं। हमारे वस्तुरूपी प्रतीक इन्हीं बाल्यावस्थाके संस्कारोंसे प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस प्राचीन सामग्रीमें प्रतीकोंका तात्पर्य आदिकालीन भाषाके भावमय होनेके कारण स्पष्ट रूपसे बुद्धिग्राह्य नहीं होता,किन्तु अपने सहज रूपरंगादिके कारण वे तदनुकूल भावोंका ही उद्बोधन और शमन करते हैं और इसी कारण उनका निर्माण अर्थात् आरम्भिक प्रयोग हुआ था और इसी कारण इस रूपमें

वे बराबर ग्रहण किये जाते रहे हैं। वस्तुतः मनुष्यकी बुद्धिकी भाषाही अधिक परिवर्त्तनशील होती है, भावोंकी भाषा अपेक्षा कृत स्थिर होती है। इस प्रकार बाल्यकालीन संस्कार प्रतीकोंका एक आवश्यक अङ्ग है। इन संस्कारों और जन्मना प्राप्त आकारादि द्वारा उद्‌बुद्ध प्रवृत्तियोंके संयोगसे ही प्रतीक बनते हैं। दोनोंही के मूलमें जातिका अनुभव निहित है। किन्तु विषय तथा प्रवृत्तियाँ जन्मसे और तदनुकूल वस्तुएँ साहित्य तथा जनश्रुति द्वारा प्राप्त होती हैं। पहली अधिक व्यापक आर दृढ़ हैं,दूसरी कम। जन्मनाप्राप्त प्रवृत्तियाँ तो मानव जातिमात्रमें, बल्कि कुछ पशुओंमें भी,समान हैं। किन्तु वस्तुएँ मानवजातिमें भी सर्वथा समान नहीं हैं, क्योंकि परिस्थिति भेद तथा तदनुकूल आवश्यकता भेदसे विभिन्न मानव जातियोंको आदिम अवस्थामें विभिन्न वस्तुओंका प्रयोग और निर्माण करना पड़ा था। इसमें सन्देह नहीं कि इन परिस्थितियोंमें और खासकर मनुष्यकी शारीरिक बनावट और तदनुसार उसकी आवश्यकताओंमें बहुत कुछ समानता रही है जिसकी छाप उसके द्वारा प्रयुक्त और निर्मित वस्तुओंपर अवश्यही पड़ी है। यही कारण है कि हमें भेदमें भी अभेद दिखाई देता है। किन्तु इस समानताका दायरा उतना ही बड़ा होता है जितना हम मानवजातिकी अवान्तर जातियोंके सीमित क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं। इसी कारण मानव जातिमात्रके सामान्य प्रतीक बहुतही कम हैं। अवान्तर जातियोंमें सामान्य प्रतीक उससे कुछ अधिक हैं। सामान्य प्रतीकोंके प्रयोगमें भी कुछ न कुछ अवान्तरजातिगत तथा व्यक्तिगत विशेषता तो रहती ही है।

प्रतीकोंके सामान्य रूपसे कम होनेका कारण आदिम जीवनकी सरलता भी है। एक दीर्घकालीन परम्परासे सिद्ध प्रतीक ही हमारे वायुमण्डलमें व्याप्त होते हैं, और जातिका आदिकालीन जीवन उतना विकसित और समृद्धिशाली नहीं था। तत्कालीन भौतिक सम्पत्तिकी कमीके कारण वही थोड़ीसी वस्तुएँ हमें प्रतीकोंके रूपमें मिलती हैं जो उस समयके सरल और अविकसित जीवनमें प्रयोगमें आती थीं।

इसके पहिले कि हम अब प्रतीकोंके उदाहरण लेकर विषयको स्पष्टरूपसे समझें, सिर्फ एक बात आर जान लेना जरूरी है। वह यह कि जिस प्रकार ऐन्द्रिय विषयोंके द्वारा अनुकूल प्रवृत्तियोंका उद्‌बोधन होता है, उसी प्रकार दूसरे व्यक्तिमें उद्‌बुद्ध प्रवृत्तिके शारीरिक लक्षणोंको देखकर भी उसी प्रवृत्तिका उद्बोधन होता है। साहित्यकी भाषामें जिस प्रकार विभावोंसे भावोंका उद्रेक होता है उसी प्रकार अनुभावोंसे भी भावकी निष्पत्ति होतीहै। रसकी निष्पत्तिमें तो दोनोंका सहयोग आवश्यक है। विभावोंसे भावका उद्रेक किस प्रकार होता है यह तथा उसका हेतु और आवश्यकता तो ऊपर दिखायी जा चुकी है। विभावके अनुरूप तो भावका संगठन ही हुआ है। किन्तु अनुभाव भी भावका द्योतक होनेके कारण उसका स्मरण कराता है। इतना ही नहीं, उसका उद्बोधन भी करता है। यह अनुकरणकी प्रवृत्ति उस तादात्म्यकी भावनापर आश्रित है जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ अपनी समान बनावटके कारण अनुभव करता है, जिसके कारण

उसे समान आवश्यकताओंके सामने समान प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार एक साथ किसी विषयके प्रति समान व्यवहार करनेसेही सहयोगकी नींव पड़ती है, जिसकी आवश्यकता और जिसके सुफलके अनुभवसे यह अनुकरणकी प्रवृत्ति और भी दृढ़ होती है। अनुकरणकी प्रवृत्ति सामाजिक सहयोगकी प्रवृत्ति की सहायक और उसका अनुभाव भी है। इसके द्वारा हम अपनेसे अधिक अनुभवियोंके उपयोगी आचरण सीखते हैं और भावोंके विभाव (कारण) को जाननेके पहिले ही उसके प्रति व्यवहार करनेके लिए तैयार हो जाते हैं, जिससे हमारे जीवनमें अधिक कार्यक्षमता आती है। अतएव अनुकरणसे हमारी सामाजिकताका पता चलता है।

अस्तु, अनुकरणकी प्रवृत्ति तथा तद्गत तादात्म्य भावनाके कारण हम दूसरोंके भावोंका उनके अनुभावों को देखकर अपने ऊपर आरोप करते हैं। अर्थात् अनुभावोंसे भी भावोंका उद्बोधन होता है और ये भी अनुकूल भावोंके चिह्न बन जाते हैं। अतएव प्रतीकोंमेंसे कुछ तो अनुकूल भावोंके विभावोंके सदृश आकारप्रकार की वस्तुओं और क्रियाओंके रूपमें होते हैं और कुछ अनुभावयुक्त शारीरिक अंगों और चेष्टाओंके सदृश।

अब दो एक सार्वभौम प्रतीकोंको लेकर समझने की चेष्टाकी जाय। सर्प एक सार्वभौम प्रतीक है। पहले भारतीय परम्परामेंही देखिये—

उरगो वा जलौका वा भ्रमरोवापि यंदशेत् आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान्। (चरक)

यहाँ पर स्वप्नमें कुछ अन्य जीवोंके साथ सर्प काटनेका आरोग्य और धनलाभ से सम्बन्ध बताया गया है।

यस्य श्वेतेनसर्पेण ग्रस्तश्चेद्दक्षिणः करः, सहस्रलाभस्तस्य स्यादपूर्णे दशमे दिने॥
उरगो वृश्चिको वापि जले ग्रसति यं नरम्,विजयं चार्थसिद्धिं च पुत्रं तस्य विनिर्दिशेत्। (आचारमयूख)

यहाँ भी सर्पका सम्बन्ध विजय, धन और पुत्रके साथ बताया गया है। पाश्चात्य लोकसाहित्यमें भी सर्पकी बड़ी चर्चा है। स्वर्गमें हव्वाको सर्पने ही धोखा दिया था। आदम और हव्वा मानवजातिकी शैशवावस्थाके प्रतीक हैं, जब कि वह अकातर, नग्न और स्वच्छन्द थी अर्थात् जब कि वह स्वर्गमें थी, तब सर्प आता है जो कि कामका प्रतीक है और स्थिति बिलकुल बदल जाती है। दूसरे शब्दोंमें, बचपन स्वर्ग है किन्तु जैसे ही बच्चा किशोरावस्थाको प्राप्त होता है, वह स्वर्ग से निकाल दिया जाता है। 'बेल्स-टीन' की एक कथामें सर्प नवयुवती लड़कियोंके सम्मुख प्रकट होता है और जब लड़कियाँ अपनी घृणाक

जीत कर ठण्ढे सर्पको अपने विस्तरमें ले लेती हैं, तो सर्प अकस्मात् एक अद्भुत राजकुमारके रूपमें परिवर्तित हो जाता है जो मंत्राभिभूत किया गया था। चिकना, ठण्ढा, बदसूरत सांप कामज या यौन प्रतीक है। इसी प्रकार वह वीभत्स मेढ़कका बच्चा भी है जो कि 'ग्रिम' की कहानीमें राजकुमारीकी शय्या पर चढ़ जाता है। यहाँ भी घृणाको जीतनेके पुरस्कारस्वरूप एक राजकुमार उपस्थित हो जाता है।

सर्पको मूलतः कामसम्बन्धी प्रतीक मान लेनेपर पुत्रके साथ उसका सम्बन्ध तो निर्दिष्टही हो जाता है, धन आरोग्य और विजय के साथ भी उसका सम्बन्ध समझा जा सकता है। "आर्योंके पूर्व जो सब आर्येतर जातियाँ अपनी अपनी संस्कृति और सभ्यता लेकर यहाँ बास कर रही थीं उनमें नागों और सुपर्णोंका स्थान महत्त्वपूर्ण था। नागका शाब्दिक अर्थ सांप है और सुपर्णका पक्षी। खूब सम्भव है इन दोनों जातियोंके लांछन (टोटेम) ये दोनों जंतु थे।..

"नाग लोग प्रधानतः शिवके उपासक थे और सुपर्ण लोगके विष्णुके। गरुड़ विष्णुके वाहन हैं और नाग शिवके भूषण।

(क्षितिमोहन सेन कृत—'भारतवर्षमें जातिभेद'से उद्धृत, पृष्ठ ११८)

'फ़र्गुसन' ने अपनी पुस्तक ट्री एण्ड 'सर्पेण्टवर्शिप' (वृक्षों और साँपोंकी पूजा) में कहा है कि यक्ष और नाग जो क्रमशः उर्वरता आर वृष्टिके देवता माने गये थे, एक जाति-वर्णहीन दस्यु या असुर जातिके उपास्य थे। वरुण नामके वैदिक देवताका सम्बन्ध गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसे रहा है। यक्षों और नागोंके देवता कुबेर, सोम, अप्सरस् और अधिदेवता वरुण ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्वीकृत हैं। 'विष्णु धर्मोत्तर' (३-५८) के अनुसार कामदेव और उनकी स्त्री रति क्रमशः वरुण और उनकी पत्नी गौरीके अवतार हैं। प्राचीन विश्वासके अनुसार वरुण समुद्रके देवता हैं और सारी सृष्टि इसी देवाधिदेवसे उत्पन्न हुई है। समुद्र और जलके देवता होनेके कारण वरुणका वाहन मकर है। उनकी स्त्री गौरीका वाहन भी मकर है मकर समुद्र और जलका प्रतीक है। अग्नि पुराण (५१ अध्याय) में वरुणको मकरवाहन कहा गया है और विष्णु धर्मोत्तर (३-५२)में मकरकेतन। यह एक कवि-प्रसिद्धि है कि चिह्न, वाहन और ध्वजको एक ही वस्तु मानते हैं। बादामीमें (R. D. Banerji ; Bas Reliefs of Badami Mem ; A. S. I. 25. 1928. P. 34) रतिके साथ मकर वाहन और मकरकेतन काम–मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पंडितोंका इसीलिए अनुमान है कि कामदेव और यक्षाधिपति वरुण मूलतः एक ही देवता हैं और नहीं तो कमसे कम एक ही देवताके दो भिन्न रूप तो हैं ही (बुद्धचरित १३-२)। बौद्ध मार यक्ष कामदेवका रूप है ही। पौराणिक आख्यानोंसे यह प्रकट ही है कि कामदेवके प्रधान सहायक गन्धर्व और अप्सराएँ हैं। कामदेव स्वयं उर्वरता और प्रजननके देवता हैं। समुद्र रत्नालय है और वरुण समुद्राधिपति। इसीलिए

उन्हें लक्ष्मीनिधि माना जाता था। बादमें यह शब्द कुबेरका वाचक हो गया। मगर यह लक्ष्य करनेकी बात है कि समुद्रोत्पन्न लक्ष्मीका, जो बादमें विष्णुकी पत्नी हुईं एक नाम वरुणानी भी है। इस प्रसंगमें वरुणानी शब्द काफी संकेतपूर्ण है। (विशेष विस्तारके लिए देखिये A. R. Coomaraswami: yaksa vol. II)

कवि—प्रसिद्धिके अनुसार लक्ष्मीके अर्थमें कमला और सम्पद-शब्दकी एकता स्वीकार कर ली गयी है और कमलमें लक्ष्मीका वास है। मकरके अतिरिक्त कमल भी जलका एक प्रतीक है। शतपथ ब्राह्मण (७-४-१-८)में जलको कमल कहा गया है और यह पृथ्वी उस कमलका एक दल कही गयी है। प्राचीन रञ्जनशिल्पमें कमलका इसीलिए इतना प्राचुर्य है कि वह जल का और फलतः जीवनका प्रतीक होनेसे अत्यन्त मङ्गलमय समझा जाता था। कमलमें ही वरुण, और उनकी श्री गौरी वास करती हैं।"—पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी साहित्यकी भूमिकाके परिशिष्ट 'कवि प्रसिद्धियाँ'के विभिन्न स्थलोंसे उद्धृत।

इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय परम्परामें लक्ष्मी और सम्पद्के कमल वाससे लक्ष्मी और जीवन तथा मङ्गल (आरोग्य तथा विजय) की एवं लक्ष्मी और रतिकी एकता सिद्ध हुई है और किस प्रकार नागों अर्थात् सर्पों से इन सबका सम्बन्ध है। अब हम समझ सकते हैं कि सर्पको मूलतः काम सम्बन्धी प्रतीक मान लेने पर वह किस प्रकार स्वयमेव पुत्र, आरोग्य और मंगलका प्रतीक हो जाता है।

सर्प और कामके सम्बन्धको और समझ लेना चाहिये। शिव मन्दिरोंमें सर्प परिवेष्टित योनि और लिंगकी ही पूजा होती है। यहाँ सर्प नित्यता, अनन्तता, अमरताका प्रतीक माना जाता है। अनन्त और शेष तो सर्पके नाम ही हैं। किन्तु गहराई में बैठकर अध्ययन करनेवालोंने सर्पको वस्तुतः पुरुष लिंगका प्रतीक बताया है। इस प्रतीकके अन्य सब गुण या अर्थ इसी मूलसे निकले हैं। प्रारम्भिक मनुष्यकी स्वभावतः यह धारणा हुई कि जीवनको उत्पन्न करनेके कारण लिंग जीवनका प्रतीक है। यही कारण है कि संसारके हर देशमें लिंगोंके स्वांग जलूसमें निकाले जाते थे और उनकी पूजा होती थी। अब भी क्रिसमस सम्बन्धी अनेक उत्सवोंमें खासकर प्राच्य ग्रीक गिरजोंमें, भारतीय होलीके समान प्राचीन रोमन उत्सवों (Kalends and Saturnalia) के चिह्न पाये जाते हैं। हिन्दुओंमें होली ऐसा ही त्योहार है जिसमें प्राचीन लिंग पूजा अपने आदिम रूपमें विद्यमान है। आधुनिक हिन्दू शिवलिंगकी पूजाके साक्षात् यौन या लैंगिक अर्थको भूल-से गये हैं। अतएव आर्योंमें लिंग-पूजाके आदिम इतिहासको स्मरण कर लेना चाहिये।

"महादेव नग्न वेषमें नवीन तापसका रूप धारण करके मुनियोंके तपोवनमें आये (वामन पुराण ४३ अध्याय, ५१–६२ श्लोक)। मुनिपत्नीगणने देख करके उन्हें घेर लिया (वही ६३–६९ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रममें मुनि-पत्नियोंकी ऐसी अभद्र कामातुरता देखकर 'मारो मारो' कहकर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े। उन्होंने शिवके भीषण ऊर्ध्व लिंगको निपातित किया।

क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमे तु स्वयोषिताम्। हन्यतामिति सम्भाष्य काष्ठपाषाणपाणयः॥
पातयन्तिस्म देवस्य लिंगमूर्ध्वं विभीषणम्। (वामन पुराण, ४३, ७०,७१।)

बादमें मुनियोंके मनमें भी भयका सञ्चार हुआ! ब्रह्मा आदिने भी उन्हें समझाया। अन्तमें मुनि-पत्नियोंकी एकान्त अभिलषित शिव-पूजा प्रवर्तित हुई (वामन पुराण ४३, ४४ अध्याय)। कूर्म पुराण, उपरिभाग ३७ अध्यायमें कथा है कि पुरुष-वेशधारी शिव, नारी-वेशधारी विष्णुको लेकर सहस्र मुनिगण सेवित देवदारू-वनमें विचरण करने लगे। उन्हें देखकर मुनि-पत्नियां कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने लगीं (१३–१७ श्लोक)। मुनि-पुत्रगण भी नारी-रूपधारी विष्णुको देखकर मोहित हुए। मुनिगण मारे क्रोधके शिवको अतिशय निष्ठुर वाक्यसे भर्त्सना करने और अभिशाप देने लगे।

अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम्। शेपुश्च शापैर्विविधैर्मायया तस्य मोहिताः॥ (कूर्म०४७,२२)

किन्तु अरुन्धतीने शिवकी अर्चनाकी। ऋषिगण शिवको 'यष्टि-मुष्टि' प्रहार या लाठी और घूँसेकी चोट करते हुए बोले—'तू यह लिंग उत्पाटन कर'। महादेवको वही करना पड़ा। शिवपुराणके धर्म-संहिताके दसवें अध्यायमें देखा जाता है कि शिव ही आदि देवता हैं, ब्रह्मा और विष्णुको उनके लिंग का आदिमूल अन्वेषण करने जाकर हार माननी पड़ी (१६-२१)। (सच पूछा जाय तो आज भी धर्मके इतिहासके गवेषक यह खोज कर पता नहीं लगा सकेकि लिंग-पूजा का प्रारंभ कहाँसे और कबसे हुआ।) देवदारूवनमें सुरतप्रिय शिव विहार करने लगे (धर्म संहिता, १०,७८,७९)। मुनिपत्नियां काम-मोहित होकर नाना-विध अश्लीलाचार करने लगीं (वहीं, ११२, १२८,)। शिवने उनकी अभिलाषा पूरीकी (वही, १५८) मुनिगण काममोहिता पत्नियोंको संभालनेमें व्यस्त हुए (वही, १६०); पर पत्नियाँ मानी नहीं (वही १६१)। फलतः मुनियोंने शिवपर प्रहार किये (वही, १६२-१६३) इत्यादि। अन्य सब मुनि-पत्नियोंने शिवको कामार्त होकर ग्रहण किया था; पर अरुन्धतीने वात्सल्य भावसे पूजाकी (वही १७८)। भृगुके शापसे शिवका लिंग भूतलमें पतित हुआ (वही १८७)। भृगु धर्म और नीतिकी दुहाई देने लगे (वही, १८८-१९२); किन्तु अन्तमें मुनिगण शिवलिंगकी पूजा करनेको बाध्य हुए (वही २०३, २०७)। पद्म-पुराण नागर-खण्डके शुरूमें भी वही कथा है। आनर्त देशके मुनिजनाश्रय वनमें किस प्रकार भगवान्

शंकर नग्नवेशमें पहुँचे (१-१२), किस प्रकार मुनि-पत्नियोंका आचरण शिष्टताकी सीमापार कर गया (१३-१७); मुनिगण यह सब देखकर क्रुद्ध होकर बोले, रे पाप, तूने चूँकि हमारे आश्रम विडम्बित किया है, इसलिए तेरा लिङ्ग अभी भूपतित होवे।

अस्मात्पापात्त्वयास्माकं आश्रमोऽयं विडम्बतः, तस्माल्लिङ्गं पतत्वाशु तवैव वसुधा तले।
(पद्मपुराण, नागरखण्ड १-२०)

किन्तु यहाँ भी मुनियोंको झुकना। पड़ा जगत्‌में नाना उत्पात् उपस्थित हुए (२३-२४); देवतागण भीत हुए और धीरे धीरे शिवपूजा स्वीकार कर ली गयी। (क्षितिमोहन सेनकृत 'भारतवर्षमें जातिभेदसे उद्‌धृत पृ० ६५)

पाठकोंके मनमें यह प्रश्न उठ रहा होगा कि सर्प क्यों पुरुष लिंगका प्रतीक है। चित्तकी अव्यक्तावस्थामें प्रतीकोंकी उद्भावना सम्बन्धी मानसिक क्रियाओंके सम्बन्धमें पहले जो कुछ कहा जाचुका है उसके प्रकाशमें इसका कारण समझना कठिन नहीं है। यद्यपि व्यक्तचित्तको सर्प और पुरुषलिंगमें कोई सादृश्य नहीं प्रतीत होता, किन्तु इनमें एकछिपी हुई समानताका इतना संकेत तो अवश्यही है कि अव्यक्त चित्त इनके सादृश्यको ग्रहण करले। हम यह देख चुके हैं कि किसप्रकार अनुभावोंको देखनेसे भावोंका उद्बोधन और तर्पण होता है और अनुभावयुक्त शारीरिक अंगों और चेष्टाओंके सदृश वस्तुएँ सादृश्यानुबन्ध नियमसे अनुकूल भावोंकी प्रतीक बन जाती हैं। इस तरह लिंग तो कामवासनाका स्वाभाविक उद्बोधक और तर्पक है ही और तदृश सर्प उसका प्रतीक होना ही चाहिये। उपर्युक्त विचारसे यह भी स्पष्ट है। कि इस प्रतीकमें लिंगके आकार प्रकार का अंश ही जन्मना प्राप्त हो सकता है। अपने मूर्त्त और विशिष्ट रूपमें सर्प नहीं। सर्पतो इसीलिए प्रतीक होगा कि लिंगसादृश्य उसमें अबोधपूर्वक ग्रहण किया गया। किन्तु ऐसी तो अनेक वस्तुएँ हो सकती हैं। और इसमें सन्देह नहीं कि अनेक वस्तुएँ लिंग और कामके और व्यक्तिगत उपमान और उद्बोधक बन जाती हैं। फिर सर्पादि थोड़ीसी वस्तुओंको ही जातिगत सामान्य प्रतीक का पद क्यों प्राप्त हुआ ? बात यह है कि सब वस्तुएँ मानव जातिके सामान्य अनुभव का विषय नहीं है। किन्तु सर्पादि वस्तुओंसे मनुष्यको आदिम अवस्थासे काम पड़ा है और ये उसके सामान्य अनुभवका विषय रही है। जातिगत अनुभव भी सर्प रूपी प्रतीकका एक अंश है जो हमें साहित्य एवं जनश्रुति द्वारा विरासतके रूपमें सामाजिक वायुमण्डलसे मिला है। यही उसे प्रतीकत्वका पद प्रदन करता है। सर्पके सम्बन्धमें यह जाति परम्परा हम ऊपर देख चुके हैं।

भारतीय परम्परामें कामका धन, स्वास्थ्य और मंगल मात्रसे सम्बन्ध समझ लेनेके बाद अब हम कुछ और सार्वभौम प्रतीकोंको समझ सकते हैं। मकान शरीरका एक पुराना और प्रसिद्ध प्रतीक है।

हम प्रायः शरीरको अपने रहनेके घरके रूपमें बोलते हैं और पशु व्यक्तिके प्रतीकके रूपमें बहुत सामान्य है और सवारी करना तथा सीढ़ी चढ़ना मैथुन या रतिका प्रतीक है।

महाप्रासादसफलवृक्षवारणपर्वतान्, आरोहेद्द्रव्य लाभाय व्याधे रपगमाय च ॥ (चरक)

हर्म्येष्वारोहणं चैव प्रासाद शिरसोऽपिवा, एवमादीनि संदृष्ट्वा नरः सिद्धिमवाप्नुयात्। (चरक)

शैलप्रासादनागाश्च वृषभारोहणं हितम्, (बृहद्यात्रायांवराहः)

हस्तिनीवडवानां च गवां च प्रसवो गृहे, आरोहणं गजेन्द्राणां रोदनं च तथा शुभम्॥ (वराह)

आरोहणं गोवृषकुंजराणां प्रासाद शैलाग्रवनस्पतीनाम्।
विष्ठानुलेपो रुदितं मृतं च स्वप्नेष्वगम्यागमनं प्रशस्तम्॥ (आचारमयूख)

बलाकां कुक्कुटीं क्रौंचीं दृष्ट्वा यः प्रतिबुध्यति।
कुलजां लभते चान्यां भार्यां च प्रियवादिनीम्॥ (आचारमयूख)

वडवां कुक्कुटीं दोलां लब्ध्वा यस्तु विबुध्यते,सकामां लभते भार्यां सुभगां प्रियवादिनीम्॥ (बृहस्पति)

आसने शयने याने शरीरे वाहनेऽपि वा।
ज्वलमाने विबुध्येत तस्य श्रीः सर्वतोमुखी॥ (बृहस्पति)

स्वाङ्ग प्रज्वलनं परोपशमनं शक्रध्वजालिंगकृत्।
संयुक्तोऽपि नैरर्विपद्यपि विपत्प्रक्षेपणं दिक्षु च।
बद्धो वा निगडैर्प्रसेच्च दहनं चारिक्षतो बाहुना।
छत्रं वा द्विरदादि रोहणविधौ दिव्योऽपि च ब्राह्मणः। (पराशर संहिता)

त्रिपुल रण विमर्द द्यूतवादैर्जयश्च, पशुमृग मनुजानांलब्धि रदभ्यासनं वा।
विवसन परिलेपोऽगम्यनारीगमो वा, स्वमरण शिखिलाभः सस्यसंदर्शनं च॥
दिनकर शशितारा भक्षणस्पर्शनानि, विशरणामपि मूर्ध्नः सप्तपञ्चत्रिधावा।
वृषभगृहनरेन्द्र श्वेतसिंहाधिरोह प्रसनमुदधिभूमौ भूमिराज्यप्रदानि॥ (पराशर संहिता)
मरणं वह्निलाभश्च वह्निदाहो गृहादिषु तथोदकानां तरणं तथा विषमलंघनम्॥
हस्तिनी वडवानां च गवां च प्रसवो गृहे आरोहणं गजेन्द्राणां रोदनं च तथा शुभम्।

(बृहच्छाया ग्रन्थमें श्री वराहमिहिर)

आचार मयूखके दूसरे और बृहस्पतिके पहले उद्धरणमें पशु-पक्षियोंसे स्त्रीका स्पष्ट सम्बन्ध दिखलाया गया है। बादके उद्धरणोंमें अग्निका प्रतीक भी आया है। अग्नि और उष्णता प्रेमके प्रतीक हैं। अन्य साहित्यों की भाँति हिन्दी और उर्दू काव्य साहित्यमें प्रेमके लिए अग्निकी उपमा बहुत प्रसिद्ध है। यही कारण है कि बृहस्पतिके दूसरे उद्धरणमें शरीरमें और वाहन (घोड़ा-हाथी आदि) पर अपनेको जलता देखनेसे लक्ष्मीकी प्राप्तिका सम्बन्ध बताया गया है और वराहके अन्तिम उद्धरणमें अग्निसे घर (शरीर) फूँकनेको शुभ कहा गया है। पराशर-संहिताके दूसरे उद्धरणमें अग्निके साथ साथ 'रण' का प्रतीक भी आया है। लड़ना भी मैथुनका प्रतीक है।

अनेक दूसरे सामान्य स्वप्नप्रतीकोंमें दाँत गिरनेका एक प्रतीक है जो स्त्रियोंमें कभी कभी सन्तान-कामनाकी काल्पनिक पूर्त्तिका द्योतन करता है और पुरुषोंमें साधारणतः हस्तमैथुनका द्योतक होता है। इसी कारण यह अशुभ प्रतीक समझा गया है।

दन्ता यस्य विशीर्यन्ते केशा यस्य पतन्ति च।
धननाशो भवेत्तस्य व्याधिपीड़ाप्यसंशयम् ॥ (मार्कण्डेय)

ग्रन्थान्तरमें भी कहा है—

दन्त चन्द्रार्कनक्षत्र देवता दीपचक्षुषाम्।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्यातिपञ्चताम्।
अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥

अब दो एक स्वप्नोंमें प्रतीकोंका प्रयोग देखें।

(१) "कुमारी एस० ने स्वप्नमें देखा कि-'वह एक बड़ी ऊँची इमारतसे गुजरीं जिसमें धुआँ निकल रहा था। तब कुछ लपटें निकलीं और उन्हें भयानक गर्मीका अनुभव हुआ।'

'विश्लेषणः कुमारी एस. प्रेममें बहुत सौभाग्यवती नहीं रही हैं। वह सुशिक्षित, बुद्धिमती और सुन्दरी हैं किन्तु जरा ज्यादा संयत होनेके कारण साधारण युवकके अनुकूल नहीं पड़तीं। उनके बहुतसे प्रशंसक थे, किन्तु किसी न किसी कारणसे वरणीय पुरुष या तो मिलता नहीं था, या विवाहके मार्गपर

अग्रसर नहीं होता था। स्वप्न-रात्रिके पहले वाले दिन वह अपने एक मित्रके यहाँ गयीं जिसने उन्हें उनके एक प्रशंसक टी० के बारेमें चिढ़ाया। मित्रने कहा कि उसके सुननेमें आया है कि टी० कुमारी एस० से निरन्तर मिलते हैं और यह पूछा कि मंगनीका एलान कब होगा, इत्यादि। कुमारी एस. परीशान हुईं और उन्होंने विरोध करते हुए कहा कि इस अफवाहमें कोई सचाई नहीं है और यह बिलकुल गप्प है। किन्तु उनके हृदयमें यह भाव था कि टी० उनके साथ विवाह कर सकते हैं। इस बातचीतका अन्त उनके मित्रके इस साभिप्राय कथनसे हुआ कि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'। कुमारी एस०का स्वप्न उनकी इच्छाकी पूर्त्ति करता है। बहुत ऊँची इमारत वे स्वयं हैं,—वे बहुत लम्बी हैं। वह धुआँ देखती हैं, फिर लपटें देखती हैं और अत्यधिक उष्णताका अनुभव करती हैं। "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" इस कथनको ही स्वप्नने मूर्त्तिमान किया है। और चूँकि स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नका मुख्य पात्र होता है—वे स्वयं ऊँची इमारतके रूपमें अवतरित हैं। इमारत शरीरका तथा आग और गर्मी प्रेमके प्रतीक हैं। यह स्वप्न इस बातका बड़ा अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार अमूर्त विचार स्वप्नमें मूर्त्तिमान किये जाते हैं।" (ब्रिल)

(२) "एक युवतीने स्वप्न देखा कि 'एक पुरुष एक बड़ी चंचल छोटी भूरी घोड़ीपर सवार होनेकी कोशिश कर रहा है। उसने तीन बार प्रयत्न किया, किन्तु हर बार गिर गया। आखिरकार चौथी बारके प्रयत्नमें सफल हुआ और घोड़ीको आगे पीछे दौड़ाने लगा।" प्रकट रूपसे स्वप्न देखने-वाली स्वप्नमें दिखाई नहीं दे रही है। किन्तु हम जानते हैं कि वह पुरुष और घोड़ी इनमेंसे किसी न किसीके छद्म वेशमें अवश्य ही होगी। क्योंकि स्वप्नकी नाटकीयताके सम्बन्धमें यह एक विशेष सिद्धान्त है (दूसरा विशेष सिद्धान्त प्रतीकोंका प्रयोग है) कि स्वप्नद्रष्टा अवश्य ही स्वप्नमें किसी न किसी रूपमें रहता है और प्रायः वही उसमें मुख्य पात्र होता है। प्रस्तुत स्वप्नके विश्लेषणमें यह बात इस प्रकार प्रकट हुई। जब उक्त युवतीसे पूछा गया कि 'घोड़ी'से उसके मनमें किन बातोंका उदय होता है, तो उसे अकस्मात् याद आया कि जब वह छोटी लड़की थी उस समय उसके पिताने उसे बताया था कि उसके औपाधिक नाम 'शेवाल'का अर्थ फ्रेंच भाषामें घोड़ी है। वह स्वयं भी छोटी, सांवली और चञ्चल है। अर्थात् वैसी ही है जैसी कि उसने अपने स्वप्नकी घोड़ीका वर्णन किया था। अतएव यह सन्देह होता है कि यह घोड़ी उसीका प्रतिनिधित्व करती है। स्वप्नके पुरुषको पहचानकर उसने अपना एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्र बताया। जब उसे यह बतानेको कहा गया कि इस पुरुषके सम्बन्धमें उसके मनमें क्या आता है, तो उसने अन्तमें प्रकट किया कि वह उसके साथ बहुत ही सरगर्मीके साथ प्रेम-प्रदर्शन कर रही थी। उसके लिए उस पुरुषका बड़ा प्रबल आकर्षण था। और तीन बार उसकी ओरसे इतनी कामोत्तेजना व्यक्त हो गयी

थी कि पुरुषने उसके साथ रतिकी चेष्टा की थी। किन्तु हरबार उसकी नैतिक भावनाओंने उसे बचा लिया था और उसने उस पुरुषको तिरस्कृत कर दिया था। स्वप्नमें उस पुरुषकी तीन बार घोड़ीपर सवार होनेकी चेष्टा इन्हीं सब बातोंका प्रतीक है। किन्तु निद्राकी अवस्थामें वे निग्रह-शक्तियाँ उतनी सक्रिय नहीं थीं जिन्होंने जाग्रदावस्थामें उसकी रक्षा की थी। उसका दमन ढीला पड़ गया था और उसने स्वप्नमें देखा कि उसने वह कामतृप्ति पाई जिसकी उसे वस्तुतः अभिलाषा थी। स्वप्नमें पुरुषके अन्तिम बार घोड़ीपर सवार हो जाने और उसे इधरसे उधर दौड़ानेमें यही बात व्यक्त हुई है।" (फ्रिंक)

प्रतीकोंके और अधिक उदाहरण प्रसंगान्तरमें मिलेंगे। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सार्वभौम होनेपर भी ये विभिन्न व्यक्तियोंमें बिल्कुल ही भिन्न तात्पर्य रख सकते हैं और आमतौरपर स्वप्नका मतलब तबतक नहीं जाना जा सकता जबतक कि विश्लेषक स्वप्नद्रष्टाको अच्छी तरह जानता न हो। साँपोंके स्वप्न बहुत होते हैं, किन्तु इससे न समझना चाहिये कि हर हालतमें साँप पुरुषलिंगका ही द्योतन करता है। कालान्तरमें मूल प्रतीक विकृत और विकसित भी हो जाते हैं।

व्यक्तिगत विशिष्ट उपमानों और सार्वभौम प्रतीकोंके मध्यमें हर राष्ट्र या जातिमें अपने अपने राष्ट्रीय या जातीय प्रतीक होते हैं जो तत्तत् राष्ट्र या जाति में सामान्य रूपसे पाये जाते हैं। नागों और सुपर्णोंके जातीय लांछनों (टोटेम्स) का उल्लेख ऊपर हो चुका है। रंगोंके प्रतीकात्मक अभिप्रायसे हम सभी परिचित हैं।

सर्वाणि शुक्लान्यतिशोभनानि कार्पास भस्मौदनतक्र वर्ज्यम्।
सर्वाणि कृष्णान्यतिनिन्दितानि गोहस्तिदेवद्विजवाजिवर्ज्यम्॥ (बृहस्पति)

यहाँ स्वप्नमें आमतौरपर सफेद रंगको शुभ और कालेको अशुभ बताया गया है। साहित्यिक रूढ़िमें भी रंगोंका तात्पय इसीप्रकार बताया गया है। अन्य जातीय प्रतीकोंके उदाहरण प्रकरणान्तरमें दिये जायंगे।

स्वप्नकी नाटकीय प्रणालीसे जिन मानसिक व्यापारोंका सीधे तरीक़ेसे चित्रण नहीं हो सकता, उनके व्यञ्जनके लिए इस जिन विशेष उपायोंका अवलम्बन करना पड़ता है उनमेंसे कुछका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसी प्रकार स्वप्नतत्त्ववेत्ताओंसे स्वप्नकी नाटकोय वृत्ति के कुछ और निश्चित नियम स्थिर कर दिये हैं जिनका प्रयोग स्वप्नोंके उदाहरणोंमें ही देखना उपयुक्त और सरस होगा।

नाटकीय प्रणालीसे अव्यक्त चित्तके विचारोंको चित्रोंके रूपमें मूर्त्तिमान् किया जाता है। ये चित्र अधिकतर दृश्यात्मक या चाक्षुष होते हैं, हालाँ कि स्पर्श, शब्द तथा अन्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष भी होते हैं। इस

प्रकारकी कार्यप्रणालीकी शक्ति स्वभावतः सीमित है। कुछ बातोंका तो यह चित्रण कर ही नहीं सकती। न्यायमूलक (मानसिक) सम्बन्धोंका चित्रण प्रायः नहीं ही हो सकता। जैसे 'यदि', 'जब' या 'क्योंकि' इत्यादि भाव चित्रित नहीं किये जा सकते और प्रायः इन्हें चित्रित करनेकी कोई चेष्टा नहीं की जाती। कभी कभी स्वप्नके भिन्न भिन्न अव्यक्त विचारोंमें इस प्रकारके जो सम्बन्ध रहते हैं उन्हें विशेष उपायोंसे चित्रित किया जाता है। जैसे गौण या हेतु वाक्यके विचारोंको एक प्रारंभिक स्वप्नमें चित्रित कर दिया जाता है और फिर मुख्य या निर्णय वाक्यके विचार मुख्य स्वप्नके रूपमें बादको आते हैं। दो भावों, वस्तुओं या व्यक्तियोंके तादात्म्य या समानताको उनके चित्रोंके मुख्य अंशोंका संमिश्रण करके व्यक्त किया जाता है। इस प्रकारका सम्मिश्रण स्वप्नकी कार्यप्रणाली एक मुख्य अंग है यद्यपि यह नाटकीय वृत्तिका ही परिणाम और अंग है। तादात्म्यीकरणके प्रसंगमें पिछले अध्यायमें एक ऐसे पुरुषका उल्लेख हो चुका है, जिसकी आदर्श पत्नीकी कल्पनामें पन्द्रहसे कम स्त्रियोंके गुणोंका समावेश नहीं था। यदि कोई पुरुष किसीसे अपनी आदर्श स्त्रीका वर्णन करने लगता है तो देखिये वह कितनी स्त्रियोंसे मसाला इकट्ठा करता है। 'वह अमुक स्त्रीकी तरह लम्बी होगी, उसके बाल अमुक स्त्रीकी तरह होने चाहिये इत्यादि। ऐतिहासिक व्यक्तियोंके सम्बन्धमें भी हमारी कल्पना प्रायः बहुतसे ऐसे व्यक्तियोंकी कल्पनाओंका संमिश्रण ही होती है जिन्हें हम अपने सामने देखते या जानते हैं। इसी प्रकार एक स्त्रीके वर्णनसे मालूम हुआ था कि उसके आदर्श पौराणिक देवता अपोलोके चरित्रमें कमसे कम आधे दर्जन व्यक्तियोंका समावेश था। कविताओंमें तो अनेक उपमानोंके सम्मिश्रणसे एक पूरा शिखनख तैयार कर देनेकी प्रणालीसे हम खूब वाकिफ हैं। कभी कभी व्यंग चित्रोंमें हम कवियोंकी इस प्रकारकी मिश्र कल्पनाओंके चित्र पाते हैं अन्य चित्रों, कहानियों तथा पौराणिक कल्पनाओंमें भी औपम्यमूलक मिश्रचित्र जानवरों और मनुष्योंके दिखाई देते हैं।

किन्तु यहाँ पर यह ख्याल कर लेना चाहियेकि स्मरणकी, जिसके आधार पर स्वप्नचित्र उपस्थित होते हैं, सादृश्य और साहचर्यमूलक अनुबन्ध मात्रसे पूरी व्याख्या नहीं होती। वर्त्तमान उद्बोधकसे अनुबद्ध अनेक स्मृतियोंमें चुनावका काम सदा स्वारस्य या इच्छाका संवेग ही करता है, बल्कि यों कहना चाहियेकि सादृश्य और साहचर्यके ग्रहणमें भी मूल आवेग ही है। कुछ हद तक उसे इनका निर्माता भी कहा जा सकता है। स्वारस्य न होने पर स्पष्टसे स्पष्ट सादृश्य और साहचर्य ग्रहण नहीं किये जाते और स्वारस्य होने पर खाहमखाह सादृश्य ढूँढ़ लिये जाते हैं और एक बारका साहचर्य भी ग्रहीत होता है। बाजमामिलोंमें तो साहचर्य और सादृश्यका अंश इतना गौण होता है कि उसे नहींके बराबर कह सकते हैं। आवेगकी ही सर्वथा प्रधानता होती है। ऐसे मौकों पर एक तीसरे प्रकारके आवेगमूलक अनुबन्धकी कल्पना करनी पड़ती है। हालांकि आवेग हर प्रकारके अनुबन्धका एक आवश्यक अंग होता है और

सिद्धान्ततः उसे दो प्रकारके अनुबन्धोंके मुकाबले तीसरे प्रकारका अनुबन्ध नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें अनुबन्धका मूल तो आवेग ही है, सादृश्य और साहचर्य तो उसकी अभिव्यक्तिके मार्गमात्र हैं। किन्तु व्यावहारिक सुविधाके लिए आवेगकी प्राधान्यमूलक स्पष्टताके कारण एक तीसरे प्रकारका आवेगमूलक अनुबन्ध भी स्वीकार किया जा सकता है। इसका नियम यह है कि समान आवेगोंसे संश्लिष्ट मानसप्रत्यय परस्पर अनुबद्ध हो जाते हैं। अर्थात् इन पृथक् प्रत्ययोंमें आवेग ही संयोजकका काम करता है न कि उनका सादृश्य या साहचर्य। वे इसलिए नहीं जुड़े होतेकि वे पहले साथ साथ देखे गये हैं या सदृश प्रतीत हुए हैं, किन्तु इसलिएकि वे समान आवेगसे अनुरंजित अर्थात् समान रस-ध्वनिसे ध्वनित हैं। हर्ष, शोक, राग, द्वेष, विस्मय, निर्वेद, अभिमान आदिमें से प्रत्येक भाव एक आकर्षण-केन्द्र बन सकता है जिसके चारों ओर ऐसे अनेक प्रत्यय या घटनाएँ एकत्र हो जाती हैं जिनमें कोई बौद्धिक सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु जो उसी भावसे भावित हैं। चूँकि इस प्रकारका अनुबन्ध आवेगसे घनिष्ठ भावसे जड़ित है और उसीका चिह्न होता है, इसलिए स्वप्न और काव्यमें इसका बाहुल्य देखा जाता है जहाँ कि दृश्यात्मक कल्पना, जो आवेगकी भाषा है, पूर्ण स्वच्छन्दतासे काम करती है। वास्तवमें इस प्रकारकी कल्पना सर्वथा उन आवेगोंसे प्रेरित होती है जो कल्पनाप्रसूत चित्रोंसे संश्लिष्ट रहते हैं। ये चित्र उस आवेग-केन्द्रका उद्‌घाटन करते हैं जिसके चारों ओर वे जमा हुए हैं। यहीं एक बात पर और विचार कर लेना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि 'सम्मिश्रण' दृश्यात्मक और नाटकीय भाषाका आवश्यक अंग है क्योंकि विचारोंको मूर्त्तरूप देनेमें, जैसे चित्र-कलामें, 'समान','सदृश' आदि औपम्यसूचक भावोंके—जो कि भेदको कायम रखकर आंशिक अभेदकी सूचना देते हैं-द्योतन का कोई सीधा तरीका नहीं रहता। या तो दो वस्तुओं को अलग अलग, साथ साथ या पास पास चित्रित कर दिया जाय, या दोनोंको मिला दिया जाय। आवेगमूलक अनुबन्धमें सादृश्यादि बाह्यगुणों के गौण होनेके कारण, उपमान और उपमेय को अलग रखनेसे उनके अनुबन्धका ग्रहण होना कठिन है। यही कारण है कि स्वप्न और काव्यकी आवेगबहुल भाषा सम्मिश्रण काही सहारा लेती है। आवेग की तीव्रताके कारण जो चित्र पारस्परिक सामीप्यसे सन्तुष्ट नहीं होते; वे सम्मिश्रण सायुज्य लाभ करके तृप्त होते हैं। इसदृष्टिसे आवेग की ओरसे चलने पर, जो काव्य को उसकी विशेषता प्रदान करता है, उपमाका मूल रूपक दिखाई देता है। इसदृष्टिसे रूपकको उपमाका अतिशय कहनेके बजाय उपमा को रूपक का बिखराव कहना चाहिये। रूपक और उपमा का वही सम्बन्ध है जो अनुबन्धके कारणोंमें आवेग तथा सादृश्य का है। उपमामें आवेग बिखर कर सदृश वस्तुओंमें विनियुक्त हो जाता है। और रूपकमें आवेगके चारों ओर अनेक चित्र सम्मिश्रित हो जाते हैं। इस अर्थमें उपमा रूपक का उल्टा भी है। (दे० 'विनियोग') रूपक का मूल उपमा को मानने या समानता को पृथक् सामीप्य द्वारा व्यक्त करनेमें आवेग पर बुद्धिवृत्ति का प्रभाव लक्षित होता

है। इसी कारण सिवाय वृत्त्यात्मक काव्यके अन्य शुद्धमूर्त्तिमती और ध्वन्यात्मक कलाओंमें इस उपाय का अधिक आश्रय नहीं लिया जाता। काव्यमें बुद्धिगम्य संकेतों का प्रयोग होनेसे भेदाभेद सम्बन्ध आसानीसे गृहीत हो सकता है। आवेग अधिक मूर्त्तिमत्ताकी ओर प्रवृत्त होता है। जहाँ बुद्धिके विषय अमूर्त सम्बन्ध होते हैं, आवेगके विषय मूर्त पदार्थ होते हैं।

स्वप्नमें सम्मिश्रणके उदाहरण बड़ी आसानीसे मिल जायंगे। शब्द, चित्र, प्रत्यय और स्थितियाँ सभीमें समीश्रण होता है। अनेक ऐसे विभिन्न व्यक्तियोंके आंशिक गुणोंके मिश्रचित्र बहुत आते हैं जिनकी स्मृतियाँ हमारे मनमें उनके प्रति समानभावके द्वारा जुड़ी रहती हैं। स्वप्नमें कोई दृश्य दिखाई देता है जिसे हमने कभी नहीं देखा है फिर भी वह देखा-सा प्रतीत होता है। यह दृश्य अनेक देखे हुए दृश्योंका सम्मिश्रण ही होता है। इसी प्रकार हमें बहुधा प्रतीत होता है कि हमने किसी व्यक्ति या वस्तुको स्वप्नमें देखा 'जो कि फिर भी ठीक वही व्यक्ति या वस्तु नहीं थी'। एक छः बरसकी लड़कीने नृसिंहकी कथा सुननेके बाद देखे हुए अपने स्वप्नका बड़ा मनोरंजक वर्णन किया था, 'मैंने मनुष्यसिंहका स्वप्न देखा, वह पिताजी नहीं था, किन्तु वह एक मनुष्य था जो कि पिताजी था। कोई सिंह नहीं था, किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता था कि एक सिंह था।" यह स्पष्ट और सीधा सादा सम्मिश्रण पिता और नृसिंहका है। स्वप्नकी बहुतसी अत्यन्त विचित्र शकलें जैसे कि विचित्र रूपके जानवर या आधे मनुष्य और आधे पशुरूपी व्यक्ति सम्मिश्रणके ही फल होते हैं। ये तभी तक हास्यास्पद रहते हैं जबतक कि इनके अवयवोंका विश्लेषण नहीं हो जाता। ऐसे अपरिचित और निरर्थक प्रतीत होनेवाले मिश्र चित्रोंके निर्माणमें दमनकी प्रेरणा भी काम करती है। इनके मूलमें ऐसे आवेग हो सकते हैं जो हमारी जाग्रत चेतनासे अस्वीकृत और छिपे हुए हैं। जिस प्रकार विभिन्न दृश्यों या वस्तुओंकी स्मृतियोंके सम्मिश्रणसे नये दृश्य या वस्तुएँ प्रस्तुत हो जाती हैं और विभिन्न व्यक्ति नये मिश्रव्यक्ति बन जाते हैं, उसी प्रकार अनेक भिन्न शब्द या वाक्योंसे नये शब्द बन जाते हैं जो जाहिरा बिलकुल निरर्थक होते हैं। मेरे रोगीने स्वप्नमें एक पत्र पाया जिसपर हस्ताक्षरके स्थानपर 'हेल्वा' लिखा था। विश्लेषण करनेपर यह शब्द हेलेन और एल्वा इन दो शब्दोंमें विभक्त हो गया। ये दो नवयुवतियोंके नाम थे जिनसे वह खत किताबत करनेके लिए उत्सुक था।

सम्मिश्रणका एक आवश्यक परिणाम या दूसरा पहलू 'संक्षेपण' है। सम्मिश्रण अपने अनेक अवयवोंके द्वारा इन अवयवोंसे अनुबद्ध अव्यक्त चित्तके बहुतसे विचारोंको एक ही चित्रमें व्यक्त कर देता है। इसलिए स्वप्नकी व्यक्त सामग्री सदा अव्यक्त सामग्रीकी अपेक्षा बहुत कम और संक्षिप्त होती है। इसके अतिरिक्त अवसर व्यक्त स्वप्नका एक अवयव अव्यक्तके अनेक विचारोंका द्योतक होता है। व्यक्त-स्वप्नके ऐसे अवयव अतिनिर्दिष्ट कहलाते हैं। किंतु अतिनिर्देश कोई स्वप्नकी विशेषता नहीं है।

सभी प्रत्ययोंके साथ अनेक अनुभवोंकी स्मृतियां अनुबद्ध रहती हैं। इसी प्रकार स्वप्नका प्रत्येक अंग अपने अनेक अनुबन्धोंसे निर्दिष्ट होता है। अपने अनेक अनुबन्धोंकी योग्यता और अनुकूलताके कारण ही वह स्वप्नके मूल अव्यक्त आवेगका प्रतिनिधि चुना जाता है। इस प्रकार वह अपने सारे अनुबन्धोंके साथ वस्तुतः उस आवेगका ही द्योतन करता है, किन्तु दूसरी दृष्टिसे अपने सारे अनुबन्धोंका भी द्योतन करता है। इसी अर्थमें स्वप्नों और पौराणिक कथाओंकी अनेक अविरोधी व्याख्याएँ संभव होती हैं। काव्यकी अनेक ध्वनियां भी इसी प्रकार होती हैं। अतिनिर्देश निम्न लिखित उदाहरणमें अच्छी तरह दिखाई देता है।

"एक रोगिणी युवतीने अपना एक स्वप्न इस प्रकार बताया—'गतरात्रिमें मैंने स्वप्न देखा कि मैं अपनी एक सखीके साथ एक खास स्थानमें टहलने गयी। हम एक दुकान पर रुकीं और खिड़की पर सजे हुए कुछ टोप देखें। मैं समझती हूँ कि आखिरकार मैं अन्दर गयी और एक टोप खरीदा'। स्वप्नका विश्लेषण इस प्रकार है: जब रोगिणीसे यह पूछा गया कि स्वप्नकी सखीके साथ टहलने की बातसे उसे क्या याद आता है तो उसे फौरन स्वप्नके पूर्व दिनकी एक घटना याद आई। इसदिन वह सचमुच उसी जगह उसी लड़कीके साथ टहलने गयी थी और उसी दुकानकी खिड़कीमें टोप देखे थे, जिसे कि उसने स्वप्नमें देखा था; किन्तु उसने टोप खरीदा नहीं था। यह पूछने पर कि उसके मनमें और क्या आ रहा है उसे यह ख्याल आया: स्वप्नके दिन उसके पतिकी तबीयत कुछ खराब थी और यद्यपि वह जानती थी कि यह कोई चिन्ताकी बात नहीं है, फिर भी वह बड़ी उद्विग्न थी और इस भयको दूर नहीं कर पाती थी कि पतिकी मृत्यु हो सकती है। इसी कारण जब स्वप्नवाली सखी संयोगवश उसके यहां आ गयी, तो पतिने सलाह दी कि सखीके साथ टहल आनेसे उसका जी बहल जायगा। इतना कहनेके बाद रोगिणीको यह भी खयाल आया कि टहलते वक्त एक पुरुषकी चर्चा हुई थी जिससे वह अपने विवाहके पहिले परिचित थी और बतलानेके लिए जोर देने पर वह हिचकी, किन्तु अन्तमें उसने बतलाया कि उसका विश्वास है कि एक समय वह उस पुरुषसे प्रेम करती थी। यह पूछने पर कि फिर उसने उससे शादी क्यों नहीं की, तो उसने हँसकर जवाब दिया कि उसे इस बातकी कभी संभावना ही नहीं दिखाई दी। इसका कारण उसने यह बताया कि वह पुरुष इतना धनी था और उसकी सामाजिक मर्यादा इससे इतनी ऊपर थी कि इसने उसे सदा अपनी पहुँचसे बाहर समझा था। इसके बाद जोर देने पर भी वह इस विषयको आगे बढ़ानेके लिए प्रवृत्त नहीं हुई और यही कहती रही कि वह सब एक लड़कपनकी बेवकूफी थी जिससे कोई नतीजा नहीं था।

"तब उसे टोप खरीदनेके सम्बन्धमें सोचने और उससे उसके मनमें जो कुछ आये बतानेको

कहा गया। तब उसने बताया कि उसने दुकानकी खिड़कीमें देखे हुए टोपोंको बहुत पसन्द किया था और उसकी इच्छा थी कि वह उनमेंसे एक खरीद सकती यद्यपि वह जानती थी कि यह संभव नहीं है, क्योंकि उसका पति गरीब है। किन्तु स्पष्ट है कि स्वप्नमें उसकी यह इच्छा पूरी हुई, क्योंकि वहाँ वह टोप खरीद लेती है। किन्तु इतनेसे ही मामला खत्म नहीं होता। उसे यकायक याद आया कि स्वप्नमें उसने जो टोप खरीदा था वह काला टोप अर्थात् 'मातमीटोप' था।

"इस छोटी-सी बात पर जो कि अब तक छिपाई गयी थी, पूर्वप्राप्त अनुबन्धोंके साथ विचार करने पर स्वप्नकी व्याख्याकी कुंजी फौरन हाथ लग जाती है। स्वप्नके दिन रोगिणी अपने पतिकी मृत्युकी आशंकासे चिन्तित थी। वह स्वप्नमें 'मातमीटोप' खरीदती है। जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि उसको कल्पनामें उसके पतिकी मृत्यु हो गयी है। वास्तव जीवनमें वह टोप नहीं खरीद सकी थी, क्योंकि उसका पति गरीब आदमी था। स्वप्नमें वह टोप खरीद लेती है इससे अवश्य ही ऐसे पतिका संकेत मिलता है जो गरीब नहीं है। वह पति कौन हो सकता है, इस प्रश्नके उत्तरके लिए हमें केवल स्वप्नके पूर्वांशके अनुबन्धोंको लेना होगा, अर्थात् उस पुरुषको जिसके बारेमें बात करनेसे उसने इनकार कर दिया था और जिसके कारण उसका प्रेम रहा हो सकता है। वह पुरुष उसके कथनानुसार धनी है और उसकी पत्नी होने पर वह जैसे चाहती टोप खरीद सकती है। अतएव यह परिणाम निकाला जा सकता कि यह रोगिणी अपने पति से असन्तुष्ट थी, अव्यक्तरूप से वह उससे, उसकी जान गवाँ कर भी, मुक्त होना चाहती थी और उस दूसरे पुरुष से विवाह करना चाहती थी जो कि उसकी इच्छाओं की पूर्ति इससे अच्छी तरह कर सकता था।

"जब रोगिणीको उसके स्वप्न की यह व्याख्या बताई गयी, उसने न सिर्फ इस परिणाम की सत्यता स्वीकार की, बल्कि, चूँकि अब उसका संकोच भंग हो गया था, इसके समर्थनमें और बातें बताई। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि विवाहके बाद उसे मालूम हुआ कि जिस पुरुषको उसने अपनेसे इतना ऊपर समझा था, वह वस्तुतः उसके प्रति इतनी उपेक्षा नहीं रखता था जैसी उसने कल्पनाकी थी। उसने स्वीकार किया कि इस बातसे उस पुरुषके प्रति उसका पुराना प्रेम जागृत हो उठा था और उसे विवाहमें जल्दी करनेके लिए पश्चात्ताप होता था, क्योंकि उसने यह महसूस किया कि यदि वह कुछ ही दिन और प्रतीक्षा करती, तो उसकी अवस्था इससे अच्छी होती।

"इस उदाहरणमें रोगिणी द्वारा बताई हुई स्वप्न-की व्यक्त सामग्री जिन अव्यक्त विचारोंको चेतनामें प्रकाशित करती है, 'उन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है : मैं ग़रीबीसे तंग आ गयी हूँ। मैं अपने

पतिकी परवा नहीं करती। वह मर कर मुझे मुक्त करता है। मैं उस आदमीसे विवाह करती हूँ जिसे मैं पसन्द करती हूँ और इस प्रकार मैं गरीब नहीं रहती'।" (फ्रिंक)

इस उदाहरणमें एक 'मातमीरोप' खरीदनेकी घटनासे ग़रीबीसे मुक्ति, पतिकी मृत्यु तथा नये, अच्छे विवाहका द्योतन होता है। इस लिए स्वप्न की यह घटना अतिनिर्दिष्ट कही जायगी। ध्यान देनेकी बात है कि अव्यक्त स्वप्नके दो विचार इस घटना के दो पहलुओंके रूपमें सम्मिश्रित हैं। एक टोपके 'खरीदे जा सकने'में, दूसरा टोपके 'काले, होने'के गुणमें यह भी ख्याल करनेकी बात है कि अपने विभिन्न अनुबन्धोंके द्वारा अव्यक्त स्वप्नके अनेक पहलुओं अर्थात् प्रस्तुत भावसे सम्बद्ध अनेक विचार-धाराओंको द्योतित करनेकी योग्यताके कारण ही यह घटना व्यक्त स्वप्नमें इन विचारोंके प्रतिनिधि रूपमें चुनी गयी है। स्पष्ट है कि यद्यपि इन अनुबन्धोंमें से किसी एकको या दोनोंको अलग अलग बिनाविरोधके स्वप्नका अर्थ बनाया जा सकता है, किन्तु उसके वास्तविक अर्थमें—अपनी वर्तमान अवस्थासे असन्तोष—में ये दोनों अर्थ अविच्छिन्न रूससे मिले हुए हैं और उसके अविच्छेद्य अंग और कारण हैं जो उस असन्तोषके मूलभावका स्वरूप और विषय बताते हैं और स्वयं उसके द्वारा अभिन्न रूप से प्रकाशित और समन्वित होते हैं। अनेक ध्वनियों से युक्त काव्य के अनेक अर्थोंका समन्वय भी इसी प्रकार होता है।

एक और बात जो इस उदाहरण में दिखाई देती है वह यह है कि स्वप्नकी व्यक्त सामग्री में आमतौर पर ऐसे मामिले पेश होते हैं जो बड़े तुच्छ प्रतीत होते हैं। इस स्वप्नमें व्यक्त सामग्रीका सबसे मुख्य प्रतीत होने वाला अंश 'टहलने'की क्रिया है, यद्यपि वस्तुतः वह स्वप्नका सबसे कम महत्वका अंश है। साथ ही स्वप्नका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश—टोप खरीदने की क्रिया—को गौण स्थान दिया गया था और रोगिणीने उसका जिक्र इस प्रकारसे किया था, जैसे वह बादको याद आगया हो।

जैन कर्मवाद

श्री गोरावाला खुशालजैन–

लोकका स्वरूपः—जीव[1], पुद्गल[2], धर्म[3], अधर्म[4], आकाश और काल ये छ द्रव्य हैं। इनमें पहिले पांच अस्तिकाय[5] हैं। इनका समवाय (तादात्म्य, एकीकरण) ही लोक[6] है या इन्हींके द्वारा लोक (संसार) बना है[7]। यह लोक निःसन्देह रूपसे अकृत्रिम (किसीके द्वारा नहीं बनाया गया) है, अनादि-अनन्त है, स्वभावसे ही बनता, स्थित और मिटता रहता है, जीव अजीवसे परिपूर्ण है, आकाशके मध्यमें व्याप्त है तथा (द्रव्य रूपसे) नित्य है[8]। इस लोकके प्रधान तत्त्व जीव और पुद्गल हैं। इन दोनोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंसे इस संसार का विस्तार होता है। जीव प्रधान है क्योंकि सब फल-अफल उसे ही भरने पड़ते हैं। उसके उत्थान-पतनमें पुद्गल भी सहायक होता है इसलिए उसके बाद पुद्गलका स्थान है। जीवके परिणामोंसे प्रेरित होकर पुद्गल परमाणुओंका उसकी तरफ जाना आस्रव है। इन दोनों का एक दूसरेमें घुल मिल जाना बन्ध है। योगों (मन, वचन और कायका परिस्पन्द=हिलना डुलना) का आंशिक या पूर्ण नियन्त्रण करके पुद्गलको अपनी ओर आकृष्ट करना रोकना ही संवर है। पहिलेसे बंधे कर्मोंको क्रमशः नष्ट कर देना निर्जरा है। और इस प्रकार समस्त बन्धनोंको विनष्ट करके केवल

१–'जीवो उवओगमओ' (द्र. सं. गा. २-६.) 'उपयोगो लक्षणम्' (मो. शा. २-८) जीवका लक्षण ज्ञान दर्शन है।

२–'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः'। मो. शा. ५-२३

३–गतिका निरपेक्ष साधन धर्म द्रव्य है। द्र. सं. गा. १७

४–स्थितिका निरपेक्ष निमित्त अधर्म द्रव्य है। द्र. गा. १८

५–कायके समान बहुप्रदेशीको अस्तिकाय कहते हैं। द्र. गा. २३-२४

६–'समवाओ पंचण्हं समउत्ति ..सो चेव हवदि लोओ'। पंचास्तिकाय गा. ३

७–'ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं'। पंचा. गा. ५

८–(क) लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ णिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासावयवो णिच्चो॥ त्रिलोकसार गा. ४

(ख) आदिणिहणेण हीणो पगदिसरूवेण एस संजादो।
जीवाजीव समिद्धो सव्वण्हावलोयवो लोउ॥ तिलोयपण्णत्ति, गा. १३३

(ग) आप्तपरीक्षा कारिका १२ तथा आगे।

(परिपूर्ण) दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान, सुख और वीर्यमय अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त करना ही मोक्ष या निर्वाण है[१] ।

लोकचक्र—

संसारी (अमुक्त या बद्ध) जीवके मन, वचन, कायका परिणाम (परिस्पन्द) होता है, परिणामसे वह पुद्गल कर्मको आकृष्ट करता है, कर्मके कारण मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े), देव और नरक गतियों (योनियों) में जीवको जाना पड़ता है, गतियोंमें जानेसे शरीर धारण करता है, शरीरके साथ साथ इन्द्रियां (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) होती हैं, इन्द्रियां अपने अपने विषयों (भोग्य पदार्थों) में लगती हैं और इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्ति तथा अप्राप्तिसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार यह अनादि-अनन्त लोक चलता है । कुछ जीवोंके लिये यह अनादि—सान्त है क्योंकि वे आत्म-विकास द्वारा इससे मुक्त होकर कैवल्य (पूर्णता) को प्राप्त करते हैं[२] । यह संसार साधारणतया और प्रत्येक जीवकी अपेक्षा से स्वकृत है । कोईभी बाह्य शक्ति न इसे बनाती है, न स्थित रखती है और न मिटाती है । प्रत्येक जीवके कर्म ही उसके विधायक, स्थापक और घातक हैं[३] ॥

कर्म स्वरूप—

(क्रिया)

काय, वचन और मनके परिस्पन्दको कर्म कहते हैं तथा इस परिस्पन्दके कारण आत्मासे चिपटने-वाले पुद्गल परमाणुओंको भी कर्म कहते हैं[४] । क्योंकि इनके ही जीवमें एकसात (घुलमिल) हो जानेपर जीवके ज्ञान, दर्शन, आदि गुण आवृत (ढंके) होते हैं और वह ऐसी चेष्टाएं करता है जो उसे उत्तरोत्तर उलझाती ही जाती हैं । जिस प्रकार पौद्गलिक मदिरा शरीर (पौद्गलिक) को ही नहीं अभिभूत करती है अपि तु अपौद्गलिक (=अमूर्तीक) ज्ञानको भी अन्यथा कर देती है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म अमूर्तीक जीवको भी आवृत करके उसे सुख, दुःखादि देता है । कर्म पौद्गलिक इसलिए है कि जीवमें भावात्मक परिणाम होते ही उसमें उसी प्रकार पुद्गल चिपक जाता है जिस प्रकार स्नेह (चप चपाहट) पाते ही

१–मोक्ष शास्त्र १०–१, २ ।

२–पंचास्तिकाय गा. १२८–१३० पृ. १९१–३ ।

३–सामायिक. (अमितगति सूरि) श्लो. ३०–३२ । द्रव्यसंग्रह गा. ८–९ ।

४—मोक्ष शा० ६–१, प्रवचनसार गा० २५, अमृत टीका पृ० १६९ ।

धूल जम जाती है उसी प्रकार राग-द्वेषादि परिणाम होते ही कार्माण वर्गणाएं[1] जीवसे सम्बद्ध हो जाती हैं। ये कार्माण वर्गणाएं तथा इनके कारण जीव में होने वाले परिणाम ही कर्म हैं।

कर्मभेद—

भावकर्म और द्रव्यकर्म ये कर्मके दो प्रधान भेद हैं। राग-द्वेषात्मक समस्त परिणामोंका ही नाम भावकर्म है। प्राणिकी समस्त मानसिक प्रवृत्तियां भावकर्म हैं यतः मानसिक प्रवृत्तियोंके ही कारण आत्मा बद्ध होता है इसलिए भावकर्म प्रधान है। जीवके भावकर्मों के कारण आकृष्ट होनेवाली कार्माण वर्गणाओंकी द्रव्यकर्म संज्ञा है। स्थूलरूपसे बाह्य प्रवृतियोंको भी द्रव्यकर्म कहा है। उक्त प्रकारसे जीवके साथ एकसात हुए पुद्गलके विपाक (फल देने की शक्ति) और विपाककालकी अपेक्षासे चार[2] अवस्थाएं होती हैं। उनमें एक विशेष प्रकारकी सामर्थ्य आती है जो जीवके किसी विशेष गुणको घटाती बढ़ाती है इसे 'प्रकृति' कहते हैं। जैसी प्रकृति होती है उसी प्रकारके परमाणु बंधते हैं इसे 'प्रदेश' कहते हैं। यह दोनों तुरन्त या अन्तरालके बाद फल देते हैं इसकी संज्ञा 'स्थिति' है। तथा जैसा और जितना फल देते हैं उसको 'अनुभाग' कहा है।

कर्म प्रकृति—जीवमें अनन्त शक्तियां हैं फलतः उनको आवृत करने वाली कार्माण वर्गणाएं भी वास्तवमें अनन्त हैं। तथापि जीवकी मुख्य चेतनाओं (अनुभव शक्ति) का वर्गीकरण किया जा सकता है इसलिए स्थूल रूपसे कर्म-प्रकृतिको १—ज्ञानावरण (जो ज्ञानको आवृत करे), २—दर्शनावरण, ३—वेदनीय (अनुभव करानेवाला), ४—मोहनीय (मोह=जीवको अभिभूत करनेवाली शक्ति), ५—आयु, ६—नाम (शरीर निर्मापक), ७—गोत्र (उच्च-नीच कुल) और ८—अन्तराय (बाधक) इन आठ भेदोंमें विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त इन आठ मूल कर्म-प्रकृतियोंके प्रधान उपभेद भी दिये हैं :—

ज्ञानावरण—पांच प्रकारका है : १—मति ज्ञानावरण (जो इन्द्रियों=स्पर्शन, आदि पांच तथा अनिन्द्रिय=मनकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानको रोके), २—श्रुत ज्ञानावरण (शास्त्रज्ञानका रोधक),३—अवधि ज्ञानावरण (निश्चित अवधिके भीतर अन्तरित तथा दूर स्थूल पदार्थोंके ज्ञानका स्थूल रोधक) ४—मनःपर्यय ज्ञानावरण (अन्तरित तथा दूर दूसरेके मनके स्थूल ज्ञान का बाधक) तथा ५—केवल (परिपूर्ण) ज्ञानावरण।

१—समान जातीय पुद्गलोंके समूहका नाम वर्गणा है। विशे० भा० गा० ६३६–३८।

२—मोक्ष शा० ८–३।

दर्शनावरण—१—चक्षुदर्शनावरण, २—अचक्षु दर्शनावरण, ३—अवधि दर्शनावरण, ४—केवल दर्शनावरण, ५—निद्रा, ६—निद्रानिद्रा (प्रगाढ़ निद्रा), ७—प्रचला (शोक, श्रम मद=नशा, आदिके कारण हाथ, पैर, आंख आदिका विकृत होना), ८—प्रचलाप्रचला (प्रचलाका बार बार होना) तथा ९—स्त्यान-गृद्धि (स्वप्नमें दौड़ना, काम करना) ये नव प्रधान भेद हैं।

वेदनीय—१—सातावेदनीय (सुखका अनुभव कराने वाला), २—असातावेदनीय (दुःखानुभवका कारण)

मोहनीय—इसके दर्शन और चरित्र मोहनीय दो प्रधान भेद हैं। दर्शन मोहनीयके १—मिथ्यात्व (तत्त्व श्रद्धान पराङ्मुखता, हित अहित विचार असमर्थता) २—सम्यक्त्व (तत्त्व श्रद्धा) तथा ३—सम्यक्-मिथ्यात्व (अश्रद्धा-श्रद्धा मिले हुए) ये तीन उपभेद हैं। चारित्र मोहनीयके नोकषाय[1]-कषायवेदनीय दो उपभेद हैं। प्रथमके १—हास्य, २—रति (विषय भोगकी इच्छा), ३—अरति, ४—शोक, ५—भय ६—जुगुप्सा (अपने दोषोंका छिपाना, दूसरेके दोषोंका प्रकट करना), ७—स्त्रीवेद[2], ८—पुंवेद तथा ९—नपुंसकवेद ये नव भेद हैं। कषाय वेदनीयके अनन्तानुबन्धि, (पत्थरकी लकीरके समान भव, भव-चलनेवाला) अप्रत्याख्यानावरण (आंशिक त्यागके विरोधी ; कीचड़में पड़ी लकीरके समान), प्रत्याख्यानावरण (पूर्ण त्याग विरोधी धूलकी लकीर तुल्य) तथा संज्वलन (पानीमें लकीरके समान अति-अल्पकाल स्थायी) क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे सोलह प्रभेद हैं। इस मोह कर्मको कर्मोंका राजा कहा है क्योंकि यही वह स्नेह है जिसपर कर्म रूपी धूल चिपकती है।

आयु—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आयुके भेदसे चार प्रकारका है।

नाम—चारगति, पांच जाति (पृथ्वी, वृक्ष आदि एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय कृमि, त्रीन्द्रिय चींटी, चतुरिन्द्रिय भ्रमर तथा मनुष्यादि पंचेन्द्रिय), पांच (औदारिक=स्थूल, वैक्रियिक=अतिशययुक्त, आहारक=ऋद्धिजन्य, तैजस तथा कार्माण=अदृश्य कर्ममय) शरीर, तीन (औदरिक, वैक्रियिक तथा आहारक) आंगोपाङ्ग, दो (स्थान और प्रमाण) निर्माण, बन्धन (शारीरिक भागोंका एक दूसरेमें प्रवेश), संघात

१—कषाय बड़ पीपल आदिके दूधका नाम है। यह अत्यधिक चिपचिपा होता है इसपर धूल वगैरह सरलतासे चिपकती है। इसी प्रकार जीवके राग-द्वेष भी कर्मरजको उससे सम्बद्ध करते हैं अतः मोहकी विविध दशाओंको 'कषाय' कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि अ० ६ सू० ४ पृ० १८४, आदि।

२—वेद लिंगका पर्यायवाची है। मो० शा० अ० २ सू० ६।

(शारीरिक धातुओंका सर्वथा एकरूप होना), छ संस्थान=आकार (समचतुरस्र=आनुपातिक,न्यग्रोध-परिमण्डल=ऊपर भारी नीचे पतला, स्वाति=नीचे भारी ऊपर संकुचित, कुब्जक=कुबड़ा, वामन=बौना तथा हुण्डक=अष्टावक्र ऐसी काया), छ संहनन=अस्थिनिर्मापक यथाः—वज्रवृषभनाराच; वज्रकी हड्डी, कीले और बन्धन, वज्रनाराज; वज्रकी कीले तथा बन्धन, नाराच; कीले युक्त अर्द्ध नाराच युक्त आधीकीलों युक्त, कीलित; हड्डियोंमें फंसी हड्डियां तथा असम्प्राप्तासृपाटिका; नसोंसे लपेटी हड्डियां यथा हमारे शरीर, आठ स्पर्श (कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत तथा उष्ण), पांच रस (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल तथा मधुर), दो गन्ध, पांच वर्ण (=रंग—शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त, हरित), चार आनूपूर्वी (जिसके कारण मरनेपर भी पूर्व शरीरका आकार अगले जन्म तक रहता है), अ-गुरु-लघु, उपघात (आत्म घातक नख, आदि), परघात (दूसरेके घातक अंग), आतप (सूर्य ऐसा शरीर), उद्योत (चन्द्रमा सा शरीर), उच्छ्वास, दो विहायोगति (चलनेमें समर्थ शरीर), प्रत्येक शरीर (एक शरीर एक जीव), साधारण शरीर (एक शरीर अनेक जीव), त्रस (चलनेवाला), स्थावर (पृथ्वी—अप्—तेज—वायु—वनस्पति) सुभग (सबको प्यारा शरीर), दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ (सुन्दर), अशुभ, सूक्ष्म, बादर (स्थूल), छ पर्याप्ति (=पूर्णता—आहार, शरीर, इन्द्रिय, प्राण-अपान (श्वासोच्छ्वास) भाषा तथा मन, अपर्याप्ति, स्थिर, आदेय (चमकीला), अनादेय, यशःकीर्ति (का कारण शरीर), अयशःकीर्ति तथा तीर्थंकर (धर्म प्रचारक तथा संसार हितैषी) ये सब शरीर-निर्माता नामकर्मके प्रधान भेद हैं।

गोत्र—उच्च और नीचके भेदसे दो प्रकारका है।

अन्तराय—दान, लाभ, भोग (एक बार भोगने योग्य भोजनादि), उपभोग (वस्त्र, आदि) वीर्य (शक्ति उत्साह) के भेदसे पांच प्रकारका है।

कर्म-प्रदेश—

जिस प्रकार एक ही भोजनसे शरीरकी विविध धातुएं बन जाती हैं उसी प्रकार प्रत्येक जीव-कर्म अपने योग्य पुद्गल परमाणुओंको बांधता है और इस पौद्गलिक आवरणसे जीवकी ज्ञानादि शक्तियोंको आवृत करता है। इस प्रक्रियाको ही प्रदेश बन्ध कहते हैं। प्रत्येक कर्मके कब कितने प्रदेश बांधते हैं इसका भी विस्तार है।

कर्म-स्थिति—

बंधे हुए प्रत्येक कर्मकी स्थिति पड़ती है अर्थात् उतने समय तक वह कर्म अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। साधारणतया ज्ञान, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकी उत्कृष्ट स्थिति तीस; मोहनीयकी

सत्तर, नाम गोत्रकी बीस कोटीकोटि सागर[1] और आयु कर्मकी तेतीस सागर है। वेदनीय कर्मकी बारह मुहूर्त्त नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त्त तथा शेष पांचोंकी अन्तर्मुहूर्त्त[2] जघन्य स्थिति है।

कर्म-विपाक—

पूर्वोक्त कर्म-प्रकृतियोंके शुभ-अशुभ, तीव्र-मन्द रूपके कारण जीवको उनका नाना प्रकारसे फल भोगना पड़ता है इसे ही विपाक कहते हैं। अशुभ कर्मोंका विपाक इस जीवको नरक ले जाता है जहां यह असह्य आर अकल्पनीय यातनाओंको सहता है। शुभ कर्मोंके विपाकको उत्तम मनुष्य या देव होकर भोगता है। प्रत्येक कर्मका फल उसके नामके अनुसार होता है।[3]

कर्म-हेतु—

साधारणतया मिथ्यादर्शन (जीव, आदि सात तत्त्वोंपर श्रद्धा न होना), अविरति (हिंसा, आदि अशुभ कर्मोंके त्यागका अभाव), प्रमाद क्रोधादि कषाएं और (काय, वचन, मनके) योग ही बन्धके कारण हैं। विशेष रूपसेः—प्रदोष (मन ही मन कुढ़ना), निह्नव (ज्ञानका छिपाना), मात्सर्य (सिखाने योग्य विद्याको भी न सिखाना), अन्तराय (पढ़ना लिखना छुड़ा देना) आसादन (शरीर या वचनसे दूसरेको भी ज्ञान दानसे रोकना) तथा उपघात (शुद्ध ज्ञानमें भी दोष निकालना) के कारण ज्ञान-दर्शनावरण कर्म बंधते हैं। दुःख, शोक, ताप (अनुताप), आक्रन्दन, वध, परिदेवन (विलाप) स्वयं करना या दूसरेको ऐसी स्थितिमें लाना असातावेदनीयके बन्धका हेतु होता है। सर्वभूत (प्राणी) तथा व्रतियों पर अनुकम्पा, दान, सराग (राग सहित) संयम, योग (समाधि), क्षान्ति (क्रोधका अभाव) शौच (निर्लोभिता), गुणियों, शुद्धात्माओं आदिकी पूजा, आदि सातावेदनीयके कारण होते हैं। केवली (पूर्ण ज्ञानको प्राप्त मोहजेता), श्रुत (केवलीसे उपदिष्ट शास्त्र), संघ (रत्नत्रय सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित युक्त साधु-साध्वी), धर्म (अहिंसा, सत्य, आदि प्रधान) तथा देवों (स्वर्गवासी जीवों) का अवर्णवाद (ऐसे दोषोंको बताना जो उनके पास भी नहीं फटकते) दर्शनमोहका कारण होता है। क्रोध, आदि कषायोंके फलोन्मुख होने पर तीव्र, राग, द्वेष, हिंसा, आदिके कारण चारित्रमोहका आस्रव होता है। अधिक आरम्भ (दूसरोंको पीड़ाजनक व्यापार) परिग्रह रखनेसे नरक-आयु बंधती है। छल, कपट, मायाके कारण तिर्यञ्च-गति मिलती है। आवश्यक या न्यूनतम आरम्भ-परिग्रह तथा मृदु स्वभाव मनुष्यगतिके हेतु हैं। मनुष्य

१—जैन गणितके 'उपमा-प्रमाणका' एक भेद सागर है। इसमें असंख्य वर्ष होते हैं।

२—एक मुहूर्त्तसे कमकी संज्ञा अन्तर्मुहूर्त्त है।

३—मोक्षशा. अष्टम अध्याय तथा ८-१।

आयुके कारण होने पर सप्तशील[1] तथा पांच व्रतों[2]का अभाव रहने पर भी सब सद्गतियां प्राप्त होती हैं। सरागसंयम, संयम-असंयम, विना संकल्प या भावनाके तप त्याग करना (अकाम निर्जरा) तथा बाल तप (केवल शारीरिक क्लेश सहना; पंचाग्नि तप, आदि) देवत्वके हेतु हैं। सम्यकदर्शन प्रशस्त देवगतिका कारण होता है। योगवक्रता (मन-वचन-कायकी कुटिलता), विसंवादन (अमार्ग या कुमार्ग पर चलाना), अशुभ नाम कर्मको बांधते हैं। सरल योग और दूसरोंको न्याय मार्ग पर लगाना शुभ नामकर्मके कारण हैं। दर्शन विशुद्धि (सम्यक् दर्शनमें रुचि), विनय सम्पन्नता (परमेष्ठी आदिमें उचित आदर बुद्धि), शीलव्रतेष्वनतिचार[3] (शील-व्रतोंका निर्दोष पालन), अभीक्ष्ण (सतत) ज्ञानोपयोग, संवेग (संसारके दुःखोंसे भय), यथाशक्ति त्याग (दान), यथाशक्ति तप, साधुसमाधि, वैयावृत्ति (गुणी पर आयी विपत्तिका निवारण), भक्ति, आवश्यकापरिहाणि (देव पूजा आदि षट् कर्मका पालन) प्रभावना (धर्म प्रचार), तथा प्रवचन वात्सल्य (धर्म, धर्मशास्त्र और धार्मिकोंपर अकारण गाढ़ स्नेह) ये सोलह तीर्थंकर पदके कारण हैं। पर निन्दा, आत्मप्रशंसा, पर-सद्गुण-छादन (छिपाना) पर-असद्गुणोद्भावन (प्रकट करना), आदि नीचगोत्रके कारण हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म निन्दा, पर-सद्गुण-उद्भावन, पर-असद्गुण छादन, नीचैर्वृत्ति (विनय शीलता) तथा अनुत्सेक (निरहंकारिता) उच्चगोत्रके कारण हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग, आदिमें बाधा देनेसे अन्तराय कर्म बंधता है।

ये कर्म-हेतु अधिकरणकी अपेक्षासे गाढ़, गाढ़तर और गाढ़तम होते हैं। कृत (स्वयं करनेसे), कारित (दूसरेके द्वारा करानेसे) तथा अनुमोदना (मनसे अच्छा समझना) करने पर भी जीव कर्म बन्ध तथा विपाकसे नहीं बचता है। प्रत्येक अवस्थामें जीवको कर्म फल भोगना ही पड़ेगा। यह सत्य नहीं कि दूसरेके द्वारा कराने पर जीवको पाप-पुण्य नहीं बंधता। अग्निका दृष्टांत (आभिधम्म पि०) जैन कर्मवादको अन्यथा समझना है, क्योंकि साक्षात् स्पर्श न करनेसे करवानेवाला जलता नहीं है किन्तु कर्म तो प्रत्येक दशामें बंधता ही है[4]।

१—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण तथा अतिथिसंविभाग ये सात शील हैं। मो. शा. ७-२१

२—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पांच व्रत हैं। मो-शा. ७-१

३—व्रतभंगकी इच्छा या पापके आंशिक आचरणको अतिचार कहा है। सा. श्लो ८ मो. शा. ७-२३

४—मोक्षशास्त्र ६–८।

घातिया-अघातिया—

आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म 'घातिया' अर्थात् जीवके ज्ञान, दर्शनादि गुणोंका घात=विनाश करते हैं। घातिया कर्म भी दो प्रकारके हैं एक देशघातिया (जीवके गुणोंके आंशिक विनाशक) यथा—मति-श्रुत-अवधि-मनः पर्यय ज्ञानावरण, चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शनावरण, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्मिथ्यात्व-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद, दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य अन्तराय ये २६ कर्म-प्रकृतियां आत्मा (जीव) के गुणोंको आंशिक रूपसे आवृत करती हैं। उदाहरणके लिए मतिज्ञानावरण अपने प्रकारके ज्ञानका ही रोध करता है अतः अज्ञान आंशिक होता है। दूसरा सर्वघाती अर्थात् जो जीवके गुणोंको सर्वथा आवृत करता है, यथा—केवल ज्ञानावरण, निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धि-केवलदर्शनावरण, अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान, क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय, ये २१ प्रकृतियां सर्वघाती हैं। इनके उदयमें आनेपर आत्माके तत्तद्गुणोंका पूर्ण प्रास होता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारों कर्म 'अघातिया' हैं अर्थात् जीवके किसी भी गुणका घात नहीं करते हैं[1]।

शुभ-अशुभ—

साधारणतया देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय आदिको शुभकर्म कहा है। तथा हिंसा, असत्य, चोरी, आदिको अशुभकर्म कहा है। किंतु इतना ही इस विभाजनके लिए पर्याप्त नहीं है, "यदि दूसरेको दुख देनेसे अशुभ ही होता है तो अजीव कांटे, पत्थर, आदि भी अशुभ कर्म करेंगे। यदि दूसरेको सुख देनेसे शुभ ही होता है तो वीतराग तीर्थंकर भी शुभ कर्म बांधेगे। यदि अपनेको दुख देनेसे शुभ ही कर्म होता है तथा सुख देनेसे अशुभ ही कर्म होता है तो वीतराग, विद्वान मुनि भी शुभ अशुभ कर्म बांधेगा ही? अपने या दूसरेमें होने वाले सुख या दुख यदि आत्मविशुद्धिके कारण हैं तो वे शुभ कर्म होंगे, यदि वे आत्माके परिणामोंको संक्लिष्ट करते हैं तो अशुभ कर्म होंगे। (आप्तमीमांसा का० ९२,९३,९४,९५)" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सांसारिक दृष्टिसे अशुभकर्म भी शुभ होता है यथा माता पिताकी भर्त्सना, भिषग्की शल्यक्रिया, अन्नपान निरोध। शुभकर्म भी अशुभ होता है यथा वञ्चककी मिष्टभाषिता, स्वार्थीकी विनम्रता, आदि। इस विषयका विवेचन करते हुए प्रधान कर्म प्रकृतियोंका विभाजन इसप्रकार है:—

घातिया कर्मोंकी मुख्य ४७ ही प्रकृतियां अशुभ हैं क्योंकि उनका अनुभाग (विपाक) सदा ही जीवके लिये अकल्याणकारी होता है। इसके कारण जीव उत्तरोत्तर बन्धको ही प्राप्त करता है। अघातिया

१—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ९-११।

कर्मप्रकृतियोंमें भी प्रथमके अतिरिक्त पांच संस्थान तथा संहनन, अप्रशस्त विहायोगति-तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रियादि चार जाति, नरकत्रिक (नरकगति,-आनुपूर्वी-आयु), स्थावर, दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति) तथा वर्ण चतुष्क (८ स्पर्श ५ रस, ५ रूप तथा २ गन्ध) भी अशुभ कर्म हैं। देवत्रिक (देवगति-आनुपूर्वी-आयु), नरत्रिक, उच्चगोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पांच शरीर, तीन आंगोपांग, वज्रऋषभ-नाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, परघात सप्तक (परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण) तिर्यगायु, वर्णचतुष्क, पंचेन्द्रियजाति, प्रशस्तविहायोगति ये ४२ शुभ कर्म प्रकृतियां हैं[१]।

कर्म-करण (अवस्था)—

जीवकी ओर आकृष्ट होनेपर पुद्गल परमाणुओंको आरम्भसे लेकर अन्त तक दश मुख्य अवस्थाओंका अतिक्रमण करना पड़ता है। बन्ध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दश करण (अवस्थाएं) हैं।

बन्ध—कर्म परमाणुओंका आत्मासे सम्बद्ध होना ही बन्ध है। इसके प्रकृति-प्रदेश-स्थिति और अनुभाग चार भेद हैं। किस कर्मकी कितनी स्थिति पड़ती है, कैसे पड़ती है इन सबका अत्यन्त विशद तथा विस्तृत वर्णन है। यथा देवगतिमें व्यंतरोंकी न्यूनतम आयु दश सहस्र वर्ष है। यह आगे बढ़ते बढ़ते सर्वोत्तम व्यन्तरों=में एक पल्य[२] हो जाती है, इत्यादि। अनुभागकी अपेक्षा भी बड़ा सूक्ष्म विचार किया है। कुछ कर्म जीवमें अपना विपाक देते हैं, कुछ शरीरमें और अन्य दोनोंमें। ऐसे भी कर्म हैं जिनका फल भव (जन्म) विशेषमें मिलता है तथा ऐसी भी कर्म प्रकृतियां हैं जो अपना विपाक देनेके लिए क्षेत्र विशेषकी अपेक्षा करती हैं। इस प्रकार १—जीव विपाकी, २—पुद्गल विपाकी, ३—भव विपाकी तथा ४—क्षेत्र विपाकी ये चार मुख्य भेद फलकी अपेक्षासे हैं।

उद्वर्तना—आरम्भमें पड़ी स्थिति (आयु) और अनुभाग (विपाकदान शक्ति) की मर्यादा और मात्रा को बढ़ानेकी प्रक्रियाकी उत्कर्षण (उद्वर्तना) संज्ञा है। कितनी ही कर्म प्रकृतियां जीवके पुरुषार्थके कारण अपनी आयु और अनुभाग को बढ़ाकर देती हैं।

१—मोक्षशास्त्र ८-२५-२६, गो. कर्मकांड गा० ४१-४४, पञ्चम कर्म ग्रन्थ १५-१७।

२—उपमा प्रमाण है इसमें असंख्यात वर्ष होते हैं।

अपवर्तना—उद्वर्तनाका प्रतीप अपकर्षण है अर्थात् कर्मकी स्थिति और अनुभागको घटाना। यथा श्रेणिक राजाकी नरक-आयुका वृत्तान्त। अशुभ कर्म बांधकर भी यदि जीव शुभ कर्म करता है तो उसके अशुभ बन्धकी अपवर्तना होती है तथा अशुभतर कर्मोंमें ही लीन रहता है तो उसके अशुभ बन्ध की उद्वर्तना होती है।

सत्ता—कर्म बंधते ही फल नहीं देता। बहुधा कुछ अन्तराल देकर ही वह फल प्रसूति करता है इस प्रक्रिया की ही 'सत्ता' संज्ञा है। आगममें सत्ताको आवाधा-अवाधाकाल भी कहा है, क्योंकि उतने समय तक कर्म बाधा नहीं देता। अवाधा कालका प्रमाण कर्मकी स्थितिपर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ किसी कर्मकी स्थिति एक कोटीकोटी सागर होने पर सौ वर्ष अवाधाकाल होता है। आयु कर्मकी आवाधा विशिष्ट है।

उदय—विपाक अथवा फल देनेकी अवस्था की 'उदय' संज्ञा है। यह दो प्रकार है :–एक विपाकोदय अर्थात् अपना फल देकर ही जीर्ण होना यथा सधवा युवतीका स्त्रीवेद। द्वितीय प्रदेशोदय अर्थात् उदय होकर भी विना फल दिये जीर्ण होना यथा विधवा युवतीका स्त्रीवेद। उदय नियत कालमें ही होता है।

उदीरणा—अनियत कालमें फल देना उदीरणा है। तप और त्यागके द्वारा कर्म प्रकृतिका अपवर्तन करके निश्चित समयसे पहिले विपाक प्राप्ति ही उदीरणा है। यही कारण है कि धर्मात्मा बाहुल्यसे दुखी देखे जाते है। कारण वे अपने अशुभ कर्मोंकी उदीरण करते हैं। तथा पातकी कुछ समय फलते फूलते दिखते हैं। क्योकि वे अपनी अशुभ कर्म प्रकृतियोंका उद्वर्तन करते हैं।

संक्रमण—एक कर्म-उपप्रकृतिका सजातीय दूसरी प्रकृति रूप हो जाना संक्रमण है। यथा सातावेदनीय असातावेदनीय हो जाता है। मूल प्रकृतियोंमें संक्रमण नहीं होता; यथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मकी उप प्रकृतियोंमें भी संक्रमण नहीं होता।

उपशम—कर्म प्रकृति को उदय (उदीरणा, निधत्ति और निकाचना) के अयोग्य कर देना ही उपशम है। इस अवस्थामें बद्ध कर्म सत्तामें रहता है। उदय नहीं होता है।

निधत्ति—कर्म पुद्गलको केवल संक्रमण और उदयके अयोग्य कर देना निधत्ति है।

निकाचना—उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण तथा उदय करणोंके अयोग्य कर देना निकाचना है। यहां कर्म सत्तामें रहता है। तथा अपना फल अवश्य देता है[1]।

१—गोम्मटसार कर्म काण्ड गा. ४३७–४४०।

शुभकर्म भी बन्धके कारण हैं—

यद्यपि शुभकर्मोंका फल साता रूप होता है तथापि वहभी जीवको बांधता ही है। व्रत-शीलोंके पालनसे केवल उपयोग (झुकाव) बदलता है। अशुभ उपयोग रुक जाता है शुभ उपयोग हो जाता है जो धन-धान्यादि तथा स्वर्गका कारण होता है। जीवका संसार तदवस्थ रहता है। अतएव व्रत, शील, आदि रूप संयम केवल आत्माकी पापमय प्रवृत्तिको रोकता है[1]।

संवर—

कर्मोंके आस्रवका रोक देना संवर है। अर्थात् पूर्व बद्ध कर्म रहते हुए भी जीव नूतन कर्म वर्गणाओंका आना रोक देता है। यह और निर्जरा तपसे होते हैं। इसका प्रथम अंग काय-वचन-मनके योगको रोकना है। इसे गुप्ति कहते हैं। ये गुप्तियां तीन हैं। इसका दूसरा अंग 'समिति' अर्थात् सावधानीसे आचरण करना है। सावधानीसे चलना 'ईर्या' समिति है, समझ बूझकर बोलना भाषा समिति है, देखकर उठाना रखना 'आदान निक्षेप' समिति है, देखकर उचित स्थान पर मूत्र-शौच करना उत्सर्ग समिति है, शुद्ध अपरिहार्य भिक्षा भोजन एषणा समिति है। क्षमा, मार्दव (मानसिक कोमलता , आर्जव (सरलता), शौच (निर्लोभिता), सत्य, संयम, तप, त्याग (दान), आकिञ्चन्य (शरीरादिकमें भी 'ममेदं' संकल्प का त्याग) तथा ब्रह्मचर्य ये दश धर्म भी संवरके कारण है। बारह भावना, बाइस परीषह, अनशन, आदि बाह्य तथा प्रायश्चित्तादि अभ्यन्तर तप, ध्यानादिसे संवर होता है। अन्तमें सब पूर्वबद्ध कर्मोंको भी जीर्ण करना निर्जरा है। तथा सब कर्मोंकी निर्जराका अविलम्ब परिणाम मोक्ष है[2]।

कर्ता-भोक्ता—

"यह संसारी जीव उपयोग मय है, अमूर्ति है, अपने आपका कर्ता है, स्वशरीर व्यापी है तथा अपने समस्त कर्मोंका भोक्ता है (द्रव्यसंग्रह गा. ३)।' "आत्मा अपने परिणामोंका ही कर्ता है, परिणामोंसे पुद्गल कर्म रूप होते है, द्रव्य कर्म अपना फल देते हैं, फलरूप द्रव्य कर्म जीवमें राग द्वेषादि रूप भाव कर्म उत्पन्न करते हैं और यह जीव ही उनका फल भरता है (समय प्राभृत)।" जीव ही कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। स्वयं प्रयत्न किये बिना पर पुरुषार्थसे जीवका लाभ नहीं हो सकता। स्वयं प्रयत्नशील होने पर परप्रयत्न केवल निमित्त हो सकता है।

१—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ पूर्ण।

२—मोक्षशास्त्र नवम् अध्याय।

कर्म–दैवपुरुषार्थ—

यदि कर्म ही सब कुछ है तो कितने ही फल बिना पुरुषार्थके क्यों होते हैं ? यतः जीव अनादि है, कर्मोंमें अबाधा पड़ती है, अतः वह कर्म जो अभी नहीं किये हैं पूर्व भवोंमें किये थे, वे दैव हैं। जहां फलके लिए बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न किये बिना ही इष्ट-अनिष्ट हो उसे दैव (पूर्वकर्म) कृत मानना चाहिए। जहां बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न करके फल प्राप्ति हो उसे पुरुषार्थ (कर्म) कृत मानना चाहिए[1]। कर्मके ही कालकृत दो नाम दैव-पुरुषार्थ है।

कर्म–साहित्य—

तीर्थकरके उपदेशको बारह अंगों (भागों) में विभाजित किया गया था। इनमेंसे एक विभाग 'कर्म-प्रवाद' ही था। इसके अतिरिक्त द्वितीय पूर्व (बारहवें अंग 'दृष्टिवाद'के भेद) का एक विभाग 'कर्म-प्राभृत' ही है। पञ्चम पूर्वका 'कषाय प्राभृत' भाग भी कर्म-वर्णन करता है। इसके बाद भी प्राकृत संस्कृत तथा देशी भाषाओंमें इतना अधिक लिखा गया है कि जैन वाङ्मयके द्रव्यानुयोग भागका बहुभाग कर्म-साहित्य ही है। कुल मिलाकर बीस मूल ग्रन्थ हैं और आर्ष तथा देशी भाषाओंमें इनकी सैकड़ों टीकाएं तथा भाष्य हैं[2]।

कर्मकी महत्ता—

इस विपुल साहित्यको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक लौकिक परिणमन किसी न किसी आत्म-कर्मका परिणाम है। संसारकी कोई भी घटना किसी निरंकुश महाशक्तिकी क्रीड़ा नहीं है। ऐसा लगता है कि कर्मवाद आधिभौतिक परतन्त्रताके पूर्ववर्ती मानसिक परतन्त्रताका रोधक है। क्योंकि ईश्वरको जगन्नियन्ता मानकर ही मनुष्यने उसके अंश रूप मनुष्यको अपना ऐहिक नियन्ता माना। मनुष्य मनुष्य-कृत बन्धनों और अत्याचारोंको ईश्वरेच्छा मानकर उनके सामने नतमस्तक हुआ और आजकी दुर्दशाको प्राप्त हुआ। इस कर्मवादको जानकर ही व्यक्ति आत्मक्षमता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वासको पा सकता है, जिनके बिना परिष्कृत तथा परिपूर्ण जनतंत्र (भोगभूमि) असंभव है।

१—देवागमनस्तोत्र कारिका ९१ तथा आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री भाष्य।

२—षट् खण्डागम (महाकर्म प्रकृति प्राभृत) तथा इसकी ६ प्रधान टीकाएं, कषाय प्राभृत तथा ६ प्रधान टीकाएं, गोम्मटसार कर्मकांड तथा चार टीकाएं, लब्धिसार, क्षपणसार पञ्चसंग्रह, कर्मप्रकृति (चार टीका) प्राचीन छ कर्मग्रन्थ, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति, शतक, सप्ततिका, सार्द्धशतक, मनस्थितिकरण प्रकरण, आदि।

काशी विद्यापीठके पचीस वर्ष

काशी विद्यापीठकी स्थापना गुरुवार सौर २८ माघ संवत् १९७७ को बसन्त पञ्चमीके दिन (१० फरवरी १९२१) महात्मा गांधीके पवित्र हाथोंसे हुई। उस समय देशका वातावरण बड़ा क्षुब्ध था। चारों तरफ उथल-पुथल मची हुई थी। देशके वक्षस्थलपर जलियानवाला हत्याकाण्डका घाव हरा था। सितम्बर १९२० में कलकत्तेके कांग्रेसके विशेष अधिवेशनमें विदेशी हुकूमतसे असहयोगका प्रस्ताव पास हो चुका था और नागपुरके कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनमें उसकी पुष्टि भी हो चुकी थी। सरकारी तथा अर्धसरकारी विद्यालयोंसे कांग्रेसकी पुकार पर विद्यार्थी अपना अध्ययन छोड़ रहे थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे भी विद्यार्थियोंके एक समूहने आचार्य कृपालानीजीके नेतृत्वमें असहयोग करके श्री गांधी आश्रम नामकी संस्था स्थापित की। बहुतसे विद्यार्थी तो अपना अध्ययन छोड़कर स्वतन्त्रताकी लड़ाईके सैनिक बनकर काममें लग जाना चाहते थे पर कितनोंके मनमें अपनी अधूरी पढ़ाईको पूरी कर लेनेकी लालसा थी। पर देशमें उनके उपयुक्त कोई ऐसा राष्ट्रीय विद्यालय नहीं था जहांपर वे अपना अध्ययन जारी रख सकते। ऐसे समयमें एक राष्ट्रीय विद्यापीठकी नितान्त आवश्यकता थी।

इधर श्रद्धेय श्री डाक्टर भगवान्दासजी तथा स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद गुप्तजीके मनमें हिन्दू विश्वविद्यालयसे भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन शिक्षा प्रणालीके पुनरुद्धार तथा उन्नतिके सम्बन्धमें जो आशा थी उसकी पूर्ति नहीं हो रही थी। कुछ दिनोंसे इन महानुभावोंके मनमें यह विचार उठ रहा था कि एक ऐसी शिक्षा संस्थाकी स्थापना होनी चाहिये जो सरकारी नियन्त्रणसे पूर्णतः स्वतन्त्र हो, जो आर्थिक सहायता आदिके कारण शिक्षा विभागके नियमोंसे बँधी न हो, जिसमें सब प्रकारकी ऊँचीसे ऊँची शिक्षा मातृभाषाके द्वारा देनेका प्रयत्न किया जाय और जिसमें मस्तिष्ककी शिक्षाके साथ-साथ हाथकी भी शिक्षा दी जाय तथा ज्ञान सम्पादनके साथ-साथ सद्भाव तथा सच्चरित्रता तथा कुछ-न-कुछ शिल्प कलाकी भी शिक्षा हो, जिससे भारतीय संस्कृतिकी उन्नति हो, जो भारतवर्षकी अवस्था और आवश्यकताओंके अनुकूल तथा देशके लिये उपयोगी हो, और जिसमें शिक्षा प्राप्त करनेके उपरान्त स्तनातकोंको अपनी जीविकाके उपार्जन करनेमें सरकारी नौकरीपर निर्भर न करना पड़े। इस विचारकी पूर्तिके निमित्त ये लोग एक राष्ट्रीय

शिक्षा संस्था स्थापित करनेके उद्योगमें लगे हुए थे। इसी बीचमें जनवरी सन् १९२१ में महात्मा गांधीजीने डाक्टर भगवान्दासजीको यह पत्र लिखा—

"भाई भगवान्दासजी, मुझे विश्वास है कि अब हमारे काशीजीमें एक महाविद्यालय शीघ्र खोलना चाहिये। मैं कहूंगा कि इस समय शिक्षाकी पद्धति प्रधान विषय नहीं है परन्तु असहयोग प्रधान विषय है। हम असहयोग करते हैं क्योंकि सरकार रावण राज है। सरकारी विद्यालयोंमें शिक्षण अच्छा नहीं है यह एक दूसरा सबब त्यागका हो सकता है। इस कारण मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि आप शिक्षाके विषयके विचारमें विद्यालयकी हस्तीको न रोकें। ज्यादा भाई शिवप्रसादजी आपसे कहेंगे। आपका—
मोहनदास गांधी"

इसपर यह निश्चय किया गया कि अब अपने विचारको कार्यान्वित करनेका समय आ गया है। विलम्ब करना उचित नहीं है। इसी विचारके अनुसार २८ माघ १९७७ (माघ शुक्ल ५) का शुभ दिन इस कार्यके लिये निश्चित किया गया और महात्मा गांधीसे प्रार्थना की गयी कि वे अपने पवित्र हाथोंसे इसका आरम्भ करें। गांधीजीने हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर ली और स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वर्गीय मौलाना मोहम्मदअली, स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज, श्री मौलाना अबुल कलाम आजाद, श्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू प्रभृति नेताओंके साथ काशीमें पधारकर उक्त तिथिको ८ बजे प्रातःकाल काशीके विद्यानुरागियों तथा कई सहस्र देशप्रेमी नरनारियोंके सम्मुख पवित्र वेद मन्त्रों तथा कुरानकी आयतोंके उच्चारणके सहित उन्होंने काशी विद्यापीठका प्रारम्भ किया।

उसी दिन काशी विद्यापीठके निरीक्षकोंकी एक सभा करके यह निश्चय किया गया कि काशी विद्यापीठका शिक्षा प्रबन्ध आदि सरकारके अधीन किसी प्रकार न रहेगा और यहां हिन्दुस्तानी भाषा और देवनागरी लिपिके द्वारा शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जायगा। इस विचारसे कि शिक्षासंस्थाके लिए एकाग्रताकी अधिक आवश्यकता है जो राजनीतिक क्षेत्रमें सम्भव नहीं है, विद्यापीठके अधिकतर सञ्चालकोंके प्रचलित असहयोग आन्दोलनमें सम्मिलित रहते हुए और देशोद्धारके उपायोंके साथ विद्यापीठकी पूर्णतया सहानुभूति रहते हुए भी यह संस्था कांग्रेसके अधीन नहीं रखी गयी, और इसकानैष्ठिक अधिकार एक निरीक्षक सभाके अधीन किया गया। और निरीक्षक सभाने दिन अनुदिनके कार्य निर्वाहके लिये एक प्रबन्ध समिति नियुक्त कर दी।

प्रारम्भमें काशीके भदैनी मोहल्लेमें कई किता मकान किरायेपर लेकर वहींपर कार्यारम्भ किया गया पर दो वर्षके पश्चात् वर्त्तमान स्थानको खरीदकर यहांपर धीरे-धीरे मकान बनने लगा और चकलाबागको

किरायेपर लेकर उसमें पढ़ाई और विद्यार्थियोंके रहनेका प्रबन्ध किया गया और जब इस स्थानपर काम चलाने भरको मकान बन गये तो पूर्णरूपसे विद्यापीठका सब काम यहींपर होने लगा। असहयोग आंदोलन जिस समय तीव्रगतिसे चल रहा था उस समय इस प्रान्तके अधिकतर नगरोंमें राष्ट्रीय पाठशालायें खुल गयीं और वे विद्यापीठसे सम्बद्ध कर ली गयीं और उन पाठशालाओंके विद्यार्थी विद्यापीठकी विशारद परीक्षा (मैट्रिक) देते थे पर धीरे-धीरे असहयोग आन्दोलनके शिथिल पड़नेपर वे सब पाठशालायें टूट गयीं। विद्यापीठमें प्रारम्भमें केवल महाविद्यालय विभाग चलता था। बादको इसके साथ ही एक स्कूल विभाग भी खोला गया।

सं० १९८१ में विद्यापीठका संकल्पपत्र तथा नियमावली आदि तैयार करके इसकी रजिस्टरी करा ली गयी। संकल्पपत्रमें विद्यापीठ निम्नलिखित उद्देश्य दिया गया है :—

"अध्यात्म विद्याकी नींव पर प्रतिष्ठित भारतीय शिष्टताके संस्कार और विकासमें, तथा भारतमें बसी हुई सब जातियोंके भारतीय समाजमें यथास्थान सन्निवेश और भारतमें प्रचलित आचार विचारोंके समुचित समन्वयमें, तथा स्वाधीनता और स्वदेश प्रेमके भावके साथ-साथ लोकसेवा और मानवमात्रकी बन्धुताके भावके सञ्चारमें तथा संसारके प्राचीन और नवीन शास्त्र, शिल्प ज्ञानविज्ञान आदिकी वृद्धि और प्रवाह करनेमें सहायता देना और इस उद्देश्य पूर्तिके लिये निम्नलिखित कार्य करना :—

'ऐसी संस्थाओंका स्थापन करना, कराना, सम्मिलित करना, चलाना, या आवश्यकतानुसार सहायता करना जो किसी प्रकारसे गवर्मेण्टसे सहायता न लेवे और उनके अधीन न हो और जो ऐसे प्रकारसे हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि द्वारा शिक्षा दे जो भारतवर्षकी आवश्यकताओंके अनुकूल और उपयोगी हो।

शिक्षाके सम्बन्धमें नये प्रकारोंकी परख करना; विद्यार्थियों तथा गवेषकोंको भारतवर्षमें अथवा विदेशोंमें अध्ययन अथवा गवेषण करने के लिये वृत्तियां देना; छात्रावास, पुस्तकागार, योग्याशाला, वेधालय, शिल्पागार, कृषिक्षेत्रका स्थापन करना और चलाना। ......आदि"

इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये विद्यापीठमें प्रयत्न होता रहा है।

सं० १९७९ में डा० भगवानदासजीकी अध्यक्षतामें काशीमें विद्यापीठके तत्वावधानके एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन किया गया जिसमें सारे देशके राष्ट्रिय विद्यापीठके २८ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे जिनमें सर्वश्री आचार्य नरेन्द्रदेव, स्व० वि० वि० वैद्य, आचार्य बद्रीनाथ वर्मा आदि प्रमुख थे। १० दिन तक यह शिक्षा सम्मेलन होता रहा और इन विद्वानोंके परिश्रमके फलस्वरूप एक शिक्षा योजना तैयार की गयी और विद्यापीठकी शिक्षा योजना भी इसी योजनाके आधार पर बनायी गयी।

सन् १९३० तक विद्यापीठमें अध्ययन अध्यापनका कार्य बिना विघ्न-बाधाके चलता रहा। सर्वश्री डा० भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश, रामशरण, योगेश्वरभट्टाचार्य, बीरबलसिंह् आदि अध्यापनका कार्य करते रहे। प्रारम्भके एक दो वर्षोंमें आचार्य कृपालानी भी राज-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र पढ़ाया करते थे। विद्यापीठके प्रारम्भके कई वर्षों तक विद्यापीठके सञ्चालनका अधिकतर भार श्री डा० भगवानदासके ऊपर रहा। आप ही विद्यापीठके कुलपति अध्यक्ष तथा आचार्य थे। पर १९२९ में वृद्धावस्थाके कारण शरीरमें कुछ शिथिलता आनेसे विद्यापीठके सञ्चालनका सबभार आचार्य नरेन्द्रदेवजीके योग्य हाथोंमें सौंप कर आप चुनारमें जाकर विश्राम करने लगे। पर समय समय पर परामर्श देते रहते हैं और विद्यापीठके सञ्चालनमें आपसे बराबर प्रेरणा मिलती रहती है।

विद्यापीठमें अंग्रेजी और हिन्दीके साथ साथ इतिहास, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन, भारतीय संस्कृति आदि विषय पढ़ाये जाते रहे हैं। शिक्षा हिन्दी भाषामें होनेके कारण विद्यार्थियों को बड़ी सुगमता होती है और जो विषय विद्यार्थी पढ़ते हैं उनका उन्हें पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। अंग्रेजी भाषाके द्वारा पढ़ाई न होनेसे उनका बोझ विद्यार्थियोंके ऊपर नहीं पड़ता और मातृभाषाके द्वारा विषयको समझनेमें सरलता होती है। इसी कारण हमारे यहांके विद्यार्थियोंको शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण होने पर विषयका ज्ञान अन्य सरकारी विद्यार्थियोंके बी० ए० से कहीं अधिक होता है। और अंग्रेजी भाषाके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें वे उनसे अच्छी तरह मुकाबिला कर सकते हैं।

महाविद्यालय विभाग

विद्यापीठके महाविद्यालय विभागमें विद्यापीठकी विशारद परीक्षा उत्तीर्ण अथवा अन्य सरकारी तथा गैरसरकारी विद्यापीठके विशारद अथवा इसीकी समकक्ष हाई स्कूल या ऐडमीशन आदि परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थी भर्त्ती किये जाते हैं और चार वर्षके अध्ययनके बाद उन्हें शास्त्रीकी उपाधि दी जाती है। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होने पर बहुतसे विद्यार्थी अन्य कालेजोंसे अपना अध्ययन छोड़कर आये। उनके लिये उन्हीं विश्वविद्यालयोंके पाठक्रमके अनुसार उस वर्ष परीक्षाका प्रबन्ध कर दिया गया था और कुछ विद्यार्थी इस प्रकार एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षामें सम्मिलित और उत्तीर्ण हुए। जो विद्यार्थी नियमित रूपसे पढ़ना चाहते थे उनके लिये अध्ययनका प्रबन्ध किया गया। उस समयसे महाविद्यालय विभागमें अध्ययनका कार्य बराबर होता रहा है। बीच बीचमें कांग्रेस द्वारा स्वतन्त्रताका आन्दोलन प्रारम्भ करने पर हमारे अध्ययन कार्यमें बाधा पड़ती रही है। सन् १९३० में जब नमक सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ हमें लगभग एक साल तकके लिये अध्यापन कार्य स्थगित रखना पड़ा क्योंकि अधिकतर विद्यार्थियों और कुछ प्रमुख अध्यापकोंको सत्याग्रह आन्दोलनमें कार्य करना

पड़ा। गांधी-अरविन समझौतेके बाद महाविद्यालय विभाग फिर खुला और कुछ महीनेही नियमित रूपसे काम हो पाया था कि पौष १९८८ (जनवरी १९३२) में महात्मा गांधीके लन्दन गोलमेज सम्मेलनसे लौटते ही देशमें एक बार फिर सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ने पर नियमित रूपसे अध्ययन अध्यापन कार्य असम्भव हो गया और इस विभागके कार्यको स्थगित करना पड़ा। लगभग ढाई वर्ष तक विद्यापीठ बन्द रहा। जुलाई १९३४ में विद्यापीठके ऊपरसे प्रतिबन्ध उठने पर फिर अध्ययन अध्यापनका कार्य प्रारम्भ किया गया और १९४२ तक बिना किसी विशेष विघ्न बाधाके कार्य होता रहा। पर अगस्त १९४२ में फिर आन्दोलन छिड़ने पर हमें गवर्नमेण्टका कोपभाजन होना पड़ा।

१९४२ के प्रारम्भमें एक विशेष उपसमिति बनाकर विद्यापीठके पाठक्रम और व्यवस्थामें सुधारकी योजना बनायी गयी थी और उस नयी योजनाके अनुसार जुलाई १९४२ में कार्य प्रारम्भ किया गया था। पर एक महीना भी कार्य नहीं हो सका था कि गवर्नमेंण्टकी कोपदृष्टि हमारे ऊपर पड़ी और हमें लगभग तीन वर्ष तक फिर अपना कार्य स्थगित रखना पड़ा। हमारे कई अध्यापक तथा अधिकतर विद्यार्थी भी गिरफ्तार कर लिये गये और जुलाई १९४५ में सब अध्यापकोंके छूट जाने पर नियमित रूपसे अध्ययन अध्यायन कार्य फिरसे प्रारम्भ किया जा सका। तबसे बराबर नियमित रूपसे कार्य हो रहा है। इस प्रकार हमें अपने जीवनके गत २६ वर्षोंमें लगभग साढ़े ६ वर्ष तक राजनीतिक कारणोंसे बाध्य होकर अपना कार्य स्थगित रखना पड़ा। महाविद्यालय विभागमें विद्यार्थियोंकी संख्या साधारणतः पचास साठ प्रतिवर्ष रही है। कांग्रेसके सत्याग्रह आन्दोलनके स्थगित होने पर कांग्रेसके कुछ कार्यकर्त्ता और अन्य विद्यार्थी अपना अध्ययन पूरा करने के लिये आते रहे हैं उस समय विद्यार्थियोंकी संख्या बढ़ जाती थी। १९३८ में देशके कई प्रान्तोंमें कांग्रेस सरकार स्थापित हो जाने पर और उनमेंसे संयुक्तप्रान्त, बिहार, बम्बई, मद्रास तथा मध्यप्रान्तकी सरकारों द्वारा हमारी शास्त्री उपाधि बी० ए० के समकक्ष मान लिये जाने पर विद्यार्थियोंकी संख्या बढ़कर ९० तक पहुँच गयी थी। इस समय विद्यार्थियोंकी संख्या लगभग ७० है। अब तक विद्यापीठसे लगभग १२९ विद्यार्थी शास्त्रीकी उपाधि लेकर निकल चुके हैं।

राष्ट्रीय कुमार विद्यालय

जैसा हम ऊपर लिख आये हैं सं० १९७७ में विद्यापीठके प्रारम्भ होनेपर अपना कोई निजी राष्ट्रीय विद्यालय नहीं खोला गया था। प्रान्तके प्रायः हर जिलेमें राष्ट्रीय पाठशालायें खुल गयी थीं और वे विद्यापीठसे सम्बद्ध कर ली गयी थीं और उनके विद्यार्थी विद्यापीठकी विशारद परीक्षामें सम्मिलित होते थे। पर असहयोग आन्दोलनके शिथिल पड़ जाने पर उनमेंसे अधिकतर पाठशालायें बन्द हो गयीं। फिर विद्यापीठकी तरफसे काशीमें एक राष्ट्रीय कुमार विद्यालय खोला गया। यह विद्यालय १९३१ तक

नियमित रूपसे काशीमें ही चलता रहा। इस विद्यालयसे विद्यार्थी विशारद परीक्षा उत्तीर्ण होकर महाविद्यालय विभागमें भर्त्ती होते रहे। पर १९३१ में कुमार विद्यालय विभागको अधिक सुचारु रूपसे चलानेके लिए तथा विद्यार्थियोंको साधारण पढ़ाईके साथ साथ अन्य कारीगरीके अतिरिक्त जो कि कुमार विद्यालयमें सिखायी जाती थीं विशेषकर कृषिका कार्य सिखलानेके लिये जिसकी सुविधा प्रयागके हिन्दी विद्यापीठमें अधिक थी, माननीय श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडनके अनुरोध पर काशीसे प्रयागमें कर दिया गया और हिन्दी विद्यापीठ प्रयागमें इस विभागका कार्य होने लगा। कुमार विद्यालयके सब अध्यापक भी वहीं पर जाकर काम करने लगे। पर १९३२ में अर्थात् लगभग एक साल तक ही काम होनेके बाद राजनीतिक आन्दोलनके कारण जब काशी विद्यापीठ बन्द हो गया तो उसके साथ ही साथ प्रयागका हिन्दी विद्यापीठ भी बन्द हो गया। जुलाई १९३४ में विद्यापीठके फिर खुलने पर कुमार विद्यालय फिर नहीं खोला गया। बनारसमें विद्यापीठसे सम्बंधित कुछ कार्यकर्त्ताओंके उत्साहसे एक राष्ट्रीय कुमार विद्यालय उन्हीं सज्जनोंकी देखरेखमें खुला जो विद्यापीठसे सम्बद्ध था और जिसे विद्यापीठकी ओरसे कुछ आर्थिक सहायता दी जाती रही। यह विद्यालय १९४२ तक चलता रहा और उसके विद्यार्थी विद्यापीठकी विशारद परीक्षामें सम्मिलित होते रहे पर १९४२ में राजनीतिक कारणोंसे यह विद्यालय भी बन्द हो गया और फिर न खुल सका। इसके अतिरिक्त कुछ राष्ट्रीय पाठशालायें भी इस प्रान्त तथा विहारमें थीं जो विद्यापीठके सम्बद्ध थीं पर १९४२ के आन्दोलनमें प्रायः सभी बन्द कर दी गयीं। अब इस समय केवल एक कुमार विद्यालय विहारमें राष्ट्रीय पाठशाला खगड़िया है जिसने अपना कार्य फिरसे प्रारम्भ किया है यह पाठशाला विद्यापीठसे सम्बद्ध है और इसे विद्यापीठसे कुछ आर्थिक सहायता भी दी जाती है। अब तक पाठशाला विभागसे कुल ५७७ विद्यार्थी विशारद परीक्षा उत्तीर्ण होकर निकल चुके हैं।

हिन्दी भाषा प्रचार विभाग

काशी विद्यापीठके कुछ स्नातक अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तोंमें जाकर हिन्दी प्रचारके कार्यमें लग गये। पर इनके अतिरिक्त और भी विद्यार्थी मद्रास आदि प्रान्तोंसे उत्तर भारतमें हिन्दी सीखनेके लिये आते थे और यहांसे हिन्दी सीखकर अपने प्रान्तोंमें हिन्दी प्रचार करना चाहते थे पर उनके लिए हिन्दी पढ़ानेका कहीं प्रबन्ध नहीं था। इस त्रुटिको दूर करनेके लिए काशी विद्यापीठमें एक हिन्दी भाषा प्रचार विभाग खोला गया और इस विभागमें मद्रास आदि प्रान्तोंके विद्यार्थियोंको विशेषकर हिन्दीका अच्छा ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायता दी गयी ताकि वे फिर यहांसे वापस जाकर अपने अपने प्रान्तोंमें सुगमतासे हिन्दीका प्रचार कर सकें। यह विभाग सम्वत् १९९१में स्थापित किया गया और दो वर्ष तक

चलता रहा। इस विभागमें लगभग ४० विद्यार्थी भर्त्ती किये गये जिनमेंसे उनतीस विद्यार्थी यहां पर दो वर्ष तक हिन्दीका विशेष अध्ययन करके और विद्यापीठकी हिन्दी कोविद परीक्षा जिसका प्रबन्ध विशेषतः उन्हीं विद्यार्थियोंके लिये किया गया था पास करके निकले और दक्षिण भारतके कई प्रान्तोंमें इस समय भी सफलता पूर्वक हिन्दीका प्रचार कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण भारतके रहनेवाले विद्यापीठके कई स्नातक तथा उत्तर भारतके भी कुछ स्नातक अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तोंमें जाकर हिन्दी भाषाके प्रचारमें लगे हुए हैं।

पुस्तकालय विभाग

स्व० श्री शिवप्रसादगुप्तजीने सन् १९२६ के पहिलेका पुस्तकोंका अपना सारा विशाल संग्रह काशी विद्यापीठको दानमें दे दिया इसके साथ साथ बहुत सी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें भी हैं। इन पुस्तकोंके अतिरिक्त विद्यापीठके कोषसे भी प्रतिवर्ष नयी पुस्तकें खरीदी जाती रही हैं और स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा क्वींसकालेजके भूतपूर्व अध्यापक स्व० श्री सी० एम० मलवेनी तथा श्री श्रीप्रकाशजीने भी पुस्तकोंका एक अच्छा संग्रह विद्यापीठके पुस्तकालयको दिया है। इस प्रकार ये सब पुस्तकें मिलाकर इस समय पुस्तकालयमें पुस्तकोंकी संख्या लगभग ३५००० है। पुस्तकालय पहिले विद्यापीठ भवनमें ही ऊपरकी मंजिलमें रखा गया था पर सेठ श्री युगलकिशोर बिड़लाके बत्तीस हजार रुपयेके दानसे अब एक पुस्तकालय भवन बन गया है और हमारा पुस्तकालय इसी भवनमें चला गया है। पुस्तकालयके साथ साथ एक वाचनालय भी है जिसमें भारतवर्ष तथा विदेशके हिन्दी उर्दू और अंग्रेजी भाषाके दैनिक, साप्ताहिक मासिक, त्रैमासिक पत्र पत्रिकायें आती हैं। स्व० श्री शिवप्रसादगुप्तने जिस समय अपना संग्रह विद्यापीठको दान दिया उन्होंने यह शर्त लगा दी थी कि यह पुस्तकालय विद्यापीठके अध्यापकों तथा विद्यार्थियोंके अतिरिक्त सर्व साधारणके लिए भी खुला रहना चाहिये। इस शर्तके अनुसार यह पुस्तकालय तथा वाचनालय सर्वसाधारणके लिए खुला रहता है। पुस्तकालयका सदस्य होनेके लिए १६) जमानत देनी पड़ती है और सदस्योंको एक साथ दो पुस्तकें पुस्तकालयके बाहर ले जाकर पढ़नेका अधिकार रहता है। काशी तथा बाहरसे कितने ही सज्जन इस नियमसे लाभ उठाते हैं और पुस्तकालयसे पुस्तकें ले जाकर उपयोग करते हैं।

राजनीतिक आन्दोलनके समयमें जेलमें राजबन्दियोंको पुस्तकें देनेका विशेष प्रबन्ध किया जाता रहा है। और इस प्रान्तकी तथा कुछ अन्य प्रान्तोंकी जेलोंमें भी विद्यापीठके पुस्तकालयसे भिन्न भिन्न विषयोंकी पुस्तकें राजबन्दियोंको पढ़नेके लिये भेजी जाती रही हैं और इससे काफी लोगोंने लाभ उठाया।

इधर कुछ दिनोंसे विद्यापाठकी आर्थिक स्थिति ठीक न रहनेके कारण हमलोग अधिक संख्यामें नयी नयी पुस्तकें मंगानेमें असमर्थ रहे हैं, इसलिए हर विषयकी सामयिक पुस्तकें न रहनेके कारण हमारा पुस्तकालय पुराना पड़-रहा है। अतः विशेष प्रयत्न करके कुछ धन एकत्रकर पर्याप्त संख्यामें भिन्न भिन्न विषयोंकी नयी पुस्तकें खरीदनेकी आवश्यकता है ताकि पुस्तकालकी नवीनता बनी रहे। हमारा पुस्तकालय भवन भी पर्याप्त नहीं है इसको भी बढ़ानेकी आवश्यकता है।

प्रकाशन विभाग

विद्यापीठके प्रकाशन विभाग द्वारा हिन्दी भाषामें इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन आदि विषयों पर प्रमाणिक ग्रन्थ निकालनेका प्रयत्न किया जाता रहा है। इस विभागके प्रबन्धके लिये एक प्रकाशन समिति बनायी गयी है जिसमें विद्यापीठके कुछ अध्यापक तथा कार्यकर्त्ता और इस विषयमें रुचि रखनेवाले काशीके अन्य सज्जन भी रखे गये हैं। साधारणतः कहानी-गल्प आदि तो सभी प्रकाशक निकालते हैं पर गूढ़ विषयोंकी उच्चकोटिकी पुस्तकोंकी बिक्री कम और इस कारण अपेक्षाकृत लाभ कम होनेके कारण अन्य प्रकाशक इस तरफ ध्यान नहीं देते। अतः विद्यापीठके प्रकाशन विभागकी ओरसे उच्चकोटिके प्रामाणिक ग्रन्थ निकालनेका प्रयत्न किया जाता है। अब तक हमने भिन्न भिन्न विषयों पर लगभग २१ पुस्तकें प्रकाशितकी हैं। यद्यपि साधारणतः शब्द-संग्रह, समाजवाद, गणेश आदि चार पांच पुस्तकोंको छोड़कर अन्य पुस्तकोंकी अच्छी बिक्री नहीं हुई है पर विद्वत् समाजमें हमारी पुस्तकोंका आदर है और १९३८–३९ में विहार तथा युक्तप्रान्तकी सरकारोंने अपने ग्राम्य पुस्तकालयोंके लिए पर्याप्त संख्यामें हमारी पुस्तकोंको खरीदा। हमारे हिन्दी शब्द-संग्रह तथा समाजवाद नामक पुस्तकका अच्छा आदर हुआ है और शब्दसंग्रहके दो संस्करण तथा समाजवादके चार संस्करण निकल चुके हैं। हमने इस विभागके द्वारा साधारण जनताकी रुचिके अनुकूल कहानी गल्प आदिकी पुस्तकें न निकालकर उच्चकोटिकी पुस्तकें निकालनेका प्रयत्न किया है और इस प्रकार जनताकी रुचिमें परिष्कार करनेकी भी चेष्टा हमने की है। इधर कई वर्षों तक विद्यापीठके बन्द रहने तथा विद्यापीठकी आर्थिक स्थिति भी ठीक न रहनेके कारण पुस्तक प्रकाशनका काम कुछ वर्षोंतक बन्द रखना पड़ा। पर गत वर्ष विद्यापीठके खुलनेपर प्रकाशन विभाग फिरसे संगठित किया गया है और अब अधिक संख्यामें पुस्तकें निकालनेकी चेष्टा की जा रही है।

शिल्पशाला

प्रारम्भमें श्री गांधी आश्रमकी देख रेखमें एक बुनाई विभाग खोला गया जिसमें विद्यार्थियोंको हाथके कते सूतसे कपड़ा बुनना सिखलाया जाता था। यह विभाग कई वर्ष तक चलता रहा और इसके

साथ साथ बढ़ईका काम, बेंतका काम, सिलाई आदि सिखानेका भी प्रबन्ध किया गया और शिल्पके कई विभाग खोले गये पर साधारण अध्ययनके साथ साथ इन शिल्पोंकी ओर विद्यार्थियोंकी अभिरुचि नहीं थी आर धीरे धीरे उनका उत्साह क्षीण होता गया। अतः अन्तमें धीरे धीरे इन बिभागोंको बन्द करना पड़ा।

पत्रकार कला-विभाग

सारे देशमें हिन्दी पत्रकार कलाकी शिक्षाका कहीं भी प्रबन्ध नहीं है इस लिये हिन्दी पत्रोंमें काम करने वालोंको सम्पादनकलाका कोई ज्ञान नहीं होता। इस त्रुटिको दूर करनेके निमित्त इस तरफ कुछ सज्जनोंका ध्यान आकर्षित हुआ और प्रसिद्ध पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदीने इस कार्यको काशीमें और विशेषतः काशी विद्यापीठमें प्रारम्भ करने पर जोर दिया। अतः गत वर्ष विद्यापीठमें एक पत्रकार कला विभाग प्रयोगके तौर पर खोला गया। चार महीनेका इसका पाठक्रम रखा गया और १५ श्रावण २००२ से इस विभागका कार्य प्रारम्भ किया गया। यह नियम बनाया गया था कि विद्यापीठके शास्त्री अथवा अन्य विद्यापीठोंके स्नातक तथा ग्रैजुएट और हिंदी साहित्य सम्मेलनके साहित्यरत्न इस विभागमें भर्त्ती किये जायं। इस विभागका अच्छा स्वागत हुआ और प्रवेश पानेके लिये पर्याप्त संख्यामें प्रार्थनापत्र आये। उनमें से चुनकर लगभग ३० विद्यार्थी भर्त्ती किये गये क्योंकि इससे अधिक विद्यार्थियोंकी व्यावहारिक शिक्षाका प्रबंध स्थानीय दैनिक पत्रोंमें करना सम्भव नहीं था।

पत्रकारकला सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयोंकी शिक्षाके लिये देशके कतिपय प्रसिद्ध पत्रकारों तथा लेखकोंके व्याख्यानका प्रबन्ध किया गया। व्यावहारिक शिक्षाका प्रबन्ध 'आज' तथा 'संसार'में किया गया था। चार महीनेके अध्ययनके पश्चात् परीक्षाका प्रबन्ध किया गया जिसमें २५ विद्यार्थी सम्मिलित हुए और २४ उत्तीर्ण हुये। इनमेंसे अधिकतर विद्यार्थियोंको हिन्दी पत्रोंमें काम मिल गया। पत्रकारकलाकी शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियोंमेंसे दो विद्यार्थी इस विषयकी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए अमेरिका गये हैं और वहांके एक प्रसिद्ध विद्यालयमें उनका प्रवेश हो गया है। हमारे यहां शिक्षा प्राप्त कर लेनेसे उन्हें प्रवेश पानेमें बड़ी सुविधा मिली है।

हमें अनुभवसे यह मालूम हुआ कि इस विषयकी पढ़ाईका स्थायी प्रबन्ध होना बहुत आवश्यक है और चार महीनेकी पढ़ाईका समय कम है इसके लिये कमसे-कम एक वर्ष होना चाहिये। इस विषयकी योजना बना ली गई है और इसका पाठक्रम एक सालका रखा गया है तथा इस विभागके लिये अलगसे कुछ स्थायी अध्यापक रखने का विचार है। इस वर्ष कई कारणोंसे हम लोग इस विषयको नहीं खोल सके पर हम आशा करते हैं कि आगामी वर्षसे हम इस विभागको स्थायी रूपसे चला सकेंगे और देशकी एक बहुत बड़ी कमीको पूरी कर सकेंगे।

छात्रावास

विद्यापीठमें विद्यार्थियोंके रहनेके लिये छात्रावासका प्रबन्ध है। अधिकतर विद्यार्थी काशीके बाहरके तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके रहने वाले होते हैं अतः वे छात्रावासमें रहते हैं। विद्यापीठकी ओरसे विद्यार्थियोंके लिए खेल कूद, दवा आदिका प्रबन्ध किया जाता है, छात्रावासमें विद्यार्थियोंको सादा तथा कठोर जीवन व्यतीत करनेका आदी बनानेका प्रयत्न किया जाता है ताकि जीवनमें प्रवेश करने पर तरह-तरहकी कठिनाइयोंका वे सामना कर सकें। विद्यार्थियोंकी देखरेखके लिए अध्यापकोंमें से कोई एक सज्जन गृहपति नियुक्त किये जाते हैं। उनकी देखरेखमें विद्यार्थी नियमित जीवन व्यतीत करते हैं। छात्रावासमें भोजनालय का प्रबन्ध है जिसमें छूतछातका कोई भेदभाव नहीं रखा जाता। सब विद्यार्थियों को सामूहिक रूपसे भोजन करना होता है। भोजनालयका प्रबन्ध गृहपतिकी देखरेखमें विद्यार्थी स्वयं करते हैं। विद्यार्थियोंको शुद्ध, सादा तथा निरामिष भोजन मिलता है। विद्यर्थियोंके स्वास्थ्यपर विशेष ध्यान दिया जाता है। और उनके लिए एक छोटा सा दवाखाना भी विद्यापीठमें ही एक डाक्टरकी देखरेखमें खोला गया है। किसी विद्यार्थीके अधिक बीमार पड़ने पर बाहरके डाक्टरोंसे दवा करायी जाती है।

विद्यार्थी परिषद्

विद्यापीठके विद्यार्थियोंकी एक विद्यार्थी परिषद् है। विद्यापीठके सब विद्यार्थी इसके सदस्य होते हैं। इस परिषद्के द्वारा विद्यार्थी प्रतिसप्ताह भिन्न-भिन्न राजनीतिक, समाजिक, वैज्ञानिक आदि विषयों पर वादविवाद करके अपनी वक्तृत्वशक्ति बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं और एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका भी निकालते हैं। समय-समय पर राजनीतिक सामाजिक आदि कार्योंमें भी विद्यार्थी भाग लेते हैं।

विद्यापीठके स्नातक

विद्यापीठसे अब तक १३९ शास्त्री, ५७७ विशारद, २९ हिन्दी कोविद और २६ पत्रकारविशारद निकल चुके हैं। विद्यापीठके अधिकतर स्नातक देशहितके कार्यमें लगे हुए हैं और उनमेंसे बहुतसे अपने अपने प्रान्त और जिलोंकी कांग्रेस समितियोंमें जिम्मेदारीके पद पर हैं और अपने कार्यसे विद्यापीठके गौरवको बढ़ा रहे हैं। हमारे स्नातकोंमेंसे दो विधान परिषद्के सदस्य हैं दो कांग्रेस गवर्मेण्टके पार्लीमेण्टरी सेक्रेटरी हैं एक संयुक्तप्रान्तमें और एक विहारमें। तथा आठ संयुक्तप्रान्त तथा विहारकी व्यवस्थापिका सभाओंके सदस्य हैं। काशी विद्यापीठमें देशके प्रायः हर एक प्रान्तके विद्यार्थी आते रहे हैं और यहाँसे स्नातक होकर अपने अपने प्रान्तमें जाकर भिन्न भिन्न लोकोपकारी संस्थाओंमें जैसे

औ

लोकसेवक समिति, हरिजन संघ, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, अखिल भारतीय चरखा संघ, श्रमजीवी संघ आदिमें बड़ी जिम्मेदारीके साथ कार्य कर रहें हैं। हमारे कुछ स्नातक देशके प्रमुख दैनिक और साप्ताहिक पत्रोंका सम्पादन और सञ्चालन भी कर रहे हैं।

काशी विद्यापीठसे स्नातक होनेके बाद हमारे कई विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए विदेशमें गये और फ्रांसकी पेरिस विद्यापीठ तथा जर्मनीकी फ्रैंकफर्ट आदि विद्यापीठोंमें उनका प्रवेश हुआ। उन्होंने जिनमें से डा० श्रीबालकृष्ण विश्वनाथ केसकर तथा डा० श्री चन्द्रदत्त पांडे प्रमुख हैं, वहां सम्मानपूर्वक डाक्टरकी उपाधि प्राप्त की। इस समय भी हमारे दो स्नातक पत्रकारकलाकी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए अमेरिका गए हैं और वहांके मिसूरीके प्रसिद्ध विद्यापीठमें उनका प्रवेश हो गया है। हमारे अधिकतर स्नातक अध्यापन, पत्रसम्पादन, राष्ट्रभाषा प्रचार, खद्दर उत्पत्ति, श्रमजीवी आन्दोलन तथा अन्य समाज सेवाके कार्यमें लगे हुए हैं। देशमें जब जब स्वतंत्रताका आन्दोलन छिड़ा है हमारे स्नातक जिस किसी भी प्रान्तमें हैं वहीं पर उन्होंने स्वतंत्रताके आन्दोलनमें पूरा योग दिया है। और स्वातंत्र्य संग्राममें पर्याप्त जिम्मेदारीका कार्य उनके सुपुर्द रहा है और जिसको उन्होंने विद्यापीठके गौरवके अनुरूप निभानेका प्रयत्न किया और देश सेवाके कार्यमें जो भी आपत्तियाँ सामने आयीं उनका साहस और दृढ़ताके साथ उन्होंने सामना किया।

देशके स्वातंत्र्यसंग्राममें विद्यापीठका भाग

यद्यपि काशीविद्यापीठ एक शिक्षा संस्था है और मातृभाषाके द्वारा उच्च शिक्षा देना इसका मुख्य कार्य है पर इसका बीजारोपण राजनीतिक वातावरणमें और बड़ी उथल पुथलके समयमें हुआ और प्रारंभमें ही देशके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञोंकी छत्रछायामें यह संस्था पनपी और पल्लवित हुई। इसलिए कांग्रेस अथवा अन्य किसी राजनीतिक संस्थाके साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहते हुए भी राजनीतिक कार्यसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सन् १९२१ से १९४२ तक देशमें जब जब स्वातन्त्र्य आन्दोलन छिड़ा है तब तब काशी विद्यापीठके निरीक्षकों और प्रबन्धकोंके अतिरिक्त यहांके अध्यापक, विद्यार्थी और स्नातक सभीने उसमें पूरा योग दिया है। १९३०, ३२ और ४१, ४२ के सत्याग्रह आन्दोलनोंमें प्रान्तके बड़े बड़े नेताओंके जेल चले जानेके बाद संयुक्तप्रान्तमें कांग्रेस कार्यका भार बहुत कुछ काशी विद्यापीठके अध्यापकों और विद्यार्थियोंके ऊपर पड़ता रहा है और उसे उन्होंने जिम्मेदारीके साथ निभाया। विद्यापीठके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने प्रांतीय कांग्रेस कमेटीके केन्द्रीय कार्यके संगठनके अतिरिक्त प्रांतके भिन्न भिन्न जिलोंमें जाकर वहां सत्याग्रह संग्रामका सञ्चालन किया। स्वातंत्र्य संग्रामके समयमें विद्यापीठमें साधारण शिक्षाका कार्य प्रायः बन्द हो जाता है और अध्यापक और विद्यार्थी सभी देशके कार्यमें लग जाते हैं।

इसी कारण इस संस्थाके ऊपर अपने देशकी विदेशी गवर्मेण्टकी सदा वक्रदृष्टि रही। और देशमें जब जब आन्दोलन छिड़ा है तब तब विद्यापीठके एक शिक्षा संस्था होनेके बावजूद भी, अन्य राजनीतिक संस्थाओंके साथ साथ हम भी विदेशी हुकूमतके कोपभाजन होते रहे हैं। सन् १९३२ के सत्याग्रह आन्दोलनके समयमें प्रान्तीय गवर्मेण्टने कांग्रेस कमेटियोंके साथ साथ विद्यापीठको भी गैरकानूनी संस्था घोषित कर दिया और विद्यापीठकी इमारतोंमें ताला लगाकर पुलिसका पहरा बिठा दिया। जनवरी सन् ३२ से लगभग ढाई बरस तक विद्यापीठका शिक्षण कार्य बन्द रहा और विद्यापीठ भवन पुलिसके अधिकारमें रहा। जनवरी सन् १९३४ में जब विहारमें भयंकर भूकम्प आया था उस समय बहुत लिखा पढ़ी करने पर गवर्मेण्टने विहारके भूकम्प पीड़ित जनोंके रहनेकी अनुमति दी थी। जुलाई सन् १९३४ में गवर्मेण्टका प्रतिबन्ध हट जाने पर विद्यापीठमें फिर शिक्षण आदिका कार्य प्रारम्भ किया गया। इस ढाई वर्षकी अवधिमें विद्यापीठके अधिकतर विद्यार्थियों और अध्यापकोंने सत्याग्रह संग्राममें योग देते हुए जेल यात्रा की। विद्यार्थियों और अध्यापकोंका एक दल आचार्य श्रीनरेन्द्रदेवजीके नेतृत्वमें विहारके भूकम्प पीड़ित क्षेत्रमें भी कार्य करनेके लिए गया।

१९४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलनमें भी विद्यापीठके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने पर्याप्त योग दिया और बहुतोंने जेलयात्रा की। ९ अगस्त १९४२ को फिर जब सत्याग्रह संग्राम छिड़ा गवर्मेण्टने विद्यापीठके स्था० आचार्य तथा दो अध्यापकोंको यकायक गिरफ्तार करके विद्यापीठको बलपूर्वक बन्द कर दिया। विद्यापीठके आचार्य श्री नरेन्द्रदेव कांग्रेस कार्यसमितिके साथ ही बम्बईमें गिरफ्तार कर लिये गये थे। विद्यापीठके अधिकतर विद्यार्थी और अध्यापक अगस्त आन्दोलनमें महत्व पूर्ण कार्य करते हुए गिरफ्तार हुए। विहार प्रान्तके भागलपुर जिलेके रहने वाले हमारे विद्यार्थी स्व० श्री प्रभुनारायण सिंह वहां पर एक शान्तिमय जुलूसका नेतृत्व करते हुए पुलिसकी गोलीके शिकार हुए और देशके लिए अपने प्राणोंकी आहुति दिया।

हमें इस बातका गर्व है कि देशके स्वातंत्र्य संग्राममें विद्यापीठ अपनी शक्तिके अनुसार बराबर कन्धा लगाता रहा है और जब देशकी स्वतंत्रताका इतिहास लिखा जायगा विद्यापीठकी सेवाओंका भी उसमें गर्वके साथ उल्लेख किया जायगा।

विद्यापीठकी आर्थिक स्थिति

स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्तजीने १० लाख रुपयेकी पूंजी अपनी कोठीमें अलग करके अपने स्वर्गीय कनिष्ठ भ्राताके नाम पर श्री हरप्रसाद शिक्षा निधिकी स्थापना की और ६ प्रतिशत वार्षिकके हिसाबसे·

उसका व्याज देने लगे। विद्यापीठकी आयका मुख्य स्रोत यही श्री हरप्रसाद शिक्षा निधिका रुपया रहा है। इसी व्याजके रुपयेमें से विद्यापीठके दिन प्रतिदिनके व्ययके अतिरिक्त जो रुपया बचा उससे बावन हज़ार रुपयेकी जमीन खरीदी गई और लगभग एक लाख बासठ हज़ार रुपये लगाकर छात्रावास, विद्यालय तथा अध्यापकोंके निवासके लिये भवन बनवाये गये। इसके अतिरिक्त सेठ श्री युगलकिशोर बिड़लाके बत्तीस हज़ार रुपयेके दानसे विद्यापीठका पुस्तकालय भवन बनवाया गया। संवत् १९८६ तक श्री हरप्रसाद शिक्षा निधिके व्याजका रुपया बराबर मिलता रहा पर उसके पश्चात् कुछ आपसी कौटुम्बिक झगड़े तथा मुक़दमेबाज़ीके कारण व्याजका रुपया मिलना प्रायः बन्द सा हो गया और कई वर्षोंसे विद्यापीठके सामने बड़ा आर्थिक संकट रहा और इस समय भी उस आर्थिक संकटसे हम पार नहीं पा सके हैं। मूल और व्याजका रुपया मिलाकर सं० १९९९ तक श्री हरप्रसाद शिक्षानिधिका लगभग १८ लाख रुपया स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्तकी कोठी पर पावना हो गया। इसका सब हिसाब करके स्व० श्री शिवप्रसाद गुप्तने अपने जीवन कालमें ही १६७०७७०।≡)। सोलह लाख सत्तर हज़ार सात सौ सत्तर रुपया सात आने तीन पाई जिसमें १२३६३१॥।≈)॥ एक लाख २३ हज़ार छः सौ इकतीस रुपया चौदह आना ६ पाई रुपये की जमीन्दारी, १२७१३८॥)॥। एक लाख सत्ताइस हज़ार एक सौ अड़तीस रुपया आठ आना नौ पाई रुपयेमें बनारस काटन मिलके शेयर, १,५०,००) एक लाख पचास हज़ार रुपयेमें महाराज बनारसका कटरा श्री हरप्रसाद शिक्षानिधिको दे दिया और शेष १२,७०,०००) बारह लाख सत्तर हज़ार रुपयेमें श्री शिवप्रसाद गुप्त बनाम श्री गोकुलचन्द वगैरहकी अदालती डिक्री बेंची कर दिया। इस डिक्रीका रुपया अभी वसूल नहीं हो पाया है। इस सम्बन्धमें कुछ मुकदमे चल रहे हैं। और वसूल होनेमें कुछ समय लगेगा। जो जायदाद मिली है उससे लगभग तेईस हज़ार रुपये वार्षिक आमदनी होती है और विद्यापीठका वार्षिक व्यय लगभग चालीस हज़ार रुपयेके होता है इस प्रकार इस समय हमें लगभग सतरह हज़ार रुपयेके लिये आकाशवृत्तिके ऊपर निर्भर करना पड़ता है—और इसी कारण हमारे लिये अधिक विस्तार करनेमें भी कठिनाई है।

उपसंहार

हमारा पचीस वर्षका कार्य आज देशके सामने है। हम इस बातका दावा नहीं करते कि हमने जो लक्ष्य अपने सामने रखा था उसको प्राप्त करनेमें अपना हमसे जो आशा की जाती थी उसकी पूर्तिमें हम पूर्णतः सफल हुए हैं। हमारे मार्गमें अनेक विघ्न बाधायें थीं हमें कितने ही संकटोंका सामना करना पड़ा। कितनी ही राष्ट्रीय संस्थायें जिनका जन्म हमारे साथ ही और समान अवस्थामें हुआ था कालके चपेटोंको सहन न कर सकीं और विलीन हो गईं। हम इन सब विघ्न-बाधाओं और संकटोंको

काशी विद्यापीठके पचीस वर्ष

पार करते हुये आज भी जीवित हैं यही हमारे लिये कम सन्तोषकी बात नहीं है। अब कालचक्रने पलटा खाया है और ऐसा मालूम होता है कि हमारी संकट की रात बीत चुकी। देशके स्वातंत्र्य सूर्यका उदय हो रहा है। हमारा अनुमान है कि इसके साथ साथ विद्यापीठके भी अच्छे दिन आ रहे हैं। हमें आशा है कि देशवासियोंके सहयोग और सहायतासे यह संस्था अधिकाधिक फले फूलेगी और देश तथा समाजकी अधिकसे अधिक सेवा करनेमें समर्थ होगी। जय हिन्द !

बसन्त पंचमी संवत् २००३ }

बीरबल सिंह
मन्त्री,
श्री काशी विद्यापीठ

प्रथम निरीक्षक सभाके सदस्य

१ श्री महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी
२ श्री पण्डित मोतीलाल नेहरू
३ श्री मुहम्मद अली (मौलाना)
४ श्री जमनालाल बजाज (सेठ)
५ श्री जवाहरलाल नेहरू
६ श्री राधाचरण साह
७ श्री मुहम्मद हुसेन खां (हकीम)
८ श्री श्रीप्रकाश
९ श्री जीवतराम भगवान्दास कृपलानी
१० श्री कृष्णकान्त मालवीय
११ श्री नरेन्द्रदेव
१२ श्री कृष्णचन्द्र शर्मा
१३ श्री पुरुषोत्तदास टण्डन
१४ श्री डाक्टर मुरारीलाल
१५ श्री शिवप्रसाद गुप्त (मन्त्री)
१६ श्री दामोदरजी जोशी (कोषाध्यक्ष)
१७ श्री भगवान्दास (सभापति)

वर्तमान निरीक्षक सभाके सदस्य

संवत् २००३

१ श्री महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी
२ श्री भगवान्दास
३ श्री सम्पूर्णानन्द (अध्यक्ष)
४ श्री दामोदर दास (उपाध्यक्ष)
५ श्री जवाहरलाल नेहरू
६ श्री राजेन्द्र प्रसाद
७ श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन
८ श्री गोविन्द वल्लभ पन्त
९ श्री रफी अहमद किदवई
१० श्री कैलाशनाथ काटजू
११ श्री नरेन्द्र देव
१२ श्री श्रीप्रकाश
१३ श्री सत्येन्द्र कुमार गुप्त
१४ श्री कृष्णचन्द्र शर्मा
१५ श्री दुर्गाप्रसाद खत्री
१६ श्री सीताराम साह
१७ श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर
१८ श्री सन्तशरण मेहरोत्र
१९ श्री ठाकुर दास
२० श्री रामशरण
२१ श्री राजाराम शास्त्री
२२ श्री रामेश्वर सहायसिंह
२३ श्री जुगल किशोर बिड़ला
२४ श्री रामरतन गुप्त
२५ श्री हिमांशुधर सिंह
२६ श्री भूपेन्द्र कुमार गुप्त (कोषाध्यक्ष)
२७ श्री काशीपति त्रिपाठी (सहायक मन्त्री)
२८ श्री विश्वनाथ शर्मा (सहायक मन्त्री)
२९ श्री बीरबल सिंह (मन्त्री)

विद्यापीठके स्नातक

संवत् १९८०–८१

१. श्री अलगूराय शास्त्री
२. श्री चन्द्रशेखर पांडेय
३. श्री गोकुल चन्द्र

संवत् १९८१–८२

४. श्री त्रिभुवन नारायण सिंह
५. श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर
६. श्री शारदाप्रसाद अस्थाना
७. श्री हरिहरनाथ
८. श्री हरिप्रसाद सिंह
९. श्री गुरुशरण लाल श्रीवास्तव
१०. श्री इन्द्र बहादुर सिंह
११. श्री राजा राम
१२. श्री दुलार सहाय
१३. श्री रामसखी सिंह
१४. श्री लालबहादुर वर्मा
१५. श्री जीवनराम शर्मा
१६. श्री विश्वनाथदामोदर सोलापुरकर
१७. श्री दिवाकर प्रसाद वर्मा

संवत् १९८२–८३

१८. श्री चन्द्रदत्त पांडेय
१९. श्री कन्हैया लाल
२०. श्री देवव्रत
२१. श्री राजाराम शास्त्री
२२. श्री बृजमोहन लाल
२३. श्री कमलापति त्रिपाठी
२४. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा
२५. श्री विभूति मिश्र
२६. श्री गोपाल झा
२७. श्री जनार्दनपति त्रिपाठी
२८. श्री सुमंगल प्रकाश
२९. श्री राजकुमार पांडेय
३०. श्री सन्त
३१. श्री सत्यदेव

संवत् १९८३–८४

३२. श्री बदरीविशाल शर्मा
३३. श्री ऋषिनारायण शर्मा
३४. श्री युगलकिशोर सिंह
३५. श्री रूपनारायण त्रिपाठी
३६. श्री राजाराम पांडेय
३७. श्री बृजभूषणलाल त्रिपाठी

संवत् १९८४–८५

३८. श्री विनायक स० दांडेकर
३९. श्री शान्ति स्वरूप
४०. श्री रामकुमार शर्मा
४१. श्री रामनन्दन मिश्र
४२. श्री ध्रुवनारायण त्रिपाठी

संवत् १९८५–८६

४३. श्री श्यामाचरण झा
४४. श्री जयमंगल प्रसाद सिंह
४५. श्री सत्यनारायण
४६. श्री बासुदेव झा

४७. श्री बद्री सिंह
४८. श्री वेंकटेश्वर
४९. श्री रामशरण मेहता
५०. श्री हरिचरण दयाल दीक्षित
५१. श्री गुरुनाथ महादेव जोशी

संवत् १९८६–८७

५२. श्री गोकुल दास
५३. श्री नागेश्वर मिश्र
५४. श्री गोपाल कृष्णय्या
५५. श्री भालचन्द्र आवटे
५६. श्री गुणवन्त अ० देशमुख
५७. श्री त्र्यम्बक वि० मोहरिर
५८. श्री हरिवंश सिंह

संवत् १९८७–८८

५९. श्री शरच्चन्द्र पटनायक
६०. श्री का० न० रामन्ना
६१. श्री शंकर वामन पुरोहित
६२. श्री भगवती सिंह

संवत् १९९१

६३. श्री भागवत प्रसाद
६४. श्री वेंकट राव
६५. श्री ओंकारनाथ
६६. श्री रमणलाल

संवत् १९९४

६७. श्री आत्माराम अत्रे
६८. श्री नानालाल पारेख
६९. श्री तारकेश्वर पांडेय
७०. श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद
७१. श्री हीरालाल पालित
७२. श्री दिवाकर मिश्र

संवत् १९९५

७३. श्री रामकिशोर
७४. श्री सुरेन्द्र नाथ
७५. श्री चंचलकुमार जाना
७६. श्री जयराम गो० परमार
७७. श्री शिवली
७८. श्री विमलसेन

संवत् १९९६

७९. श्री भोलापासवान
८०. श्री शिवपूजन सिंह
८१. श्री अक्षयवर लाल
८२. श्री बद्रीप्रसाद गुप्त
८३. श्री गणेश प्र० वर्मा
८४. श्री बृजकिशोर प्रसाद
८५. श्री सखाराम सूर्याजी खानी लकर
८६. श्री कृष्णतात्याजी क्षीरसागर

संवत् १९९७

८७. श्री लक्ष्मण
८८. श्री कमलेश्वर प्रसाद
८९. श्री महेन्द्र प्रसाद सिन्हा
९०. श्री परमेश्वर शर्मा
९१. श्री बच्चे लाल
९२. श्री धनुषधारी मिश्र
९३. श्री मथुरभाई पटेल
९४. श्री भोलानाथ राय

९५. श्री रामायण प्रसाद राय
९६. श्री शीतल सिंह
९७. श्री वीरेन्द्र कुमार
९८. श्री चन्द्रकान्त शाह
९९. श्री मेवालाल चौधरी
१००. श्री ओंकार लाल
१०१. श्री रामराव एम० एस०
१०२. श्री कृष्णस्वामी एस०
१०३. श्री उमाशंकर
१०४. श्री करुणाकान्त राय
१०५. श्री दत्तात्रय खपली
१०६. श्री परमेश्वरन्

संवत् १९९८

१०७. श्री वागीश्वर प्रसाद द्विवेदी
१०८. श्री महेन्द्र
१०९. श्री सच्चिदानन्द
११०. श्री विद्याविलास
१११. श्री रामानन्द सिंह

संवत् १९९९

११२. श्री युगल किशोर
११३. श्री रामेश्वर सिंह
११४. श्री बल्लभ कुमार
११५. श्री कृष्णचन्द्र
११६. श्री चन्द्रपाल वाजपेयी
११७. श्री दुलीचन्द
११८. श्री आद्याप्रसाद पाठक
११९. श्री महेन्द्र कुमार
१२०. श्री सकलदीप प्रसाद चौधरी
१२१. श्री जनक देव
१२२. श्री नारायण राम
१२३. श्री गंगा सिंह
१२४. श्री आनन्द प्रकाश रस्तोगी

संवत् २००२

१२५. श्री निरंजन सिंह
१२६. श्री रामसुभग सिंह
१२७. श्री अमृत सिंह
१२८. श्री हर्षदराय पारिख
१२९. श्री विद्याभूषण चौधरी
१३०. श्री कमला प्रसाद पांडेय
१३१. श्री सच्चिदानन्द किशोर
१३२. श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद
१३३. श्री दशरथ राय
१३४. श्री तपस्वी प्रसाद चौधरी
१३५. श्री तेजनारायण लाल
१३६. श्री जगदेव प्रसाद
१३७. श्री शिवपूजन पांडेय
१३८. श्री योगेश्वर प्रसाद
१३९. श्री रामचन्द्र तिवारी

संवत् २००३

१४०—श्री रामावतार

१४१—श्री रमाशङ्कर श्रीवास्तव

१४२—श्री बालबोध पाण्डेय

१४३—श्री विश्वनाथ सिंह

१४४—श्री बोध नारायण सिंह

श्री काशी विद्यापीठ की बी० ए० के समान परीक्षामें उत्तीर्ण शास्त्रियोंकी सूची संवत् १९७७

१—श्री जयनारायण तिवारी

२—श्री जगदीश कुमार सिंह

३—श्री यमुना प्रसाद सिंह

४—श्री टिकैतराय वर्मा

५—श्री अविनाशचन्द्र कंचन

६—श्री भुनेश्वरी नारायण वर्मा

७—श्री गङ्गाप्रसाद श्रीवास्तव

८—श्री भगवती प्रसाद सहरोत्रिय

९—श्री गोविन्द गिरि स्वामी

१०—श्री रामबिहारी सिंह

श्री काशी विद्यापीठके प्रारम्भके अध्यापकोंकी सूची

१—श्री भगवान्दास (एम. ए.) अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र
२—श्री नरेन्द्रदेव (एम. ए., एल. एल. बी.) उपाध्यक्ष, इतिहास
३—श्री श्रीप्रकाश (बी. ए., एल. एल. बी., (केम्ब्रिज) बारिस्टर), इतिहास
४—श्री बीरबलसिंह (एम. ए. प्रीविस), इतिहास
५—श्री नरसिंहदास (एम. ए., बी. एससी., एल. एल. बी.), अर्थशास्त्र
६—श्री धर्मवीर सिंह (एम. ए.), गणित
७—श्री विश्वनाथ अनन्त केसकर (बी. ए.), दर्शनशास्त्र
८—श्री यज्ञनारायण उपाध्याय (एम. ए., एल. एल. बी., काव्यतीर्थ), संस्कृत
९—श्री गांगेय नरोत्तम (शास्त्री), संस्कृत
१०—श्री गोपाल प्रसाद (शास्त्री), दर्शन
११—श्री व्रजराज (ज्योतिषाचार्य), संस्कृत तथा गणित
१२—श्री नजीर अली, फारसी तथा उर्दू
१३—श्री जगन्मोहन वर्मा, हिन्दी

श्री काशी विद्यापीठके वर्तमान अध्यापकोंकी सूची

१—श्री नरेन्द्रदेव (एम. ए., एल. एल. बी.) कुलपति, इतिहास
२—श्री बीरबल सिंह (एम. ए., प्रीवियस) आचार्य, इतिहास
३—श्री श्रीप्रकाश (बी. ए., एल. एल. बी. (केम्ब्रिज), बारिस्टर) इतिहास
४—श्री सम्पूर्णानन्द (बी. एससी., एल. टी.), दर्शन
५—श्री गोपाल प्रसाद (शास्त्री), दर्शन
६—श्री राजाराम (शास्त्री), दर्शन, समाजशास्त्र
७—श्री भगवती प्रसाद पांथरी (एम. ए.), इतिहास
८—श्री चन्द्रशेखर अस्थाना (एम. ए.), इतिहास
९—श्री विश्वेश्वर प्रसाद सिंह (बी. एस. सी. (लन्दन), बारिस्टर), अर्थशास्त्र
१०—श्री इन्दिरा रमण(शास्त्री), संस्कृत
११—श्री काशी प्रसाद मुकर्जी (एम. ए.), अंग्रेजी

श्री हरप्रसाद शिक्षानिधि

प्रसिद्ध दानवीर देशभक्त स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद गुप्त, सेवा-उपवन, काशी, ने अपने कनिष्ठ सहोदर भ्राता श्री हरप्रसादकी स्मृतिको चिरस्थायी बनानेकी कामनासे (जिनकी अकाल और शोचनीय मृत्यु १६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १९६० विक्रमीमें हुई थी) एक समर्पणपत्र द्वारा एक निधिकी प्रतिष्ठा की जिसका नाम श्री 'हरप्रसाद शिक्षानिधि' है। इस शिक्षानिधिकेलिए उन्होंने दस लाख रुपया अपनी निजी पृथक् सम्पत्तिमेंसे निकाल कर समर्पण कर दिया और उसकी स्थायी रूपसे एक निधि बना दी, जिसका जमा खर्च उनकी कोठी श्री बालकृष्णदास विश्वेश्वर प्रसादके बही खातेमें समर्पणके नामसे हो गया था और यह रुपया उनकी कोठीमें जमा था, जिसका सूद दः ।।) सैकड़ा माहवारीके हिसाबसे कोठी काशी विद्यापीठको देती थी। आगे चलकर उन्होंने इस मूल्यकी चल और अचल सम्पत्ति अलग कर दी। जो सूदकी आमदनी अथवा मुनाफा इससे होगा वह उन उद्देश्योंकी पूर्त्तिमें लगाया जावेगा जिनके लिए यह निधि स्थापित की गयी है, किन्तु मूल धन या सम्पत्ति जो उस धनसे खरीदी जावे वह किसी अवस्थामें भी खर्च नहीं की जावेगी।

श्री हरप्रसाद शिक्षानिधि

निधि संचालकोंकी वर्तमान सूची

१–श्री जवाहरलाल नेहरू (अध्यक्ष)
२–श्री पुरुषोत्तम दास टंडन
३–श्री हृदय नाथ कुञ्जरु
४–आचार्य नरेन्द्रदेव
५–श्री सम्पूर्णानन्द
६–श्री रफी अहमद किदवई
७–श्री इन्दु भूषण गुप्त
८–श्री भूपेन्द्र कुमार गुप्त
९–श्री सत्येन्द्र कुमार गुप्त (मन्त्री और कोषाध्यक्ष)

हमारे प्रकाशित ग्रन्थ

हमलोग हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिमें निम्नलिखित ग्रन्थ भिन्न भिन्न विषयोंपर प्रकाशित कर सके हैं—

१ हिन्दी-शब्द-संग्रह (तृतीय संस्करण) हिन्दी भाषाका उपयोगी कोष, सम्पादक— श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव तथा श्री राजवल्लभ सहाय मूल्य ७)
२ अफलातूनकी सामाजिक व्यवस्था, लेखक—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर मूल्य १।=)
३ अंग्रेज जातिका इतिहास (द्वितीय संस्करण) लेखक—श्री गङ्गाप्रसाद मूल्य २॥)
४ पश्चिमी यूरोप मूल्य २।)
५ ग्रीस और रोमके महापुरुष मूल्य ३।।।)
६ हिन्दू भारतका उत्कर्ष, लेखक—श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य मूल्य ३॥)
७ मीरकासिम, लेखक—श्री हरिहरनाथ शास्त्री मूल्य १।।।)
८ इब्नबतूताकी भारत-यात्रा, लेखक—श्री मदन गोपाल मूल्य २)
९ जापानरहस्य, लेखक—श्री चमनलाल मूल्य १॥)
१० समाजवाद, लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द (चतुर्थ संस्करण) मूल्य २)
११ साम्राज्यवाद, लेखक—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव मूल्य २॥)
१२ संसारकी समाजक्रान्ति, मूल लेखक—डा० गजानन श्रीपत खैर मूल्य १॥)
१३ ट्राटस्कीकी जीवनी, अनुवादक—श्री रामदास गौड़ तथा श्री राजवल्लभ सहाय मूल्य १॥=)
१४ राष्ट्रीय शिक्षाका इतिहास, लेखक—श्री कन्हैयालाल शास्त्री मूल्य २)
१५ भारतका सरकारी ऋण मूल्य १=)
१६ सौन्दर्य विज्ञान, लेखक—श्री हरिवंश सिंह शास्त्री मूल्य ।।।)
१७ अभिधर्मकोष, सम्पादक—श्री राहुल सांकृत्यायन मूल्य ५)
१८ मनुपादानुक्रमणी, सम्पादक—डा० भगवान्दास तथा श्री राजाराम शास्त्री मूल्य ।।।)
१९ योगकोष, सम्पादक—डा० भगवान्दास मूल्य २।।)
२० गणेश, लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द मूल्य २॥)
२१ योग—प्रवाह, स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल मूल्य ३॥)

SPIRITUAL IDEALS OF ANCIENT INDIA

By Dr. M. Hafiz Syed.

"OF Atma this life is born" (Prashnopanishad iii. 3.). This is how the beginning of human life is definitely indicated in the Shrutis. Man is not his body, nor his senses nor even his mind. These are his upadhis, vehicles, and nothing more. These vestures are subject to change, decay, and death, whereas the real man, the immortal self is ever-abiding, never-ending, "eternal, unborn perpetual and ancient."

In Shrutis and smritis, in Purana and Itihasa, the Self in man is declared to be of the nature of Brahman. "He, this great unborn self, (is) He who (is) this intelligence in living creatures, He who (is) this Akasha in the heart" says the Brihadaranyaka Upanishad (IV. iv. 5). As the sparks from a fire are similar in nature with the fire so the self of man is identical with the Supreme Self. The Jivatma-seed grows into self conscious Deity in due course through spiritual evolution. Thus, according to ancient Indian Thought, the conception of man is quite different from that of other religions or schools of philosophy that have prevailed in the world.

Man is truly Divine in his nature and shares Divine Life. The Jivatma differs from Brahman only as the seed from the tree that bears it. When the atma descends into anatma, or the spirit enters into matter,-this process is called the path of forthgoing. When the spirit emerges from material phenomenon this ascent of his is called the path of return. These processes are determined by a fixed immutable law which in other words is called the law of cause and effect. It is this law which guarantees success in every plane of our being, be it physical, mental or spiritual. Without its dominance over all our thought and action there would be no security for us nor any surety for any result we may try to achieve.

1. The triune aspects of Godhead according to the ancient scripture are creation, preservation and destruction. One and the same supreme reality, Ishvara, manifests Himself as Brahma, Vishnu and Shiva. These triune

functions of His are potentially shared by every Jivatma. Man, in the light of this philosophy of life, is fully endowed with creative faculty; he thus creates, a thought or an institution, upholds it and when its time comes for dissolution, destroys it in order to recreate it in yet another form and shape. All his at-one-time dearly cherished thoughts and human institutions undergo changes over which he sheds no tears and he faces the timely transformation with calm equanimity, all the while knowing that "every thing that has a beginning must have an end." Every outer form is transitory and must disappear in the course of time.

This view of life fills one's heart with indomitable courage, unshakable faith in man's creative nature and his final success. One endowed with such insight into his inner capacities and divine potentialites, is never afraid of any change of social, religious or political outlook. He is ever ready to reform himself and the social fabric which is the outcome of his own erst-while creation.

Any one who accepts this outlook on life and believes in his divine nature, need have no fear of any revolution, which is the law of changing life. He should ever be ready to renounce effete and outworn ideals which have had their day and should never hesitate to adopt any new scheme of life which may conduce to his happiness, and promote the wellbeing of his race or community.

2. The Sanatana Dharma does not recognise an unscientific creation, a making of something out of nothing. "The Supreme Ishvara evolves all beings out of Himself." Mundakopanishad (II. i. 1) says, "As from a blazing fire in a thousand ways similar sparks spring forth, so from the Indestructible, O beloved, various types of beings are born, and also return thither."

As man shares Divine life in essence, his spiritual nature is capable of infinite progress. Not only does he evolve to a greater and greater moral and spiritual height and in the course of time becomes a Siddha, a perfect being, and attains his liberation from the round of birth and death, but in the long run becomes a liberated soul, the perfect being. Thus his upward journey is endless. Without the least doubt he is the captain of his soul and the master of his destiny. There is nothing to which he cannot legitimately aspire and

finally attain. He has no reason to be grieved at any loss or frustration. What he has not today he will obtain tomorrow. If he fulfils the necessary conditions and exerts his will to the fullest, he is bound to achieve anything great or small in the course of time. What he had sown yesterday, he is, of course, reaping today and what he would sow today he is sure to reap tomorrow. This is a continuous process based upon a fixed law which is the expression of the Divine will. One who bears this ideal in view constantly, will cease to fret and fume at any pin pricks in life which he will naturally treat as trifling and passing. He will overcome the feeling of misery, poverty, and helplessness, if he keeps before his mind's eye this noble and lofty ideal of his inherent potentiality, his divine nature, with complete faith in his final victory. He may be poor in wealth, weak in health, unhonoured and unrecognized by the world, seemingly persecuted and down-trodden, for the time being; in spite of all that, he should remember that he is deathless and his inner being is free from all sorrow and suffering. Truly speaking he is inwardly rich and full. The outer happenings of life do not touch his inner serenity.

Can anything be more glorious and inspiring than this ideal ? This is one of the aspects of the Aryan view of life.

3. The ideal of the divinity of man leads us to believe, unlike the teachings of some of the religions of the semitic stock, that he is not to lean on or depend upon an external agency for his salvation or liberation. In all conscience, he has to work out his own salvation ; in the words of the Enlightened One, Lord Buddha, uttered to his devoted disciple Ananda, "He is to become his own light." In Vedic parlance, freedom from the round of births and deaths which is another name for liberation or salvation, is entirely in his own hands. Man is bound by his own desires; with their ceasing he becomes free; he is bound to this earth by the ignorance of his own nature, on the cessation of which he is liberated.

It is clearly stated in the Brihadaranyaka Upanishad (IV. iv. 19), "when all the desires hiding in his heart are loosed, then the mortal becomes immortal; here he enjoys Brahman". Salvation depends on one's own self-effort. Such a view of man's nature gives dignity and strength and sobriety to life.

4. It is said in the Christian scriptures that one should love one's neighbour as one's own self. But why? The answer is given by the ancient Rishis of India. The unity, solidarity and indivisibility of the Self is acknowledged by almost all the schools of Indian philosophy. "All the Gods (are) even the Self: all rests on the Self:" (Manu XII, 119).

"He, this Self, is Brahman" Brihadaranayaka Upanishad (IV. iv. 5).

"This my Self within the heart, this (is) Brahman" (Chhandogyop. III. XIV. 4).

The Self is one, Divine life is shared by all, saint or savage, high or low, rich or poor. Any one who realizes this eternal truth cannot help loving and serving his fellow men as he loves and serves his own kith and kin. on the rock of this reality is based the ideal of social service. Every aspirant on the path of the higher life has to rejoice in the welfare of all beings. Lokasangrah (welfare of all beings) is the highest ideal that every true born Aryan is enjoined to follow.

5. Self realization or the pathway to God is the core and essence of the teachings of every school of religion and mysticism. On the right understanding of this ideal depends our moral and spiritual well-being. God and the soul are the pivotal problems that every school of philosophy worth the name, has tried to solve. Almost all the religions of the world, ancient or modern, have wrangled over it. It is this problem that has baffled the minds of great thinkers, some of whom have obviously failed to grasp its true significance. others have given it up in sheer despair as something beyond their ken and comprehension. It is this problem, the lack of understanding of which has compelled some earnest seekers after Truth to take shelter in the barren fields of agnosticism and scepticism.

Now the manner in which the Rishis of old have viewed it is full of hope and cheer. They say that the problem you so earnestly desire to solve is not insoluble provided you fulfil the necessary conditions that it demands. According to the Indian sages of old, no one can possibly understand anything of the nature and reality of God unless he tries to understand or realize what his own Self is. This is the primary requisite. So far as the Absolute Reality, the unmanifested Nirguna Brahman is Himself "The concerned,

it is frankly admitted by no less an authority than Lord Shri Krishna difficulty of those, whose minds are set on the unmanifested, is greater, for the path of the unmanifested is hard for the embodied to reach." All that we can have any conception of is the *Saguna Brahmana* the god with attributes. Now in order to have direct knowledge of this aspect of reality it is absolutely necessary that one should do one's best to get some glimpse of one's own inward nature which in essence is the same as the source of one's being. The age-long method of atma-gyan as taught by *Patanjali* may be summed up in a few words, "Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Prtayahara, Dharana, Dhayana and Samadhi"—the eightfold steps that lead to self knowledge.

The first two of these, Yama and Niyama, have to do with conduct, for without good conduct and purity there can be no meditation.

"Harmlessness, truth, honesty, chastity, absence of greed (these are) Yamas."

"Purity, contentment, austerity, Veda-study, yearning after Ishvara (these are) Niyamas."

These qualities acquired, a man may sit for meditation. There are two preliminaries. Any posture which is steady and pleasant is suitable.

"Firm, pleasant—(that is) Asana."

Pranayama is the regulation of the breath, and this has to be learned from a teacher.

Then comes the immediate preparation, the closing of the senses against external objects, and the drawing of them and placing them in the mind; this is Pratyahara.

Now follows meditation proper, consisting of three stages, Dharana, Dhyana and Samadhi.

"The binding of the mind to (one) object is Dharana."

This is concentration, the steadying of the mind on one point, in one place, so that it is fixed, one-pointed. Only such a mind can pass on to Dhyana.

"The steady (and uninterrupted) flow of cognition towards that (object) is Dhyana."

When this is reached, the mind, fixing itself thus, loses the consciousness of itself and remains identified with the object of thought, and this state is *Samadhi.*

"That same (Dhyana) showing the object only, and devoid, as it were, of self-consciousness, (is) Samadhi."

These are the preparations for and the stages of meditation. By this a man rises to knowledge; by this he loses himself in the divine Being he worships; by this he disengages himself from the bonds of action. Without meditation no truly spiritual life is possible. (Sanatan Dharma Text Book ; 218, 219).

The method of quest is a scientific one. By treading the path as pointed out by Patanjali and corroborated by the sages and saints who followed him, one step onwards leads to the next, and so on, and the aspirant begins to feel the certainty of success as he moves on. This earnest pursuit brings him to his goal and when he stands face to face with his own higher and true self all his doubts and uncertainties disappear like clouds when the sun of the Self shines out.

The method is purely analytic. The seeker learns to discriminate the real from the unreal, shadow from substance, chaff from kernel, outer from inner through a process of elimination. True wisdom begins to dawn on him, and then he uuderstands the deeper strata of his complex being and his true constitution as laid down by Shri Krishna, "It is said that the senses are great; greater than the senses is the mind; greater than the mind is the Buddhi ; but what is greater than the Buddhi is He the Self."

There is no uncertainty about the steps the seeker takes, stage by stage. His success or otherwise depends entirely on the amount of effort he applies and the energy he devotes to its pursuit.

Is it not worth our while to give this path a trial if we really feel keen to know ourselves ? Then we must be ready to pay its price, namely fulfil the conditions. If after this we find that we have not gone far enough or failed to achieve what we earnestly desired, it is open to us to discard it–nay condemn it, but not before we have pursued the path in all its details and in exact accordance with its prerequsites.

6. It is indicated in the preceding sections that the real man is the Self, the spirit and not its vestures—body and mind and senses.

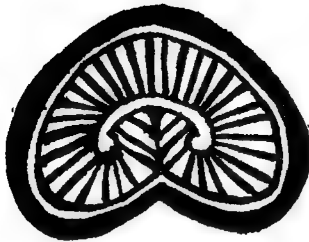
The nature of this Self, admitted by almost all the schools of Indian philosophy, is *Sat*, *Chit* and *Ananda*. The Sat aspect of our being guarantees our immortality, because that which remains ever the same in the same in three periods of time : past, present and future, is Sat, truly real.

The Chit aspect is responsible for our knowledge, which is more an unfoldment than what we gather from our impressions of outer phenomena. The Ananda aspect. as the word reveals, means bliss, supreme happiness, 'exempt from decay'. Any one who gets an insight into his inward nature and learns to feel that he is not his bodies but the immortal Self which really needs nothing from the outside world, as he already possesses what the world runs after, namely, deathlessness, knowledge and supreme happiness, has nothing to grieve over. All that stands in the way of his Self-realization is his own ignorance of his true nature and his repeated identification with his bodies which is another name for egoism, or *ahankar*, by the destruction of which he will free himself from untold sorrow and suffering, pain and anguish, disappointments and despair. The chief cause of his innumerable sufferings is desire, which is "all-consuming, all polluting, it is our foe here on earth." The numerous desires surging in the human heart are the outcome of our ego-sense. When a man ceases to identify himself with his vehicles, his multifarious desires also come to an end and in this way he is freed from the shackles of sorrow and suffering. The more he desires the more he suffers. This is an inexorable law.

7. Man's right understanding of his true nature yields him another boon : he attains happiness which is his birthright. Every one wants peace, prosperity, comfort, and happiness, and seeks them in a wrong direction. The moment one of our heart's desires is satisfied, another one is born in it, and this process is an endless source of suffering. Health, wealth, honour, position, name, fame, grandeur, glory–these and many more such things which the world holds dear and prizes very highly, have no stable foundation, they come and go, they are impermanent and therefore painful in the last resort. Their attainment ultimately leads to sore disappointment and grief. "The

delights that are contact-born, they are verily wombs of pain, they have beginning and ending; not in them must rejoice the wise," says Shri Krishna.

Having experienced and realized the futility of earthly desires, the aspirant turns his attention inward and finds that his very nature being *Ananda* he is the fountain head of all joy and happiness. Thus he renounces his yearning for earthly enjoyments and attains peace and bliss which passeth all understanding, This is the highest goal that an Aryan sets before him to achieve.



KAIVALYA AND ITS PLACE IN DUALISTIC TANTRIC CULTURE

By Pandit Gopinath Kaviraj.

1

A CLOSE student of Indian philosophy cannot fail to be struck with the apparently anomalous attitude of certain schools of thought towards what is usually considered to be the highest object of spiritual pursuit of a man, viz. Kaivalya. The Vaisnavas, the Saivas, the Saktas – in fact most of the philosophical systems connected with some form of Agamic culture, – refer to it, as it was conceived in Sankhya and allied systems, as if it were a thing not worthy of our higher quest. We propose to analyse in the following lines as briefly as possible, this attitude of the champions of Tantric Sadhana (dualistic) and try to find out the place assigned to Kaivalya in it.

The term 'Kaivalya', which is pre-eminently a Sankhya term, conveys the sense of being 'Kevala' or alone. It implies the idea of purity and freedom from defilement. Purusa or Self is essentially pure : it seems to be defiled owing to its association, through non-discrimination (अविवेक), with Prakriti or Matter – an association which is said to be beginningless in time. The entire psychology of Sankhya discipline aims at producing a discriminative knowledge which reveals Purusa as distinct from Sattva i.e., Prakriti and helps it to be established in its transcendent purity, otherwise known as Kaivalya. It is a state in which Purusa by virtue of its essential character of awareness stands isolated from Prakriti as the self – conscious witness (द्रष्टा) of her undifferentiated existence, above and beyond the play of her forces.

2

It is well known that this conception of the soul's consummation does not appeal to most of the Vaisnavas. But before speaking of them we may try to find out the general attitude of the other orthodox thinkers. The Nyaya–Vaisesika conception of Nihsreyasa or Apavarga, as the destruction of the vises gunas of the Self, is more or less similar in character to the

Sankhya - Yoga view. Consciousness, like will, pleasure and several other qualities, inheres in the Self and forms an integral element in it's psychic life. Nevertheless it is a product and as such does not co-exist with the Self as it's constant and inalienable attribute. It arises in consequence of the contact of the mind (मनः) with the Self due to the activity of the mind - an activity which results ultimately from the function of the adrsta attached to the Self concerned. The saving knowledge destroys ignorance and cuts at the root of all adrsta. The higher *mukti* which follows upon the fall of body is thus a state of the Self in which consciousness and other qualities are conspicuous by their absence. In this lack of consciousness and other so-called psychic qualities there is a virtual agreement between Nyaya-Vaisesika and Sankhya conceptions. For in Sankhya, too, Purusa does not possess consciousness etc. as attributes: it is Chit in essence, indeed, but not *chetana* except in relation to *buddhi* which is a product of Prakriti. The position of Vedanta is analogous, save for its conception of unity of the Self, rather than its plurality as in Sankhya. It is true that the Vedantic Self is self-luminous, but consciousness or will as a quality does not belong to it. Qualities seem to appear in it on account of its apparent relation with Maya. It is evident, therefore, that the conception of Moksa in the various orthodox systems is in a sense similar and comes very nearly to the Sankhya view of Kaivalya.

3

The Vaisnava thinkers, however, evidently under different inspiration, raised their voices against Kaivalya as the highest end of life. The exact position of the Pancharatra Samhitas in this matter is not definitely known, though in view of the theistic character of their literature and the great emphasis they place upon Bhakti in their Sadhana it may be presumed that their attitude to Kaivalya was not marked by any sense of high regard. But the followers of Ramanuja school are very explicit on this question. They hold that Kaivalya represents an experience of the soul, through jnanayoga, of its own self as dissociated from Prakrti or Matter. There are two rival opinions current among the Vaisnavas as to the status of the soul which attains Kaivalya Mukti. According to the Tenkalais such an emancipated soul (Kevala) lives for ever in a corner of the Paramapada, having reached there by

the White Path (अर्चिरादि मार्ग) and enjoys there eternal and ineffable Peace, but it has never any hope of finding God and enjoying His Communion. Its life is like that of a forlorn wife forsaken by her husband. The Vadakalais on the other hand affirm that the Kevala lives, not in the outskirts of the Paramapada but somewhere within the dominion of Prakriti itself.* Kaivalya is thus from both the points of view distinguished from Moksa proper which consists in the experience of endless joy of Divine Presence (ब्रह्मानुभव), manifestation of Divine Powers and all kinds of service and ministration of the Divine Will according to differences in place, time and circumstances. It is realised through Bhaktiyoga and Prapatti and not through Jnanayoga.

4

The Pasupatas too like their Vaisnava brethren do not look upon Kaivalya as an object of one's highest spiritual striving. For they hold that though Kaivalya is indeed a state of freedom from Pain (दुःखान्त) it is negative in character and undivine (अनात्मक) : it is not Moksa proper and is regarded as inferior to higher Moksa (सात्मक मोक्ष) consisting in the manifestation of Supreme Power or Lordship (महैश्वर्य) i. e., infinite powers of knowledge and action. Being dualists they are naturally inclined to the view that even in the highest Moksa the liberated soul is not absorbed in the Eternal Divine Being. What really happens, they say, is that it becomes one with God in the sense that godly attributes are evolved in it. The evolution of Divinity inherent in every human soul is the end of Pasupata spiritual culture and though Kaivalya is a supernatural condition in which transcendence of Prakrti is effected by discriminative knowledge it does not amount to a destruction of animality or

---

* कैवल्यं नाम ज्ञानयोगात् प्रकृतिवियुक्तस्वात्मानुभवरूपोऽनुभवः। अर्चिरादिमार्गेण परमपदगत एव क्वचित्कोणे परित्यक्तपत्नीन्यायेन भगवदनुभवव्यतिरिक्तस्वात्मानुभवः। केचिदर्चिरादिमार्गेणगतस्य पुनरावृत्त्यश्रवणात् प्रकृतिमण्डल एव क्वचिद् देशे स्वात्मानुभव इत्याहुः।"(See यतीन्द्रमतदीपिका by Srinivasa, 76, Poona Ed., 1934.)

Dr. Schrader describes the kevalas in the following terms:—"There exists a second class of Muktas, namely the so-called Kevalas or 'exclusive ones' who are actually 'isolated' because they have reached *Liberation*, not by devotion to God, but by constant meditation upon the real nature of their own soul. They are said to be living, like the wife who has lost her husband, 'in some corner' outside both the Highest Heaven and the Cosmic Egg." (Introduction to the Pancharatra, p. 59). Cf. also P. N. Srinivasachari, M.A.—"The Philosophy of Visistadvaita" (Adyar, 1943) Pp. 347- -349.

pasutva and restoration of divinity or Sivatva in it. Animality is simply withdrawn in Kaivalya to be revived subsequently during creation. Hence it is said :

सांख्ययोगेन ये मुक्ताः सांख्ययोगेश्वराश्च ये ।
ब्रह्मादयस्तिर्यगन्ताः सर्वे ते पशवः स्मृता ॥

The higher Moksa is technically called Siddhi or Aisvarya, in which the powers of ज्ञान and क्रिया are infinitely manifested, and is distinguished from Kaivalya as described above. The Pasupatas state that all conscious beings with the exception of God and the Siddhas are *pasus* (animals) and exist in two states alternately, as embodied beings invested with Kalas (e. g. Karya and Karana i. e., bodies made of matter and faculties) during Samsara and as disembodied monads (विदेह) free from Kalas during Kaivalya (which isa state of Pralaya). The Kalas are the *pasas* or bonds which fetter the souls and compel them to be dependent on the external objects or Visayas not only for action but even for knowledge. This dependence (अस्वातन्त्र्य) implies absence of *aisvarya* or divinity which is its essential character. Hence in the eyes of a Pasupata bondage (बन्ध) is nothing but the loss of the soul's inherent divinity. The Kalas or *pasas* being the colouring elements called *anjana* the *pasus* are said to be of two kinds, viz *sanjana* when the souls are endowed with bodies and organs and *niranjana* when the bodies and organs fall off. But it is to be remembered that even a bodiless state as such cannot be the aim of human aspiration. The Pasupata Sutras declare plainly (cf Sutra V. 33) that Rudra sayujya (and not Kaivalya) is the supreme end of life and the commentator Kaundinya observes that it signifies a state of Yoga or indissoluble communion (सायुज्य=संयोग or सम्यक्योग).

The greatest defect in Sankhya Kaivalya is that it is a state of unconsciousness in which the soul does not know itself or others : सांख्ययोगमुक्ताः कैवल्यं गता स्वात्मपरात्मज्ञानरहिता संमूर्छितवत् स्थिताः (Kaundinya on Pasu-Sutra V. 40). In the case of highest Moksa the word दुःखान्त means not only cessation of pain, but also realisation of positive attributes, for which Divine Grace (ईशप्रसाद) is essential : दुःखानामत्यन्तं परमापोहो गुणावाप्तिश्च (Kaundinya on V.40).

5

From the aforesaid observations it would be clear that the Vaisnava and Pasupata cultural traditions, which trace their origin and authority to the earlier *agamas*, look down upon the ideal of Kaivalya in its usually accepted connotation as unworthy of acceptance on the part of a person who aspires after divine life and seeks for communion with God. We now proceed to ascertain the views of the Saivas and start with the Siddhanta School.

It is held by the Saivas, as by the Pasupatas, that Kaivalya cannot be the highest end of man, as it does not represent the fulness of his spiritual development. Every Atma is divine by nature (शिवमय) -is essentially one with or akin to Siva. But owing to obscuration of his nature through *Mala* from the beginningless past it has been deprived of this divinity which is its inalienable property and has put upon itself a veil of an undivine nature. The soul, whether temporarily associated with *Mala* or eternally free from it, is in essence always the same,—pure, unsullied and full of divine radiance (शिवमय). Its divinity consists really in its Saktis conceived as the unity of infinite powers generally under the categories of Knowledge and Activity. During the period of obscuration these powers are held in abeyance and are unable to function, so that the soul thus obscured is incapable of realising its intrinsic purity and persists in imagining itself as a worldly being at the mercy of external forces. Such a soul is know as *pasu* or animal. The Atma which is ever free from *Mala* is the Supreme Self or Parama Siva whose nature shines in its own Glory and Power from eternity.

The individual soul, though identical in nature with the Supreme Siva and sharing consciously in this identity during Moksa, is a distinct Being and retains its distinctness through eternity.* The disappearance of *Mala* restores it to its divine purity, but its mergence in Parama Siva is never attained. What is usually called the realisation of Sivatva is in fact the re-instatement of the soul in its lost status of Divine Glory.

As *Mala* continues to cling to the soul during Kaivalya this state cannot be held to be an equivalent of Moksa. *Mala* constitutes the *pasutva* or

* परम अनादिसिद्ध इत्यर्थः । मुक्तात्मनां तु तत् प्रसाद लब्ध शिवत्वयोगितया ततो वैषम्यम् । तत्व प्रकाशे—मुक्तात्मानोऽपि शिवाः, किन्त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः । योऽनादि मुक्त एको विज्ञेयः ।

animality of the soul and is opposed to the manifestation of its divinity. It is, therefore evident that until *Mala* is eliminated there is no qnestion of the soul returning to its Divine Status.

To understand the matter more clearly we must know what *Mala* is, how it affects the soul and how this affection can be got rid of

It is said that from eternity the soul is associated with an obscuring substance– a substance which functions under the Veiling Power (तिरोधान शक्ति) of the Lord. This substance is called Mala, the removal of which cannot be effected by knowledge (ज्ञान), however high. It can be removed only by an action (क्रिया)–an act, not of the human soul concerned but of the Supreme Lord Himself.

It is pointed out by the Siddhantin that what is usually called *Ajnana* or Ignorance is of two kinds. It may be (*a*) as in the case of an erroneous perception of a snake in a rope an instance of non-discrimination (अविवेक or अविवेकाध्यवसाय) of one who has had a previous experience of similarity (सादृश्य); or (*b*) it may be as in the case of perception of two moons in the sky when there is really one (or as in the case of perception of yellowness in a conch shell where there is no such colour) an instance of what is called विकल्पज्ञान due to the action of some disturbing substance present in the visual organ. Both are forms of *Ajnana* and known as such. But while the former is removable by Jnana (विवेकज्ञान) or discriminative knowledge, the latter cannot be so removed. Its removal is consequent on the removal of the substance which causes it. Removal of a substance is, of course, possible only through action.

The Siddhantin holds that the *Ajnana* to which the animal soul is subject is of the nature of a *vikalpa* due to the effect of a substance called *Mala* attached to it and can be removed only when this substance is eliminated. This substance constitutes the animality of a world-bound soul (पशुत्व). It is through association with this that the soul, essentially divine and possessed of infinite knowledge and power, degenerates into an animal or *pasu*. And when it is removed – and this removal is effected through an action (क्रिया) only – the soul recognises its inherent Divinity and is established in it. No action or effort of the soul is capable of this great achievement. It is done by an act of the Divine Personality entitled Diksa.

This substance is called M*ala*, because it conceals the *tejas* or Divine Light and Power. It is like the husk of paddy, the outer coating in the grain of rice. It helps under God's Will to produce concretisation in Maya in regard to the soul to which it is attached. Maya becomes productive under the action of Mala and gives rise to Kalas.

It is well known to an expert in practical alchemy that the blackish stain in copper (कालिमा), though innate (सहज) in it, vanishes under the action of the force of mercury (रसशक्ति). In the same manner, the Siddhantin asserts, the Mala which is ingrained in the soul and forms a part of its nature disapears through the operation of Divine Power (शिवशक्ति) during Diksa. The destruction of Maya, which is an artificial bond working from without (आगन्तुक), involves a process altogether different from that implied in the destruction of Mala which is innate or natural to the soul.

This substance is one, but its powers (शक्ति) are many, each power being in each soul subject to disappearance after its period of maturation comes to an end. The fact that *Mala* is beginningless (अनादि) does not imply a beginninglessness in the series (प्रवाह). It is impenetrable (अभेद्य) and simple. The powers of Mala function or cease to function as obscurant under the action of the Rodha Sakti of the Lord. But as the Lord is ever auspicious His Rodhasakti too is really no other than His Power of Universal Grace (सर्वानुग्रहशक्ति) treated as a bond (पाश).

HISTORY: ITS CONCEPTION AND METHODOLOGY

By Dr. Parmatma Saran.

Meaning of History. There are several senses in which the word history is used: (1) The actual course of events, or the events themselves. (2) A record or narration of the past events which is called historiography or the presentation of history. This is what constitutes the art of history. (3) Enquiry and knowledge gained by enquiry or investigation and research. This constitutes the science of history. But we must pause to consider what kind of science it is. Is it a positive science like chemistry or mechanics ? The answer to this question conveys the meaning and significance of history. Attempts have been made in the past by Positivits, followed by Determinists to reduce history to the level of physical sciences. This theory was, however, seriously contested by the votaries of free will as the dominant factor of human history and the controversy which raged between the two schools resulted in establishing the truth that history differs from the natural or positive sciences in respect of its method as well as generalisations, which are essential for an understanding of the laws that govern the march of human society. As to method it is a science not of observation or experiment but of enquiry and criticism; as to generalisations, since these relate not to matter but to mind and heart—a realm in which sentient motive and not blind force is supreme i.e., a realm of consciousness and freedom of thought—historical generalisations can never have that fixity and universality which are connoted by the term law in the realm of positive sciences. Thus history cannot be elevated or degraded to the rank of physical science, nor to any other type of determinism neither the theological determinism of St. Augustine nor the deductive determinism of Auguste Comte followed by Mill and others, nor the inductive materialist determinism of Buckle, nor again the geographical determinism of Ratzel and his school. Thus when Bury says 'History is a science, no less and no more' he only means that history must be treated as organised and formulated knowledge, with the sole aim and object of search after truth untrammelled by any predilections or preconcieved ideas.

The Nature and Scope of History:—History is the life story of the social man. It is neither a pile nor a catalogue of facts. It is a living personality, with a body and a soul, i.e., to say the form and the spirit embodied in that form. Just as the whole personality of man is something different, above and apart from all the parts of his physical frame taken together, similarly the personality of history is above and apart from the facts and events of history taken together. The external vesture constituting the form without the spirit which the former must embody will be a dead meaningless skeleton. It is the factors which control the progress and behaviour of man thereby investing civilisation with a character and meaning, which is the essence of history. Any attempt to study and comprehend history without a meticulous attention to the factors which shape it, is sure to mislead and create a distorted impression. It is the motives, situations and circumstances of a particular age, country and culture which lend a different significance to the deeds of man under different conditions while the form might remain similar. This sense of relativity is the *sine qua none* of a correct grasp of the life and character of human society and its achievements in any country or age. Besides this even the form of history can no more be made relevant and rational by a mere mechanical ordering of facts and events, than a pattern can be made by merely arranging the colours in a simple serial order. To make a pattern it is necessary to combine the colours according to a rational design concieved in our imagination. In this manner alone we can create a complete and a living picture which proclaims a mission and a message. What is true of a pattern is also true of history. The achievements of man in the past, the institutions which he has forged and his creations in the realms of art and science have all to be assessed in the light of the motives and circumstances which have controlled and shaped their origin and development.

The anatomy of the past is undoubtedly the essential frame work which must form the first stage in the study of history. But to understand the whole man we must know also his physiology as well as psychology i.e., his mental attitude and equipment. And society is in a sense the macrocosm of the individual microcosm.

Human history is pre-eminently the history of the human heart and the mind of man has mostly been used as an instrument to sub-serve the passions

and the yearnings of the heart with all its ingenuity and skill. It is the vested interests of one type or another which have generally ruled and guided the actions of the hero no less than those of the common man. As Emerson says, there is one mind common to all individual man, and history is the record of the work of this universa l mind. All history in Emerson's view is implicit in the human mind and the character and destiny of man is explicit in history. Emerson may appear to be exaggerating the role of the mind in moulding man's dystiny, but he is concerned with the subjective and the conscious factor alone and not the unconscious one of environment.

The study of history is a laboratory in which its anatomy is studied in every detail. Its body is ripped open, dissected and analysed. But this essential stage in the study of history must be followed by that organic synthesis which alone can make the personality of history live. The destiny of man is shaped by a variety of circumstances and causes arising from his clash as well as cooperation with his environment. Some of these factors and causes are obvious and easily comprehensible. Some are not so easy to discover and require a deeper probing and a critical mental apparatus, but some still remain latent and are too obscure to be grasped. That is why the texture of human history is so highly complex and makes it the most many-sided of all the branches of human knowledge. The extreme complexity of history arises further from the fact that it is essentially a psychological science. As I have said above it is a product of the activity of the human mind acting both in conflict and harmony with his natural surroundings. It is, thus, the language of philosophy,or in other words applied social philosophy in the broadest sense of the term. It consists of the living examples and practical illustration of the forces and factors which have governed the behaviour and advance of *homo sapiens* through time and space. And in as much as the events of history and the past deeds of man are relative to the subjective and objective, the temporal and spacial, the human and physical elements it is the social counterpart of the multi-dimentional universe of the physicist. There are several standpoints of looking at and assessing every fact and no fact has an absolute value. Moreover, history is the laboratory in which the theories of social philosophy are put to the test to be either vindicated or discarded. If philosophy is the eye of the social organism i.e., if it serves as an instrument of man's thinking, history is the

light by which the eyes are enabled to see. It provides the material and the basis for our social speculation, enabling it to be crystalised and synthacised into laws of human behaviour and progress.

The Scope of History:— Herodotos, the father of history in the West, had treated history as delightful and instructive story telling including in his narrative everything that he heard or saw without attaching much importance to a critical examination of its authenticity. For him the scope of history was very wide and rather indefinite. But Thucydides after him by confining his attention to Hellenic state affairs to the entire exclusion of the rich cultural activities and the economic crises that marked Athenion and Sparton history in his day set up the precedent for that school of history which affirms that the subject matter of history is nothing but past politics, represented in modern times by Freeman and Seeley in England and Ranke in Italy. But this view which restricted the field of historical investigation to mere politics has gradually been given up and it is now generally recognised that nothing is beneath the dignity of history's notice or outside the scope of its ken ; and that all the doings and sufferings of man-kind in every walk of life are proper subjects for the historian's investigation. Nay, more ; it is realised and asserted that unless historians do, as a matter of fact, take this extended and all comprehensive view, they are bound to present a distorted picture of whatever aim they may profess to portray. In short it is preceived that history is not so isolated a subject of study but is one of a group of kindrad studies, which together make up a general 'science of society'— 'a science foreshadowed by the analytical genius of Comte in France and by synthetical ability of Spencer in England' (Hearnshaw). Thus history as a science is a mode of enquiry rather than the study of any particular subject. In order to acquire a content it has to associate itself with some adjective or other — such as political, economic, religious etc. It is however to be remembered that while we choose the study of any particular aspect of history, as naturally we must, we have to do so 'in the light and consciousness of the whole because all history is a living unity' (W. Stratford). You cannot rejuvenate a corpse after cutting it into pieces. When a surgeon, for instance, wants to treat a particular organ of the body as a specialist he does not do so by cutting away the organ. On the

and the yearnings of the heart with all its ingenuity and skill. It is the vested interests of one type or another which have generally ruled and guided the actions of the hero no less than those of the common man. As Emerson says, there is one mind common to all individual man, and history is the record of the work of this universal mind. All history in Emerson's view is implicit in the human mind and the character and destiny of man is explicit in history. Emerson may appear to be exaggerating the role of the mind in moulding man's dystiny, but he is concerned with the subjective and the conscious factor alone and not the unconscious one of environment.

The study of history is a laboratory in which its anatomy is studied in every detail. Its body is ripped open, dissected and analysed. But this essential stage in the study of history must be followed by that organic synthesis which alone can make the personality of history live. The destiny of man is shaped by a variety of circumstances and causes arising from his clash as well as cooperation with his environment. Some of these factors and causes are obvious and easily comprehensible. Some are not so easy to discover and require a deeper probing and a critical mental apparatus, but some still remain latent and are too obscure to be grasped. That is why the texture of human history is so highly complex and makes it the most many-sided of all the branches of human knowledge. The extreme complexity of history arises further from the fact that it is essentially a psychological science. As I have said above it is a product of the activity of the human mind acting both in conflict and harmony with his natural surroundings. It is, thus, the language of philosophy,or in other words applied social philosophy in the broadest sense of the term. It consists of the living examples and practical illustration of the forces and factors which have governed the behaviour and advance of *homo sapiens* through time and space. And in as much as the events of history and the past deeds of man are relative to the subjective and objective, the temporal and spacial, the human and physical elements it is the social counterpart of the multi-dimentional universe of the physicist. There are several standpoints of looking at and assessing every fact and no fact has an absolute value. Moreover, history is the laboratory in which the theories of social philosophy are put to the test to be either vindicated or discarded. If philosophy is the eye of the social organism i.e., if it serves as an instrument of man's thinking, history is the

light by which the eyes are enabled to see. It provides the material and the basis for our social speculation, enabling it to be crystalised and synthacised into laws of human behaviour and progress.

The Scope of History:— Herodotos, the father of history in the West, had treated history as delightful and instructive story telling including in his narrative everything that he heard or saw without attaching much importance to a critical examination of its authenticity. For him the scope of history was very wide and rather indefinite. But Thucydides after him by confining his attention to Hellenic state affairs to the entire exclusion of the rich cultural activities and the economic crises that marked Athenion and Sparton history in his day set up the precedent for that school of history which affirms that the subject matter of history is nothing but past politics, represented in modern times by Freeman and Seeley in England and Ranke in Italy. But this view which restricted the field of historical investigation to mere politics has gradually been given up and it is now generally recognised that nothing is beneath the dignity of history's notice or outside the scope of its ken ; and that all the doings and sufferings of man-kind in every walk of life are proper subjects for the historian's investigation. Nay, more ; it is realised and asserted that unless historians do, as a matter of fact, take this extended and all comprehensive view, they are bound to present a distorted picture of whatever aim they may profess to portray. In short it is preceived that history is not so isolated a subject of study but is one of a group of kindrad studies, which together make up a general 'science of society'— 'a science foreshadowed by the analytical genius of Comte in France and by synthetical ability of Spencer in England' (Hearnshaw). Thus history as a science is a mode of enquiry rather than the study of any particular subject. In order to acquire a content it has to associate itself with some adjective or other — such as political, economic, religious etc. It is however to be remembered that while we choose the study of any particular aspect of history, as naturally we must, we have to do so 'in the light and consciousness of the whole because all history is a living unity' (W. Stratford). You cannot rejuvenate a corpse after cutting it into pieces. When a surgeon, for instance, wants to treat a particular organ of the body as a specialist he does not do so by cutting away the organ. On the

other hand he must do so by treating the organ as a living part of the whole. Similarly even specialised studies of the different aspects of history are bound to lead to distorted views and conceptions unless and until they are looked at in the light of the broad aspects of history as a whole. You have thus to breath life into it as a whole which means the bringing to life the guiding ideas, the mental and spiritual processes, of which the incidents of history are but causal manifestations. When these processes are revealed the various positive achievements of man as well as his failures will take their proper place in the whole design which is called civilization. The design being thus clearly set before us the central laws or the main currents of our chosen fields of historical study will be clear and manifest.

The Function and use of History:—But what profit is derived from the study of the past, is a question which is commonly asked. 'If that past is dead and done with' says Stratford, 'the historian is more useless than the old resurrection man, who at least dug up corpses for the use of surgeons. But the past does not die; so long as spiritual continuity is maintained, the present life of a community is its whole accumulated past, and by understanding the past alone can it understand itself or determine its future. A people unconscious of its history is like a man smitten with loss of memory who wanders about aimlessly till he comes to grief.' To comprehend how history is a living and spiritual continuity and not a dead corpse, it will be enongh for us to remember that what we are today we are as a result of the sum total of the acheivements of our ancestors from the earliest times. Supposing we were to wipe out all this accumulated treasure of the past of which we are the inheritors we shall find ourselves thrown back to the position of the earliest primitive man when he was just commencing his struggle with his environment.

There is a profound truth in the saying that in the domain of the achievements of man the youngest amongst us are the oldest. They are the inheritors of the accumulated treasures of the past A knowledge of the past widens the mental horizon, trains the judgment and enables the mind to place man and events in their proper perspective. If all values of life are concieved as relative their relativity can be understood and explained only by a study of history which holds us to form a true conception of what is transient and what is

permanent. It enables us to explain and interpret the values of the present and also to understand how and why man has come to be what he is today. It assists us in the explanation and understanding of the laws which should govern our future progress. Thus a true understanding of history is essential to the higher culture of the mind.

But there is a pregmatic value of history as well. The enlightenment of the mind, the right appreciation of values, tolerance, sympathy, breadth of vision, capacity for adjustment combined with courage of convictions and freedom from self-delusion which ought to be the fruit of history, make a man a real world citizen. And if the highest aim of the citizen's culture is to learn the art of life which implies an understanding of how to live with his brother man, how to add at least in some measure to his happiness, how to make life sweet and stimulating for our fellow beings, how to contribute one's share to the common good and to human advancement - no study is more useful and more productive of wholesome results than that of history. History liberalises and broadens the vision and inspires awe by its prodigious many sidedness and its endless significance of human activity. It affords a lesson for the tyrant, the exploiter and the mighty no less than for the saintly and the meek or the poor and miserable. In short, it teaches us to live on the past, in the present for the future. The conception of history for its own sake without relation to our philosophy of life and action has no meaning. In India just as there are no fine arts in the sense of art for its own sake, without any bearing on man's life and its ideals, even so there is no history without relation to our individual and social life and its manifold problems

But it is not only a means of instruction and stimulation or 'of social salvation' in the words of Stratford. It is also a means of delectation and provides inexhaustible interest from the very fact of the countless variety of its aspects and phases. Without the knowledge of history a man moves in his country as one who has lost old memory of his own house. But how such a knowledge makes the whole surroundings and landscape alive to us can better be imagined than said. As a store house of the past history serves as race-memory and it is in and through history that the past lives in us and we live in the past.

II

Methodology of history

Among the principles for the study of history the foremost place must be given to the attitude and standpoint of study. Freedom from any preconceived ideas, or any kind of parochial bias is the first qualification of a historian. History is a forum on which all sections of humanity meet on an equal basis. This is a tribunal where none is great or small except by intrinsic merit.

History is the mother of social sciences. Like Politics its approach is socio-psychological and it seeks to discover behind the doubtful veil of facts the hidden springs and motives of actions. But there is a radical difference between the attitudes of history and politics. History is cold, while politics is hot. Politics cannot take a detached view of things. History on the contrary to be true to itself must maintain the coolness of detachment and caution even against unconscious bias. The bark of Clio will not sail under any particular colours. It must steer midway between Scylla of *suppressio veri* and the Charybdes of *suggestio falsi*. It may however be conceded that history must suffer from certain inherent limitations in as much as it is often not altogether free from the subjective element which every man unconsciously must have. The interpretation of the material of history must bear in however small a measure, the complexion of the subjectivity of the historian. In this sense all history is contemporary. All the same however, there need not be any conscious attempt to force conclusions and draw inferences or to seek to find justifications for our wishful thinking, which the date of history will not warrant. There is to my mind no better or sublimer prayer for the historian to offer than that soul stirring and elevating utterance of the sages of the Upnishads—तमसो मा सद्गमय । Because it is light and truth which are the keynote of real progress and happiness and history opens the door to true enlightenment.

I have just said that a correct psychological approach is the primary condition of the study of history. This is to be followed by what may be properly called the science of history, and lastly by the art of history that is to say its presentation. The science of history is concerned with the search of materials and the selection and collation and also the investigation of facts and events and their interpretation.

The materials of history have been classed bıoadly under three heads :— 1. Recollections of the past found in various shapes and forms such as written records, traditions, conventions, customs, and practices which have come down from times unknown. 2. The relics of the past in the shape of art, archaeology and its various branches. 3. And the consequences of the past events and the movements.

Some people would like to include the collection of sources and materials or the documents of history as a part of the historical method. But while this is in a sense the most important factor, being the basis of all historical studies, it cannot be called an integral part of historical method. Nevertheless it is surely of fundamental importance for the study of history.

The chief parts of the whole process of methodology are :— 1. Selection, 2. Textual criticism, 3. Interpretation and 4. Presentation. The subject of methodology is so vast that it requires a separate and independent treatment by itself. Here I can give only a bare outline of its principles.

1. *Selection* :—Selection and arrangement of the materials is the first thing for the researcher to do. This is techinically called Heuristics. It involves a classification of the evidence available, collation of manuscripts in order to find out as far as possible the original source from which the manuscripts under examination have been copied or derived. Heuristics would require a knowledge of paleography, epigraphy and philology in the case of the collection mainly of materials of ancient history. But in general it requires a knowledge of archaeology and the allied sciences of economics, geography, anthropology, metrology, numismatics, but chiefly a knowledge of all those languages in which the original sources of the particular branch of study are found.

2. *Textual Criticism* :— Textual criticism is simply the application of common sense as F. W. Hall defines it to a class of problems which beset all inquirers whose evidence rests upon the authority of manuscript documents. Its object is the interpretation and the controlling of the evidence contained within the manuscript of a text or in documents so that we can reach as far back as possible and try to recover the authentic text or to determine as nearly

as possible the words written by the author himself. In other words, it is the skilled and methodical exercise of the human intelect on the settlement of a text with the sole object of restoring it so far as possible to its original form i. e., the form as it was intended by the author. Such a restoration is often called a critical recension, or technically recencio.

Another important step in the restoration of a document to its original form is called 'Emendation'. This process consists in the attempt to arrive at the text of the author, and in a sense getting behind the written evidence by over-ruling it where ever necessary from certain intrinsic considerations. It some times involves the rather risky process of correcting the text or even supplying those portions of a text which may be missing. It is necessary for the sake of ascertaining the original form of the text to find out the date of the author and the date when the work was originally written and when the recension under examination was copied. If the work happens to be the first copy of the original its reliability is generally supposed to be very great. The reliability of a document varies in direct proportion to the descending order in which it has been copied because in every transcription there are possibilities of errors being added either by oversight and misreading or by the deliberate exercise of ingenuity by the copyist which is often found in Persian scribes. Further an investigation of resources from which the author himself drew his materials, and the relation of the author to the subject of his narrative, whether they are men or events, is again of the greatest importance. Some times the true and correct copy of a document is arrived at by comparing several copies all of which may be partly correct. All the above mentioned methods which are employed for finding out the soundness of the documents and so far as possible their original form come under the category of external criticism.

3. *Interpretation or Internal Criticism* :—The aim and function of internal criticism which is called the science of exegesis or hermaneutics is to know the internal value, the reliability and the character of the documents. In other words the object of internal criticism is to disclose what is to be accepted and what is to be rejected from the text of a document. This is generally divided into two processes: 1. Positive interpretative criticism and 2. Negative criticism.

Positive interpretative criticism analyses the contents of a manuscript with a view to understanding both its literal as well as real meaning. First it is necessary to know the literal meaning of the language of the author, because the significance and import of words undergoes constant changes from time to time and from place to place. Then he has to understand the real import of statements of his texts by ascertaining their character. For instance, the documents for a certain subject may consist of private chronicles and reports or court histories, *farmans* or royal ordinances, and edicts, official newsletters and bulletins, reports of the intelligence department, etc., or again they may be in the form of poems, penegyrics, *prasastis*, and kindred writings or inscriptions. All these classes of documents have different values and they require a great and skillful eye to make them yield their true meaning.

Negative criticism analyses the condition under which the documents were produced. The most important of these conditions is for the researcher to know the character of the author, his position in relation to the subject of his work, his particular inclinations and motives and his general level of education as also his sense of importance about the accuracy of his statements. Witness, for instance, the writing of such authors as Minhaj, Zia, Barani, Badauni, Abul Fazl and the Jasuit Fathers. Without bearing in mind the character, the political situation and the mental attitude of these authors, we can never read them between the lines. A glance over the historical literature of our times will reveal how many a scholar has had his bark foundered on this rock, simply on account of the fact that most of the early European writers and their Indian disciples have based their accounts very often on a more or less wrong understanding or at best on a literal understanding of the originals. But there is another leak in the bark of these historians which has characterised chiefly the British authors in respect of their writings of Indian history. They have not only tried to misinterpret but also have laid a disproportionate emphasis upon such authorities, as for instance, the accounts of the Christian visitors and European travellers. There has been in our times a great deal of purposeful historiography, in which the sources have been mercilessly twisted, tortured, half quoted, quoted out of their context, mis-quoted and even forged in order to bear out their intended meaning and preconceived

conclusions. There is no end of such interested writings in regard to Indian history at the present time. Then there are some other factors too which render the observation of a certain class of writers unworthy of acceptance or, at the most, worthy of partial acceptance only. The most important of these factors is the incapacity of foreigners, like, for instance, the Jesuits or European travellers to understand aright the spirit of the institutions and customs of a land not their and the ideals and practices of a ruler of different nationality and faith. Further such writers may and do suffer from their own pet prejudices, their perochial outlook, their religious rigidity—all these are calculated to lend complexion to their statements and detract from the accuracy and even the propriety of their observations. The writings of such authors therefore must be read with due caution and care. An Example of the character of a writer like Thomas Roe gives a list of Mughal provinces and says he took it from the *king's register*, misled Moreland and Foster.

The next factor in the methodology of history is negative criticism which means, in short, accepting or discarding a fact by the absence of any contemporary evidence.

Finally we must also include an examination of the value of traditions, both written and unwritten, of conventions and practices, customs and ceremonies which have come down from an unknown past and are very much alive till today. These are to be worked back to their origins and carefully sifted and weighed through the many stages of variations and modifications which they have or are likely to have undergone. In a country like ours where social institutions have survived from times immemorial, this class of historical sources is of the highest importance for the comprehension of our earlier social and cultural life.

The next stage in the historical method is reached when we have done with criticism. This consists in systematising and classifying the data which are gathered from the sources.

The old method was that of collecting notes in a notebook. More often this method leads to a jumbling up of the whole material which becomes very difficult to classify and organise. Some people still continue to stick to this practice. We are after all a conservative people and our habits die hard. The

latest and most scientific method, however, is what I prefer to call the card-system, otherwise also called the slip-system. Historical data in this system are noted, in full or in brief, just as it suits the researcher either on slips or cards bearing full references to their sources, dates, authors, and so on. These cards are classified under certain heads or topics, and each card contains usually one fact only. But ocassionally several facts of the same class or those relevant for the same topic may be noted down on one and the same slip so far as possible in a chronological order. In giving references of the different data we should mention full details including the particular rescension or addition and impression in the case of a printed document as also the date thereof. In order to keep the cards of each topic in serial order we should note on the corner of each succeeding card the name of the topic and under it the number of the card. These cards may be prepared and arranged either topically or chronologically, but it would be best to combine both the systems. In the chronological system all the facts in a particular year or interval of time are noted down on consecutive cards while in the topical system all the data bearing on a particular topic are picked out and noted. It is obvious that the data of separate topics are culled out and also arranged in a chronological order severally. It would make the work of using them much simpler and easier and would minimise the chances of omissions and errors.

Very often a single fact is found to have a bearing on several topics and aspects included in the subject of research. In such cases the cards of each separate topic should bear a cross reference to the relevant facts or data contained in other groups or batches of cards, so as to enable the writer to reshuffle his card, without confusion and get at all the relevent data easily at the time of writing. This also precludes the possibility of missing or forgetting the use of the data in all their possible applications.

4. *The Writing or Presentation of History*:—When the researcher has collected and systemtised his materials he is ready to proceed to the last stage of his labours, namely, that of presentation or the writing of history. The first principle of writing that he should bear in mind is the correct attitude exactly as a right attitude is essential in judging and finding out the import and the real meaning of the evidence at his disposal. Here the historian should be able to

stand out-side his ownself, as it were, that is to say, he should cast off all his preconceived ideas and start with a clean slate. In other words he should be mentally naked before history in order to be able to clothe his mind with the correct and precise texture of history as reconstructed and created out of his materials. I have had very often to ask my post-graduate students first to forget all that they have learnt or mislearnt and to scrape out of their mind all the current ideas and theories on which they have been popularly fed. This naturally puzzles them out of their wits but they begin gradually to recognise the value of this attitude as we proceed with our work. For without a mind free from the obsession of all sorts of popular ideas and beliefs, many of which have been unfortunately spread by our text books of history, a scientific integrity and mental objectivity which are the primary conditions of a faithful historical presentation, are impossible. Then again, the historian cannot afford to forget the principle of relativity and proper perspective both of time and space. The estimate of a particular event, action or behaviour, for instance, can be correctly made only in the light of the criteria and ideals of its own age and place, relatively and on the canvass of the culture and society that lies behind it, e.g., the Islamic reform of the Arabian Prophet. *Nothing should be torn out of its setting. Nothing can retain its natural form or original shape if and when it is taken out of its context.*

The Style :—As regards style it must, and will vary vastly in accordance with the different classes of subjects to be dealt with. History has no end of variety of subjects ranging from such subjects as economic history or the study of metrology etc., which are comparatively exact and mathematical to such subjects as the history of social systems and institutions, and that of the technical and fine arts and above all the history of the human mind and the human heart. So each subject must be clothed suitably to its nature. But in the midst of all this variety of style and presentation, one fundamental principle must be strictly and universally adhered to. Fidelity to accuracy of facts and preciseness of statement should never be sacrificed to embellishment of diction and refinement of language. True art is never false nor is it misrepresentation. It lies in the faithfull rendering of the object and not in its distortion by loading it with over refinement and ornamentation.

System and Reasoning :—The next important principle of historical presentation is a methodical and well reasoned art of writing. The narrative of arguments should follow in a connected chain, each step answering to the succeeding one in a natural flow. In interpreting and drawing conclusions, anachoronism is a very common pit-fall from which scholars find it usually difficult to escape. Facts picked out from times and climes far remote from one another are generalised and interpreted to imply certain common conditions or laws. Not unoften isolated facts are taken as sufficient evidence to draw conclusions or to build generalisations upon.

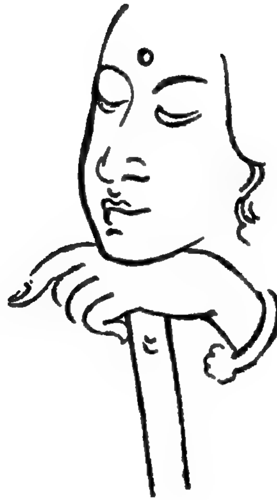
Further very often the statement of data and facts as derived from the sources are confounded and mixed up with our conclusions. This should be carefully avoided. But the most important rule to be observed is that no facts have any complexion or meaning in themselves except in the light of the motives, behind them and in their context, that is to say the circumstances and environments which lend them a habitation and a name.

Coherence :—Consequently it is of the highest importance that the presentation of history should be coherent and logical. It must make the whole picture stand as a living reality with proper and proportionate places assigned to all its constituents. A mere conglomeration of facts and data can no more make history than a heap of bricks and morter can create a building or a collection of colours, a portrait. We must remember the principle that a crowd is not a society and that history is and ought to be the living expression of the life story of human society.

The Different View-points :—Lastly it must be affirmed that true scientific history should not suffer from any kind of bias—patriotic, sectarian, racial or national. In respect of this, however, it seems necessary to make clear the implication of national history or the nationalist view-point. If we mean by the nationalist view point that the presentation of history must be delibrately and consciously tempered with or coloured and the ideal of scientific integrity slackend, our position will be entirely indefenisible But there is a real sense in which the national viewpoint has more chances of approximating or conforming to the scientific standard, and it is this that, facts, apart, those foreigners who have not tried to enter into the spirit of the cultures of other countries and nations

than their own, suffer from a constitutional incapacity to comprehend the true value and significance of their institutions and culture. It is this sense in which a national stand point may still be the correct and scientific measure of history writing, in certain aspects of it, at any rate.

These are the principles which I hope will be greatly helpful to all students of history and of the social sciences as well.



THE KHALSA : A NEW HUMAN IDEAL

By Principal Gurumukh Nihal Singh.

IN the multiple Indian culture the Sikhs have made a valuable contribution. The Sikh Gurus not only gave a new religious synthesis to the people of India but they gradually built up the Khalsa—a new human ideal. The circumstances which gave birth to the Khalsa may be briefly stated here.

During the latter part of the 17th century India witnessed a wave of religious bigotry and tyranny. Aurangzeb was then on the Mughal throne. He was a pious but bigoted ruler, who had taken a vow to advance Islam in India by all means, if necessary, by the sword. Guru Tegh Bahadur could not bear to see the sufferings of the people, especially the denial of the freedom of conscience to them, and he decided to offer himself as a sacrifice to put an end to this state of things. He went to Delhi, but was made a prisoner and was offered the alternative of conversion or death. He chose the latter and suffered martyrdom to defend the liberty of conscience. Guru Tegh Bahadur's martyrdom stirred the people and created a feeling of indignation in the minds of the non-Moslem population. It was at this time that the tenth Guru, Sri Guru Govind Singh, a boy of nine years undertook the task of reorganising his followers, training them into fine soldiers and infusing in them a new undying spirit. He set out with great courage, steadfastness and wisdom to accomplish a very difficult task and for this purpose created the pure and invincible Khalsa by instituting the baptism of the sword.

About the end of the seventeenth century one day Guru Govind Singh held a big assembly which was attended by a large number of his followers from far and near. He entered the assembly with a naked sword in hand and demanded a human sacrifice. This he did five times, and in this manner selected the five beloved ones. He prepared the baptismal water in an iron bowl, by stirring sweetened water with a double-edged dagger and by reciting inspiring words over it, administered it to the chosen five, and thus founded a new brotherhood based on the highest moral principles. After the five beloved

ones had been baptised he made them prepare the baptismal water in the same way and asked them to administer it to him, to remove the distinction between himself and his disciples which led to the following tribute being paid to him : "Bravo ! O wonderful Guru, who is himself both teacher and disciple !"

Through this baptism Guru Govind Singh drove out the fear of death from the minds of his followers and gave them a new confidence and faith which as history records, worked wonders. Guru Govind Singh sacrificed his all—his father, sons and himself—to make his followers great ; and on the basis of equality, sacrifice, devotion, fearlessness, service and faith in the oneness of God, he built a new human ideal.

This new type of man was neither a religious recluse nor an avaricious worldly man, neither a believer in the doctrine of *ahimsa* (non-injury) nor a follower of the Bismarckian doctrine of blood and iron but one who is a remarkable amalgam of the saint and the man of the world ; who lived in the world and was yet out of it ; and who was engaged in self-realisation, but at the same time lived his life for others ; who did not shun wordly possession or religion, but was ever ready to sacrifice them all. He was gentle, God-fearing and honourable on the one hand and brave, fierce and ruthless towards the enemies of religion and humanity on the other ! He repeated the name of the Lord on his iron rosary with one hand and killed the tyrants and oppressors by his sword with the other ; even at the time of fighting he kept on shouting *Sat Sri Akal* (God is true). He was sometimes more than a mere monk or a mere householder, a mere preacher or a mere holy warrior – a crusader of the eleventh century, a puritan soldier of the sixteeth century, or a warrior fighting under the orders of the Khalifa. He was a Khalsa the pure one, who did not believe in caste, colour, sex or credal differences ; who believed in the oneness of God and the brotherhood of man ; who endeavoured to live a life of usefulness, charity and purity ; who repeated the name of the Lord himself and helped others to do the same ; and who dedicated his life to God and the Gurus, to the service of humanity and to the protection of the weak and the oppressed.

Such was the new Ideal laid before the Sikhs by Guru Govind Singh, the tenth and the last Guru of the Sikhs. It did not remain merely an ideal but was translated into reality by a large number of Sikhs not only in the remote past but also in the twentieth century.

MODERN VIEWS OF ART

By Asit Kumar Haldar.

IT is rather interesting to study the modern tendencies in the revaluation of art through scholarly criticisms. The approach is purely a scholastic one. It embodies scientific, philosophical, economical and psychological ways of thinking devoid of such creative experience and equilibrium which artists actually enjoy in their creation. This new approach to art has originated with the advancement of the new science of psycho-analysis in Europe. The same scientific mind of Europe prevailed in earlier days and was responsible for bringing art more to the realistic and representational forms. The artists of Europe too discovered themselves by their generations of progressive pursuit the laws of perspective and of light and shade, to perfect their standard in bringing about three dimensional aspects of nature on the flat surface of their canvas. Ultimately of course science went a further step forward by the invention of photography. The result was that in the Twentieth century artists of Europe began to think afresh to overcome such problems. At this opportune moment the modern scholar-critics well equipped with their experimental science of psycho-analysis came to rescue them. They began decrying early achievements as too romantic and thus full of sophistications. Traditions seemed to them as bondage and such adventure in art as freedom. Though this new approach to art cannot be acknowledged and appreciated by all the practising artists and many of them would revolt against it but none could escape these philosophers who are writing volumes after volumes, analyzing all the aspects of art and its creations.

These modern critics stress the significance of the unconscious, and find in the primitive crude drawing the full blossomed art and in caveman's or child's sketch the real beginning of art–forms. Modern critics therefore are averse to traditional and representational art–heritage. To them therefore ignorance is nothing but primitive simplicity and knowledge acquired through the study of traditional art is sophisticated and should be considered as unreal.

To understand the changes in such outlook for selecting beauty, we must study the various attitudes of scholar-critics and philosophers of Europe. The meaning of beauty has been defined by the philosophers and scholar-critics from the time of Aristotle to that of Clive Bell in various ways. Some attributed that 'the beautiful is that which has a specific form' and some emphasized the technique—the 'feeling of pleasure through the successful manipulation and exploitation of a medium'. Kent, Nietzsche and many others cherished the idea that 'any creation by a genius must be beautiful.' Plato's ideal expounded by Ruskin, Tolstoy, Morris, Bergson reveals that 'any work of art expresses Truth, the Spirit of Nature, the Ideal, the Universal, Divine goodness or the Typical, is beautiful'. And ultimately Clive Bell thought 'anything is beautiful which excites specific emotion' – thus the word "significant form" came about. In 20th century universalism in art has been sought by many scholars and a "state of equilibrium" has been conceived as the universal definition of beauty. In this, all the elements selected by the artist should be arranged in harmonious ways to bring the observer to that state.

In India too, some of us began studying these problems and found consolations in imitation of provincial Primitive folk art and even the sur-realist school amongst the modern artists of our country. We should not however forget the essential differences in the characteristics of the Oriental and Occidental mind while judging arts of the two continents. The Oriental mind both in India and China developed through their religious ethics an emotional approach in creative work rather than scientific analysis. The peaceful elements in life and joy for creation are the essential cultural features of the Orient, whereas, intellectualization through scientific research in art is evident in Occidental culture. To illustrate it we might mention here that the Oriental artist while depicting a tree would observe closely the laws of nature governing the particular species in branching and arranging the leaves and bringing about rhythmic decorative patterns which the very life-energy has expressed instead of its superficial representation, which is obvious and could be copied out or perhaps photographed. In Indian art this dynamic decorative quality is developed and captured through the artist's own emotional feelings and as such, cannot be true to nature in the strict sense of it. On the other hand the modern trends in European art expressed in sur-realist, Dadaist and

futurist schools are but psycho-analysis done by the artist in copying primitive and child-art — which is considered by them as the germ-force in creation.

Even undeveloped Byzantine and Folk arts are tolerated by these intellectuals more than the spontaneous associational objective arts of the Orient. The psycho-analysts know very well that the germ is not the finale of creation and if we go further back to it, we shall be lost in the horizon and a cipher would be its result. By self-analysis through the medium of paintings and sculpture these artists have been able to imitate the child which could bring about illusion in art rather than its spontaneous evolution. Nature brought about gradual evolution from the primitive germ-cells to the complicated human beings. The artists also expected to build their heritage by acquiring knowledge and achievements of the masters in the past.

To understand the art of a country, the historical and ethnical conditions and culture should have to be examined at the outset. The earliest Indian culture of Mohenjo-Daro and Harrappa goes back to about 3,000 B. C. It gradually developed through centuries of cultural contact with other Asiatic nations viz., Chinese, Scythians, Persians, Aryans and Mongolians. To understand Indian art, we shall have to keep the cultural history of Asia as its background, with the general trend of religious and philosophical expressions of it as a whole.

In India Hindu philosophy sought a synthesis of the universe in a fundamental dualism of mind and creation, of *purusha* and *prakriti*, that promoted an experimental emotional approach in both religion and art; whereas in other countries religion emanated from a heaven-born personality and full of rigid dogmas that hampered art. In India the religious enquiry and its philosophy began spontaneously from the enquiry of a child about the natural phenomenon. In Vedic period in India Nature-worship was thus developed into the dual idea of *Purusha* and *Prakriti*. This is one of the reasons why the Indian views life and art in more poetic ways than the Occident. Indian philosophy always remained mystic and poetical. Greek philosophy was exercise in prose. There lies the difference in attitude of thinking. Hindu art is the natural sequence of aesthetic appeal evolved through early pre-historic

humanity. It therefore tried to render the emotion evoked in the mind by observing life and phenomena through art. In this case there is no going back to the fundamental primitivity nor is there a chance of deterioration by copying primitive art. Indian art developed through observation and thinking. The stability in nature, the emotional expression to be found in the landscape and the sky were studied deliberately by the artists of India. They thus evolved dynamic decorative and rhythmic form in art which is essentially Indian.

Not only in Indian but also in Asiatic art the emotional quality sought by the artists is evident. There goes a story about the famous artist of Japan – Hokusai that while drawing a "Tiger in Rage" out of his imagination, became so emotionally moved that he went actually to bite inmates of the house. Another artist while going to depict a "Crane fishing" stood whole night on one leg to bring out the right expression of it on his canvas. Although these stories show exaggeration, one cannot deny the fact that there is always a substratum of deep emotion in everything that is conceived by a real artist. The Oriental mind could be understood from these stories how they are emotionally disposed and poetically inclined. The art of the country therefore, should be judged and developed through such thorough understanding and not by the study of the so-called literary–art criticism. Preconceived ideas formed by such reading of art-literature without proper understanding of art itself, would stunt the natural growth of Indian art and would lead to the imitation of the Primitive Folk Art of no significance. If we study the past achievements of the classical arts of Ajanta, Sigiria, Bagh and the later developments of Moghul and Kangra continued upto the 17th century, Cochin Murals, we shall see that the Indian school of art differs greatly from the art of other countries. There is no reason why we should go back to the principles laid out by the psycho-Analysts-Art critics and attempt self-analysis through the medium of art that leads eventually to the lowest childhood-levels of the sub-conscious mind, where expression is incoherent, uncertain and inadequate. The difference of insane from sur-realist work is that the latter boldly displays such primitive images consciously and thus goes beyond objectifying them and create a "nonsense-symbolism" – which is to a psycho-analyst the reality governed by true aesthetic value devoid of intellectual and literary interest. The intuition plays actually a large part in all such creative activities and as

such deliberate self-conscious research has got no place in it. Even in histrioni art the actor should have to be absolutely free from such self-conscious attitude to play his role faithfully.

In India our views of life and art differed greatly and the symbolism displayed in Indian art produced poetic and mystical appeal which is the essential feature in producing emotion in art. Indian artists never tried to imitate nature but gave expression of the impression conceived through their emotional qualities. This could only be understood by the sympathetic study of their *Yoga* and *Dhyana* and the philosophy of their life and religion. As in India we have such an heritage in art and a development which was noticed in the works of even up to the 11th century of the Christian era, there is no reason why we shall borrow new ideas from the psycho-analyst school of sur-realism and determine our own by their judgment. It will lead nowhere but to the primitivity and simplicity of a child and ultimately result in emptiness of a void. The joy of life for which art stands, requires romance and as such, the principles and canons laid out by the ancient Indian artists, cannot be ignored as they developed on a rational basis and lead to romanticism and showed a distinct evolution from the primitive to the classical.

In depicting romanticism through subject-matters of human interest, neither of these Indian and western artists have done any disservice to their country's art. Art can only come nearer to the people's heart if it bears such human interest. Abstract colour, lines and forms however rhythmic they may be, can perhaps evoke surprise but cannot inspire human emotion. Such work however could be a playful pastime of an artist which would require no serious endeavour. On the other hand to conceive subject-matter in art it would involve time, serious pursuit and mainly academic discipline. Art without discipline is no art. Romantic art which requires thorough knowledge of tradition cannot be produced as mass production, whereas the present machine-ridden Western world has its sur-realist school which can go without tradition and discipline and therefore could be multiplied in number without the least trouble and thought. In the matter of romanticism and discipline Indian art does not differ from the Western school of painting. But from close observation the differences could be observed as in Indian art true imitation of nature is lacking. Indian art in this respect is a natural evolution and development of

primitive expression which to some extent could be compared with the modern Western school of Impressionism. The human interest in art can indeed be evoked through the subject-matters. As it plays emotions of the spectator it brings him nearer to art and its creator. When we move about the caves of Ajanta observing multifarious images depicted on the walls we become at once one with the artist who painted them thousand years back. The panoramic scenes of various historical and mythological subjects become real and living to us. The ancient Byzantine art of Europe though not representational in the strictest sense of the term had the same quality and feeling of remoteness. The author-critics with their scientific analysis caused great change in the outlook of art-form in Europe in even earlier days and thus we see in the post-Byzantine school a change for the realistic rendering of natural objects in art. Of course with logical and psychological observations the scientific mind can find synthesis in any form of art representing scribbling only and there is a Bengali joke that a good writer can write a volume on even a straw if he does not find any suitable subject-matter. On the other hand a painting which always bears sentiment connected with life-history can take away infinite sorrow and turmoils of life we experience every day We know that many people visit art gallery to divert their mind from the hubbub of life. Artists too can take refuge in art from the wickedness of life by spreading the wings of imagination through romance in art. I myself experienced such effect and wrote a playlet at the time when my beloved daughter had been suffering from death-agony. That is why we also see that extreme poverty never prevented artists from pursuing their work.

Artists could observe progress made in the developments of Romantic art of the various schools in both East and West but no progress could possibly be noticed by them in the modern sur-realist art which is itself against any progress. On the other hand if we compare primitive caveman's work with that of sur-realist, we notice progress only in their philosophical and psychological interpretation of it and not in technical or emotional quality. Sur-realist's work might be artist's relaxation but cannot be called as art which indeed involves 'technical perfection and academic discipline' based upon the country's art-tradition. The artists should not be the easy prey of such scientists or psychologists and give up their free

interpretation of life and its emotion through their creation. Of course it is easy for them to convey their dogmas through their books to the reading public as art cannot have such scope to do so. But there is no reason to think that so long as the artists are part and parcel of life with natural feeling for its emotion they cannot give up representational art to express their sentiments suitably. No such revolution is therefore possible by their logical interpretation and newly-formed dogmas in favour of primitive scribblings. It has however served a good purpose for Indian art as it has removed erroneous views regarding art of the Orient. The conservative European art-critics have now found new meanings of it and do not therefore bother any more about the deficiencies in scientific rendering of perspective and light and shade. Some of them have begun giving prominent place to Indian art while compiling history of the art of the world. Shelden Chenny, Stalite have gone deeper into the spirit of it and have written most sympathetically and rationally about it.

Art is like a tree, which requires natural soil and congenial surroundings to thrive. Botanists know that certain species of trees have even changed and vanished due to the change of climatic conditions of the Earth. There are trees like (Burmese) "Thise" (Japanese call them "Urisi")—the gum of which is required for lacquer work cannot grow outside Mongolian countries. In the case of art there might be some out side influence and changes in technique observable to some extent but not altogether in spirit of tradition of the country. Asiatic art is discernable from European art, though much contact of ideas had been possible.

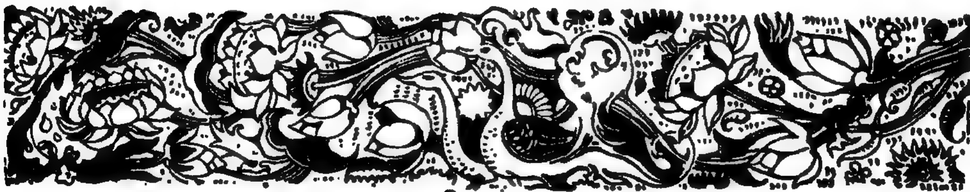
I remember, that the brother of Dr. Abanindra Nath Tagore the late Mr. Gaganendra Nath Tagore instead of following his brother in the revival of Indian Art made throughout his life experiments in bringing synthesis in Indian art with that of modern European art viz., cubism, Impressionism and Futurism, but found no followers at that time as he did not infact get any spiritual nourishment from his own soil. His interpretation of foreign art became therefore static ; whereas his brother Dr. Abanindra Nath Tagore at the same time discovered the vital spirit which remained unnoticed in the traditional work of his country and thus re-moulded Indian art and never could disrespect it. An interesting recent development however noticed in

Late Poet Dr. Rabindra Nath Tagore who took up brush in his advanced age of 70 in the same line as his late nephew Gagnendra Nath and thus set an example at Santiniketan in Western art. The Poet Tagore over again brought the subsequent modern art movement of Europe at home when Gaganendra Nath left painting pictures due to his long illness from which he never could survive. In this case we could easily compare this movement with that of Late Raja Ravi Varma who at the end of the 19th century encouraged representational true-to-nature art of Europe in those days though the subject-matters selected by him were always Indian. Poet Tagore closely followed sur-realist artist Kuben of Germany and created his own expression which might have been easy for him to do at his advanced age. The only difference between Poet Tagore and Ravi Varma is that former required no training for sur-realist scribbling as he had the privilege as an old seer to get to the child mind, whereas latter had to study life-long in thorough academic manner to master his technique. The famous French author Andre Maurois said "A great man's manias must be respected, because the time required to combat them is too precious to waste." But poet Tagore's influence over younger generation of artists of his school at Santiniketan cannot be ignored. The result is too obvious from their recent creative works. The deliberate imitation of sur-realist with that of primitive Indian art has already produced an interesting hybrid art impeding further progress of the art of our own country. At one time followers of Dr. Abanindra Nath Tagore tried to escape from the hold of Western art preached by Ravi Varma and revival of art in India was encouraged by them from the fountain-head of the traditional art. But the more recent product — sur-realism with its author-critics has captured the imagination of the post Poet Tagore artists of Santiniketan already. The modern form of Western art started by the Santiniketan School must have some followers as it has been initiated by the Great Poet Tagore in his own school.

Whatever good or bad the influence of the present psycho–analyst school might be on art in Europe, it is not healthy for the development of art in India. We should solve peculiar problem of our own by studying and understanding our old masters. The potential value of our ancient heritage which was neglected for centuries, was first observed and discovered by our *Guru*

Dr. Abanindra Nath Tagore towards the beginning of the 20th century. Under his inspiration developed a neo-school of Indian art on the basis of this very ideal. This neo-school has done much to foster our country's art and no one would like to see their good work sacrificed at the altar of the psycho-analyst-sur-realist school which was the product of self-conscious research in art rather than intuitive spontaneous efforts.

Universalism attributed to such art expression can never mean a uniformity in which all art should look alike. Rather it should be a unity in diversity that is always observed in nature and each country presenting its individual type of expression-forms. So Indian art too should retain its creative individuality and typical Indian stamp rather than bear the uniform hall-mark of some other country. It should not either be an amalgam of creating a hybrid expression of different schools of art such as an admixture of modern sur-realism with primitive Rajput style or of various countries such as ancient Chinese with Pre-Raphaelite technique; but should be the sincere expression of an artist conveyed in his spontaneous creation.



EARLY MUSLIM MYSTICISM

By Prof. Mohammad Habib

I

ON June 8, 632 A. D. the Arabian Apostle breathed his last. According to general belief of all Mussalmans, the last words of plenary inspiration had been given to our phenomenal world of space and time. A 'successor to the Apostle' (in the full sense of the word) was, therefore, not possible. Nevertheless the administrative command of the faithful plus the power of interpretation (according to the sunnis) went to the pious Caliphs (632-661), Hazrat Abu Bakr, Omar, Usman and Ali[1]. The Omayyad Caliphs (661-749) who succeeded them only aspired to political command, and the same was the case with the Abbasides, whose Caliphate, deprived of its outlying provinces by 900 A. D., lingered on till its overthrow by the Mongols in 1258. For the spiritual heritage of the Prophet, three different claimants have appeared—the Imams of the Ismailis, who according to the theory of their followers inherit the authority of the Apostle in its fullness; the *Ulma-i-Zahiri* or clerics, whether Sunni *mullahs* or Shia *mujtahids;* and the *Ulma-i-Batini* or mystics. For a comprehension of the principles of Muslim mysticism or *tasawwuf*, and the conditions under which it arose, knowledge of the other claimants is necessary. And first as to the *Ulama-i-Zahiri.*[2]

1. Fanatics apart, the *legality* of the political power cf the pious Caliphs is recognised by all Mussalmans. Hazrat Ali himself acknowledged it and the reservations attributed to him are purely spiritual. The problem of spiritual domain is a different matter.

2. It is not possible to find an exact English equivalent to the Arabic term, *Alim-i-Zahiri* (Plurul, *Ulma-i-Zahiri*). The *Alim-i-Zahiri,* as will be explained later on, is a scholar of religious sciences who utilises his knowledge to obtain the profits of this world ; this implies that in case of a conflict between the principles of religion and worldly powers (i. e. the state and the vested intersts which it supports), they will take the side of worldly powers. The word 'cleric' is the nearest equivalent. But the *Alim-i Zahiri,* as we shall see, was not (a) 'consecrated' in the Christian, or even the Hindu, sense of the word and (b) he did not belong to a properly graded priestly order. He was, nevertheless, a servant of the State, either directly as a Qazi, or indirectly as the recipient of a state grant or pension or an

Religion, properly so called, is by its nature revolutionary. For its prime function is to give humanity a forward pull by establishing a new social order in place of the old. Even Jesus, the greatest of pacificists, declared the true aspect of his mission in no uncertain words. "Think not I am come to send peace on earth. I come not to send peace, but a sword. For I am come to set a man at variance against his father, and the daughter against her mother, and the daughter-in-law against her mother-in-law. And he that taketh not his cross and followeth after me is not worthy of me. He that findeth his life shall lose it; and he that loseth his life for my sake shall find it"[1] "I was sent to overthrow customs,"[2] "the Arabian Apostle declared. And his whole life was one long protest against the gods of paganism and the institutions which they were supposed to bless. The contemplation (*mushahidah*) of the one and unseen God was, in his mind, imperatively combined with the duty of inaugurating a new and progressive social order a 'purified city and a forgiving God'[3] as the Quran puts it—so that the reign of faith, love and brotherly equality among men may ensure the favours of the Supreme Being "And we shall not punish them while thou art among them; and we shall not punish them while they are asking for pardon." The duty of his followers (*ummat*) was to continue his two-fold mission; contemplation of the world, of its wonders and of its Creator—"and He is the First and the Last, the Appearance and the Reality"[4]—and obedience of His commands here below. "I do not know", he is reported to have declared, "whether the beginning of my religion will be better or its end."[5]

But in the history of all religions, the first revolutionary phase is shortlived. A new set of vested interests, sooner or later, establish their sway;

aspirant for such gifts. The mystics (*Ulama-i-Rabbani*), on the other hand, with some exceptions, considered the state — i. e. the existing phenominal state and not the 'state-idea'—as a thing of sin, and thought it very wrong to have any dealings with kings and nobles.

1. St. Mathew, X. 34-39.
2. *Ba'astu li raf'il adat* (Misbahul Hidayat, v. 2).
3. *Baladatun tayyibatun wa Rabbun ghafur.*
4. *Huwal-Awwalo wal Akhiro waz Zahiro wal Batin.*
5. *La adri an awwaluha khairun an akhiruha.*
Quoted by Maulana Abul Kalam in his *Masalai Khilafat.*

the ordinances of the founder, accepted in words, are denied in the spirit; and persons who insist on attaching a real meaning of the articles of the faith are tabooed by those in power. Thus for about sixteen hundred years Europe has paid princely salaries to its clerical officers whose principal function has been to see that the message drummed into the ear does not reach the heart, that the 'good example' (*uswa-i-hasana*) of Jesus is respected but not followed, that there are always sufficient logical quibbles to distract the attention of the educated and a superfluity of prayer-forms to numb the spiritual instincts of the masses—to ensure, in other words, that the God-fearing peasant and worker is not allowed to discard the practices of Christianity or the gospel of Christ.

It has been so in Christianity; it has been so in Islam; it has been so in all religions. Thanks to the essential worldliness of the average mind, spiritual enthusiasms cannot be long sustained. And as enthusiasm vanishes, the politicians enter the arena hand in hand with the clerics; the clerics misinterpret the law with bell, book and candle, and the politicians enforce the misinterpretation. Then come the plutocrats, men of wealth. This Godless combination of three Godless forces—wealth, clericalism and political power—sooner or later sucks away the life of religion, embalms it as a mummy for show purposes and re-institutes, under new names and new forms, that regime of dead habit which religion had sought to abolish.

By the word cleric in this context, I mean all persons pretending to or possessing a knowledge of religious forms, who owing to the superficiality of their character, their cowardice, or their greed, are servants of the state and defenders of vested interests. *In the technical language of the mystics, they are known as 'Ulama-i-Zahiri'* (external scholars) because they utilise their knowledge of religion for wordly gain and also as *Ulama-i-Dunyavi*. "*Ulama-i-Dunyavi*" (wordly scholars) says the *Misbahul Hidayat*[1], "have nothing else but the externals of Islamic sciences. *They have learnt them because they have been taught.* They do not act according to their faith, because their faith is weak. They do not refrain from what is forbidden (*haram*) or from what is doubtful (*makruh*)

1. II, i.

and their evil infects others. They are the 'Companions of the Left'[1] and the most mischievous of men and scholars of wickedness (*Ulama-i-su*). Warnings have been administered to them and threats of punishment. In describing his Ascension, the Prophet is reported to have said: "I passed by a people whose lips were being cut with scissors of fire. 'Who are you?' I asked. 'We are a people', they replied, 'who directed others to do good and refrain from evil but we did not act according to our own precepts." Similarly, another Tradition of the Apostle declares: 'The most severe punishment will be meted out to the scholar (*alim*) who has derived no benefit from his knowledge.' And just as there is nothing better than a mystic or spiritual scholar (*alim-i-rabbani*), similarly there is nothing worse than a cleric (*alim-i-zahiri*). For knowledge, in its essence, is like food; it merely invigorates."

The early attempt to study Muslim religion and the problems created by the expasnion of Islam gave rise to three distinct religious sciences. The first subject of study was naturally the Quran. The exact meaning of every word had to be determined. Very often it was necessary to find out the chronological order of the verses and the circumstances under which they had been revealed, so that the perplexing problem of *nasikh* and *mansukh* (cancelling and cancelled) may be decided; a later verse, obviously, was binding even if a previous one contradicted it. All these problems connected with Quranic exegesis came within the purview of the commentators or *Mufassirin* and their science was known as *Tafsir*. Secondly, both for the purpose of '*Ibadat*' or religious devotion and for *muamilat*, or secular affairs, it was found necessary to appeal to the decisions of the Apostle. This meant collecting the conversations or Traditions of the Apostle, known technically as *hadis*, *khabar* or *sunnah*. As the collection of the Traditions began in the first and second generation after the Apostle, it was necessary to make sure of the chain of narrators and to estimate their reliability. Add to it, many people, for purposes of their own, attributed to the Apostle what he had never said, and it became necessary to separate the true *hadises* from those which were weak or unacceptable. The duty of the traditionist or

1. Referring to the Quran, which calls the blessed the 'Companions of the Right' and the wicked the 'Companions of the Left'.

Muhaddis was to sift, collect and interpret the sayings of the Apostle and his science was known as *Ilm-i-Hadis*. It is obvious that the Traditions cannot be studied without a knowledge of the Quran; so a *Mohaddis* had to be a *Mufassir*.

Thirdly, both in *Ibadat* and *Muamilat*, there came the question of practical application. The rapid expansion of Islam among peoples widely differing from the Arabs in their traditions and sentiments, and in their geographical, economic and social environment, created problems of the greatest magnitude. But unless all legal problems were solved on the basis of religion, Islam would have broken up into numerous national and tribal churches. The unity of Islam had to be maintained. On the other hand, the attempt to solve all secular problems from the performance of ablution to the suppression of revolutions on a religious basis was bound to lead to untold difficulties; for secular reason having been driven out of its legitimate field, and the *sunnah* of the Prophet not having contemplated the concrete conditions of later days, the conscience of the average Mussalman was left without any guidance. The institution of kingship is a good example. Nothing could be more abominable to the *sunnah* of the Prophet than that large masses of their Faithful should, along with their lands and families and goods (plus the public treasury or *baitul-mal*), become the private and hereditary property of a particular dynasty. Nevertheless kingship came and stayed; and the clerics, unable to justify it on religious grounds and too weak to candemn it as a violation of Muslim equality, preferred to keep silent. Such examples could be multiplied. The Caliphate itself is another instance, not to mention the whole sphere of criminal law, substantive and adjective. The science which deals with the problem of applying the law of the Quran and the Traditions is *fiqh* and scholars who devote themselves to its study are *faqihs*. It is obvious that a *faqih* must be a *mufassir* as well as a *mohaddis*; otherwise he will not know what law to apply.

If we are to understand the constitution of Muslim social life aright, it is to *fiqh* that we most fasten our attention. For of all Muslim religious sciences, *fiqh* is the most difficult and the most dangerous; it was also, throughout the middle ages, the most tempting and the most profitable. In the first place, *fiqh*, as has been already noted, required a ripeness of scholarship not expected

from the *mufassir* and the *muhaddis*. The Sunni Mussalmans, as is well known, are divided into four great schools—the Hanafis, Hambalis, Shafis and Malikis—named after the great *faqihs* who founded them. Their works have survived to us and certainly show a capaciousness of memory and acuteness of intelligence seldom equalled, and never surpassed, in the annals of scholarship. Though Muslim *fiqh* has not evolved, except in matters of minor detail, on national lines, the non-Arab races have preferred the teachings of Imam Abu Hanifa, while Imam Shafi, the pure Arab, has been largely followed by men of the Arabian tongue.

The *faqih*, secondly, was expected to bring to his task an ingenuity and wit not found in ordinary mortals. The following is a good instance. "Imam Shafi was six years old and had gone to school. Two men came together and deposited a box of clothes with his mother, a pious Hashmi lady. Later on one of them came and took away the box. Then the second man turned up and demanded the box; he even brought an agent of the *qazi* to enforce his claim. 'The box', he contented, 'was our joint property; we deposited it together and could only take it away jointly.' The pious lady was embarrassed. But at that moment her bright little son entered with his ready wit. 'Quite right', he said to the claimant, 'the box is joint property and can only be claimed by you jointly. Bring your partner and the box is yours." As if the actual problems of actual life were not enough, the Muslim *faqih*, like the Roman jurists, kept on weaving the warp and woof of all possible circumstances. The examples surviving to us often excite amusement. But really they are of immense siginfiance and had a great influence on the evolution of Muslim law. It was only by a detailed and comprehensive consideration of all possible circumstances that the outline, and a large part of the details, of Muslim law was laid down during the period of the Great Abbaside Caliphs from Mansur to Mu'tasim. Later *faqihs* have seldom had the courage to fill up the gaps left by the great founders.

The third and most difficult duty of the *faqih* was legislation under very circumscribed conditions. On the one hand, public fear and hatred of anything that could come under the designation of *bid'at* or innovation prevented them from putting forward any principles on the basis of pure or

practical reason. It was admitted in principle, that where the Quran and *Sunnah* were silent, reason must guide. But in actual practice an ounce of palpably fabricated Tradition has counted more than tons of pure reason, and the public, even educated public, has been inclined to look askance at a legal principle for which some sort of text, or analogy from a text, could not be produced. This obligation to go by the text compelled the *faqih* to resort to what is generally known as *tawil* or interpretation. *Tawil* may mean nothing nore than the legal expansion of the principle underlying a given decision so as to cover similar cases (*qiyas*). But the system of *tawil*, not only desirable but inevitable in *fiqh*, has been applied to every branch of the *Shariat* in a variety of ways. Sometimes by bringing two principles into apparent conflict, it has been found possible to ignore both; at other times by far fetched analogies an esoteric significance has been attached to the words of the text so as to lead to conclusions that leave one staggering. Still the demands of practical life made a decision necessary. The *mufassir* (Quranic commentator) could say with perfect frankness that he did not know what A. L. M. and other letters at the beginning of the Quranic chapters stood for. But a *faqih* could not declare his inability to decide which of the rival claimants was entitled because much could be said on both sides ; it was his duty to answer the question put. And the law expounded must be capable of practical application ; otherwise it would not be a law. Under these difficult circumstances, the *faqihs* did the best they could. They found a good many Traditions in favour of the principles of Roman law, big slices of which they proceeded to incorporate into their own system. This need not surprise us. Rome, at times a political enemy, was, nonetheless, an intellectual friend of the Mussalmans ; the Christians, in any case, they regarded as the best of their enemies for "there are monks among them and they are not proud." Simultaneously, by a process of selective reason, they gave greater prominence to those Traditions which were capable of universal application. Two unfortunate gaps left by the early Abbaside jurists were never filled up. Administrative law and public law were referred to in a passing manner only—not even a bare outline was attempted. About criminal law also little was said. Their verdict in case of the former would have been totally ignored; criminal law, by its very nature,

was incapable of universality; for the severity of punishment must be inversely proportioned to the strength of the state, and as the latter varies from country to country the former must vary also.

Lastly, we have to remember the temptations thrown into the path of those who studied the *fiqh*. The *faqih*, as such, was only a private scholar. He was neither a lawyer nor a judge. If his opinion was asked for, he could give a *fatwa* or legal opinion and would then be known as a *mufti*. But his *fatwa* was an academic expression of opinion and an appeal to the public ; it had not the power to loose or bind. He taught pupils and spread his doctrines through them; his livelihood he earned in whatever way he could. The four great Muslim jurists were men of private standing and preferred to retain their independence of opinion. Imam Abu Hanifa preferred imprisonment to accepting office under Mansur ; Imam Ahmad Hambal was actually persecuted. They considered it below their dignity — and contrary to their mission to have any dealings with the government. Their appeal lay to the *Jama-i-ummat* — to the opinion of the generality of the educated public; if it accepted them, well and good ; if the public rejected them, it could not be helped. For the ambitious *faqih*, on the other hand, the path of preferment lay open. He could enter the service of the state and become a *qazi* (judicial officer). His decision would then be enforced by the arm of the state ; he would also receive a salary with such other gifts, pensions and *jagirs*, for himself and his descendants as his royal patron may be inclined to provide. Apart from his duties as a judge, he would be in charge of all religious endowments, public and private, with power to dispense charity in such way as he pleased. The superintendence of the mosques may also be assigned to him ; he would lead the Friday prayer and arrange for other prayers through his deputies. Unlike other government officers, his post was permanent ; kings may come and go, but he was sure of his job so long as he was sufficiently subservient. Even if he took a false step in the constantly recurring wars of succession, he would be dismissed but not hanged. You may hang a politician if he backs the losing side. But no one will dream of hanging a Chief Justice who is also an Archbishop ex-officio. The smaller *qazis* in the *mufassil* towns shared, according to their good fortune, the honours and perquisites of the great *qazis* of the capitals.

Of course the state did not shower its favours for nothing. The first duty of the *qazi* was personal subservience to the occupant of the throne, whatever his character. His second duty was to protect by his judgments and interpretations the fundamental institutes of the monarchical state and the privileges of the governing classes. He had sufficient funds and agents at his disposal and his public status as a judge, official jurist, and minister for endowments made him very useful. His third duty was to decide all cases in which the state was a party in favour of the state. The best representative of this class is Imam Mohammad Yusuf. Of the worst there is no reckoning. The intellectual greatness of Imam Yusuf combined his immense learning and acuteness of judgment have, on the whole, silenced criticism. But the following paragraph of the *Tazkiratul Aulia* is significant. "Imam Abu Hanifa had two chief disciples, Imam Yusuf and Imam Mohammad. When they differed in any matter, the question was referred to Shaikh Daud Tai, an eminent and learned mystic who also had studied with Imam Abu Hanifa for twenty years. But whenever the two came to him, Daud Tai turned his back on Imam Yusuf and talked to Imam Mohammad only. He never addressed Imam Yusuf and even refrained from pronouncing his name. ' They are both great scholars', he was asked, ' why do you talk to one and ignore the other?' 'Imam Mohammad son of Hasan', the mystic answered, 'was born wealthy and has sacrificed wealth for the sake of knowledge; knowledge has brought him religious honour but it has reduced his status in this world. Imam Yusuf started his life on an empty stomach but has made his knowledge a means of worldly honour and office. Imam Abu Hanifa was thrashed but even then refused to become a *qazi*. Imam Yusuf has accepted that office. I will never talk to a man who forsakes the traditions of his teacher."

The amount of control and supervision exercised by the state over the *Qazis* and the Department of *Quza* or Justice varied during the middle ages according to the strength of the government and the character of the monarch. Even under kings of ordinary capacity the servility of the *Qazis* was ensured; under overbearing and energetic rulers, the *Qazis* were forced to the courtier's garb and act as the humble instruments of a lawless dictatorship. The following account of Sultan Alauddin Khilji's treatment of the *Qazis* of his day, preserved for us in the inimitable pages of Ziauddin Barni's *Tarikh-i Ferozi*,

will give the reader some idea of the type of men who were appointed *Qazis* under a strong king and the sort of work they were expected to do:—

"During the whole reign of Alauddin, three Syeds obtained the *Quza-i-mumalik* and one the *Niabat-i-Quza*. At the beginning of Alauddin's reign, Qazi Sadruddin Arif, who had held the *Niabat-i-Quza* for years, became the *Sadr-i-Jahan*[1] and added dignity to his new office. For though not conspicuous for learning, he was yet an awe-inspiring person, and was so well acquainted with the *populace* of Delhi that though cheats and thieves abounded, no one had the courage to resort to fraud or deception before his *musnad* (judicial cushion). Every branch of the *Dewan-i-Quza* (Department of Justice) attained to new grandeur, by the fact of his presiding over it. After him Qazi Jalaluddin was appointed the *Naib-i-Qazi* by the Emperor, and the office of *Sadr-i-Jahan* was given to Maulana Ziauddin Biana, the Qazi of the Army (*Qazi-i-Lashkar*). The latter, though adorned with learning, was devoid of personality and character; he was, in fact, contemptible and ruined the dignity of his office and of the Department of Justice. In his later years, Sultan Alauddin who had but little stability of mind left, entrusted the *Quza-i-Mumalik* — an office of great dignity and not becoming anyone who did not combine good birth with knowledge and knowledge with piety-to the Malikut Tujjar Hamiduddin Multani, an old servant of his family, his secret councillor and the Treasurer of his Palace. The virtues of this merchant-prince (*Malikut Tujjar*) do not deserve mention in history. In entrusting the *Quza-i-Mumalik* to this fellow from Multan (*Multani bachchah*), the Sultan considered neither his abilities nor birth but only the old services of Hamiduddin and his father. Alauddin did not know, and no one had the courage to tell him, that learning is not the sole qualification of a Qazi; that a necessary condition of the office is piety, which consists in keeping aloof from the world and from all sins and base qualities; that a king cannot attain to salvation unless he entrusts a post of such great responsibilities to the most pious scholar of his realm; and that a ruler ceases to be the protector and becomes the destroyer of the Faith, if he fails to regard piety as a necessary pre-

1. *Sadr-i-Jahan* is the head Qazi of Delhi, the *Naib-i-Qaza* is his assistant, the *Qazi-i-Mumalik* is the *Sadr-i-Jahan* who has also been given power to control the Qazis of the provinces.

condition to the Qaziship of the capital or the country, and distributes these posts among the greedy and dishonest lovers of this world. *And as Sultan Alauddin in his later years only considered old services in assigning the office of sadr-i-Jahan, this became a custom with his successors, and piety ceased to be a qualification for the post.*

"In the same year, an incomparable Traditionist (*mohaddis*), known as Maulana Shamsuddin Turk, came to Multan and brought with himself four hundred books on the Traditions. But when he heard that Sultan Alauddin neither said his prayers nor attended the Friday congregation, he proceeded no further. He became a disciple of Shaikh Shamsuddin Fazlullah, son of the Shaikhul Islam Sadruddin. From Multan he sent the Sultan a commentary he had written on the *Traditions* of the Apostle, in which he had eulogized the Sultan, together with a pamphlet in Persian."

To recapitulate ; there are three religious sciences—*tafsir* (Quranic exegesis), *hadis* (collection and collation of the Prophet's Traditions) and *fiqh* (Muslim jurisprudence). These are the only three religious sciences possible; all other sciences are really departments of these sciences. Looked at from the view-point of the subject they study, we may divide scholars into *mufassirin, muhud-disin* and *faqihs.* The term *Shariat* (literally, the Path) is, unfortunately, a very vague word ; it is used in at least three distinct senses and may mean—first, the laws of the Quran *as interpreted by the Apostle*, and in this sense it is some times contrasted with the *tawils* of later scholars ; or the *fiqh* of the four great jurists plus the interpretation of later Qazis, which have often been put in compendius and not uninteresting manuals; or the three Muslim religious sciences taken together. But the mystics, from their own stand-point, divided scholars of religious sciences not according to the subject-matter of their study but according to the *object* of their life, and their character. They asked the unpleasant question—*What is your object in cramming all this stuff ? Surely you must be after something ?* (1) If a man seeks knowledge in order to attain to God, without any regard for the attractions of this world or the next, he is an *Alim-i-Batini* or *Alim-i-Rabbani* (spiritual scholar) or mystic. (2) On the other hand, a man may only study these subjects with the average piety of the orthodox, his motive being the joys of Paradise. He is in that case an *Alim-i-akhiravi* (a

religious scholar). (3) Lastly a man may learn all things about religion for the advantages of this world only—or, at least, with an eye to his main chance here below. Such a man is an *Alim-i-Zahiri* (externalist) or *Alim-i-dunyavi* (cleric). The most significant examples of this class are, of course, the qazis, who being in state-service, were considered the spear head of the clerics.

By the end of the ninth century of the Christian era, the three religious sciences of Islam—*Hadis*, *Tafsir* and *Fiqh*—had sufficiently developed to bring their votaries prominently before the public eye, and to show to the same public the grievous shortcomings of their character. The claims and pretensions of the *Ulema* knew no bounds. They looked upon themselves as the successors of the Apostle and claimed for themselves a position similar to the Prophets of Israel. Being the trustees of the Apostle's Traditions, they were in a position to quote chapter and verse in support of their claims.[1] That the Muslim *Ulema* did not succeed in establishing an organization like the Roman Catholic Church or even in winning for themselves a position similar to that of the Indian Brahmins was due partly to the fundamental character of the creed and partly to the circumstances of the time.

Though the *Ulema* have often claimed that the laity cannot understand the meaning of the Quran, it was not in practice ever posible to prevent its study. And the Quran in a manner that leaves no possibility of doubt makes every one responsible for his own faith and his own actions. "No one shall bear the burden of another."[2] The responsibility of finding the truth and of acting according to it cannot be shifted by the individual to an organisation, secular or sacredotal. The duty of submission is inculcated by the Quran but within strict limits. "Obey Allah; obey the Apostle and obey the rulers that be from amongst you, but if you differ from them concerning any matter, then go back to Allah and his Apostle." The commands of the Apostle are identical with the commands of Allah—'He who obeys the Apostle, obeys Allah'[3]—but this privilege is denied to all other persons. And even the Apostle was directed to consult his

1. The following tradition, for example, is often quoted: "The *ulema* amongst my followers are like the Prophets of Israel."

2. *Wala taziru waziratun wizra ukhra.*

3. *Man ata arrasula fa qad atallah.*

followers in questions of government.[1] The stupid layman who blindly follows the customs of his ancestors and the priest who preys upon his flock by hiding the truth—these are the two *bete noire* of the Quran. 'In Islam no monkery,'[2] the Prophet has declared.

An organised priest-hood, moreover, requires some form of consecration–a mysterious ceremony combined with mysterious formula by which the priest is given a position superior to that of the laity. In Islam, owing to the principle of individual responsibility, no consecration is possible. The nearest approach we have to it is the *baiat* (literally, sale) of the converts at the hands of the Apostle. This *baiat* may have meant allegiance to the Apostle as the head of the new religion or as the head of the new state. But even in the Apostles life-time 'conversion' or acceptance of the new creed was the one thing needful; *baiat* was only a superogatory form, dispensed with in most cases. Nor did the Prophet make any distinction between his followers in the matter of *baiat*. In the generation following the period of the Pious Caliphs, the oath of allegiance or *baiat* was given an entirely secular colouring; prominent leaders were required to express their 'allegiance' to the Caliph at the time of his accession, the rank and file were only expected to 'accept' him. The mystic orders of the twelfth century A. D. gave to '*baiat*' or consecretion an importance it never had before. With them, at times, it amounted to consecration. But even amongst the mystic orders opinion was divided and some of the greatest mystics have not considered it necessary. The immense majority of the Mussalmans, in any case, never joined the mystic orders. The distinction between the clergy and the laity is really not found in Islam. Nor has the temper of the mass of the Mussalmans been amenable to priestly pretensions. On the Day of Judgment, when "a man will fly from his brother and his friends and his children," it will be difficult to drag the local *mullah* to 'God's great judgment seat.' 'Every man for himself—and God's mercy for us all' is the average Mussalman's conviction for that Day—and for all days.

But neither have the founders of other religions established a priestly order. Organized priesthood has always followed, seldom accompanied, the foundation of a new faith. There is—it is submitted—nothing in the recorded

1. Wa Shawir hum fil ame.

2. La rahbaniyat fil Islam.

sayings of Jesus on which the regime of a Universal Church can be justified. The Universal or the Catholic Church was founded by the statesmanship of St. Paul, who had never come into personal contact with Jesus; it was expanded and consolidated by the Christian Fathers, who inherited not only the traditions of Jesus but also the institutions of Pagan Rome. Moreover, it took four centuries for Christianity to become a state religion; and in that long campaign against the 'false gods of the heathens' the Christian priest won the legitimate right to lead his flock to the altar of the true Deity. The Muslim clerics or *Ulame-i-Zahiri* were not behind their Christian predecessors of the same profession either in fabricating Traditions to prove the superiority of their order or in driving home the same conclusions by a process of *tawil* or interpretation. But they never had a chance. For the Arabian Apostle, unlike Jesus, established in his own life-time not only a new religion but also a new state. Of an organized church there was no possibility; in so far as the Mussalman has a Church, it is the state—or "the idea of the state." "If an Abyssinian with a slit-nose leads you aright, follow him," the Apostle declared in his last speech at Mecca.[1] And the same principle is laid down for religious matters. "Say your prayers behind any sinner or criminal", a Tradition declares. The conflict of the Church and the State—in the European sense of the word—has never been found amongst the Mussalmans. The Muslim clerics, unlike the early Christian priests, were themselves the creations of the state and in no position to challenge it. The state naturally saw to its own protection; only teachers accepting the established social and political order could depend upon the state for a livelihood; scholars suspected of political heresies, were left in the cold or persecuted with unrelenting ferocity. Now the commentators and traditionists were only indirectly concerned with the actual work of government, and so long as they were of an accommodating disposition, the governments tried to gain a reputation for good work by providing them with a comfortable livelihood. It was otherwise with *Qazis* who had to enforce the

1. There is a well-known tradition to the effect that 'leadership belongs to the *Quraish-Ac aimmatu minal Quraish.* It is a weak tradition and was probably fabricated. It certainly contradicts the principles of the Quran and the proved Traditions. It has, in practice, been ignored for centuries.

law and were agents of the government in its dealings with the public conscience. They aspired to a position of independence and even of command; they claimed that it was for them to lay down the law by which the people and the state must live. But their position was weak and so was their character. In the conflicts between royal authority and the clerical party, the state was almost uniformly victorious.

Thus while Christianity spread in Europe owing to the effort of the priests who both created and dominated the Christian commonwealth, in Islam the secular state preceded the rise of clericalism. With the territorial expansion of Islam in its early days the clerics as such had nothing to do. Just because Islam has not ordained priesthood, every Mussalman is entitled to act as a priest. The *Ulama-i-Zahiri* as a group of learned men trained in the schools could only come into prominence towards the end of the ninth century after the four orthodox juristic schools had been founded.

And just then their authority was challenged by a new group, or rather association of groups—the mystics.

The mystics condemned the clerics and their followers as pleasure-seekers; if some of them did not seek the pleasures of this world, they sought the same thing in the next, for their devotions were merely based on a far-sighted pleasure-pain calculus. 'The mere devotee owing to his addiction to pleasure remains veiled from the Truth,'[1] for (his) paradise is a place of pleasure—and in it (paradise) is what the soul desires and what pleases the eye."[2] The *sufi*, on the other hand, absorbed in the contemplation of the everlasting Beauty and the Absolute Reality, remains veiled from both the worlds; he has discarded the pleasures of this life and in the same way he has discarded the joys of the life to come. 'To the aspirants for the next world', says the Tradition,' this world is forbidden; and the next world is forbidden to the aspirants of this world; and both are forbidden to the people of Allah.'[3] 'The mystics, or

1. 'And he is the Truth', says the Quran and mystics love to visualise God as the Supreme Truth or Absolute

2. *Fiha ma tashtahihul anfusu wa ma tallazzul ayun.*

3. Misbahul Hidayat II, 10.

people of Allah', are further sub-divided into two groups[1]. The first group—identified with the great holy men referred to in the Quran as of 'the first rank' (*sabiqun*) who have become perfect (*kamilan*) because they are near to God (*muqarabun*) or have attained to Him (*wasilan*) - consists of the Prophets and, definitely below them, of the great religious leaders of the Muslim world. They are the 'sufi' mystics in the correct sense of the word. The earnest seeker (*salik*) who is striving in the path but has not attained the goal is not a '*sufi*' but a *mutasawwif*. In other words, the *sufi* is to the earnest *mutasawwif* – if the useful analogy be permitted — what Buddha is to the Bodhisatva. The rest of mankind consists of the lowest group, of those 'who are content to retain their defects'. Of this mass, three sections are to be deprecated : first, the false prophets (*mutanabbi*); secondly the *Zindiques*, *batiniyas* and *ibahatis*[2] who pretend that the ordinances of religion are only for the multitude and not for wise men like themselves or else think that the sole criteria of virtue and vice are the service or injury to your fellow men and; thirdly the 'imitators of mysticism,' (*mutashabbah-i-mutasawwifah*). The last section consists of that large indefinable gang of poets, scholars, educated men of Epicurean tendencies and arm-chair expounders of the truth, who have run away with mystic terms and mystic doctrines, but whose weakness of character, due to weakness of faith, prevents them from going through the stern spiritual discipline of the *salik*, or true believer, and so they have no spiritual comprehension of the truths they utter in prose and verse.

The clerics, on the other hand, naturally retorted that the mystics, while claiming to be the sole repositories of spiritual truths were not even Mussalmans—that they were *hashwiyyahs* (anthropo-morphists), *hululis*, (incarnationists), *mujassimias* (believers in a material God); or that they were Ismaili propagandists trading under false colours; that they believed in *tanasukh-i-arwah* (transmigration of soul and *imtizaj*.) (commixture of Divine and human attributes, *avatarism*) These terms of abuse contradicted

1. Ibid, II. 10. I have summarised the detailed classification of the Misbahul Hidayat.

2. *Misbahul Hidayat*, .II. 10. The term- *zindiq*, *batini*, *ibahati* had become terms of abuse by 900 A. D. The Misbahul Hidayat gives them the most charitable definition possible.

each other, and in normal times learned men would have been left to condemn each other in their academies. But the social and political circumstances of the early tenth century brought these problems into the lime-light. The people of Persia, the most progressive of Islamic countries, had been converted to the new faith, but the mass of the people, and at least a strong minority of the intelligentia, was strongly inclined to interpret the new religion in terms of the old. In Turkestan and Turkish lands in general, Islam was gradually but slowly displacing Mahayana Buddhism, but the growth and popularity of *mujassimia* sects showed how superficial that conversion was. Unless there was a thorough sifting of the true doctrines from the false, the new faith would, directly or indirectly, be submerged in idolatory. Secondly, the mystics, whether incarnationists or not, had developed a very strong and erratic sense of individualism. To regard the state with contempt was the first social duty of all mystics, while some of them, deeply respected by the rest, made it a point to court unpopularity and public hate—an attitude, which won the name of *malamatis* or 'the people of blame.' The kings, they said, however pious and admirable their lives, would find it difficult to obtain salvation. Their 'dark sayings' were certainly calculated to excite the fear of the orthodox. And the orthodox were just then in a panicky mood ; for the Ismailian heresy was rapidly spreading and the 'Perfect Man' (*Imam-i Kamil*) of the mystics had, beyond doubt, some external resemblance to the Imam of the Ismailis.

So when on Zilqad 26, 309 A. H. (April, 922 A. D.) as the result of the opinion of the externalist scholars Mansur Hallaj, who stands for all times as the representative of the extremist mystics, was crucified, pelted with stones by the Baghdad rabble, cut into bits and burnt for saying, 'I am the Absolute (*Anal Haq*), the mystics were compelled to reconsider their position. On the one hand, fear of public persecution (though they would have contemptuously denied this allegation) compelled them to close their ranks. Hallaj himself was accepted though not recommended, but his followers were thrown overboard. The doctrines of the *Hululis* or incarnationists were cast aside. Thus cleared of all contaminations of paganism and heresy, the mystics proceeded to clarify their doctrines, to differentiate the acceptable from the unacceptable, and

to place their esoteric doctrines before the educated public for its acceptance. The state as a state was a matter of indifference to them. But unless the public accepted their superiority as the best exponents of Islam, or at least granted them the right to live, the continuation of the mystic creed would be impossible. And they proceeded to state in their claim in Emphatic words. "The *Ulama* (externalist scholars) claim to be the successors of the Apostle. But we, the Sufis, are his real successors. For we have the *faqr*—poverty—which he preferred. And in his other virtues we also have some share.[1]"

There must, on the other hand, have been a conscious apprehension of the fact that the untrammelled and reckless individulalism of Hallaj, Bayazid and *Zun Nun Misri* would lead to nothing but disorgarization, and that if mysticism was to perform its function in society, it had to be properly clipped. "When they had cut off Hallaj's nose and ears and people were pelting him with stones, an old woman passed by, bucket in hand. 'Throw your stones with force', she shouted, 'strike hard. *What business has this cheerful wanton—this popinjay—to talk about God*"[2] The old woman is true to type and represents the orthodox, popular conviction of all ages—the conviction that the knowledge of God and His ways is the exclusive privilege of those mighty on this earth, of kings born in the purple, of successful politicians and of rich priests clad in robes of silk and gold. This conviction had to be changed by the mystic 'affirmation of saintship,[3] In any case Hallaj, whose books were unintelligible to most people, had taken the lid off pandora's box by his ill-timed words and more ill-timed actions. Something had to be done. It is significant that the great thinkers who founded the ten schools of mysticism were—with two significant exceptions, Shaikh Zun Nun and Shaikh Bayazid—either junior or senior contemporaries of Hallaj, and that Shaikh Junaid, the great reconciler of mysticism and orthodoxy and the leader of mystic centre, signed the *fatwa* against Hallaj but publicly preached doctrines which were hardly different. 'True knowledge', he declared, 'is bound up with the Quran and the Sunnah'.

1. Shaikh Abul Hasan Kharqani, *Tazkiratul Aulia* No. 77. The claim is put forward by almost every mystic writer.

2. *Tazkiratul Aulia* No. 70

3. This doctrine attributed to Hakim Tirmizi, had immense influence in later ages.

But he also said : 'For thirty years God has spoken through the tongue of Junaid, but Junaid is not in between, and the world is ignorant of the fact.'

II

"*Tasawwuf*" says an oft-repeated proverb, expressing the despair of the medieval mind with the present and the future and its idealisation of the past, "*Tasawwuf* was once a reality without a name; it is now a name without a reality." According to the general belief of later ages, the spiritual varities which go under the name of *Tasawwuf* were revealed to the Arabian Apostle by the Supreme Truth on the night of Ascension. The Apostle as the great mystic teacher was succeeded by the Pious Caliphs—Abu Bakr, Omar and Ali[1]—who were not only the Commanders of the Faithful but also the Shaikhs or *Pirs* of the elect who had embarked on the greater *Jehad*—a restless striving for the removal of those veils (*hijab*) that envelope the human spirit and prevent it from obtaining the promised vision of the Supreme Reality and the Supreme Truth. There is a general agreement that the mystic inheritance descended from Hazrat Ali to the Imams, and Hazrat Jafar Sadiq, the sixth Imam, is given a very important place in the history of all later *silsilas*. The Companions or *Sahabah* of the Apostle were, of course, mystics, having been instructed, by the precept and example of the Apostle himself; their superiority over all later mystics is admitted without reserve.

Neverthelss the term *Tasawwuf*, the Muslim equivalent of mysticism, is of later origin. Many subtle and farfetched theories have been advanced to explain the origin of the famous term. Some have traced it to the '*Suffa*, or the verandah attached to the Apostle's mosque in Medina, where the poorest of his followers used to lodge. Others have tried to find its origin in purity or *Safa*, the essence of mysticism being purity of the heart and the spirit. But the best mystic scholars have always confessed that the name of their class had a very prosaic and humble origin. *Sufi* was a man who wore clothes of *Suff* or wool, and woollen cloth, in those days, was worn only by the poor people of Iraq.

1. So in many mystic annals composed before the twelfth century; in later treatises the names of the first three Caliphs are dropped. The *naqshbandis* alone in later days traced their *silsilah* to Hazrat Abu Bakr, but even among them there was a difference of opinion.

According to an early tradition, probably correct, the title of *Sufi* was first given to Shaikh Abu Hashim, who was born in Mosul but lived in Syria. Of Abu Hashim himself little is known, but he is said to have been a contemporary of Shaikh Abu Sufyan who died in Basra in 161 H. (777-8 A. D.). About the same time the first *Khanqah* or monastery for Muslim mystics was built at Ramla in Syria. A Christian prince (*amir*) was out-hunting when he saw two mystics approach and embrace each other; then they sat down, took out what they had to eat, shared it together and separated. The prince's heart was touched by their cordiality and he summoned one of them. 'Who was the other man?' the prince asked. 'I do not know.' 'Is he related to you?' 'No.' 'Do you know where he comes from?' 'No.' 'Why then your affection for each other?' 'This is our Path.' 'Have you any meeting place?' 'No.' 'I will build for you a house where you may live together', the prince promised. And he built for them the *Khanqah* of Ramla[1]. The first *Khanqah* of the new religion was built by a prince who must have been familiar with the monasteries of the old. The unnamed prince's spontaneous generosity was destined to have far-reaching effects.

In the two centuries that followed the death of the Apostle, the faith of his followers was tried by the most difficult of tests—the test of success. The territorial expansion of the new creed, first in the time of the Second Caliph and then under Walid bin Abdul Malik, has never been paralleled in history, either for the rapidity of its success or in the permanence of its achievements. Nevertheless the Omayyad Caliphs—whatever one may think of the political sagacity of Mu'aviya or the driving-power of Walid—had not the moral stature the occasion demanded; and they exploited, instead of preserving, the political heritage of the Apostle. The conquered peoples were treated with scant respect, and their conversion to Islam hardly improved their lot; for political office, and the profit accruing therefrom, was considered the exclusive privilege of the noble Arab classes. The aristocracy of race and blood which the Apostle had sought to abolish, seemed to draw even greater nourishment from the success of his creed.

Under an autocrat government of this type, revolutionary movements were inevitable. Many honest Mussalmans thought that the restoration of the

1. *Nafahatul Uns.* No. 1.

descendants of the Prophet to political power would end a regime of political inequity. But their repeated attempts to displace the Arab aristocracy were brutally suppressed and when the Abbasides, having raised their banner for the House of the Prophet, came to power with the help of the Persian nationalists, the honest citizen was once more cheated of his hopes. Baghdad displaced Damascus as the capital of the empire ; the noble Arab clans were shouldered out by Persian adventurers ; the Caliph's Court became a place of art and culture, where Greek philosophy flourished side by side with refined vice. But the lot of the ordinary man was no better ; it was probably worse, the outlying portions of the Empire having fallen away from the nerveless hands of Saffah's successors. And when finally after the reign of Mutassim, the Turkish chiefs, with their sinews of iron and feet of clay, established their power over the Muslim Asian world—a power destined to last for many centuries—the hope of better political and social conditions seemed dashed for ever. Even the most optimistic were convinced that the Quranic vision of "a purified City and a forgiving God" was not capable of external fulfilment.

That the message of the Apostle had touched the deepest religious chords in the hearts of his followers cannot be doubted. But what was the genuine true believer to do ? The 'idea' of the state, as representing the *ijma* or general will of the faithful, he was inclined to worship, and he never lost sight of the claim the Muslim community, as such, had upon him. But the government over his head was a criminal organisation and he would, under no conditions, touch this institution of wickedness and of sin. Imam Abu Hanifa has refused to work as Chief Qazi under Mansur ; Imam Hambal would not eat anything from his son's house, because his son had for one year served as Qazi of Isfahan. The sinfulness of the state was one of the deepest religious convictions of the middle ages.

Under these deplorable conditions, the more adventurous spirits insisted on treading the path of revolution and forfeited their lives and limbs in the hopeless attempt to remould the social order. The history of the middle ages is one long, unending record of these futile movements. Others less visionary but perhaps, not less bold, sought in the 'holy wars' a means of serving Islam without being contaminated by the sin of the state. Silent, determined, content, they marched on and on—to the waters of the Oxux and to the hills of southern

Spain—resolved to leave their bones to bleach in valley or desert as the Lord may please. To yet another type of men, with an equal courage and greater impatience for immediate results, this social order gone away—this material world bristling with irrational distinctions of office and power, of wealth and caste—seemed utterly foul; attractive, no doubt, for low-grade souls, but nevertheless of the earth, earthy, and therefore, illusive, phenomenal, unreal. "For the Lord we are and to the Lord we return"[1] but not by death as people are wont to think but through life. Those who do not find their Lord here will not easily find Him hereafter, for "he who is blind in this life is blind in the life to come."[2] And so they turned their mind inwards, as it were, to see if the Kingdom of Heaven was to be found there And they found it—or, at least, believed that they had. From this group, remarkable for the depth of its religious consciousness the mystics of later generations trace their origin.

All Muslim mystic annals begin with tender and touching accounts of the mystics of the first cycle (called 'quietists' by Dr. Nicholson) who flourished during the period of the Omayyads and the early Abbasides—roughly from the death of Hazrat Ali in 661 A. D. to the death of Harun Rashid in 851 A. D. They are today household names throughout the Muslim world : Hazrat Owais Qarni, who intensely believed in the Arabian Apostle but was never able to come to him as he had to look after his old mother; Hasan Basari, a teacher of the Prophet's Tradition who collected a number of mystics and religious men round him and lived fearlessly in Basra through Hajjaj's reign of terror; Mohammad Wa'sa, a friend of Hasan who declared, 'I never say anything but I saw God therein'; the venerable freed-woman, Rabia Basari, the inspirer of millions of religious women in Islam's poverty-stricken homes; Malik Dinar who prayed and fasted continuously in Amir Mu'awiyah's mosque at Damascus in the hope of being appointed its trustee (*mutawalli*) but repented of his hypocrisy and would not accept the post when it was offered to him.

In the legends of their lives, truth and tradition have got hopelessly mixed. The existence of some of them can be proved, of others we cannot be certain. An account of a few of these early mystics as found in the developed

1. *Inna lillah wa inna ilaih raji'un.*

2. *Wa man kana fi hayahi, ama fa huwa fil akhirati ama.*

traditions of the twelfth and the thirteenth centuries A. D. will give an idea of the spiritual romances that have grown round their names.

Hazrat Ibrahim Adham – He was the ruler of Balkh, a territory not yet permeated by the principles of Islam. While asleep one day, he heard some one walking on the roof. "Who it is? " he asked. "A friend in search of his camel " came the reply. "Stranger searching a camel on the roof," he asked. "But not stranger than your search for God in a robe of satin on a golden throne." Next day a man so fierce that no one had the courage to stop him intered Ibrahim's Court. "What do you want?" Ibrahim asked. "I want to put up in this inn." "This is not an inn; it is my palace." "To whom did it belong before you?" "To my father. " "And before that ?" "To my grand-father." "And before that ?" "To my great grand-father." "One man comes here, and another departs—what else is an inn ?" The man went out of the Court and Ibrahim followed him. "Who are you" he asked. "Elias !" was the reply. And the figure vanished. Perplexed and upset by the two events, Ibrahim decided to go out hunting. But chance separated him from his army. "Wake up ", a voice cried, once, twice and thrice. And the fourth time it said, "Wake up before you are awakned by Death." Ibrahim saw a deer and in order to distract his attention, turned his horse in that direction. But the deer said to him : "You are my prey; not I yours. Have they created you for the work you are doing and for nothing better ?" Ibrahim turned away his horse. But the words of the deer were re-echoed by his saddle and even by his sleeves. This completed his 'Conversion' and the doors of Heaven were opened to him. He ex-changed his clothes with a peasant and fled incognito to Merv and thence to Naishapur. In a cave near Naishapur he is said to have spent nine years in prayer. His livelihood, then and later, he earned by collecting wood in the wilderness and selling it in the city. The ex-ruler of Balkh was now a God-fearing working man. The last days of Hazrat Ibrahim Adham were passed at Mecca where he is said to have enjoyed the company of Imam Abu Hanifa, Shaqiq Balkhi and Sufyan Suri.

Shaikh Shaqiq of Balkh—He is reported to have been a disciple of Ibrahim Adham in the path of the mysticism. But he must have met his master late in life, for he began his career as a scholar. 'I have been the pupil of 1700 teachers', he is reported to have said, 'and have collected several camel-loads of books.

I have found the pleasure of God to exist in four things—confidence that your livelihood will come to you, sincerity in works, opposition to the Devil and preparedness for death.' His 'Conversion' according to the older authorities, was due to a rather prosaic incident. During a severe famine at Balkh, when men were devouring each other, Shaqiq saw a slave happy and joyful. "My master owns many villages and his granaries are full," the slave told him. "He will not let me starve to death." At this Shaqiq awakened, for he had no such trust in his own Master. 'I am the spiritual disciple of a slave,' he often said. He is reported to have written several books.

Sufyan Suri—To Ibrahim Adham's contemporary, Shaikh Sufyan Suri, the tradition of later ages attributes the doctrine of *wara*, or 'abstinence.' *Wara'* may be defined as 'restraining desire from what is forbidden,' or in the alternative, 'as given up everything that is doubtful or useless in word and deed, in public and in private.' Ibrahim Adham declared that Sufyan was born with 'abstinence' from his mother; in fact he began to practise abstinence even before his birth. For while he was still in the womb, his mother, as a cure for her sickness, took something sour from her neighbour. Thereupon Sufyan began to kick in the womb and compelled his mother to refrain. Many similar stories are told about him. His conversion was due to a fault committed by thousands and millions of Mussalmans. He stepped into a mosque with the left foot first. "Be careful" a voice cried in his ear. Sufyan fell down unconscious from fear. On recovering he pulled his beard and slapped his cheek. Teaching, according to mystic theory, ought to be undertaken without wages, so Sufyan refused to accept a man's present because he had taught some Traditions to the man's brother. Later mystics, who specialised in avoiding everything doubtful, are often referred to as followers of Sufyan Suri.

Maruf Karkhi—Even in a brief notice of the 'quietists', Shaikh Maruf Karkhi cannot be ignored. He was the child of Christian parents. When his teacher directed him to say that "There is One." He replied "Say He, Allah is One." As Maruf persisted in his reply, he was flogged and he ran away from home. Later on, having been converted to Islam, at the hands of Imam Ali Raza, he knocked at the door of his parents and informed them that he was a Mussalman. They preferred to follow him. His later years were spent at Baghdad in the company

of Shaikh Sirre Saqti. Maruf's uncle, who was the ruler of the city, found Maruf sharing his meal with a dog; he took one morsel himself and offered the other to the dog. 'Are you not ashamed of dining with a dog', asked the highplaced uncle. 'It is out of shame that I am doing so', Maruf replied.

Habib Ajmi—It was a reign of terror. Abdul Malik bin Marwan had at first seemed very weak in comparison with his rivals, Mukhtar and Ibn-i-Zubair. But he succeeded in suppressing them and when his general, Hajjaj, after subduing the Holy Cities marched to Iraq, the fickle-minded people of Kufa and Basra, the two military colonies established by the second Caliph, realised that the day of reckoning had come. But Hajjaj was not only a terrorist; he was also a great organiser, and under his vigilant direction and guidance one army was sent under Qutaiba to Mawarun Nahr and Turkestan and another under Mohammad bin Qasim to the valley of Sind. To both his subordinates Hajjaj issued the same order. 'March on to China.'

Undeterred by the political terrors of the new regime and untouched by the patriotic fervour of the people around him, Habib Ajmi, a humble Persian money-lender, went on his usual rounds in the military town of Basra. He was despised as a Persian; he was doubly despised as a Persian usurer. Great bankers are honoured by princes and respected by the people. Money is power. But that was not Habib's lot. He advanced loans to the very poor, who cursed him in return. Still life had to be lived; and if the debtor was not in a position to pay, Habib insisted on taking away whatever the poor man had as his wages for threading the dusty streets (*pai muzd*). And these miscellaneous collections supplied Habib and his wife—an honest woman by all counts—with their daily bread.

One day, a debtor being absent, Habib extracted from his wife the head of a goat, the only thing she had in her house. Two other calls secured him wood and flour. But when Habib's wife had finished her cooking, a beggar called at the door. "Be off" Habib replied, "You will get nothing. The little I can give will not make you rich. But it will leave me poorer." Nonplussed by the logic, the beggar departed in despair. But when Habib's wife put her ladle in the cooking pot, she found it full of blood. "Here" she shouted to her husband, "Look at the consequences of your miserliness." "Aye, Aye," Habib replied when he saw what had happened, "I repent me of my sins."

Next day, which was Friday, Habib began his calls again. He had made up his mind to ask his debtors to return his capital, and was determined not to lend it on interest again. "Habib, the usurer is coming," some children playing in the street shouted to each other. "Let us withdraw, or contaminated by the dust of his feet we will grow up like him." Roused by this remark, the perplexed money-lender turned round and proceeded to the *majlis* where Shaikh Abul Hasan Basri was delivering his sermon. A remark of Shaikh Abdul Hasan went deep into his heart and completed the process of repentance. On his way back he met one of his debtors. The man tried to fly away. "Don't," Habib cried, "It is for me to fly away from you now." He met the same children playing in the street. "Habib, the repentant is coming," they shouted this time. "Let us withdraw, it would be a sin to raise dust in his path." On returning home he announced that his creditors could come and take away their I. O. Us. He also made a pile of the articles pawned with him. Everything was taken away. To meet further claims, Habib even gave away his own cloak and his wife's *chadar*.

The rest of Habib's life was passed in a cell or *saumiah* he built for himself on the bank of the Tigres. He depended entirely on *futuh* or the unsolicited charity of his neighbours. His education had been defective or else it had begun too late, for he could never recite the Quran properly. Shaikh Abdul Hasan coming to his cell one day found him reciting '*Alhamd*' incorrectly and said his prayer separately[1]. That night he was reprimanded by the Lord in a dream. "You looked merely at the pronounciation of the words and not at the purity of thought behind them." When the Quran was recited before Habib, he used to weep. "You are a Persian", they asked, "You do not understand the Quran. Why then do you weep ?" "A Persian I may be," he replied, "but, I have an Arab's heart". With one last incident our notice of the Persian quietist's later life may be closed. They hanged a murderer at Kufa. At night some acquaintances of his saw him in their dreams;

1. The Persian like the Indians, and unlike the Arabs, make no distinction between the sounds of ح and ه. The Quranic verses in the compulsory (*or farz*) prayers at morning, evening and night are recited in a loud voice. As the compulsory prayers are congregational, a Mussalman who sees another Mussalman praying, should stand behind him and not recite his prayer separately.

he was walking over the lawns of Paradise in costly robes. "When I was mounting the scaffold," he explained to them, "Habib Ajmi passed by my side and prayed for me."

Fuzail bin Ayaz—The case of Fuzail son of Ayaz gives us a different type of conversion. Maulana Jami thinks he was born in Mosul. But accounts differ, and Khorasan, Samerqand and Balkh have also claimed him.[1] Whatever his place of birth, he practised his profession, which was that of a robber, in what is now known as the Trans-Caspian region. He had established his camp between Baward and Merv. He used to wear coarse woollen cloth (like a *dervish*) and a woollen cap, and threw a rosary round his neck. He had plenty of comrades, all of them highwaymen and robbers. As he was their chief, they used to bring their spoils to him for distribution ; he kept what he liked for himself but made an inventory of the goods received. He never missed congregational prayers, and also compelled his servant to attend them ; those refusing to attend were dismissed. Fuzail, it is said, was a man of honour. He never went near a caravan in which women ware travelling. He never deprived the poor of what they possessed, and when he plundered others (i.e. who could afford to be robbed) he left them a portion of their property. He was inclined to virtue. In his early life he had fallen in love with a woman. He used to send her the plunder he received ; he also visited her sometime and wept a lot in his passion.

One day a large caravan was passing that way. Suddenly the travllers heard that they were going to be attacked ; and in the panic of the moment one of them, who had a large quantity of cash, flew to the wilderness hoping to hide it somewhere. He saw a man in the woollen clothes of a *dervish* seated over his prayer carpet in his tent and turning over the beads of his rosary. This is well, thought the traveller and explained his circumstances to the *dervish*. The *dervish* directed him to place his cash in a corner of the tent. On returning to the caravan the traveller found that it had been plunderred by the robbers. He took a little of what they had spared and went back to the *dervish's* tent. Here, to his surprise, he saw the robbers distributing their plunder. "Alas", he muttered to himself, "I have handed over my property to the robbers with my

1. *Nafahatul Uns.* No. 8.

own hand." But Fuzail called him and asked him to take away his cash from the tent-corner where it had been left untouched. "This man had hopes of me, Fuzail explained to his comrades, "just as I have hopes of the Lord; and I have not disappointed his hopes so that the Lord may not disappoint me." On another occasion Fuzail's comrades plundered a carvan and sat down to their meal, one of the merchants approached them and inquired about their chief. He was told that the chief was praying by the side of a stream, though it was not the time for one of the fixed prayer, and that he was fasting through it was not the month of Ramazan. Surprised by this information, the merchant proceeded to Fuzail. "What combination is this" he asked, "of fasting, robbery, and prayer?" "Do you know the Quran?" "Yes." "Well, then," Fuzail remarked, "Do you remember the verse: 'And others who acknowledge their sins and mix actions that are good with actions that are bad.'

But Fuzail's moment of conversion was destined to come. A merchant starting from Merv ignored the advice of friends who wanted him to take a body-guard and brought a Quran-reader instead; the latter's duty was to keep reciting the Quran while the caravan was on the move. And so Fuzail while lying in ambush, heard the verse; "Is not the time yet come unto those who believe, that their hearts should humbly submit to the admonition of God?" (The *Quran LVII, 15*). It went into Fuzail's heart like an arrow. Ashamed of his past life and terribly shaken, he proceeded to Baward and tried to obtain the pardon of those whom he had injured. Obviously he was not, inspite of his inventory, in a position to pay their claims in full. Every one pardoned him except a Jew. " It is a good opportunity for insulting the Mussalmans," the Jew said to his friends. But to Fuzail he said: "Here is a hillock of sand; work at it and remove it." Fuzail laboured night and day but it was a large hillock and removing it was quite beyond his strengths. Fortunately one night, owing to a severe storm, the hillock entirely disappeared. Then the Jew said: "I have taken an oath that I will not pardon you till you restore the money you have taken. There is a purse of gold coin under my pillow; take it in your hands and give it to me so that my oath may be fulfilled." Fuzail obeyed his directions." Now make me a Mussalman", the Jew observed "and I will pardon you. I have been wavering for a long time between the two creeds. But I have read in the Torah that if a man, whose repentance is pure, touches the

earth, it becomes gold. The purse below my pillow contained earth only; you have converted it into gold by your touch."

Fuzail's next duty was to offer himself to justice; and he asked one of his friends to arrest him and take him to the Sultan. But the Sultan, on looking at him, decided that he belonged to the law-abiding class and sent him back with honour. On reaching his house he drew a deep sigh. "Have you been injured?" his wife asked. Fuzail confessed that his 'heart' had been badly injured and that he had made up his mind to go to Mecca. His wife, though he offered to divorce her, preferred to accompany him. At Mecca Fuzail is said to have enjoyed the company and benifitted from the instruction of the famous Imam Abu Hanifa. Later on Fuzail's sermons made him so famous that his relations came to see him from Khorasan. But Fuzail would not open his door to them and as they refused to leave, he addressed them from the roof of his house: "O ignorant men, May God give you intelligence and some honest work to do." They fell down on their feet and Fuzail wept on the roof. Still he would not allow them to enter.

The story of Harun's visit to Fuzail's cell is narrated by many authors. It may, like the rest of Fuzail life, be no more than a romance manufactured a century or two later. But it illustrates the typical mystic attitude toward. the rulers of this earth.

These mystics of the First Cycle (roughly 661–850 A. D.) or Quietists were not propagandists like their successors. Though later mystic manuals attribute a number of philosophical precepts to them it cannot be claimed with certainty that they evolved and distinct and coherent system of thought. Contemporary evidence is meagre and in many cases altogether lacking.

Three propositions, however, may be safely laid down about them. First, the Quietists represented a type of the existence of which there can be no doubt–their most prominent features being their religious inwardness. The conditions of life under the Omayyads and the early Abbasides were bound to drive thinking men in that direction. The Apostle had recommended not solitude but 'Companionship' (*Sohbat*) and laid down laws for its organisation. But the 'society' found by the Apostle had dispersed. Gone was the democratic Caliphate with its joyful heckling of the Caliphate even in the thatched

mosque of Medina. The places of the nobles now towered over the cottages of the poor in an attitude of haughty contempt. "He who wants the securityof his religion, and the safety of his body and of his heart, will remain away from the affairs of men," Shaikh Junaid observed. "This is period of terror (*Zamana-i-Wahshat*), the wise men (*aqil*) will prefer solitude'. The Prophet himself had searched for solitude before embarking on his mission and to that solitude his devoted followers for the time-being returned. The mystic, by persons who have not cared to study him, is thought to be a person who flies away from society and shirks his duties. This is the very reverse of the truth, for the mystic, by the law of his being, is hardened globe--trotting propagandist. But during the period referred to the Quietists were of a retiring dispostion. With the advent of Shaikh Abul Hasan Nuri (circa, about 900 A. D.) who definitely prepared society for solitude, the mystics began to organise themselves and returned to society again.

Secondly, the Quietists were not *sufis* or mystic in the accepted sense of the word. Muslim mysticism, properly so-called, is a post-graduate creed. "The first condition for this path is knowledge," Shaikh Nizamuddin Aulia of Delhi once remarked and he directed that his certificate of succession or *Khilafat Nama* should not be given to his disciple, Maulana Akhi Siraj, otherwise quite fit, unless he had acquired the acadamic knowledge necessary. The *ulema* (or externalist scholars) and *sufis* (or mystics) were really the product of the same system of education or *darsiyat*. There is no accounting for frauds and adventurers who made a profit out of the popularity of mysticism in later days ; but the sane tradition of mysticism demanded that no one should be considered as a mystic unless he had been educated up to the highest standards of the day. Uneducated persons, whatever their pretensions or the extent of their devotion, could have no intelligible comprehension of mystic principles. Now education among the Mussalmans has meant, *first*, a training in the three religious sciences of *tafsir*, *hadis* and *fiqh* which did not reach their stage of maturity till the period of the Great Abbasides ; and *secondly*, a knowledge of secular sciences based on the works of Plato, Aristotle and the Greek physicians, astronomers and mathematicians, and the translations of Greek works were not undertaken till the golden age of the Abbasides. The true foundation

of mysticism could only be laid on the basis of *all* knowledge within the reach of men and of all religious experience that the mind of men is heir to. The time for that had not yet come.

It will be observed, lastly, that the lives of the Quietists are almost all of them cases of *tauba*, 'repentance' or 'conversion.' Later mystic mapped out definite 'stages', called *Muqams* in man's progress towards God. Of these stages 'repentance, (*tauba*) is the first and 'submission' or 'resignation' to the Divine will (*raza*) is the last. Now repentance according to the *Shariat*, meansy "turning from the disobedience of God to the obedience of God "[1] But the mystics began to give it a profounder significance. Repentance is really 'conversion'—the aquisition of a second (mystic) personality, a rebirth. The founders of the mystic schools (850–950) made it the starting point of the disciple's life. A precept of Jesus, widely known to them in its Arabic rendering, is often quoted with reverence : 'And you shall not enter the Kingdom of Heaven unless you be born again.' It is only in the light of Jesus' doctrine of a second or spiritual rebirth, which washes away even the memory of former life, that several mystic precepts on *tauba* become intelligible. "Repentance means that you repent of repentance," said Ruwaym. Shaikh Junaid once went to Sarri Saqti and found him very upset. "A young man entered by the door," Sarri Saqti said, and asked, 'What is *tauba* ?' '*Tauba*', I replied, 'means that you do not forget your sins.' '*Nay*,' replied the young man, '*Tauba means that you forget your sins*.' "The remembrance of impurity in a state of purity is impurity," Junaid remarked.[2] This doctrine of conversion, as the first mystic stage was probably inherited by Shaikh Junaid and his contemporaries from the mystics of the first Cycle. For repentance or spiritual rebirth is the beginning of all religious experiments, mystic and non-mystic. The formal theologian is, of course, a stranger to it for he has been on the right path all his life.

III

It is not in the present state of our knowledge possible to trace ever elements of mystic thought to its ultimate source. But in the second half of

1. *Misbabul Hidayat*, *IX*.
2. *Ibid.*

the ninth century mystic doctrines, not yet reconciled into a complete system, appear all of a sudden in a highly developed form. Their technique is extensive and, considering the subject-matter, fairly accurate. All the learning of the Quranic commentators, the Traditionists and the Jurists has been utilised. The influence of Greek thought is patent and obvious. In a study of Muslim mysticism these facts must be borne in mind.

The Muslim mystic's fondness for technical terms is notorious. Instead of speaking in the language of the people as many wise teachers have done, he has, by centuries of propaganda, succeeded in compelling the public to adopt his own technique. All mystic manuals devote considerable space to the explanation of technical terms without which they would not be intelligible. And these terms, in the majority of cases, can be traced back to the contemporaries of Hallaj, and even to the generations that preceded him. "Why do mystics invent terms of their own, which appear strange to those who hear them, and avoid popular words ?" they asked Ibn-i Ata. "Because," he replied, "their ideas are precious and they do not desire to be understood by others besides themselves. So they do not use the words of the multitude and invent terms of their own." That may have been one reason. Secondly, every department of human knowledge requires a terminology of its own ; and the terms of the mystics are derived from the works of the commetators, the traditionists and the *faqihs* by a process of further refinement. This, as has been seen could only be done after the principles of the Muslim sciences had been laid down by scholars who were intimately acquainted with them. The mystics, in their contempt for the *Ulama-i Zahiri* or externalists, often professed contempt for academic learning, and some of them even made a show of destroying the text-books which they had crammed up in their youth. Nevertheless, an ignorant mystic was considered a danger to himself and to others ; there was no place for him in the system except as an attandant (*khadim*) of the elect. Necessary knowledge (*ilm-i zururi*) was required of all who wished to enter the mystic portal : and necessary knowledge meant (*a*) knowledge of the Quran, the Traditions and the *fiqh* in so far as it supplied a guidance for the problems of life and was not misused for forensic controversy (*munazirah*); and (*b*) a

practical knowledge of the human mind (*ilm-i khwatir*) or phychology which was indispensable for their science and their philosophy.[1]

The mystics lived, and were expected to live, a life of poverty or *faqr* ; and the *faqir* was defined as " a man who possesses nothing and is possessed by nothing. " But as they rightly insisted, their *faqr* was the result of preference and choice, like the *faqr* of the Apostle; only by absolute dependence upon God for the day and the morrow could the human soul be really freed from its social and political environment. The man who is poor from necessity and yearns to be rich is not a *faqir* in the mystic sense. The leading mystics were men of immense learning and of surprisingly wide experience. They were, on the whole, recruited from the middle class, the class that went to the *madrasas* and found education necessary. Representatives of the aristocracy and the working classes are rare. Their medium of writing and discussion before the eleventh century was almost always Arabic. This was not primarily due to the fact that they wanted to keep their ideas secret, for their opponents, the *Ulama-i Zahiri*, were quite familiar with the Arabic language. But the classical period of Persian literature had not yet come; and there was no point in using local Persian dialects not intelligible to the men of other districts.

The influence of Greek thought on the mystics must not be ignored. The translation of Greek works—especially of the treatises of Aristole—wrought a havoc among the Mussalmans. The astronomy of the Greeks, in its first impact, almost completely paralysed a people, who had done nothing more than look at the stars and calculate, for purely practical purposes, the movements of the sun and the moon. It was opposed to the traditional cosmogony to which, in the minds of many, the doctrines of religion are eternally bound. Nevertheless Greek astronomy, based on Greek mathematics, was accepted as

1. Were mystic doctrines, after the ninth century, esoteric or exoteric ? There was, no real attempt to hide them. Not only were the mystic doctrines expounded in books which anyone could obtain, they were also discussed in religious sermons. The orthodox mystic school after Hallaj merely insisted that (*a*) men should only be told what they could understand and that (*b*) there was no point *in* frightening the multitude with precepts that appeared heretical. Mysticism, like all other sciences, could only be acquired by progressive education.

scientifically and rationally correct, and the same honour had to be accorded to Hindu astronomy and mathematics which, in translations and extracts of the Brahma Siddhanta, known by the incorrect name of 'Sind-hind' found its way to the lands of Islam at an early date. To Greek physiology and medicine there was really no alternative; they had to be imported and cultivated for practical purposes. And, inevitably, the physiological and psychological concepts of the Greeks permeated the thought of the Mussalmans through and through. They are to be found in every mystic treatise. Most troublesome of all were Greek logic and metaphysics. Aristotle's distinction between substance, attributes and accidents, between the possible and the necessary, and his syllogistic method of reasoning have provided the channels in which Muslim thought has flowed for over a thousand years. Nor was it possible, in the realm of higher speculation, to resist the attraction of Plato's 'doctrine of ideas'. As we define, compare and analyse the doctrines of the mystics, they inevitably lead us to the *ain* or 'idea' of which the material or phenomenal world is a mere symbol. And where Plato went, Plotinus was sure to follow. Plato's distinction between opinion and knowledge combined with the neo-Platonic concept of gnosis enable us to understand the general *form* in which Muslim mystic theory was cast.

A proper system of metaphysics must start with an examination of man's cognitive faculty. This faculty is *aql* or rational intelligance. It has been defined by the *Misbahuh Hidayat* as "a light given to us by nature, common to all men, by which we distinguish between good and bad, right and wrong." This rational intelligenee (*aql* or *aql-i kul*) according to a Tradition of the Prophet, was "the first of created things." It is the basic assumption of all philosophies and all religions that the sum-total of existence with which we have to deal is a Rational Universe ; in an irrational Universe neither knowledge nor virtue nor religion would be possible. On that point the Quran is emphatic. "You will not find an alteration in the *sunnat* of Allah."

Now granted a Rational Universe, man's rational intelligence will comprehend it at three different stages. First, *Zan* or, 'opinion'. The basis of *zan* is either hearsay or mere perception—intelligence working at its lowest level. It cannot be anywhere near the truth. Secondly '*Ilm*' or knowledge. It is based

not on mere perception but on concepts or general ideas, and is the result of investigation, criticism and analysis As distinguished from *zan* or opinion, it is independent of physical perceptions (*idrak-i hissi.*). Being based on general concepts, *Ilm* has been defined from the religious view-point as 'the light which flows to the heart of the mystic from the lamp of the apostle and leads him to God and His works and His commands.' Thirdly, *Ma'arifat* or Gnosis. "*Ma'—arifat* is the recognition of unity in the manifestation of details." Thus mere knowledge of the rules of grammar is *ilm*. But the simultaneous apprehension by a person reading Arabic or (*a*) the rules of Arabic grammar and (*b*) of their application to each word in the sentence is the *ma'arifat* of the language. A variety of *ma, arifat* is *Marifa-i Nafs* (Gnosis of the Self). The Neo-Plotonic conception of man as the microcosm is strengthened by an Apostolic tradition which declares that 'God created man in His own image'. By Gnosis of God (*Ma'rifat-i ilahi*) is meant 'the recognition—or simultaneous apprehension of the existence and attributes of God in the varied manifestations of (inner) states and (external) events and appearances (*hal, hawadis, wa nawazil*) after the conception (*ilm*) of God as the Absolute Existence (*Maujud-i Haqiqi*) and the Absolute Cause (*Fa'il-i Mutlaq*) has been attained.' Gnosticism or *ma'rifat* is only another name for mysticism of the highest type. It is man's ultimate end.

The *ulama-i zahiri* or externalists, whose regime Greek philosophy threatened to overthrow, attacked it bitterly by the method of argumentation they had learned from Socrates. But they desired, like the schoolmen of medieval Europe, to use logic for proving truths accepted on authority. Socrates' willingness "to go wheseroever the argument leads" found no response in their hearts. The mystics, as a group, took no part in the controversy between the Mutazilites, who attempted a reconciliation of Islam with philosophic reason, and the 'externalists' who instinctively preferred the stupider interpretations. They respected the philosophers as ancient sages ; they accepted from the Greeks those categories of thought which Plato and Aristotle have defined for all time to come. Nevertheless, they considered themselves superior to the Greek philosophers and the sophists. The Greeks had not the advantage of the Apostolic revelation ; nor did the mystics find in the Greeks that restless desire of reduc-

ing life to logic which was surging in their own breasts. The revolutionism of Plato was too academic to be real ; the ecstasies of Plotinus (like the raptures of Bayazid) were too nascent for a permanent system.

We must survey, in next, the political condition in the last half of the ninth century when the mystic schools arose. The state, so powerful under the Omayyads and the Abbasides, seemed to be daclining. But its strength was being really renewed by the Turkish adventurers, who a century later laid the foundations of the Ghaznavide and the Seljuq Empires. The Persians, having attained to prominence under the early Abbasides, were once more relegated to the position of a subject race. The new masters were more forceful and more valiant than their predecessors ; but they lacked, comparatively speaking, education, refinement and culture, and were, therefore, to a great extent dominated by their own instruments, the clerics. As a protest against the Turkish rulers and the persecution they started at the instigation of the externalist and orthodox *ulama*, the Ismailian heresy was growing apace. The Ismailian Caliphate of Egypt was founded in 893 A. D. in direct opposition to the orthodox Caliphate of Baghdad. And Carmathianism, came nearer home. Baghdad, a constant prey to internal commotions, found itself cut off from Arabia by the heretics. The first Carmathian' outbreak is said to have taken place in 900 A. D. The *caravan* routes became unsafe ; at times all trade and business was brought to a standstill. Basra was attacked; Kufa was stormed. These defeats drove the orthodox to frenzy ; the judicial machinery of the state being too slow for the demands of popular justice, orthodox mobs, egged on by *mullas*, lynched the heretics wherever they could be found. The barest suspicions sufficed; the howling multitude was seldom in a mood to distinguish between the Ismaili, who thought that the Lord was manifested in the Imam, the Hululi who claimed that the Lord was manifested in all things, and the extreme mystic who asserted that the Lord could be found everywhere, and darkly hinted that in some out of the way place—a crumbling mosque, an empty tavern or a desolate wilderness—he had obtained a partial glimpse of the Supreme Beauty and the Absolute Truth. Among a people so broken by dissensions and dominated by the state and its agents, the *mullas*, two foreign influences had begun to manifest themselves. To the first of these—the

influence of classical Greece—we have already referred. The dialectic of Socrates, while it made the *mulla*, more contentious and arrogant in his forensic debates, also drove the mystic to a clearer statement of his conviction to himself and to others. The second influence, even more profound, was the influence of Persia. The Arabs occupy a position of great honour in mystic literature and thought. But mysticism is, nevertheless a Persian creed.

We can now proceed to survey the mystic schools to which a reference has already been made.

"The whole body of aspirants to Sufism," Shaikh Ali Hajwiri (died 1072)[1] tells us in his *Kashful Mahjub*, "is composed of twelve sects or schools (*garoh*, *mazhab*), two of which are condemned (*mardud*) while the remaining ten are approved (*maqbul*)[2]." If the political terminology of modern political parties be permitted in this context, we may say that while the *sufis*, as a whole, stood to the left of the *mullas*, they were themselves, considering their distance from the orthodox and their insistence on individuality, divided into a left wing, a centre and a right wing. (1) The position on the extreme left was doubtless occupied by the *Hululis* (Transmigrationists or reincarnationists), who were considered the worst of the two condemned schools. (2) The second condemned sect was the Hallajis, the professed followers of Hallaj. (3) Among the approved schools, the position on the extreme left was occupied by the Taifuris, or followers of Shaikh Abu Yazid Taifur bin Isa bin Samshanul Bustami. The Taifuris were mystics who went into raptures in their contemplation of the Absolute Truth, and believed that this 'rapture' was superior to the 'sobriety' of the normal mortal and even of their *Sufi* rivals. (4) Next to them—or, may be, quite abreast of them—came the Qussaris, or followers of Abu Saleh Hamdun bin Ahmadul Qussar, who put forward 'the doctrine of blame'. The duty of the mystic was to disregard public opinion; if he went out of his way to court unpopularity, so much the better. In later days these people were known as *Malamatis*. (5) To the Kharrazis or followers of Abu Said Kharraz, belongs to the credit of having re-stated the age-old conception of *Nirvana*, the expansion (not annihilation, as is some-

1. Nicholson's Edition, Introduction page viii.
2. Nicholson's Translation, page 180.

times supposed) of the human soul into the Absolute. In the technical language of the mystics, it is known as the doctrine of *Fana* (annihilation) and *Baqa* (Subsistence)[1]. The following statement of Kharraz is well-known[2]. "If a man (*'abd*, creature) turns himself towards Allah, and attaches himself to Allah, and lives in nearness to Allah, and forgets his own existence, and forgets everything except Allah—then, if you ask him, wherefrom are you and what object do you desire, he will have no answer but Allah." This definition, it has to be observed, makes no reference to the doctrine of transmigration, which was not acceptable to the mass of the Mussalmans, defines *Fana* in purely psychic terms, ignores the element of time and uses a terminology acceptable to the readers of the Quran. *Fana*, so defined, could be accepted by all Mussalmans, for verses of the Quran can be quoted in support of it. (6) The Khufaif is or followers of Abu Abdullah Mohammad bin Khafaif Shirazi looked at the same problem from a different angle. A man, before his existence is absorbed in God or the Absolute, will either be in the presence of God or absent from Him.[3] This is the doctrine of *Huzur* (presence) and *Ghaibae* (absence). For a man who has reached the last stage of the mystic path, the distinction of 'presence' and 'absence' has, of course, no meaning, for he is present simultaneously in the world of reality (God) and the world of phenomena or the material world. (7) A third view of the same problem is given by the Sayyaris, or followers of Abul Abbas Sayyar, the Imam of Merv, who looked at the psychical state of the seeker (*salik*). In so far as the purpose of his life—attainment of the Absolute—was being successfully pursued, his mind would be in a state of harmony or unity (*jama*); if, on the other hand, progress is frustrated, his condition will be one of distraction (*tafrica*). Mystic leading a life of emotional strain with little sleep and less food were peculiarly liable to these psychological revolutions to which, in the case of humble mortals, they applied the terms of joy (*shauq*) and gloom (*alam*). But while we, in our irrational way, think that we are nearest to God

---

1. *Baqa billah wa Fana anil ghair* : Subsistance in Allah and annihilation from every thing else.

2. *Tazkiratul aulia*, no. 55.

3. Present in consciousness, is meant.

in our sarrow, the mystic, with better logic, concludes that bliss is the symbol of his nearness, to God. This doctrine, it is obvious, assumes that the problem of reality can be interpreted in psychological terms.

It will be observed that the six leftist schools are all really concerned with the problem of mystic metaphysics, and differ from each other partly in their angle of vision and partly in the extent of their divergence from the .orthodox creed. The rightist schools, on the other hand, devoted their attention to questions of self-discipline and training, and also for the first time laid down those social doctrines which, under circumstances widely different, led to the foundation of the great mystic orders of the thirteenth century.

(8) The *Muhasibis* are called after their leader, Abu Obaidullah Haris bin Asadul Muhasibi, who taught them the necessity of self-examination. Looking into his own mind the seeker or *salik* is bound to notice two phenomena—*hal* and *muqam* (state and stages). Much discussion has taken place about the meaning of these terms. We may define them as permanent (*muqam*) and temporary states (*hal*) of religious emotion. Muhasibi, the *Tazkiratul Aulia* tells us, is so called because he laid down precepts for this *muhasibah*—taking stock of one's self. Muhasibi is also credited with the statement that *raza* (satisfaction or submission to the Divine will) is not a *muqam* (station, stage) but a *hal* (state, condition). The controversy provoked by this declaration lasted for about two hundred years. (9) Self-mortification, subjecting oneself to torture for torture's sake, has never been recommended by the mystics except as a measure of discipline. "Thy *nafs* (body) has legitimate claims upon thee," the Apostle has declared. Nevertheless : "So long as a man remains imprisoned in the snares of passions and lusts it is hard for him to maintain this close communion with the Absolute. But from the moment that sweet influence takes effect on him, expelling from his mind the firebrand of vain imagination and suggestions, the pleasure he experiences therefrom predominates over bodily pleasures and intellectual enjoyments. Then the painful effort passes away, and the joy of contemplation takes possession of his mind."[1]

1. Maulana Jami, *Lawaih Plash* XI (Whinfield's Translation.)

Sahh bin Abdullah Tuster and his followers, the Tustaris, drew attention to the necessity of controlling, punishing, or may be, of satisfying the *nafa* or lower soul, so that the path of spiritual progress is not hindered. Many rules were laid down for this purpose and a special branch of mysticism, *Ilmi siat* (science of man's capacities) grew up to deal with problems of man's Lower nature. (10) To the Hakiris, followers of Abu Abdullah Mohammad bin Hakimut Tirmizi, belongs the glory of reviving man's faith in his own spiritual greatness, or, at any rate in the spiritual greatness of the selected few. He affirmed 'the doctrine of saintship' or *wilayat*, basing it on the Quranic verse: "And the friends of Allah, verily there is no fear for them and they shall not be grieved." *wali* means friend; *waliullah* means a friend of God, a saint, *wilayat* means saintship; it also means territory, domain the sphere of one's jurisdiction and power; in the terminology of the mystics' *wilayet*, there-fore, came to mean the 'territory within a saint's spiritual jurisdiction,' and saints, like kings, often quarelled about their territories in the centuries that were to come. But the Hakim's contemporaries laughed at his statements. The Mutazelites affirmed that all Muslims were a priori equal, and that if one of them was capable of performing a miracle, the rest should be able to do so. Even the Hululis, who belived in divine incarnations, shook their heads in disbelief. The good old souls were gone with the good old days; nothing spiritually good could grow out of the rotten social fabric of the early tenth century. The proper time for saints was the past; rascals, adventurers and villains dominated the presents, of the future there was no telling. Nevertheless, Hakim Tirmizi claimed that saints had always existed and must always exist; they were a necessary part of the cosmic order. He graded them, classified them and told his sceptical contemporaries the exact number in each grade. Three centuries later, owing to the rise of the mystic orders, this theory exercised a remarkable influence and every Muslim village was provided either with a living saints or, in the alternative, with his grave. (11) The Nuris, or followers of Abul Hasan Nuri, found themselves in general agreement with the central school of Junaid. But as against the disply of *faqr*—of poverty as poverty—Nuri protested that the real object of *tasawwuf* was superior to *faqr*, which was only a means to an end.

He also preferred *suhbat* (society) to *'uzlat* (solitude). The times may be bad, but that should not prevent good people from associating with each other, only by organised associations could the best mystic traditions be preserved and improved. Living separtely, each in his own cave in the wilderness, the mystics would perish. This doctrine, like that of the Hakims, was destined for a bright future.

(12) Between these two opposed groups stood Shaikh Junaid of Baghdad. His path was that of sobriety or *Sahv*; he kept aloof from rapture (*sakr*) on the one hand and from externalism (*Zahiriat*) on the other. He claimed to be absolutely orthodox in matters of religion. It is, perhaps, incorrect to say that Junaid was the founder of a particular school. His recorded sayings cover the whole field of mysticism; and his 'sobriety' is the self-restraint of a scholar in whom reason and balanced Judgment check the mystic impulse but who realises, at the same time, that a state-dominated clericalism cannot show the path to salvation. His influence on his contemporaries and succeeding generations was immense. "Most mystics have belonged to the school of Junaid," the *Tazkiratul Aulia* assures us.

The founders of these mystic schools were men of great erudition. They were also prolific writers, and are said to have left an enormous mass of literature behind them. A part of it has survived but more is likely to be discovered. They specialised in *risalas* or short treatises on special topics, but of these they composed a fairly large number. Abu Said Kharraz, for examaple, is said to have written no less than four hundred books, the most important of them being the *Kitabus Sirr* in which the definition of *fana*, quoted above, occurs. "Same externalist scholars" the *Tazakiratul aulia* tells us, "have cursed him and attributed infidelity to him." If the surviving accounts of them are to be trusted, they and their band of followers were subjected to constant persecution by government officers and the public and were compelled to fly from city to city and country to country. But thanks to their effort, and the efforts of many others, whose names and books have both been forgotten, mysticism at last got a hearing. Thereafter it was an element of Muslim life that could not be ignored.

By the begining of the eleventh century the period of persecution was definitely over and the leading mystics came to be regarded with great respect. In the history of Islamic culture in Asian lands, the eleventh century is remarkable for the consolidation of mystic thought. It is the era of *risala*, almost entirely in Arabic, which were produced in enormous numbers and were in due course followed by large Arabic manuals, which attempted to provide a complete and consistent philosopby of mysticism. The desire was to harmonise the ten schools referred to above along with other doctrines of which no mention has been made in this article into a consistant system. But as discussion and reflection proceeded, there appeared not one but two opposed view points. And it seemed difficult, if not imposible, to reconcile these two view-points.

The credit of consolidating the central philosophy of Shaikh Junaid belongs to Shaikh Shahabudddin Suhrwardi who carted all his important books from Baghdad to Mecca and there, in the precincts of the Holy temple he composed his famous *Awariful Maarif*. The work was immediately accepted by orthodax mystics of all kinds. Within a decade or two of its author's death it was being taught at Delhi. It just threw all previous treatises into the shade. It is measured, balanced, scholarly. It definitely rejects the externalism of the *mullahs* but adheres strictly to the *sunnah* of the Prophet. Most mystic treatices of later days are merely re-statement of the *awarif*. It was translated into excellent Persian, under the title of *Misbahul Hidayat* by one, Shaikh Mahammed, with in a generation of the auther's death.

But there came at the same time to Mecca from distant Spain a scholar equally great, if not greater, whose unacceptable opinions had made his staying at any one place for long impossible. Shaikh Mohiuddin Ibn-i Arabi (1164-1240 A. D.) is for the leftist schools what Shaik Shahabuddin Suhrwardi is for the schools of the centre. He restated their philosophy in its complete and final form. The two scholars, according to a realiable tradition, came across each other at Mecca ; they looked at each other and departed without exchanging a word. The sane and balanced Baghdad scholars, with his pupils, his *Khanqah* and his men of popular belivers had nothing to say to this terrible meteor from the west with his ruthless logic. Ibn-i Arabi, like his leftiest predecsesors, had utterly independent of human opinion. His

books were burnt. He was hated and enathematised. His life was a long march from Southern Spain across Northern Africa to Mecca, from Mecca to Qunia in Turkish Anatolia and thence back to Damascus where he lies buried. The hatred that had pursued Ibn-i Arabi during his life pesisted for at least two centuries after his death. He wrote some five hundred books and a pamphlet giving a list of 200 of them with an account of their contents. But most of them were difficult to obtain. Nevertheless, his ideas gained ground. Maulana Abdur Rahman Jami, the greatest mystic scholar of later days in the Western lands of Islam stated his well considered opinion in 1477 A. D. after reviewing the whole controversy : "The greatest reason for the objection of his critics is the book, *Fususul Hikam*. But this criticism is based either on blind tradition (*taqlid*) or mere prejudice or ignorance of the technical terms he uses, or indifference to the meanings and truths he has explained in his works. The gnostic verieties which have been put in writing in the works of Shaikh Mohiuddin Ibn-i Arabi, specially the *Fususul Hikam* and the *Futubat-i Makkiah* are not to be found in any other book. Nor have they been revealed by any other member of this mystic circle."

What Hallaj in his *Tawasin*, had perhaps, meant by his scrawls and symbols, what Shaikh Bayazid of Bustam and Abul Hasan Kharqani are reported to have said—that and much more Ibn-i Arbi sat down to write and rewrite in perfect sobriety. His final doctrine is that of *Wahdatul Wajud*—of God as the sole and the only Existence. He abolishes the 'neo-God'. There can be no such thing. He is all-*hama ust*. The doctrine was misinterpreted by Ibn-i Arabi's enemies. He had carefully built a highly technical language which critical thought needs ; but he had for that purpose to use this known language of men. The critics have ignored his technique ; they have torn his sentences out of their conext and misrepresented them entirely. Followers have been even unkinder. They have converted his great philosophy into slogans, and have tried to attain God through multitudious shouting of *Huwal Haq* (He is the Absolute). Essentially the man in whom Muslim mysticism finds it's highest exponents is one of the world's greatest thinkers. It is difficult to summarise such a philosopher. But one of Ibn-i Arabi's important Commentators has put the leading movements of his thought as follows: We have, first, mere impressions,

the conditioned impressions of our five senses, the sight or touch of an individual object'. Next to it comes the 'general ideas', or 'concepts' through which our thought moves—the concept of a horse for example, from which 'conditions' of perception have been partially eliminated. Finally we come to the 'universal concept'—God or 'the unconditioned Existence'–with which perception has nothing to do, and who is yet eminent in all perceptions. The basic thesis of the great Shaikh, misconstrued by his opponents is as follows : "Transcendental–i.e. beyond all preceptions–is He who has manifested all things and He is the 'idea' of them." The commentator, Kamaluddin Kushi, after emphatically declaring that the unity of God is not 'an arithmetical unity', claims that the great Saikh's philosophy is on the whole an exposition of the Quranic postulate : "And He is the First and the Last, the Apperence and the Reality."

With these two great thinkers Muslim mystic philosophy reaches its culmination. Great mystic works in prose and verse were still to come—works of great capacity, power and art. But to the philosophy of mysticism there was little to add.



LANDMARKS IN THE DEVELOPMENT OF MATHEMATICAL IDEAS

By Dr. A. N. Singh

"THERE is probably no other science which presents such different appearances to one, who cultivates it and one who does not, as mathematics." The popular view about mathematics is that it is ancient, venerable and complete, a body of dry irrefutable, unambiguous reasoning' To the mathematician, however, this science is still young and everywhere stretching out after the "attainable but unattained."

What is Mathematics? The view of mathematicians themselves on mathematics has undergone complete change since the beginning of the current century. The old view is to be found in the dictionaries, e. g. the Oxford Dictionary defines mathematics as "the abstract science of space and number." This view was current upto the close of the 19th century: for instance, Gauss (1831), the greatest mathematician of the 19th century, said, "mathematics is concerned only with the enumaration and comparison of relations." According to B. Pierce (1809-1880) "mathematics is the science which draws necessary conclusions." Others who have left their views on mathematics have given an appreciation of the subject and its importance without attempting a definition. The Hindu mathematician, Mahavira (850 A. D.) wrote—"In all transactions which relate to wordly, Vedic or other similar religious affairs mathematics is of use. In the science of love, in the science of wealth, in music and in drama, in the art of cooking, in medicine, in architecture, in prosody, in poetics and poetry, in Logic and grammar and such other things and in relation to all that constitutes the peculiar value of the arts, the science of calculation (*ganita*) is held in high esteem. In relation to the movements of the sun and other heavenly bodies, in connection with eclipses and conjunction of Plenets, and in connection with *triprasna* (direction, position and time) and the course of the moon indeed in al lthese it

is utilised······Whatever there is in all the three worlds, which are possessed of moving and non-moving beings, cannot exist as apart from *ganita*."

Mathematics has been looked upon as an important branch of human activity because of its applications. Even today it is cultivated mostly because of its application to the physical sciences, to engineering, to economics and to the multifarious needs that arise during peace and war. A modern war would not be possible without its help. It is true that great developments in mathematics have been brought about because of the requirements of applied mathematics. The theory of relativity and the modern theory of atomic structure have been responsible for the creation of a new type of mathematics and have shown the need for a revision and recasting of the basic axioms and postulates.

Mathematics has been defined by some to be a body of knowledge derived by a kind of deductive reasoning from a small number of basic axioms and postulates. According to this view it is a body of propositions free from internal contradictions. "In precisely the same way as a novelist invents characters, dialogues, situations of which he is both author and master, the mathematician devises at will the postulates upon which he bases his mathematical systems." This is essentially the method developed by the Greek geometricians.

The 19th century produced a school of mathematics in Germany headed by such eminent mathematicians as Weierstrass (1815-1897) and Kronecker (1823-1891) who aimed to arithmetics all mathematics. According to this school the whole of mathematise (geometry included) can be derived from numbers which are subject to certain rules of operation: those of addition, subtraction, multiplication, division, extraction of roots and the taking of limits. Dedekind (1831–1916) and Cantor (1845–1918) succeeded in defining the real number and giving an arithmetic definition of notion of continuity. The work of these mathematicians laid the foundation of vast branches of mathematics now known as the Theory of Functions, the Theory of Aggregates and Topology.

A third school of mathematics that developed towards the close of the 19th century considered symbols together with certain laws governing operations with those symbols as the basis or essence of all mathematics. Amongs

the foremost workers in this field may be mentioned Boole (1815-1864), Peano (1858-1932), Russel Whitehead and others.

Geometry, Arithmetic and Algebra. The ancient Greeks were responsible for giving geometry to the world. It is true that many of the results of Greek geometry were known to the ancient Egyptians, Babylonians and the Hindus but the credit of systematising and presenting geometry as a body of propositions based on definite axioms and postulates must go to the Greeks and to Euclid (365-275 B. C.) in particular. The creation of two other branches of mathematics, arithmetic and algebra (symbolic arithmetic), must be ascribed to the ancient Hindus. They evolved the place value system of numeration, invented a symbol for the zero and developed the whole of elementary arithmetic. In algebra they were the first to use the letters of the alphabet as symbols for the unknown, gave the rules of operations with the plus and minus signs and wrote algebraic equations in symbols. They obtained solutions of the equations of the first and the second degree, both determinate and indeterminate. The contributions made by the Hindus to these branches of mathematics, now called "Analysis", were revolutionary in character and were radical departures from traditional orthodoxy. The invention of a symbol for the zero and the use of the letters of the alphabet for the unknown carried mathematics forward by several centuries and helped to accelarate its progress by providing a sound foundation for mathematical analysis.

Number, symbol and space are the three main streams along which mathematics has progressed. The sources of the first two lie in India and the third originated in Greece. In modern times these three streams have fused into one and we do not at present differentiate the one from the other. The credit for this fusion goes to the German and French mathematicians of the 19th century. Modern mathematics, like the *Triveni* (the three rivers), is marching along its course, ever broadening and expanding, to a destination which is not yet in sight. Since the beginning of the 20th century other streams of thought have joined and so altered the content of mathematics and the outlook of mathematicians that it has become difficult to say whether anything at all of what was achieved by the great mathematicians of the 19th century has any permanent value.

Just as a growing tree sheds its leaves periodically and its earlier branches dry up and fall away, in the same way during the course of the progress of mathematics there have been periods when mathematicians have been compelled to take stock and reject unnecessary and unwanted growths. Old ideas had to be given up, old postulates discarded, and new foundations laid. Some of the new ideas have come from other sciences, notably physics, but mostly, the innovations introduced have come as a result of abstraction and further abstraction by pure mathematicians. To illustrate this point we shall examine in detail the vissicitudes of geometry, arithmetic and algebra since their foundation to the present day.

Geometry. Euclid's (365-275 B. C.) elements held the field as an example of perfection in mathematics for over 2100 years. They were so perfect that nothing new could be added. They remained static, venerated as a tomb and likewise useless.

Euclid's postulates were seriously questioned for the first time in the beginning of the 19th century. The postulate about parallel straight lines was discarded by J. Bolyai (1802–1860) and Lobachewsky (1793–1856) who together with Plucker (1801–1861), Riemann (1826–1866) and Lie (1842–1899) created more than five times as much new geometry as the Greeks had done in the three centuries of their greatest activity. Thus began the era of freedom from the 2100 years of bondage to Euclid. His proofs and the notions inherent in his geometry have been the subject of close scrutiny since the 19th century. As a result of this enquiry serious faults have been brought to light. For example Euclid's proof of Proposition 47, Book I, that "the square on the longest side of a right-angled triangle is equal to the sum of the squares on the other two sides", is invalid and is vitiated by tacit assumpations that he ignored in laying down his postulates. From those same postulates it is easy to deduce such paradoxical consequences as "all triangles are equilateral". 'Many of Euclid's proofs have been demolished in detail, and it would not be difficult to destroy more were it worth the trouble.' The standard of mathematical proof has varied with time, and today it is very much higher than it was a hundred years ago or in the time of Euclid.

It would be interesting to a lay reader to know that some of Euclid's notions, such as those of length, area and curve have turned out to be vague

or erroneous. It has been shown that curves exist which are such that the length of the curve between any two points on it is infinite. Euclid's definition of a curve as the locus of a moving point is consequently erroneous. A moving point cannot possibly describe a curve of the above type, for it would take infinite time to describe even the smallest portion of such a curve. The notions of area and surface as defined by Euclid have been shown to be vague. Modifications and alternative definitions have been suggested, but still the position is far from satisfactory. We mention two curiosities :

1. The existence of curves which are closed but enclose no area, and
2. The existence of curves which completely fill a given area (or space). This abolishes distinction between area (or space) and length (of a curve).

In spite of results like the above and many more of the same nature which are in direct contradiction to our intuition, the modern mathematician goes on unperturbed for he does not aim at or even desire finality. Greek geometry died in its youth with Euclid for it seemed to have reached perfection. it was buried in the 19th century by Bolyai and Lobachewsky, but its spectre still looms the land to terrify our children in the schools. It, however, serves the useful putpose of frightening away from mathematics those who are unfit for it.

Greek geometry is of no consequence to modern mathematics—it is dead but its spirit, the methodology of Euclid, will ever survive and guide mathematicians from one triumph to another. The methodology developed by the Greeks is thus their permanent contribution to mathematics and to human thought.

Arithmetic. Some form of crude arithmetic was known to all ancient peoples. The foundations of decimal Arithmetic, which we use today, were laid by the Hindus about the beginning of the Christian era. They invented a symbol for the zero and evolved the place value system of notation which is current amongst all civilised peoples. We find from the writings of Aryabhata that by the 5th century A. D., the Hindus had perfected methods for performing all arithmetical calculations with the place value numerals i. e. the methods

of addition, subtraction, multiplication, division and extraction of roots: They also developed the complete arithmetic of fractions. They wrote fractions with a numerator and a denominator as we do now but without the dividing line. For solving problems on proportion they developed the method of the *Trairasika* which finds place in modern books on Arithmetic under the name "Rule of Three."

We are so familiar with elementary arithmetic that we fail to realise its true importance, the great impetus it has given to the progress of civilisation, and its tremendous utility to the human race. The debt that humanity owes to the ancient Hindus for inventing and perfecting elementary arithmetic has not been brought home to the scholars of the west. Whilst references to the achievements of the Greeks are not infrequent in European mathematical literature, the far reaching and even superior contributions of the Hindus are rarely mentioned or not mentioned at all. Europe and America have not yet realised that the elementary arithmetic that they teach their children in the schools today is in all essentials the same as was taught to Hindu children in the 5th century A. D., more than 1500 years ago.

The Hindus perfected arithmetic just as the Greeks had perfected geometry. This arithmetic of the Hindus was transmitted to the Arabs who called it "Ilm Hindisa." The Arabs communicated it to the Italians and to an awakening Europe.

Nothing new was added to Hindu arithmetic up to the beginning of the 18th century although formal variations and improvements were made. The main advance in arithmetic followed the introduction of the idea of "limit" and the success achieved by German mathematicians in defining what we now call the real number. The Hindus knew of the existence of irrational numbers like $\sqrt{2}$. The German mathematicians introduced the classification of algebric and non-algebric i. e. transcendental numbers and thereby completed the domain of numbers. They were further able to show that arithmetic was all embracing and included the whole of the mathematics then known.

Another advance made by the western mathematicians was the inclusion of the imaginary number, the number $\sqrt{-1}$, in arithmetic. A third step forward, for which English mathematicians were mainly responsible, was the

development of Vector Arithmetic. The numbers in atithmetic are quantities which represent only one thing, that is, magnitude or plurality. A vector quantity is a quantity which involves magnitude as well as direction. The processes of addition, subtraction, multiplication etc. were defined with respect to vector quantities and it was found that vector arithmetic, although similar to numerical arithmetic, differs from it in some important respects. If A and B are two vectors, $A+B=B+A$ but $A \times B$ is not equal to $B \times A$. This innovation has completly revolutionised the methods of arithmetic. It has freed us from the age-old bondage to the laws of Hindu arithmetic and has led to far reaching consequences.

Hindu arithmetic is elementary and insignificant according to the modern generalised conception of the subject. It will, however, continue to be taught in our elementary schools and will always be used by the common man in his daily transactions. As such, it has permanent utility and will always be regarded as an everlasting contribution made by the Hindus to human society.

Algebra. Algebra is generalised Arithmetic and has been varying in accordance with the changes in the concept of arithmetic. The Hindus invented arithmetic. The invention of algebra was an immediate corollary—the next step. At the root of classical algebra lie symbols and equations. The Hindus were the first to introduce letters of the alphabet as symbols which were subject to the rules of arithmetic. Although the symbolisation of arithmetic is obvious, yet the idea did not strike the Greeks. It was left to the Hindus, who delighted in speculation and abstruse thinking, to introduce symbols in arithmetic and lay the foundations of a branch of Mathematics, which has been the source of all later developments in analysis.

Elementary algebra consists of symbols which stand for quantities subject to the laws of arithmetic. As has been already pointed out, the Hindus were the first to introduce such symbols. They were also the first to use equations. They obtained the solutions of the simple as well as the quadratic equation. Bhaskaracharya succeeded in solving some special types of cubic equations. The Hindu mathematicians gave the complete solution in integers of the simple indeterminate equation and succeeded in solving the general quadratic equation in integers provided one such solution was known. They obtained some very

elegant results in the theory of numbers. Their ingenuity and the elegence of their methods command the respect of mathematicians even today.

Algebraic Geometry. The study of algebra, specially in its application to geometry, initiated by the philosopher mathematician Descartes (1596-1650) brought to the forefront the ideas of functional relation, dependence, variation, etc. These, along with the notions of the 'infinite' and the 'limit' have helped mathematicians to build up the foundations of the differential and the integral calculus.

It was found by Descartes that a plane geometrical curve is algebrically representable by an equation of the form $y = f(x)$, where the symbolf denotes a function. The equation is called a functional relation between the two quantities y and x. The functional relation $y = f(x)$ defines a dependence of the quantity y on the quantity x. The quantities y and x are numbers. x is supposed to vary in a certain range (say a to b), and is called an independent variable. The number y assumes different values for different values of x and is called a dependent variable. The equations tackled by the Hindus were of the form $f(x) = O$. In this form the relation holds only for a finite number of values of x and therefore x is not a continuous variable. The consideration of the functional relation $y = f(x)$ marks a signal advance in mathematics. In this universe one thing is always related to another. If we want to apply mathematics to problems which we encounter in nature we have to study functional relations. Thus Descartes supplied a key to the study of nature.

The relation $y = f(x)$ can also be put into the form $F(x, y) = O$. This last equation expresses a plane curve. For instance, the equation $ax + by + c = O$, where a, b and c are constants, represents a straight line; and the equation $Ax^2 + By^2 + 2Hxy + 2Gx + 2Fy + C = O$ represents a conic. By giving different values to A, B, C etc. we get different conics. Equations of higher degrees represent higher types of curves on a plane. Curves in space are represented by equations containing three variables, x, y and z. The variables x, y and z represent the distances of a point on the curve from three mutually perpendicular lines in space meeting at a point O which is called the origin. The actual form

of the algebraic equation of a curve depends on the choice of the origin O and the three lines called the axes of coordinates. Taking the simple case of a plane curve, the equation $Ax^2 + 2Hxy + By^2 + 2Gx + 2Fy + C = O$ will by a suitable change of origin and axes, assume the form $ax^2 + 2hxy + by^2 + 2gx + 2fy + c = O$ where one or more of the constants a, b etc. may be zero. This is called a transformation.

The study of transformations has revealed a very striking fact—that of invariance. It has been found that certain expressions involving the co-efficients A, B, H etc. do not change their value under certain types of transformations, e.g., the quantity $AB-H^2$ is an invariant of the above equation for any change of origin and of the rectangular axes.

The Calculus. The relation $y = f(x)$ tell us that the number y is dependent upon the number x and that the value of y can be calculated for a given value of x provided we know the form of the function f. This led mathematicians to consider the rate of change of y as x changes. The object of the differential calculus is to study in detail this rate of change which we denote by the symbol $\frac{dy}{dx}$ The rudiments of the differential calculus can be traced back to the Hindu mathematician Manjula of the 10th century who found out the rate of change in the motion of the Moon from day to day. The crude idea of Manjula was applied by Bhaskaracharya and other Hindu astronomers for closer study of the motions of the Sun and the Moon. But the study of the calculus as a seperate branch of mathematics and for its own sake was initiated by Newton (1642-1727) and Leibnitz (1646-1716). These mathematicians found out methods for obtaining $\frac{dy}{dx}$ and also developed the integral calculus. They were successful in attacking and solving a large number of problems in geometry and astronomy by the help of the calculus.

The new technique was taken up in right earnest by mathematicians all over Europe, and by the first quarter of the nineteenth century a large literature had grown up. About this time, the attention of mathematicians was drawn to a number of contradictory and absurd results which had been obtained by the use of the calculus. Such contradictory results began multiply-

ing with disconcerting rapidity when sequences, series and other infinite processes came to be used without restriction. Chaos was created where order had reigned supreme, and it became necessary to enquire into the limitations of the calculus and other methods involving the use of infinity.

A rough idea of the method of finding the differential coefficient, may be given as follows :

Let $\frac{N}{D}$ be a fraction, where N and D are variable. Let us suppose that they are connected by some relation (for instance, $N = 2D$ or $N = D^2$, etc.) such that when D is diminished to zero, N also diminishes to zero. Now, if the denominator of the variable fraction becomes smaller, ultimately

$$\frac{N}{D}$$

tending to zero, the fraction takes the from $\frac{O}{O}$. But at any stage before this, N and D have non-zero values, so that $\frac{N}{D}$ has definite numerical value. For instance, if $N = 2D$

$$\frac{N}{D} = \frac{2D}{D} = 2,$$

whatever D may be. In this particular case

$$\text{Limit of } \frac{N}{D} = 2x,$$

as D tends to zero. It is obvious, therefore, that the limit of the fraction $\frac{N}{D}$ can be found if the relation connecting N and D be known.

Let us revert now to the relation $y=f(x)$. As y and x are connected, we can consider the fraction.

$$\frac{\text{variation in y.}}{\text{variation in x}}$$

A concrete instance of a fraction of this type occurs when we try to find the velocity of a moving body. Suppose that a train starts from Benares. Its distance from the starting point varies with time. Let y denote distance from Benares (i. e. position of the train) and x the time taken. Then x and y are related, and if we divide the distance travelled by the time taken we get an idea of the

average speed of the train. The time interval can be taken as small as we like, so that, for estimating the velocity of the train at any stage of its journey, we have to estimate the value of the fraction

$$\frac{\text{distance travelled}}{\text{corresponding time taken}},$$

which is the same as

$$\frac{\text{variation in y}}{\text{variation in x}}.$$

As the variations can be taken as small as we like, we find the limit of $\left(\frac{\text{variation in y}}{\text{variation in x}}\right)$ when the numerator and denominator ultimately tend to zero. It is not difficult to find out the value of this limit (in the general case) as the numerator and denominator are connected by a mathematical equation. This limiting value of the fraction is called differential coefficient and is denoted by the symbol $\frac{dy}{dx}$ which expresses the rate of change of y with respect to x.

To the mathmatician, the concept of the differential coefficient did not present much difficulty, but to the philosopher, who concerns himself with such notions as 'existence', 'reality' etc. there appeared to be a collossal inconsistency which was forcefully pointed out by Berkley by saying that the differential coefficient was the "ghost of departed quantities". Berkley refused to believe in the existence of the limit of the ratio of two quantities, when the original quantities had been reduced to nothing and had ceased to exist. No satisfactory answer could be given by the followers of Newton and Leibuitz to the above criticism, because they did not have clear ideas about 'infinity', 'zero' and 'infinite processes' in general.

The German mathematicians took up the study of the infinite and its use in mathematical reasoning. They obtained signal success in their efforts by defining abstract notions such as 'aggregate,' 'sequence', 'limit' etc. in terms of numbers and by approaching the infinite through the medium of these basic concepts.

The Infinite. The idea of infinity is perhaps inherent in man. It is created by the vastness of the space sorrounding us. Philosophers have thought about infinity and talked about it generally with regard to its aspect of 'vastness,' but

have not been able to make any constructive use of the concept. The Jaina philosophers considered infinity in its various aspects and classified it into *eleven* different types. They used the term *ananta* for the infinite. They had two kinds of arithmetical infinity (i) the numerical infinite which they called *ganananta* and (ii) the infinitely infinite called *anantananta*. Infinity in relation to direction in space was conceived of as *ekananta* (i.e. one-dimensional infinite) and *anekananta* (many dimensional infinite). In relation to boundlessness the Jainas regarded a point in space as infinite.

The numerical infinite of the Jainas, based as it was on the process of enumeration, was a number, but they could not use it in arithmetic. A definition capable of being used in arithmetic was for the first time, I believe, given by the Hindu mathematician Brahmagupta (628). He defined infinity as a fraction whose denominator is zero. Bhaskaracharya (1150) adopted this definition, gave rules for arithmetical operations with infinity, and used it in his Algebra. He appears to have been the first to take this bold step which later developments in mathematics have justified. His notions about infinity as a number, however, were not quite precise and he made some mistakes. Generations of mathematicians after Bhaskaracharya tried to give a precise definition of infinity and to use it in mathematics, without much success. The key to the solution of the problem of infinity in mathematics was at last found by the German mathematician Cantor (1845–1918) who devised a new technique for the Study of infinity through the medium of aggregates.

An aggregate is a collection of objects which are called its elements. Of two finite aggregates, (a, b, c,) and (d, e, f, g), the first contains only three elements and the second four. The first is consequently numerically less than the second. If two finite aggregates contain the same number of elements, they are numerically equivalent. How is the notion of 'number' or 'multiplicity' to be defined with respect to infinite aggregates. The difficulty that arises can be illustrated by the following example. Consider the two infinite aggregates :

$$A \equiv 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, \ldots\ldots\ldots n, \ldots\ldots\ldots 2n, \ldots\ldots$$
$$\text{and } B \equiv 2, 4, 6, 8, 10, 12, 14, 16, \ldots 2n, \ldots\ldots\ldots 4n, \ldots\ldots$$

It is easily seen that the elements of the aggregate B are all there in the

aggregate A. In fact, the aggregate B is contained in A. It would appear, therefore, that B being a part of A cannot be equal to it, and so is numerically smaller (lesser) than A. On the other hand the elements of B can be all obtained by doubling the elements of A; and, therefore, (to each element of A there is a corresponding elemept of B) and *vice-versa.* A and B are, thus, numerically equivalent and contain the same number of elements. Euclid's postulate that "a part is not equal to the whole" does not apply when infinities are concerned. Cantor defined two aggregates to be equivalent when a one-to-one correspondence can be shown to exist between their elements, otherwise they are not equivalent. Starting with this definition Cantor was able to prove the existence of two different types of infinite aggregates, and therefore of two different kinds of infinity. Let us consider the aggregate of all points on a straight line. Let us call it C and compare the two aggregates :

$C \equiv$ all points on a line, from O to infinity,

$A \equiv$ the points represeted by the numbers 1, 2. 3,. . . .

It was shown by Cantor that the aggregate C cannot be placed in one-to-one correspondence with the aggregate. As C contains A, the infinity represented by C is greater than that represented by A. Just as the deletion of a finite number of elements from A will not affect the infinite nature of A (i. e. infinity—finite number = infinity), in the same way it has been shown that any number of aggregates like A—even an infinite number of such aggregates—when subtracted from C do not affect the infinite nature of C. This demonstration of the existence of two distinct kinds of infinity is one of the major discoveries in mathematics.

A set of points in space is an aggregate. Any geometrical figure can be looked upon as a set of points in space and thus geometry is reduced to a study of sets of points. This has provided a new outlook on the fundamental processes of mathematics, and has helped to put geometry and the calculus on sound foundations. A new branch of mathematics called the Theory of Aggregates has developed and a number of mathematicians, especially in Poland, Russia and America have been busily engaged in researches on the subject.

Transformations and Invariance. Various kinds of transformations are observed in the physical universe. Time is one of the major factors which lies at

the root of those transformations. Other causes or groups of causes, some of which we know and some we do not, are responsible for the changes in appearance, size, shape and qualities of things. Similar phenomena are observed when we apply operations of Mathematics to functions. The functions suffer change. The character of mathematical operations is studied by the changes they bring about when applied to functions. Conversely, the character of functions is studied by the changes produced in them when an operation or group of operations is performed on them. The mathematical operations which have been studied may be calssified into three broad heads : (i) algebraical (ii) differential and (iii) postulational (or spatial).

It has heen noted that classes of functions exhibit properties that are invariant under certain groups of transformations. For instance, if we substitute $X = ax + by$, and $Y = bx - ay$ in the expression

$$AX^2 + 2HXY + BY^2 + 2GX + 2FY + C$$

it takes the form

$$ax^2 + 2hxy + by^2 + 2gx + 2fy + c.$$

We see at once that the degree and the form of the expression are not affected. It is further found that

$$AB - H^2 = ab - h^2,$$

which shows that the expression $AB - H^2$ is an *invariant* for the transformation. This is an example of invariance under an algebraic transformation. Differential invariants are similar. Invariants interpreted geometrically bring out what may be called the true characteristics of families of curves and help in their classification. Their physical interpretation gives insight into the nature of physical phenomena and of the 'space' in which the phenomena take place. They are related to the laws of nature and afford representations of those laws in mathematical symbols.

As an instance of a physical invariant may be mentioned Euler's Theorem concerning a simply connected polyhedron.[1]

---

1. A polyhedron is a solid bounded by plane faces (e. g. cube, pyramid, etc.). In a cube, $V = 8$, $E = 12$, $F = 6$ and the theorem is verified.

This Theorem states that, if V denotes the number of vertices (corners), E the edges and F the faces of a polyhedron; then

$$V - E + F = 2.$$

Another kind of transformation is brought about by modification and variation and variation of the basic postulates of a branch of mathematics. This affects the results (theorems etc.) as a whole of that branch of mathematics. Some theorems are shown to be false, some have to be modified, whilst others retain their old forms i.e. are true for the new 'space.'

The subject of transformations, groups and differential invariants was extensively studied in the ninteenth century, specially by the Norvegian mathematician Sophus Lie (1842–1899) who wrote a systematic account of his contributions in a volume which covers 2000 pages. But few have either the time or the patience to go through 2000 pages of extremely terse Mathematics, and Lie's work would have remained in oblivion, had it not been rescued by the growth of a new method of study known as topology which has been developed during the last 30 years or so. Topology is concerned with those intrinsic qualitative properties of special configurations which are indepedent of size, location and shape. It is well known that one cannot go from a point inside a closed plane curve to another point outside it without crossing its boundry, but if the same curve were situated in space of three dimensions one can easily do so (through the third dimension). Again it is known that in a plane triangle the sum of the three angles is together equal to two right angles, but if the triangle is transferred to the surface of a sphere this sum is not equal to two right angles. Variable properties like the above are discarded by the topologist. His object is to find out those properties which are invariant and are unaffected by changes in size, location, etc. The topologist, like the philosopher, is concerned with the essence of things, the basic realities if any. Invariance is intimately connected with physics and philosophy. The physicist and philosopher both are interested in finding out the laws of Nature—the fundamental laws that are independent of motion, location etc., and are the same for every observer. The physicist uses experiment as the main instrument for his investigations. He uses mathematics to reason about things which are beyond his experiments and his apparatus. when mathematics

is applied to physics, the laws of nature come out as invariants of mathematical equations. The physicist's object is to investigate the nature of the material universe and to study the ralations between material things. The philosopher is more ambitious—his domain of investigation extends to the universe of ideas and emotions (which in a certain sense includes the physical universe). His instrument for investigation is mainly Logic.

Invariance in a slightly different form has been found to be implicit in every 'system' that man has ever devised. Without the assumption of some invariants, it is not possibie to get any 'real' or 'absolute' results. The physicist must have a fixed origin and frame of reference in space. He believes in the the invariable velocity of light. The philosopher also believes in some invariants like 'truth', 'reality', 'absolute', 'good' etc., which underlie his system. The mathematician, likewise assumes a small number of unproven truths—the fixed axioms and postulates etc. on which he bases his mathematics.

Logic and Mathamatics. A proposition derived in accordance with deductive Logic is as follows :

Man is mortal ;
X is a man ;
therefore, X is mortal.

It will be observed that the conclusion is already contained in the premise so that no new result has been obtained. If the conclusions of philosophy are all derived on the basis of deductive reasoning as above, then the whole of it is a huge tautology—the same would hold good for mathematics as well. But mathematics claims to derive new results. Mathematical reasoning must, therefore, be different from deductive reasoning. And it is so, for concepts such as 'sequence', 'limit', 'infinite' etc. are directly or indirectly involved in mathematical reasoning. An infinite number of steps is generally implied in every proof in mathematics.

The results (theorems, propositions) of mathematics as a consequence, apply in general to whole classes of objects. For example, the proposition "$n + 1$ is greater than n," implies an infinity of results for varying values of n.

Mathematics is the only instrument known to us which helps us to go from the 'known' to the 'unknown.' By its help man has not only been able to

predict happenings in nature e. g., the motion of heavenly bodies, the behaviours of the smallest particles in nature—the atom and its constituents—but has succeeded, thanks to Statistics, in explaining social trends and man's behaviour in the mass. No other branch of human knowledge has been as helpful in the general progress of our civilisation as mathematics. The exact sciences are called exact because their results are obtained by the help of Mathematics. Mathematicians, therefore, have from time to time made extensive enquiries into the foundations of mathematics and have modified some of its basic concepts. It is fotunate that the modifications so far introduced have not materially affected the general body of mathematical results. One shudders to think of the great catastrophe that would befall if mathematics were shown to be invalid. All our sciences, our entire civilisation, the entire edifice of human knowledge would crumble down at one stroke in such an event.

Paradoxes. It is generally believed that the foundations of mathematics are sound. The mathematician, however, knows that his methods and postulates suffer from a number of flaws and imperfections. The existence of these is demonstrated by paradoxes, which the mathematicians have not been able to resolve. These paradoxes seem to be inherent in the method of reasoning, in the basic concepts, and in language itself. To give the reader an idea, we mention a few of these paradoxes which can be easily understood by even non—mathematicians :

Paradox I. Consider the statement "I am a liar." This simple statement is *self contradictory.* If the statement is correct then I am not a liar ; (because I have made a true statement) and if I am a liar then the statement made is incorrect so that I am *not* a liar. Logically the situation is this :— The statement must be either true or false; but if we suppose it to be true then we prove that it is false ; and if we suppose it to be false, then it is proved to be true. There seems to be no method of getting out of the difficulty. This paradox was pointed out by the Greek Epimenides in the sixth century B. C.

Paradox II. We have all made use, at some time or other, of the well-worn adage :

"All rules have exceptions."

This statement is self contradictory as one ean see by reasoning step by step as follows :-

(1). All rules have exceptions.
(2). The statement (1) i. e. "all rules have exceptions" is a rule.
(3). Therefore statement (1) has exceptions.
(4). Consequently all rules do *not* have exceptions.

P*aradox III.* A village barber made the following statement : "In my village I do not shave those who shave themseves, but I do shave all those who do not shave themselves."

This remark appears innocent enough until we try to answer the question : Does the barber shave himself, or does he not ? Suppose that he *does*. Then he is among those who shave themselves. But the barber does not shave those who shave themselves. Therefore he does not shave himself. Now, suppose that he *does not*. Then he is amongst those who do not shave themselves. Therefore he *does* shave himself. The poor barber is in a peculiar predicament. Even growing a beard would not help him !

Paradox IV. A number of paradoxes relate to the concept of an aggregate as defined in Mathematics. In non-technical language an aggregate may be defined as a collection of objects called the 'elements of the aggregate.' For example, $A \equiv (a_1, a_2, a_3, \ldots\ldots\ldots)$ is an aggregate. The elements $a_1, a_2, \ldots\ldots$ may be single objects or may themselves be aggregates of objects. The concept of "the aggregate of all aggregates" appears to be quite valid, but it was shown by the Italian Burali-Forti (1897) to be self contradictory.

Paradox V. Bertrand Russel has constructed a paradox as follows : Let S denote the aggregate of all aggregates which can be members of themselves. For example the aggregate of all ideas, being itself an idea, is of the type S. Let N denote the aggregates which are not of the type S. For instance, the aggregate of all books is not a book, so it is of the type N. Aggregates can thus be divided into two mutually exclusive types S and N.

Now let X be an aggregate which is not of the type S, i. e. X is not a member of X. We, therefore, say :

X is a member of the class N because X is not a member X. This is quite correct.

Now since N itself is an aggregate, we can substitute N for X in the above. This gives us the paradox :

N is a member of N because N is not a member of N.

The first three of the above are logical paradoxes ; the fourth relates to the conception of an aggregate in mathematics, and the fifth to the method of 'substitution.' The existence of these and a number of others throw doubt upon our ability to grasp the true meaning of words which we commonly use. The statements, "I am a man," and "I am a liar" seem to be similar in form, but the first is true and the second self contradictory. The contradictions in paradoxes II, III and IV appear to be due to the use of the word 'all'. The fifth paradox throws doubt on 'substitution' and 'logical dichotomy' which are universally accepted.

Relativity. As if these paradoxes were not enough, a new kind of difficulty has arisen in the application of mathamatics to other branches of knowledge, especially physics. It has been found that present day mathematics is inadequate to cope with the growing needs of its applications. It is almost impossible to give an account of these difficulties briefly and in non-technical language. But an indication, sufficient to give at least some idea, may be given.

When Einstein gave his Theory of Relativity, the geometrical framework necessary for the development of the theory was already in existence. It had been developed more than fifty years before by Riemann (1826–1866) and his followers. But within a short time, i. e. by 1918, Riemannian geometry was found inadequate for the needs of relativity.

Einstein gave his field theory of gravitation in 1916. A different field theory for electro-magnetic phenomena had already been given by Maxwell in 1859. Maxwell's equations were given empirically by him to explain electro–magnetic phenomena. Relativity succeeded in providing a theoretical basis for those equations, but at the same time created a paradoxical situation by having two entirely different field theories. An attempt to unify the two field theories made by Weyl (1918) proved a failure. Another attempt made by the Italian Levi–Civita (1917) by the introduction of the concept of "parallel displacement" has been more fruitful. Attempts based on generalisations of this concept to vectors have been made by several mathematicians.

The latest work of Einstein in the geometry of bivectors (1944) is in this direction. But the problem still remains unsolved (1947). It is a rock on which the theory of relativity may still founder. Mathematicians have been set the task—a difficult and delicate one—to unify the two field theories or in the alternative to prove that the feat is impossible. They have been at the problem for thirty years and it does not appear as if they are anywhere near the final goal.

Quantum. Another difficulty for mathematics is the "quantum" of physics. It has been found that the energy of an atom does not change continuously. It varies by jumps. The variable x denoting energy is consequently not a continuous variable, like the variable x in a mathematical equation. Mathematicians have, however, succeeded in developing an analysis to cope with the restricted problems that arise in quantum mechanics. But they have as yet been unable to develop a system of mathematics dealing with discontinuous variables in general. A mathematics of discontinuity is thus a desideratum.

Uncertainty. A paradoxical situation, which has been recognised as such, and from which there seems to be no escape in the present state of our knowledge, is exemplified by Heisenberg's "principle of uncertainty" (1926). The electron which is assumed to be a particle with a mass and an individualty is found to behave as a 'wave'. The uncertainty consists in the fact that it is not possible to know simultaneously the 'position' as well as the 'velocity' of a moving electron. Logicians and mathematicians have long been familiar with similar situations, in which a definite answer to a question is not possible. For example the number π, which is the ratio between the circumference and diameter of a circle and has been extensively used in mathematics from the earliest known times. Its value $\pi = 3{\cdot}1416$......has been calculated to 704 places and it has been proved that it is non-terminating (i. e. an irrational number.) In the 704 places that we know, the digits 1,2,3,4,5,6,7,8,9 do not occure one after the other in this order. The question is: Do the digits in this order occur anywhere in the representation of π ? Modern mathematics cannot answer this question with a definite yes or no.

Researches into the foundations of Mathematics. The logical paradoxes were given a mathematical garb by Burali-Forti (1897), Richard (1905) and Russel (1906). This created a revolution in mathematics which is still very much in progress. A group of mathematicians have devoted their entire energies to the study of the foundations of mathematics and logic. It is not possible to enter into any detailed account of the extremely technical developments that have taken place, but a rough idea can be given by saying that the workers in the field may be divided into five groups representing five different lines of attack (these are generally condensed into three) :–

1. The logistic group,
2. The exiomatic group,
3. The intuitionist group,
4. The formalist group,
5. The multiple-valued logic group.

The origin of the logistic group can be traced back to Boole (1815-1864). Bertrand Russel is the present leader of this group. His attempt has been to reduce mathematics to symbolic logic. The aim is to prove that all 'pure mathematics' deals exclusively with concepts definable in a small number of fundamental concepts, and that all its propositions are deducible from a very small number of fundamental logical principles. Russel proposed the theory of types as a means of getting round the logical contradictions, but his technique has been shown to be deficient. Goedel (1931) using Russel's technique demonstrated that in every system there will always be some theorems which are obviously true but which cannot be proved. Repeated attempts have been made to modify the technique, but the results so far are not entirely satisfactory.

The programme of the axomatic group is to base all mathematics on a fundamental system of axioms so that no contradictions can arise in results deduced from them. The attempt can be traced back to the Greek geometers. The chief exponents of this technique were Dedekind and Cantor in the nineteenth century followed by Hilbert, Sierpinski and their pupils in the twentieth century. It has been shown that all mathematics can be reduced to arithmetic, so that the chief problem is to prove that the axioms of arithmetic are consistent. No satisfactory proof of this has yet been found.

The axiom-technique has been found to be the best suited and the most fruitful for the development of mathematics. Consequently this method is generally adopted for the exposition and the teaching of mathematics. According to the methodology of this group, the foundations of mathematics shall always be in doubt.

The rise of intuitionism in mathematics is due to Brouwer, who advanced the theory in his doctorate dissertation,(*1906*) and in two short papers, one published in 1912 and the other in 1918. The intuitionist's creed recalls Kant (1724–1804) and his insistence on 'intuition' in mathematics. It is a cardinal article of faith in the intuitionist's creed that human beings are born with an original intuition of 'number' and of an 'unending sequence of objects' generated by successive addition of one object at a time. He gives priority to mathematics over logic and maintains that no mathematical concept is admissible unless it can be constructed with a finite number of steps. Not only the "concept exist in name", but an actual finite construction must be exhibited for the thing which the concept represents. As a result the paradoxes are got rid of, but from the mathematician's point of view this attitude is not satisfactory, for it means that a large portion of mathematics and many of its most powerful and useful methods, which imply an infinite number of steps, must be abondoned as unsound.

According to the formalist, mathematics is composed of some symbols and a definite set of rules. The symbols can be associated with each other according to these prescribed rules. The propositions and theorems of mathematics are obtained as formulae involving these symbols. The symbols are "meaningless marks" and the formulae without "content". Logic has, therefore, no place in mathematics which concerns itself only with the manipulation of symbols in accordance with the prescribed rules. Although some mathematical formulae can be interpreted so as to apply to facts in nature or logic, the formalist is not worried if they cannot be so interpreted. For him the mathematical formulae precede the applications and have their own importance apart from application. A popular exposition of the formalist view has been recently given by Keyser. The formalist's view is convenient for the mathematician, far it frees mathematics from the limitations imposed on it by applications. On the other hand,

mathematics having lost content, not only loses its charm, but ceases to have a 'meaning' (if at all a meaning can be ascribed to it).

In the physical sciences there is an apparent necessity for some form of indeterminacy. In anology with this, mathematics may cease to insist on classical dichotomy 'true, false' and adopt a logic of three or more truth-values. The Polish mathematician J. Lukasiewicz published a two-page paper on three-valued Logic in 1921. Practically simultaneously the American E. L. Post discussed an *m* -valued truth-system, where *m* is any integer greater than one. The next advance was made by Reichenbach who in 1932 devised an infinite-valued logic for application to the theory of probability. He has recently published (1944) an account of his application of a three-valued logic to the quatum theory.

The result of the enquiry by mathematicians into the foundations of mathematics and logic has been disappointing so far (1947). Their efforts have not contributed anything positive. They have, on the other hand, succeeded in demolishing most of our cherished beliefs and notions. Russel in the second edition of his *Principia* has given up his belief in the Platonic reality of number. He says : "It was a comforting faith which I later abondoned with regret." Concurrently with this many apparent entities, such as aggregates (classes), points and instants have been swept away. Space has disappeared and has been replaced by 'structure'—a set of objects with definite properties—a set of postulates which may have no correspondence with 'reality' and 'truth.' Time, even in the physical field, has shed universality when pursued to the atomic nucleus. If multiple valued logics have any significance, truth has become indefinite and reality has no significance. 'Mathematics, as ideal truth expired somewhere in its march from 1900 to 1945 and those who continue worshipping this ideal are attending its protracted obsequies in ignorance that their deity is dead.'

Whenever a new storey has to be added to an old building, the engineer has to strengthen the foundations. The same situation has arisen in mathematics. A huge superstructure was added in the nineteenth century and the process has continued with added vigour during the 46 years of the current century. The workers set to look after the foundation have discovered a number of rotten

and rotting bricks, but those in the superstructure have not scurried down in alarm. They are busily engaged in adding to the structure in the hope that the foundations shall be strengthened in due course.

Mathematics and Freedom. Study of the history of mathematics shows an intimate connection between the birth of great mathematical ideas and political freedom. The Greeks developed geometry when they enjoyed this freedom. The Hindus made their great discoveries in the earliest centuries of the Christian era, somewhere between the reigns of the great Asoka and the Imperial Guptas. England produced its Newton, Cayley and Hamilton, France its Lagrange, Laplace and D'Alembert, and Germany its Gauss, Leibuitz and the Bernoullis when the era of freedom dawned on those countries. Europe continued to produce great mathematicians in the ninenteenth and twentieth centuries, for it has enjoyed freedom and prosperity. The best illustration of how political freedom can inspire growth of mathematics is afforded by the rise of the 'great school of Polish mathematicians' during the brief span of about 20 years of political liberty after the first World war. During the last ten years the centre of gravity of mathematics has been shifting from Europe to America and Russia—the two countries, which have been politically the most progressive during recent years, and which are young and virile.

Modern mathematics has reached a dead end. It seems that mathematicians have left the main road and have strayed into the lanes and the by-paths of mathematics. They seem to have lost their way and do not know how to return back to the main road. Only a few years ago it was felt that developments in mathematical logic would show the way for the future growth of mathematics, but the expectations have not been fulfilled. It has been increasingly felt by those who are most competent to prondunce an opinion that we are on the verge of some great discovery, like the Hindu discovery of the 'principle of place value', which will revitalise modern mathematics, initiate a new era of progress and put mathematics on the right track. We hope that Indian mathematicians will play an active part in these developments. India should once again attain the same leading position in mathematics that it once enjoyed in the early centuries of the Christian Era and right up to the 11th century. But this will not come about unless India is free from foreign subjection. Politicians say that freedom is in sight. Let us hope that it will come soon.

TRAINING FOR DEMOCRATIC CITIZENSHIP

By. J. C. Kumarappa

The word "democracy" is on everybody's lips. The Imperialist has the greatest need to use it to dupe his victims. The capitalist takes shelter under it to put his men in the councils of the nation to mould the national policy to suit his business. The Fascist falls back on it to bind together those of the people of a similar ideology to strengthen the party. The Nazi resorts to it to eliminate all who are not of his nation. The Communist appeals to it to create a class war. There are hardly any who want it for its own sake.

True democracy should be all pervading. It is not merely a political device. It is an outlook on life. Therefore, governing one people for the benefit of another is alien to the spirit of democracy. Holding power over a few to make them work for oneself is also anti-democracy. Simlarly, Nazism and Facism are anything but democratic. There can be no classes or class war in a true democracy. All these inconsistencies arise because of a faulty understanding of democracy. All countries which took part in the Global War II turned dictatorships during the war while professing democracy in peace time. What we are, is seen best under a crisis which has no room for cloaks. So we may presume that all those countries which were masquerading as democracies were really dictatorships in their philosophy of life.

This line of argument is strengthened when we study their everyday activity. Your attitude cannot be democratic only in politics if your whole outlook otherwise is aristocratic. If we want to be democrats in our political organisation we should live democracy every day in all walks of life. We should have democrcy in economic life too. This means decentralised controls. Hence centralised industries and democracy cannot go together. If we want political democracy we must start with decentralised industries as the training ground.

Especially the idea of democracy in Indian culture is far reaching. It is 'Swadharma' based on our duties to others and self-control. In a democracy of the Indian ideology each individual will grow himself according to the highest ideals of 'dharma' or duties. When each citizen lives on that plane of existence there will be no need for the police or the army for each man is his own policeman and general. A man does not steal, not because he will be hauled up before a court of law but because to own property itself is wrong and to covet another's goods is sinful.

To attain this attitude in life, it would be necessary to practice self-control and self-discipline every day and contemplate on our duties towards our fellow-men. Gandhiji has prescribed this drill in his scheme of rural reconstruction in the form of daily sacrificial spinning. This is not enough. We have to cultivate self-dependence and self-reliance. For this in our every day economic life we have to fall back on decentralised methods of production. Centralised industries make the workers depend on the judgment of the executives and the workers develop implicit obedience instead of stalwart self-reliance.

If we wish every citizen to shoulder his responsibility for the nation we must provide him with a school for his training. This can only be done by arranging his daily round of duties in such a way that in following them he develops in the way we want him to. The constant school for the development of personality is work. Hence we have to provide that type of work as will conduce to a healthy growth of citizenship. This as we have seen we have in decentralised industries. Therefore, if we desire to prepare our citizens to assume responsibility and self government we must organize their work in the form of decentralised industries in all concerns aiming to supply the everyday needs of the people.

When our aim is democracy we shall be cutting the branch we are standing on, if we resort to centralised methods of production to meet the necessaries of life. The call to 'industrialise' our country is diametrically opposed to our professions towards political democracy. Let us, therefore, not follow blindly the lead given by interested parties but take stock of the situation and choose the course that will prepare us for the goal we seek.

INDIA IS ON THE MARCH

By Prof. K. K. Bhattacharya

India is on the threshould of political independence, and , indeed, the prospects of her emerging out as a sovereign independent state are very encouraging. It is, however, necessary that at this psychological hour there should be total mobilisation of all our strength—physical, intellectual and moral—in order that there may not be a set back to our onward march. Even from the threshold of freedom the enemies of Indian freedom may repulse and set back the clock of progress. Therefore, we must gird up our loins and march on with inflexible will to secure the apple of freedom — that coveted prize for which thousands of men have sweated and toiled and laid down their lives in their fight for emancipation of our great Motherland.

It is, indeed, lamentable that at this crucial hour there should break out Hindu-Muslim feuds. The Muslim League leaders for the last so many months fed the Muslim ignorant masses on bitter communal passions against the Hindus, and singled the Hindus out as their bitterest foes. The Direct Action Day was decided upon by them, and 16th August was declared to be the Direct Action Observance Day in Calcutta, which witnessed for 5 days bloodbath and butcheries on a huge scale. Almost following on the wake of the Calcutta tragedy there were unspeakable atrocities committed by the Muslim hooligans upon men, women and children. Conversions, forceful marriages and rapes committed by them have put to shame all the barbarities committed in the Dark Middle Ages in Europe. The womenhood of Bengal was trampled down by the Muslim goondas in the shape of mass conversions and rapes. Houses were looted, properties were plundered and men and children were butchered. The atrocities of Chengizh Khan, Timur Lang, Nadir Shah, Attila the Hun, and the Assyrian Hordes are nothing in comparison with these miss deeds.

As a result of the murders committed upon the Biharees in Calcutta, the thrill of horror went throughout the length and breadrh of Bihar and the Hindu

inhabitants of Bihar inflamed with passions for retaliation began to butcher the Muslin masses. Communal tension and fights broke out also in several places in the U. P. Thanks to the strong measures, however, adopted by the Prime Ministers of Bihar and the U. P. the situations were brought within a week's time under control, and relief centres opened to render help to the suffering Muslims. Sreemati Sucheta Kripalani, wife of the Congress President, in her statement has definitely contrasted the work done in the relief centres in Noakhali and Tipperah with that done in Bihar by the Bihar Government. while the Bihar Government have made admirable arrangements for rehabilitation of the homeless and are straining their best energies to feed and clothe as best as they can, the relief work done by the Bengal Government is faulty and unsatisfactory.

So the inevitable happened. Direct action was against the Hindus and not against the British Government. The Hindus are the targets of Muslim wrath and aggression. In this atmosphere of hostility created by the Muslim League leaders to launch a fratricidal war against the Hindus the events in Calcutta, Noakhali, Tipperah and Bihar must have shown that violence is a deadly game in which both the parties can play with success. It is the ordinary poor people, the humble masses who suffer most on account of these riots and killings. What advantages have the Muslim League leaders secured by their violent propaganda and direct action and the bestialities committed in Calcutta and Feni. If they have eyes to see, they must by now have seen that in the shrunken world of today even events in the remotest part of Europe reach India within a few seconds—what to speak of events within India itself—events which are blood-curdling and gruesome to the extreme.

The Muslim League leaders must definitely cry halt to these suicidal and anti-national policies. Otherwise, India will be torn to pieces on account of internecine feuds. Whether the Muslims like it or not, the Hindus and the Muslims shall have to live together in India for generations to come. Transference of population is an absurdity of the the first magnitude. Dominance of Hindus over the Muslims and vice-versa, subjugation by the Hindus of the Muslims and vice-versa are impossibilities and absurdities, and the Muslim League leaders are well aware of them. Why then are they trying to beguile the ignorant Muslim masses that their culture, religion, honour—nay, their very

existence, would be jeopardised at the hands of the Hindus ? The establishment of communal harmony should be aimed at by all responsible persons who have the good of their country at heart. Will communal discords and feuds ending in butcheries and bestialities give the Muslims Pakistan ? Can Pakistan be forced upon Bengal or Assam or Punjab or N. W. F. P. by such methods ? On the contrary, sensible people must be thinking very hard that if this is a foretaste of Pakistan, to live in Pakistan would be to live in perpetual terror regarding women's honour, personal security and the security of properties. This lamentable state of affairs has got to be cured, by taking an objective view of the situation. The Fascists, Nazi and Japanese methods of striking terror into the hearts of those who would not see eye to eye with their policies landed Germany, Italy and Japan in a state of abject humiliation. Gangster methods can never succeed. On the other hand it is through the spirit of mutual accommodation, tolerance and good will that both the great communities can march on successfully to the goal of freedom, with ample safeguards provided in the constitution to be framed for their cultural, religious, educational and individual liberties. The common enemies of the country are not the Hindus to the Muslims or the Muslims to the Hindus, but they are the colossal illiteracy, the awful poverty of the masses and the deficiencies in decent living for the masses. These have got to be rooted out and for the successful termination it is necessary that the last ounce of energy of responsible leaders of both the communities must be bent towards securing freedom for India—freedom for the Hindus, Muslims, Sikhs and, in fact, for each community and every individual. The respect for human personality, which unfortunatly was crushed under the iron heels of Hitler, Mussolini and Tojo, must be deemed to be the main aim of every State that wants to be styled as civilized. Every individual must be allowed an opportunity to rise to the full height of his personality and to the best flowering of his intellect. Therein lies the consummation of the democratic ideal.

How to bring about communal harmony is not, of course, an impossible task. The best way to grapple with these problems is to penetrate into the Muslim masses and to tell them in clear and definite language what national freedom would mean, namely, the end of poverty, the end of

degradation, the safety of their culture and of their religion. The British Government have ruled India for nearly 200 years, and yet in the course of these years India is wallowing in illiteracy. Only less than 10 p. c. of the Indian population have this smattering of knowledge, and I think the census authorities take it that the man who even with the greatest difficulty can sign his own name on paper, is deemed 'literate', and even on such a basis only less than 10 p. c. is literate. Can there be a greater indictment upon the British rule that has wasted colossal sums of money in maintaining the costly civil administration, Police and the Army ? While the nation-building departments of which the Educational Department is the very marrow of the national life itself, has remained in a state of starvation, the Army, Navy, Air Force, the costly civil administration, the police are maintained by drawing, as it were, the last drop of blood from the poor people of India. Education, if it had been made compulsory, would have driven out the specter of communalism. The Frankenstein of communalism thrives on darkness, on utter dearth of thought and, therefore, if there had been cent per cent educated people in this country, the preachers of communalism would have got no audience from any quarter. Efforts must be made by the Congress Ministries in the nine provinces over which they are ruling to liquidate illiteracy within the shortest possible compass of time, say within 5 yeare at the most. No energy can be better spent, no amount of money can be better utilised than in the noble task of bringing the lamp of light to those whose minds are in utter darkness.

Attempts must also be made to tell the Muslim masses that the Congress does not stand for Hindu domination or Sikh domination but aims at securing freedom of the whole of India where no community would be tyrannised over. It is the equalitarian state at which th Congress aims. And the Constituent Assembly which is in session in Delhi has by its objective made it plain beyond any shadow of doubt that its aim is in the establishment of an independent sovereign republican state with ample safeguards for all communities.

The unity of India cannot be broken. Geographically, historically, racially and culturally India is one and homogeneous. The two-nation theory cannot stand the test of history or of race. The Hindus and the Muslims in India are descended mostly from common ancestors.

India cannot also brook the idea of Balkanisation, i. e., splinterisation into innumerable parts, as acceptance of Pakistan scheme would necessarily mean also *Sikhistan* for the Sikhs, *Dravidistan* for the Dravids, *Achhutistan* for the Achhuts and *Rajastan* for the rulers of Indian States. Furthermore, economically and politically Pakistan is suicidal for the so called Pakistan itself.

Assam, N. W. F. P., the Sikhs and the Hindus in the Punjab cannot be dragged into groups against their will. If they are so coerced, that means the end of self-expression, the end of individuality and therewith the end of the principle of self-determination and autonomy of the provinces. The people in the provinces have an inalienable right of asserting their views to which group they would like to belong. If that is not done, it means that the peopie have no will of their own, and are sought to be treated as human quadrupeds.

The Constituent Assembly, after so many years of ceaseless efforts on the part of the Congress leaders, has at last come into existence and is functioning. If any party absents itself from it, the progress of that Assembly cannot be impeded. The work of the Constituent Assembly in fashioning out the Union constitution and the constitution of a free independent India is unquestioned. The grouping system interpreted by the British Cabinet in their statement of the 6th December is artificial and, therefore, unacceptable. Each province must be allowed to fashion out its own destiny according to its genius and requirements and it is hoped that the Constituent Assembly would proceed with a view to that end. Forced grouping is like forced marriage—like concubinage. It is artificial and would spell disaster and be the breeding ground of strife and dissentions. Therefore, there must not be forced groupings.

Assam which has predominently a large Hindu population cannot be tacked to Bengal. Assam rightly insists on asserting the point. Similarly the Sikhs and the Hindus in the Punjab and almost the entire population of N. W.-F. P. are against their incorporation in group 'B'. There is no doubt about the fact that the formula set up by Mahatma Gandhi to the effect that when the sections would meet Assam's representatives would say clearly that they would not join the section as Assam does not want to be incorporated in group 'C'. Similar provision should apply to N. W. F. P. and the Sikhs and the Hindus of the Punjab who are adamant against their going into group 'B'.

The reference to the Federal Court is useless, for as the declarations made by the British Cabinet Ministers have made the fact patent that even if the Federal Court's decision goes in favour of the Congress proposals, it would not be accepted by the British Government. It should be, therefore, borne in mind that if the decision of the said court be not in favour of the Congress view-point, the Congress would be bound by the Federal Court's decision. It is doubtful if after a pronouncement made by the responsible Britiah statesmen the Federel Court would like to decide the points in issue. No court, no self-respecting judge would, under the circumstances, in view of the pronouncements of the British Cabinet, like to determine the issues involved. Mahatma Gandhiji's suggestion, therefore, is the best.

India is on the march. The progress of India cannot be vetoed by the Muslim League. Mr. Attlee, British Prime Minister, definitely made clear this point in his statement while sending out the Cabinet Mission to India.

British statesmanship is on trial. If Great Britain wants to add to her long chapter of unredeemed pledges and broken promises towards Indian freedom one more such promise, this time India will not take it lying down.

The Indian princes must be clearly told that they must derive their strength from the affection of the people and cease to look to the British Government for protection against popular demands for responsible governments in the States. Sir C. P. Ramaswami Aiyer's statement to the effect that sovereignty in the State resides in the ruler and not in the people is absolutely untenable. Nowhere has this outmoded doctrine been accepted. It might be and is the 15th century conception of sovereignty. The French Revolution dealt a death-blow to this theory. Sovereignty is derived from the people and does not reside in the rulers. The people's will in the States cannot be in a state of utter subjection to the rulers' whims. Even thelast Capet (Louis XVI) and the last proud Hohenzollern, Wilhem Kaiser, and the overbearing last Scion of the Romanoffs (the last Czar of Russia) had to yield before the popular will. It is time for the Indian rulers to realise that they should regard themselves, if they want to survive, as the first servants of the States and be the Constitutional Heads. Otherwise, the writing is on the wall and he who runs can read it that they would be submerged by the flow-tide of popular feelings

of their subjects against them and be completely effaced out of existence. If Sir C. P. had answered the matter in any examination paper I, as an examiner, would have given him without any hesitation the most original of marks, namely, a big zero. It takes one's breath away to find that a man of his learning should flaunt before the public view such an absurd proposition which cannot stand the test of logic.

Tremendous upsurges in the country last year could be controlled not by the British Government but by responsible Congress leaders like Sardar Vallabhbhai Patel and other top-ranking Congressman. And if there is frustration of the national will to freedom through Britain's folly or deliberate policy, set on foot would be far more gigantic and titanic in proportion than the movement of 1942, and in such an eventuality freedom would not come in an orderly process which is the aim of Mahatma Gandhi and other stalwarts of the Congress, who want that India should get freedom without violence and bloodeshed, but through methods which might mean the end of nonviolence. The Britsh Government must realise that the Congress leaders today, united under Mahatma Gandhi, are their greatest friends as they want transferences of power from the British hands to flow into Indian hands through peaceful methods and not through pools of blood and methods of violence, which would bismirch the reputation of the Labour Party and create a wide chasm never perhaps to be breached in Indo-British reletionship. The British Labour Government, therefore, must redeem their promise to give India freedoom without delay and without creating any obstruction in the running of the Constituent Assembly which is out to fashion a constitution for a free sovereign Indian State.

THE ECONOMIC FOUNDATION OF PEACE

By Prof. S. K. Rudra

WORLD War II has ended. Democracies have triumphed. And yet almost simultaneously, the question shapes itself in one's mind, for how long will this peace last ? Probably never before has there been so much talk of a next war, during the course of one already raging, as during this world war II. Such talk is not confined to one or two individuals, in one or two countries. It is wide-spread. That the venquished should talk of the next war is understandable. But such talk is not confined to them alone. Even in the midst of the United Nations World Conference at San Francisco, when the leaders of the democratic nations were engaged in fashioning the new World Charter, there was talk of the next world war. Indeed, such talk came in for notice and condemnation at the hands of one of the Delegates to the Conference.

It is however no use running away from realities. In almost every Continent, in the Americas, in rhe chain of the Pacific Islands and the Malayan archipelego, on the mainland of Asia and in the countries of Europe, there is deep imbedded unrest. Maintenance of Peace is no easy task. The matter is far too serious. It cannot be smothered up in a hush hush policy. The future happiness of the entire peoples of the earth is involved. It is therefore right and proper that discussion of the question should be encouraged.

Obviously, there are various aspects of the problem. In this Paper, attempt will be made to discuss the economic foundations of peace. While it may not be correct to hold the view, which some schools of thought maintain, that economic factors are the sole cause of war, it would be equally false to assume that they play little or no part in the affairs of men. Causes that lead to war are as complicated as human nature itself. To reduce these to single simple factors would be as impossible a task as it would be unreal. But broadly Speaking it is true that Ideologies are vital. They symbolise motivization. In the ultimate issues, men struggle for the

ideal. Loss of material well-being is readily endured. Sacrifice of life itself is not withheld so that the ideals men live by are not lowered to the dust. Psychologically, the ideological factor is of supreme importance. But, within this setting, it is matters of daily life, that count. These are that shape men's conduct individually and collectively. These matters, predominantly, are the economic content of life. Individuals and nations are largely conditioned and controlled by considerations of an economic order. Indeed, it is held that it is economics and scientific technique that ultimately dictate the terms of settlement even of political issues. This aspect of the matter was clinched in the terms of the Atlantic Charter. It has been inserted in the operating principles of the New World Charter. Thus recognition has been given to the economic basis of life and peace. To have side-tracked the issues would have been both false and unhelpful.

But to emphasize the economic factor does not imply that other causes, apart from ideals, do not also act as potent disturbing factors of world peace. For instance, the notion of Race Superiority is, admittedly, a live cause of international conflict. Indeed, the Race issue must be reckoned as one of the fundamental forces that lead to world disorder. Many of the contemporary conflicts are largely traceable to this factor. It is formidable obstacle to world harmony. Rightly therefore, in the matter of operating the principles of Human Rights, has emphasis been laid in the New World Charter, of granting recognition to the fact of equality between nations and peoples without race discrimination. Yet, we all know too well that merely the enunciation of a principle, while initially satisfactory in itself, will not win the day. The weaker races of mankind will not attain their due status with one stroke of the pen. Plenty of difficult ground will have to be covered, probably more slowly and painfully than idealists and sentimentalists will have us believe. Racial factors therefore must be regarded as forming formidable difficulties in the achievement of world brotherhood.

Belief in Empires, sphere of influences and the like are also potent causes of international rivalries and wars. Of cource the personal or the dynastic outlook is not now the central part of the Empire idea. But Empires persist and indeed are being re-formed not under new ideologies. It is unlikely that

they will dissolve into the void, overnight. History hardly works that way atomic bombs not withstanding. It has to be admitted frankly, that Empires and Colonies are potent cause of the disturbance of world peace. They are vital pawns in the game of power politics. How vital these are can be readily judged by students of contemporary politics. But in spite of breakdowns and interruption in discussion there should be satisfaction that the question of dependent territories and mandated countries has a place in the terms of the New World Charter. Let us hope that the Trusteeship Council will function for the promotion of real justice between peoples, and not be merely a high power arrangement for the maintenance of the *status quo ante bellum*. It has to be mentioned that many honest-minded students of the colonial and dependent territories question, are not satisfied with the machinery set up. Powers that have been given to this or other organs of the Charter in this regard are not too re-assuring. The General Assembly itself, and the forces working within the peoples in these territories themselves, we trust will, bring forth their own adjustment and solutions.

Wars of Religion, happily, is matter of past history. India, probably, is one of the major countries where religion could easily lead to wide spread civil strife. We are yet so deeply religious-minded that even every little seat in every little Government Committee or Municipal Board or University Council must be allocated to us, not so much for what we are, but for what our credo happens to be. This is pathatic. It is not spirituality.

Thus we return to our thesis that in the main, modern wars are a result of the economic conflict that subsists .between nations. If indeed, the nations could follow Adam Smith's dictum, commerce and trade instead of being potent cause for trouble, would become the fundamental force for peace. Unfortunately, due to selfish sectional interests, within and without the national groups respectively, the opposite is the case now. Strong and well entrenched groups in the respective nations, are immensely powerful. They wield the nations into war or peace. They identify the interests of the section with that of the Nation. Adam Smith said "Commerce which ought naturally to be among nations, as among individuals, a bond of union and friendship, has become the most fertile source of discord and animosity.

The capricious ambition of kings and ministers has not, during the present and the preceding century, been more fatal to the repose of Europe, than the impertinent jealousy of merchants and manufacturers". This observation of his can, also, be applied, with no less truth to world conditions today. Personal and National cupidity has, evidently, no satiation point. Indeed, with the application of modern science, invention and technique, in all fields of economic enterpries, and most of all in the sphere of transportation and communication, the severity of economic competition has greatly intensified, both territorially as well as marginally, quality for quality. Regions which were once too remote have now been placed alongside the markets of the world. Commodities which once could not be transported due to bulk, fragileness, or low value, are now transported to countries which before were beyond reach. Finance and credit moved round the world with almost as great ease and efficiency as within their own respective money markets. Indeed some maintained that finance in many instances was more international than national. During the greater part of the nineteenth Century and till the outbreak of world war I, this was certainly the case. It was the great era of large-scale world investments, the like of which had never been known before or since. Those were the hay day of High Finance. The same now applies to setvices and professions. Technical ability, highly specialised skill and knowledge is brought to peoples' doors, who before were unserved, with such facilities. So, for all major financial and commercial transactions in staple commodities and services the world has, in essence, become one market. While enlarging the content of life of the peoples, and marking their dependability, this capacity of international trading has excited, the sense of rivalry of interested groups and sections. The net result has been the intensifications of the competitive factor. Mutuality basis of international trade and dealing has not received the reception and acknowledgement it merited. There is, however, good deal of justification for the exhibition of such animosity. It must be appraised equitably. One of the principle reasons is the unequal development of the respective nations in economic status. Thus those that are at an advanced stage, tend to exploit those that are not so well-equipped. While those who are backward, but have the potentialities, desire to be free from such economic

domination. If to economic power is wedded political ascendency, the sense of impotency of the backward group-becomes intensified several fold. Hence the conflict. Some of the principle features of this economic struggle may be considered and analysed.

Take for instance the matter of raw material distribution. Accessibility to raw material, with equal freedom to all nations, is demanded, especially by the so-called "Have not" nations. Students have given the matter of the distribution of raw staples of the world high place as one of the major causes of war. With economic autarchy the matter assumed unprecedented importance. It became the vital issue in international relationships. Significance of this cannot be exaggerated. It is maintained that political control over countries by way of Empires, Colonies, dependencies, mandated territories, or spheres of influences, militates against those countries who do not have such colonies. It is maintained that there should be equality of treatment in this respect. This is major proposition. Under free trade principles this was largely possible. It may be said that in this respect the British Empire more than any other contemporary colonial Empire, either of the French or the Dutch, adhered to this doctrine of free trade more consistently, and for a longer period of time. Other nations could not justifiably condemn Great Britain in this respect. We know in India that our exports were more and more flowing out to other countries than to Great Britain ar even to the countries of the British Commonwealth. Instances can be quoted of our agricultural and other raw material exports of, for instance, cotton, oilseeds, hides snd skins and the like, to illustrate this fact.

Closely associated with the problem of raw materials is the twin question of international markets. Colonial Empires aim at obtaining food and raw materials at cheap rates and disire to have monopoly rights in selling their manufactured goods in those dependent countries. Arrangements of Imperial Preferences and the like are made always favourable to the Mother or metropolitan country to the exclusion of others. Navigations Laws are enacted to foster the fortunes and enhance the strength of mercantile marine of one's own political group, to the detriment of other units. This has been the pronounced characteristic of the expansion of the modern maritime powers into World

Empires. But even in respect to international markets, British tradition has been markedly different from the rest, particularly during the course of the second half of 19th Century. Duties levied were mostly of revenue-raising character rather than protective in their nature. But during the inter-war period, it must be admitted that principles of preferences, reciprocities regulations of quotas, bilateral agreements and the like dominated by ideas of autarkic economics, completely crippled the fabric of free trade built up by *Laissez faire* Economists. National selfsufficiency was the motive, engendered by fear of war. Depression and unprecedented universal unemployment added poignancy to the problem and strengthened nationalistic and autarkic tendencies powerfully. So there was the cry for equal sharing of raw material resources by the principal metropolitan countries of the world. It is interesting to note that at San Francisco this matter was raised by France. It was hotly debated at length in the Economic and Social Council, over which-Sir Ramaswami Mudaliar presided with such distinction. A very interesting point arose out of this debate. I believe it took form for the first time in any international discussion. It was the idea of reciprocity in the matter of raw produce exchange. I believe the Chairman of the Council, assisted particularly by the Delegates from the North American republics, was able to make the members of the Council realise that along with the idea of accessibility of raw material, must proceed the idea of reciprocity of economic resources that the metropolitan countries possessed and could afford in exchange. The backward countries of the world needed credit, capital goods and technical services for their own development. They had a right to expect these from the more advanced nations. It could no longer continue to be only one way traffic. Old nations of colonial empires had to radically undergo change. This presentation was happily agreed to by the members of this Council. The reciprosity principle was admitted. Raw material resources will, in the first instance, be utilized for the development of the colonial and dependent terretories peoples themselves. Surplus will be exchanged for requisite financial, capital goods and technical services, needed by them. The matter was, however, left over for more detailed and technological examination by competent authority to be set up at a later date.

A word probably is needed in respect to 'markets.' The tendency of all international discussions during war was for the elimination of restrictions by way of mon:tary blocks, imperial preferences, Zollverein or bilateral trade agreements. They desired replacement by freer capital movement and trade flow on multilateral principles. The Bank of International Settlement or the International Monetary Fund, for instance, clearly indicated this tendency. Exchange restriction or manipulation of a discriminating type they wished to eliminate. But since the war situation seems to have deteriorated, Imperial Preferences, special currency block arrangements seem to be re-appearing. Bilateral rather than multilateral agreements seem to find favour. Let us hope these are merely passing phase of a very difficult, delicate and decisive period of world negotiation for international settlement.

Labour has been another cause of much international dispute. Apart from the question of migration, which has been, and may persist to remain an intractrable problem, full of much explosive matter, with densely populated areas on the one hand, and sparsely peopled territories on the other, the question of labour will demand far greater attention in colonial and backward territories than they have so far received. "Happily, there is ready at hand an agency which can tackle this question effectively, whatever be its present shortcomings. Probably, no organisation, created as a result of the Peace of Versailles has rendered more valuable service to the cause of peace, and to the establishment of the principle of human jnstice than the Internatioual Labour Office. Exploitation has to cease. condition of work, in fields and farms, plantations, mines and factories and dockyards must be regulated, emproved and made more human and dignified. Social security measures have to be examined. Where feasible they would have to be applied. Equity in the imposition of labour legislation has to be determined as between nations at different levels of industrial progress. Sweated labour argument or cheap labour propaganda, readily capable of much international mischief, has to be examined with expedition, scientific detachment and clarity. Women and child labour problems need to be particularly associated in all such enquiries and consequent legislative enactments.

While world standards have to be kept in view, as exemplified in the

Philadelphia Labour Conference held in April-May 1944, yet it made manifest that this problem of labour had to be studied and treated regionally. Colonial and backward countries could not be saddled at once with all the highly devoloped social security and labour laws that had gradually evolved over the centuries in respect to the terms and conditions of employment. Diversities of economic situation, social environment tradition and usage had to be allowed for in building up a modern labour code. Regional approach to the solution of the question was formulated and endorsed. Amongst other things Right of association, freedom of expression and equalization of opportunities was emphasized and accepted. Matters of forced labour and the like were to be specially examined, and liberated if not eliminated. The British Delegation called the Declaration the Charter of the Colonial Policy.

The productivity and the consumption capacity of the peoples of the earth has to be increased. In fact it has been maintained by many Economists and specially by Socialists and Communists that most of the economic ills of the world, indigence, squalor, ignorance, ill-health and unemployment are due to under consumption. The theory of under consumption has held the field for a good while, and impeaches private capital as the basic cause of the world's economic ills. Exploitation is the cause, and profits the result. There is no doubt that with improved standards of living, better wages, shorter hours, better housing, higher standards of diet and clothing and with ampler facilities for education, recreation and health-maintenance, the demand for goods and services of all type would greatly be enhanced. Margins of profit would be reduced per unit but would be enlarged in the aggregate. Capital would thus be adequately rewarded. The masses of each nation, admittedly require the raising of their respective standards. International approximation would gradually come about, levelling up differences. The positive attack on the Five Giants of Beveridge Social Security Scheme for England multiplied with requisite degrees to suit the social and economic conditions of the respective nations, would lead towards world cooperation, instead of creating world conflict. World tendencies as reflected in various international organisations, especially pertaining to labour indicate such an approach. It may, however, be mentioned that the problem of unemployment, the menace to economic

stability, is not merely the outcome of under consumption and maldistribution of the national income. Other national, international and natural factors intervene. These create this intricate and distressing feature in our present economic environment, recurring with varying degree of frequency seasonally or cyclically. It is a matter, however, which no one nation singly can combat, and therefore demands international collaboration at high level.

It has to be noted that under the Economic and Social Council set up by the Charter, certain fundamental factors of the Four Freedoms have been embodied as operating principles. The matter of higher living standards, full employment, and conditions of economic security and social progress have been particularised. The Human Rights Commission is appointed to examine the circumstances and situations of all dependent peoples. If these principles are adhered to and followed out, intricate and difficult as they are, they should help to minimise chances of international friction.

There is the question of finance and capital, 'Supply-Finanz Kapital' as termed by German Economists. Probably it would be better described these days by the two words 'Dollar Diplomacy'. There can be no question that national policies of the respective nations is much dominated by people who control the large purse strings. Even internationally, finance-capital groups act in unision for their own advantage. It is necessary that their influence be restricted and directed not only to the good of their own nation, but also to the cause of international peace.

It is true that international capital investment, especially Long-term credit requires satisfactory guarantee. Such security is rightly demanded by High Finance and must be provided. At the same time, borrowing countries, which in most cases are weakly developed countries, both-economically and politically, need to preserve their autonomy of free action. The situations presents immense difficulties and are not easy of solution. Yet there has to be some adjustment. Large capital resources, technilogical knowledge and skill lie only partly employed in some parts of the world, while on the other hand extensive natural resources, vast masses of peoples, representing the larger section of human beings, are subsisting in a manner

which is sub-human. This supply and need require to be coordinated. Such coordination cannot be beyond the wit of man, only if he were to wish it. It is hoped that under the new arrangement of the Bank of International Settlement and the International Monetary Fund, matters of finance and credit will be operated to promote human understanding.

There are several other features, but we cannot deal with them separately. Sufficient it be to mention that the average man and woman of the respective nations, desires peace. He wishes to be left free to devote his time to his various pursuits, to earn a living and the means to enjoy himself, along with the members of his family and his friends. Economic and social trends amongst the masses demand peace. The classes provide the rulers and the diplomats. It is they that must see to it that world peace is not broken, but strengthened so that the human race may live and prosper and not destroy itself and perish.



FOREIGN BANKS AND THE MONEY MARKET

By A. S. Raturi

FOREIGN Banks,[1] specially British, by assuming the name 'Exchange Banks' wish to be classed as indigeneous constituents of the money market specialising in a particular type of banking. The nomenclature 'Exchange Banks' not only gives an incomplete view of their operation but also is a false presentation. Neither they are wholly Exchange Banks nor is there any desire on their part to restrict their business to the financing of foreign trade only. The British Exchange Banks who dominate the age, (they have 70 out of a total of 84 branches of these banks) are descendants of the banking adjuncts of the Agency houses which controlled the trade of India in the times of the East India Company. They are not only the custodians of funds of British Industry in India but their powerful allies also. Three of these foreign banks, viz. the Chartered, National and Merchantile, were doing their business in India even prior to 1870. Of these the National Bank of India was first registered in India but later was transferred to England.

Business. Apart from financing the foreign trade of India these foreign banks receive deposits in India and make advances just as all other commercial banks do. Their representaives before the CBEC[2] admitted that they finance internal trade to help the import and export trade direct without the provision of an intermediary.[3] In fact no other proof than their growing deposit figures and their Branches in the interior is required to show that they compete with other banks.[4] The Bengal Banking Enquiry Committee[5] and the Bombay Banking

1. 16 Foreign Banks i. e. Banks that are not registered in India but elsewhere work in India along with the Imperial Bank and Indian joint stock Banks. Of these 8 are British.

2. CBEC—Central Banking Enquiry Committee.

3. Q. 3510–11 CBEC.

4. B. C. Ghosh in a Study of the Indian money market quotes Lord Inchcape, as "Our purchase of Allahabad Bank gives us a footing in the interior of India which it would have taken years to work up."

Enquiry Committee[1] reported that these banks discount inland bills and 'hundies' and do every other banking business. As such it is meaningless to call them Exchange Banks as it is meaningless to call all other banks non-exchange banks when some of them do finance foreign trade. With the removal of restriction on foreign exchange business on the Imperial Bank of India and the growing participation of other Indian commercial banks in the financingof foreign trade the distinction that these banks only financed the foreign trade has also vanished. It is time now that we classified them properly.

Classifications and Statistics. For the purposes of presentation of statistics the foreign Banks are classified under two categories. Those doing a considerable portion of their business in India i. e. having 25% more of their deposits in India and those that are merely agencies of large banking corporations doing major portions of their business abroad. This classification is useless. An uniform classification can be useful only when subjects chosen conform to uniformity. The only uniformity with these foreign banks is that they are banks and are foreign. Among them are National City Bank of New York with over £ 1400 crores of deposits and also Thomas Cook and Sons with only £ 14 lakhs as deposits. The latter bank can come under the first category with only over 50 lakhs of Indian deposits whereas the former will remain under the second category even with Rs. 400 crores of Indian deposits. Then again simply because if a bank is losing foreign deposits or gaining in India or both it does not form a class. It is essential that this classification be changed. These foreign banks must give statistics of their Indian business separately. Their classification should be according to the volume of business they do in India.

As these Banks are not incorporated in India they are not bound to submit the annual returns of their Indian business under the Indian Company Law. They supply the figures of their business confidentially to India office in London, which consolidates them and submits in consolidated form for inclusion in

---

Again the Eastern Bank was founded in 1909 'for the purpose of transacting both Exchange & local banking.

5. p. 44.
1. p. 32.

statistical tables relating to banks in India. The statistics are not only scanty but being consolidated are not fit for proper analysis. The statistical tables relating to banks in India give in a consolidated form the deposits and cash balances in India with these banks.

Deposits. Practically all the deposits with these foreign Banks are with 8 British banks is evident from the fact that they have 70 out of 84 branches of all such banks. Their reluctance to give separate figures to any authority in India is due to their desire to withhold this fact from publicity. Their confidence in India office is natural.

The following table gives deposits with these Banks from 1870 onwards.

Year	Number.	Crores of Rupees	Deposits with all Banks (in crores of Rupees)
1870	3	·52	7
1880	4	3·40	13
1890	5	7·54	22
1900	8	10·50	31
1910	11	24·79	83
1920	15	74·81	226
1930	18	68·11	212
1940	20	85·33	306
1941	17	106·73	365
1942	16	116·85	499
1943	16	140·19	715

The deposits with these banks are increasing, though the increase in recent years is absolute and not relative. In 1880 these banks held $\frac{1}{3}$ of the total deposits with all banks. In 1943 they have less than $\frac{1}{5}$. The proportion begins to fall from 1930 onwards as there is relative increase in deposits with Indian joint stock banks. After 1930 due to political pressure on the British and specially due to general awakening amongst us there is some industrial expansion. There is not only such increase in banking resources as is necessary along with the industrial expansion but probably because hoards are also released. Nevertheless the power of these eight British banks with 70 branches to draw $\frac{1}{5}$ of the total deposits–resources is unquestionably too great.

It would be intresting to know as to who own these deposits ? What is the share of Indian's in these deposits ? A large portion of these deposits are owned by British firms in India. Indians, who are agents to these firms, maintain their accounts with these banks for convenient references and to please the Britishers. As such these funds so far have not and most of them cannot be transferred to Indian owned institutions which are equally sound and offer better facilities, but by legislative control.

Indian Banks have complained against the privilege of foreign banks to draw Indian deposit resources and to use them against them for the benefit of foreign firms and trade.[1] Prohibition of deposits is more a problem of Indo-British relations than of financial considerations. The Britishers would like to maintain their financial tentacles not only to exploit the Indian money market but also to consolidate their gains, whereas nationalist opinion will always resent any such hold. In order to advance Indian Banking and to have our share in the finance of foreign trade, our banks will have to take, an increasing share in this foreign exchange business. We demand restrictions on these banks at the same time we agree for the same restrictions on our own institutions in foreign countries.[2] But we cannot extend reciprocity, in the anticipation of future gains. At present no branch of an Indian Bank is established in any foreign country. As such in lieu of our granting such facilities to these banks we must demand their cooperation for reorganising and strengthening Indian banking. Scheduling of all foreign banks must be compulsory. They must submit a balance sheet of their Indian business to the Reserve Bank. Further branch expansion should be controlled by Reserve Bank[3]. We do adimit that people ought to be free to choose their banker and advantages of cheap credit should be availed, but at the same time we demand to be free to shape our economic life as we disire. At present these British banks not only enjoy the privilege of equality with Indian banks but they are also exempted

1. C. B. E. C p. 335-356.

2. Anything which should provide retaliation against them must make such progress difficult.

S. K. Muranjan : Modern Banking in India, P. 172 a

3. *Ibid.*

from certain restrictions. Firstly, without any reserves and capital earmarked for India, they commandeer a number of resources. They have in fact nothing to risk here. Secondly, they do not furnish to the Reserve Bank the statistics for their business in India. Such statistics are, not only essential to analyse their position but also to gauze the condition of the money market. Thirdly, nearly all of them, being of one nationality, form groups within the framework of the Indian banking, i. e. a group monopoly. With the complaint of unfair competition is also the complaint of group formation. By doing so they manage an unfair competition. Indian banks ane thus unable to compete with their Union. They do not take Indian banks into their confidence.

Other Complaints.

Not only the attraction of deposits and doing business other than the financing of foreign trade are the complaints against these banks, but they discriminate between Indians and their own men in matters of trade facilities and insurance too. The position is so hopless that it can only be saved either by the general improvement in the Indo-British relations or by some drastic legislation. Their discriminations against Indian businessmen is to such an extent that they do not give good references to enable documents being drawn against payment. They on the other hand point to the limited resornces of the Indian importers in absence of any means of judging the clients' positions, for instance, an audited balance sheet.[1] Any how it is not we who are responsible for it, for they enforce on us the practices that are foreign to our businessmen.

The chief cause of this state of affairs is that we have got a very little share in our foreign trade. Britishers come here as traders and during the last two hundred years they have established themselves as sole monopolist. India being dependent, most of our foreign trade is with Empire countries, where British firms and British banks are supreme. The C B E C could not arrive at any definite firgure about our share in foreign trade, but the general view among the members was that it was about 20%.[2]

1 CBECP p 323

2. The Share of Empire Countries in our Foreign trade has always been above 50% of our total foreign trade. In the year 1939–40 it was above 56%.

Finance of foreign trade.

Import trade—Bills on Indian Importers are generalby D/p as said above. The Indian importer has either to arrange for money from some where or sign a trust receipt before he obtains possession of necessary shipping documents. In case of firms who have London offices which are all British, the finance is arranged through the acceptance of "house" paper. By this expression is meant that the London office of the importing firm draws a bill on a London bank which after acceptance is discounted in the money market there. The bank sends the shipping documents to its branch in India which collects money from the importing firm and sends it to London office before the due date of the bill. Thus the advantages of cheap London discount rates go only to firms who have London offices and who can draw on these banks. In case of an Indian impoter who has to pay an interest on signing the trust receipt at rates prevalent in India plus one per cent above Bank of England rate for the period from the date of the bill and time taken to remit funds to London. The Bank rate in England is above the market raté. The advantages of the cheap London money do not go to Indian importers but to his rival the foreign firm.

The C B E C recommended the introduction of rupee import bills, for they would serve as source of liquid investments for banks and will be available for rediscount with the Reserve Bank. Three things are necessary before we can have a good supply of such bills. Firstly, foreign exporters should grant D/A facilities to Indian importers; secondly, the discontinuation of the practice of discounting house paper in London market; and thirdly, the desire of the foreign banks to pass such bills to the money market in India instead of keeping them in their portfolios. These are absent in India. So long as a sufficient share of foreign trade does not pass into Indian hands, and Indian banks do not fully compete with these foreign banks, there is little likelihood of foreigners granting D/A facilities. Secondly, so long as discount rates are lower in London than in India and foreign banks can augment their resources by soliciting for deposits, they will neither leave accepting house paper nor passing the bills to Indian money market. The foreign banks are at present the sole monopolists for exploiting the gain in differentials of money rate.

in two countries. Their oppostion to allowing the presidency Banks of having access to the London money market can be understood in the light of the above.

Export Trade—The foreign Banks finance our foreign trade in so far as they advance money against the shipping documents and drafts drawn in their favour. These drafts after acceptance are discounted in the London money market. The differentials of the short term rate in the two countries go to these banks for in the absense of any competition the Indian exporter has to pay the rate asked which to all purposes is determined by rates structure in India than London. The myth that these banks finance India's foreign trade with cheap London funds gains ground in the absense of statistics.

A study of the compositions of Indias foreign trade[1] is also necesary for a correct apraisal of the services of these banks. The dominant feature of India's foreign trade is that over 50% is with Empire Countries. Secondly that we mostly export raw materials and such goods in which we have monopoly. In tea and Jute which account for over 46% of our exports mostly British Capital is sunk. Then again in cotton which accounts for over 15% of total exports

1. EXPORT

Percentage of Total Exports. (1939-40)	
Jute (raw & manufactured) ..	33.63
Cotton (raw and waste) ..	15.26
Tea ..	12.82
	61.71
Cotton Manufactures	4.22

IMPORT

Percentage of Total Imports. (1939-40)	
Cotton & cotton goods.. ..	13.37
Oils	11.27
Vehicles	4.16
Instruments etc.	3.37
Artificial Silk	2.78
Chemicals	2.73
Dyeing Substance	2,18
Paper	2.09
Sugar	2.01
	53.96
Machinery and Mill work.. ..	8.88
Metals and ores	6.58
Grain, pulse and flour	18-19

Review of trade of India 1939-40

Britain has got its interests. Under such circumstances if foreign banks advance against such exports they are helping British interests.[1] In Import trade we mostly import manufactured goods, a greater proportion of which comes from Great Britain itself. These goods are sucking the market. Thus if cheap finance is provided for them they get competetive advantage as against our own produce. By accepting the house paper the foreign banks help the British importer against the Indian importer, and by financing the import trade they are generally securing markets for British manufactured goods in India.

Foreign Banks and the money Market.

The growth of deposits with foreign banks is substantial. They have 1/5 of total deposits. Coupled to this there is permanent threat of bringing in London funds. These banks provide efficient channels for short-term funds to be floated in Empire countries. They can not only force cheap funds on India but there is also the threat of these funds flowing out of India and creating stringeney here. The following figures illustrate this.

(IN CROSES OP RUPEES)

1929		1941		1942	
Deposits ... 66 London fund 22	Loans etc 46 Investments 26 Bills in transit 10 Cash. 7	Diposits 107	Loans etc 27 Cash. 13.4	Deposits 117	Loan etc 3 Cash 12

Figures supplied to C B E C

In 1942 both loans and cash fell. The fall in loans is not due to fall in foreign trade, for funds invested in such finance are comparatively small. In 1929 it was only 10 crores. Again in subsequent years there is increase in advance. The fall in loans is due to collapse in Burma and possible withdrawal from Bengal and Assam too. Where then did the remainig funds got ? This we cannot know. The presence of such an element in the money market and more so when its infeuence is increasing, is dangerous. It is good that the period was an inflationary one and as such the stringency was not felt.

1. Mr. Nicol, the General manager of the National Bank of India admitted before the Hilton Young Commission that he saw no necessity on the part of these banks to take refuge with the Central Bank in India in the same way as we would do with the discount market in London. Q. 14-148-9

The effect of bringing in foreign funds is of tying the rates structure to that of a foreign land. Rates in India cannot be sufficiently higher than in England without giving a virtual control to these foreign banks of the entire money market. Again it cannot be lower because then these banks will move their funds away. The Reserve Bank under such circumstances will have to subordinate its policies to those of the Bank of England. In order to check an impending boom, the Bank rate in India cannot be higher than that in England.[1] For if it is higher, the British industries in India can always count on their ally the foreign banks to bring cheap funds from London. The pegged Exchange will afford them protection from any adverse changes in Exchange rate as a result of movement of short term funds. Under the International Monetary Agreement this safeguard has been further secured by making it obligatory on member countries to have stable exchanges. Their presence and power to move funds away will have two-fold effects : firstly, there will be direct stringency, and secondly there will be indirect contraction of currency. The Reserve Bank will have to part with its foreign assets, i.e. Sterling securities. For every rupee in a sterling security, $2\frac{1}{2}$ rupees will be withdrawn. The result will be a cumulative rise in market rates and the policy of a lower Bank rate will defeat its own purpose. In order to keep a sufficient amount of short term funds Bank rate in India must closely follow Bank of England rate.

Should the Reserve Bank rate follow the Bank of England rate ? This is a question which demands a closer enquiry. It is stressed that the economic fate of Empire countries is interlinked as there is free flow of resources in these areas. India cannot remain un-affected by what happens in Britain, therefore there is no harm in subordinating Reserve Bank policies to those of the Bank of England. It may be argued that while in case of Industries, forcing equality between two unequals may be harmful, in case of Banking it may not be so, as Banking is simply a service to the Industry. It was often stressed that these

1. If the Empire Commercial Banks rediscount with the Bank of England in time of trouble the local reserve banks can hardly hope to retain control of the market unless they can provide the same facilities, and in view of this the present subordinate position of the money markets of the Empire, to London is out of question.

A. S. J. Baster : Imperial Banks, P. 187.

Also CBECR, Vol IV, p. 391.

foreign Banks brought cheap funds. That the effect of London rates—thus transfered to India—cheapens credit facilities to the Industries. In fact the work of this cheap credit was only to jeopardise Indian Banking. Indian Banks being new had to pay higher rates to attract deposits and as such those that worked on modern lines and competed with these foreign Banks did so with narrow margins of profit. In the purely indigenous market, interest rates remained as high as ever. The effect of working of these banks was to aggravate the diversity of interest rates in the money market. They not only created high differentials in rates in organised and unorganised sections but also in territorial rates. Their threat hangs like the Democles sword on Indian banking. It cannot be properly assessed as to how far they have been responsible in forcing Indian banks move to such business which did not satisfy sound banking canons and thus brought crisis on them.

Investments in Money Market. Foreign Banks do not publish separate figures of their Indian Business; they however supply a consolidated figure of their cash balance, loans and advances and Bills to the Reserve Bank. The following are figures for their Deposits Cash loans and advances

Deposits	Cash loans and Deposits	Advances Cash	Loans advances & Bills	Percentage of 3 & 4
1929	66	9	56	85
1935	76	12·5	28	37
1936	75	10·4	30	40
1937	73	10·6	35	48
1938	67	6·4	33	50
1939	74	6·9	47	64
1940	85	17·2	23	27
1941	107	13·4	27	25
1942	117	12·0	3	2·5
1943	140	17·2	20	14

No figures for Treasury Bills are supplied to Reserve Bank. There is, a serious handicap in view of the fact that now treasury bills are occupying an imperfect position in the money market. As regards loans advances and Bills they are falling very rapidly relative to the growth of deposits. Our conclusionthat with the fall in Bank rates in general and market rates in particular Exchange

Banks contributions to the money market are bound to fall, is fully proved by the above figures.

Control of Fareign Banks. In view of the fact that these foreign banks command an important position in the money market and their operations are likely to affect the policies of the Reserve Bank, it is desirable that some form of control over them should be exercised. While under normal conditions it may not be advisable to check the free flow of funds, it is highly desirable that under special circumstances influx and outflow of funds should be checked. As such there must be a weapon of rationing, controlling or even refusing to buy or sell foreign exchange in times of emergency. If the Reserve Bank refuses to sell rupees for sterling in London or sells only to the extent of genuine trade requirements the maximum amount of funds that these banks can bring in India will be the total amount represented by their acceptance of house paper in London. Under such circumstances the money paid for imports in India will remain with the money market. The Reserve Banks then can plan accordingly.



CO-OPERATIVE METHODS IN INDUSTRY

By U. B. Mathur

ONE of the most striking developments in our present day economics is the acceleration of the movement towards a new pattern of industrial organisation. The growing rigidity of the productive mechanism and the destructiveness of competition have led to a growing confidence in merits of co-operative methods among the producers. A new vigour seems to have been acquired by those forces which were already assaulting the competitive system and the attention is now being gradually focussed on what appear to be inherent defect in the proper functioning of a competitive society.

The movement has its roots in the threatened collapse of the whole of our economic structure. It means a virtual denial of the classical concept of a static, self equilibrating economy. It accepts the view that the automatic regulation performed by the price mechanism under free competition has signally failed to function. The doctrine of laissez-faire has been assaulted from many directions, but from no source has the attack been more vigorous than from the movement towards cooperative methods.

A final decision upon the issue of cooperative methods rests upon the ability of the industry to create artificial agencies that will prove an acceptable substitute for the normal economic forces relied upon in the past to regulate productive activity. Can prices be deliberately fixed that will produce the necessary equiliberating effects ? If prices fail to perform this function, can output be effectively regulated ? Is it possible to abandon the invigorating influence of competition and still retain the technical efficiency of industry ? Will industry be able to improve its financial position without exploiting the public ? All these questions and many others, besides, must be answered satisfactorily, if co-operative methods are to be a feature of our economic system.

We are led to the conviction that the existing industrial organisation in India must be drastically revised. As one year succeeds another our

industry becomes ever more deeply involved in its tangled webs of economic difficulties. And, it becomes only too evident that a major operation is at once necessary. We are convinced that the first step towards putting our industry on an efficient basis is to subject its organisation and equipment to a thorough process of rationalisation. It is in this need for rationalisation that the motivation for the adoption of highly centralised forms of organisation is to be found. A mighty transformation from individualistic to co-operative methods of action is taking place and we can witness that, in one way or another, the most important of the industrialised countries of the world have swiftly and progressively readjusted their productive apparatusses and have reorganised in terms of the new power placed at the disposal of trade and industry by science and co-operation. And, it is precisely in proportion as the principle of co-operative action and control is accepted that we find economic success achieved.

We see that unintegrated mass of independent atoms is giving way to a closer organisation and a common purpose. Isolation is being substituted by association. It requires the transfer of authority from the individual firm to the industry as a whole. It implies the manipulation of prices and output as instruments to administer an industry rather than as agencies for individual profit. It is a deliberate attempt to supplant normal economic forces with artificial control.

The era of competition seems definitely passed and the inefficiency of the method and its inadequacy for the production of goods at prices to suit the customers has been now amply demonstrated. No industry and no industrial country can prosper today under a regime which conceives trade as a scramble for the lowest possible prices, with wages and profits, the desiderate of a sound material existence, thrown into the scrum. The day of the fixed price has now come and such a development must be considered as a real condition of economic and social progress. The system of free competition has been proved extraordinarily wasteful and it should be modified mainly because it has failed to perform its traditional functions.

Not only an evil itself, competition has operated to prevent the adoption of mere fundamental measures of rationalisation such as the

scrapping of excess plants and the formation of large productive units. For, individual producers have naturally been averse to participating in such projects unless their competitive positions were protected. As a matter of actual experience, it has been found that a necessary preliminary to nearly every comprehensive programme of rationalisation has been the suspension of competition. "What is essential is that the kind of competition which leads to destructive price cutting shall give place to mutual agreement on a common production and sales policy....On no other basis it is possible to proceed to the successful application of the technical reconstruction process implied by rationalisation."[1] The suppression of the competitive forces has been so important a feature of the many schemes of rationalisation that rationalisation has been referred as "the new tangled phrase to describe the old fashtioned device of eliminating competition." [2]

Attacks on the competitive system have come from all sides. All seem to agree and endorse that the control of competitive activity is a necessity if not always an ideal arrangement ; and that, if we have to save Indian industry from indiscriminate and destructive competition we must proceed along these lines.

Industrial rationalisation should not be stopped with the establishment of centralised control over prices and output. It should encourage cooperation for many other purposes, some of which may have far reaching effects upon the competitive struggle. One of them, for instance, may be the regulation of productive facilities. Restrictions may be imposed not only on the volume of production but also on the very capacity to produce. The objective being two fold :

(*a*) In part to rid the industry of its obsolete and inefficient equipment ; and

(*b*) In part to so reduce the volume of productive apparatus that the remaining facilities might operate more closely to the point of greatest efficiency.

---

1. Meakin Walter : The New Industrial Revolution, P. 19.
2. Quoted by Meakin Walter : op. cit., P. 13.

Nearly all important industrial countries have been troubled with excess capacity but in none has the evil been more serious than in India. Indian industries have begun to suffer from over production and excess capacity at a very low level of production. The Jute industry notably has long suffered from it. The Government of India estimated in 1935 (though this claim was contested by the Indian Jute Mills Association) that demand for Jute goods could possibly be supplied by a quarter of the machinery then available and the highest demand ever reached so far could be satisfied by a third of the equipment. So that there was $\frac{3}{4}$ths. to $\frac{2}{3}$rds. excess capacity in our Jute industry. No authoritative or reliable estimates are available for other industries but the information about surplus unsold stocks or the equipment actually idle gives us some idea of excess capacity. In 1939 the unsold stocks of sugar exceeded 4 lacs of tons out of a total production of $10\frac{1}{2}$ lacs of tons. The productive capacity of the Indian cement industry expanded to nearly $2\frac{1}{2}$ lacs of tons by 1939, though only 60–65% of this was utilised to supply the market demand in India and abroad. According to an estimate of Millowner's Association (Bombay) out of 389 equipped cotton mills in the country 22 were practically partially or completely idle in the year ending August 1939. The production of cloth amounted to 4250 million yards out of which much stock remained unsold. It may also be noted that in July 1939, the Southern India Mills association decided to recommend to its members to curtail production by 50% of the then output. All these facts, though conditions today have remarkably changed, go clearly to indicate the existence of excess capacity in some of our major industries. [1]

The chronic state of partial utilisation of the industrial mechanism has materially increased the burden of fixed costs and has also greatly aggravated the competitive struggle. The effective demand is very low in our country, because of the very low puchasing power of our masses, and thus Indian industries are faced with huge stocks over—production—which they cannot sell even when they are turning out only small quantities. Thus, because of a shortage of demand relatively to the existing equipment, all the factories or at least some some of them cannot produce at least optimum or most efficient scale, so that

1. P. C. Jain—India Builds her War Economy.

the costs of production are inevitably higher and the competitive power of the industry consequently poor. This redundant capacity hangs as a mill stone round the neck of our industries and indicates waste of recources and a lack of planned development.[1]

'The result of the prolonged competition of inefficient undertakings react on the more efficient, and tend to depress the whole industry ; and an operation of cutting out the dead wood may be essential for the speedy restoration of prosperity and the resumption of growth from the more vigorous branches'"[2] The elimination of surplus capacity is one of the most urgent problems before our industry and is an essential condition of any return to a sound basis for the industry as a whole. There seems to be much truth in the statement that 'the peculiar occasion for the pursuit of collective monopoly is the existence of severe competitive pressures ariving out of an over capacity to produce.[3]

Thus, the reduction of surplus capacity is a note worthy adventure and a deliberate resent to artificial agencies in place of those economic forces which have been relied upon in the past to compel the retirement of redundant and inefficient producers. To leave the task of purging industry of its excess capacity to the bankruptcy courts has often proved too slow and erratic to accomplish the desired results. It has always resulted in the elimination of the efficient plants as well as the ineffiicient and, in the mean time, has also perpetuated the burden of high fixed charges and cut throat competition. "There can be no doubt that the operation of free competition is a very slow and costly method for the purpose of seeuring such elimination. The tenacity of life shown by business working at loss is sometimes extraordinary... It seems unquestionable that this operation can often be performed more speedily and rationally and with less suffering through the mechanism of consolidation or agreement than by the unaided play of competition".[4]

Manifestations of the co-operative spirit in Indian industry are to be

---

1. *Ibid.*
2. Committee on Industry and Trade, Final Report, P. 179.
3. Carl Pribram : Cartel Problems, P. 48.
4. Committec on industry and Trade; Final Report, P. 179.

observed in many other directions as well. There is, for instance, the closer association that has developed in the effort to improve marketing methods. "With the widening of markets consequent upon the improvements in transport, more elaborate marketing organisation was required....As an increasing proportion of the cost thus involved was in many industries purely competitive, the incentive to combine for the purpose of marketing more cheaply tended to increase".[1] A growth has consequently occured in common selling and similar practices which, if not directly monopolistic, at least tend in that direction.

One feature that might have reduced the intenisty of the competitive struggle is the increased size of both the unit of production and the unit of direction. Throughout almost in all of the Indian important industries the small family business is the rule which is highly individualistic in character and usually quite isolated from other firms in that industry. This multitude of small producing units is believed to represent a serious obstacle to the revival of our industry. The small producer finds it difficult rather impossible to introduce the many economies that arise from specialisation and skilled administeration. He is greatly handicapped in utalising the latest developments in technique, such as electrification in coal mines, and high speed automatic machinery in textiles. Research, standardisation, cost analysis, the effective utilisation of by-products, and other conventional economies of large scale production are seriously retarded. Of equal importance is the fact that most of these small producers are unalterably opposed to any programme of reform that required, as most of them do, the disturbance and even the liquidation of existing equities and the realisation of accumulated losses, for this reason, the rationalisation of Indian industry will undoubtedly involve a great deal of scrapping and replacement of plant, and enlargement of the industrial unit both by growth and by the re-grouping of units through consolidations or other forms of associations, so as to obtain the full benefits of large scale production, elimination of waste, standardisation, and simplification of practice.

Partly as the result of schemes of rationalisation, partly as the result of the individual initiative of the more progressive firms and partly as the result

1. Factors in Industrial and commercial Efficiency, p. 69.

of whetever little encouragement from the government, there has been a notable tendency towards combination movement. No statistical measurement of this development is possible, but mere observation confirms its existence. It has been particularly marked in the industries like textiles, cement, sugar and iron and steel but it has been present to some extent in nearly every industry.

In experiencing growth of combination movement our industry is only experiencing the normal course of economic evolution. The enlargement of the individual plant augments both the feasibility and the incentives for eliminating competition. Feasibility is enhanced because the fewer the number of units the easier it is to secure unanimous support. The incentives are increased because "being unable to adopt their plant to other uses manufacturers had an incentive to continue production in times of depression not only so long as they could earn anything towards their heavy, fixed charges but even at an actual loss, provided that such loss was not too great......Competition of this kind may drag down a whole industry into insolvency and the businesses affected are naturally prompted to consider what remedies are possible."[1] The most obvious remedy is the adoption of some form of agreement or even some more intimate relationship that will effectively eliminate competitive activity.

Once competition has been suspended in one section of industry, other sections, which have business relations with it, are generally encouraged to do likewise to equalise their bargaining strength. The growth of combination is thus cumulative. Occassionally, also, an industry may be forced to unify either to protect itself against the strong foreign and international cartels or, perhaps, to participate in them.

These developments provide the chief basis for the renunciation of compititive principles and practices by Indian industry. The movement seems to be primarily an outcome of the unfortunate position in which our industry had been plunged and the renunciation of competitive principles and practices is in a very large measure a philosophy of necessity. The underlying problem of Indian industry has been to delimit internal cut-throat competition and to compete successfully with foreign countries. So little progress has been made

1. Factors in Industrial and commercial Efficiency, pp. 68-69

towards this goal through the operation of normal economic forces that the conviction is widely held that some form of deliberate control must be imposed. Industry after industry has revealed almost total incapacity to meet the crisis under its existing organisation. It has become fully apparent that a comprehensive and thorough rationalisation was necessary before most of the Indian industries could be retored to even a moderate degree of prosperity.

The proposition has become now generally accepted that the Competitive System has largely failed to perform its traditional functions and, in the meantime, has imposed a serious obstacle to recovery by preventing that unity of action upon which schemes of rationalisation rest.

Cut-throat competition is entirely out of place in an industry unable to secure profitable prices anyway. The producer is deprived of the scant profits left by his foreign rival while labour is threatened of is wages scales. Prices, output, and other elements in the competitive struggle are no longer matters of concern merely to the individual producer, but are the instruments for the administeration of industry as a whole today. Internal competition has also retarded the eradication of the serious technical disorders. Our Industry in India is suffering from a plethora of produtive facilities. Much of its equipment has become obsolete. The scale of productive operations has been too small to be economical. Distributing costs have been too high. Technical research has not been adequately prosecuted.

It may be useful to present a systematic classification of the various projects of control. Unfortunately, no rigid classification is possible. For, whatever the basis of classification, there is so much trespassing by one group on another that confusion rather than order would result. On the basis of underlying motives, the chief point of difference arises between those projects which have aimed at the complete rationalisation of the industry concerned and those which have been content merely with the suppression of competition. Athough important, this distinction is, in most cases, too vague to be made the basis for formal classification. A basis of classification may be the form of the organisation established to enforce control. The suppression of competition presupposes not only a central organisation to exert control but also the existence of individual firms to be controlled. It is the

nature of the relationship between these individual firms that creates the most important difference between the various forms of organisation. The effectiveness of control is closely conditioned by this relationship.

The organisation utilised to exert control may be patterned after one of the two main types, either the so-called terminable association or the permanent combine. The former involves some form of a contractual relationship between the individual firms or between each firm and a central organisation, while the latter is the result of complete financial unification.

It is generally much more difficult to realise the full economics of unification by means of a terminable association than by a complete merger, in as much as the continuence of the separate financial interests of the different undertakings may result in considerable resistance to the enforcement of measures for reducing costs and eleminating waste, which, though to the interest of combination as a whole, may place some of the constituent undertakings in an unfavourable position for resuming competition in the event of withdrawl from the association or termination of the agreement.

For this reason consolidations offer a much more effective means of rationalisation than the terminable agreements, and are on the whole more favourable to the interest of the general consumer. Against these advantages, however, is to be set the greater elasticity of terminable agreements which are capable of progressive modification in the light of experience gained, and which are relatively free from some of the dangers of over centralisation.

SOME ECONOMIC CONSEQUENCES OF BRITISH RULE IN INDIA

By C. S. Asthana

THE poverty of the Indian population to-day is unparalleled in any civilized country. Only three years ago a devastating famine desolated the fair land of Bengal; and even by a moderate calculation the loss of human life and sufferings involved is said to have exceeded the entire number of casualties throughout this catastrophic war that has just ended. The spectre of another impending famine has been just taken off our necks only a couple of months ago thanks to the noble offices of Dr. Rajendra Prasad, food member of the present National Interim Government of India. Many of our older folk still remember with horror the anguish and the misery resulting from the two suceessive famines of 1897 and 1900. But why only two ? Ever since India passed under the rule of the British Crown, there have occurred a whole series of famines, almost once in every decade, and some times even more–those of 1867, 1877, 1889, 1892. 1897, and 1900. And these have competed with each other in excelling in their extent and intensity, till we have reached a stage where millions are living in perennial famine and perpetual penury.

These famines are only indicative of a greater evil, the permanent poverty of the Indian people. Even in the year of the last of these famines (1943), according to official calculations the yield of food crops was more than usual, yet lacs of men, women and children were pushed down the gorge of Death. It is the utter resourcelessness of the people, besides other causes of administative neglect and blunders, that have placed them in such a wretched condition. " The failure of rains destroys crops in particular areas; it is the poverty of the people which brings on severe famines." While numerous superficial arguments have been advanced to explain these famines, but none of them could stand any close examination. It has been said that the population has grown rapidly; that the Indian cultivator is dull and careless, that the money-lender is the bane of India. These are some of the many defects of our people to an extent, but

they are as valid cause of any major calamity as they appear to be, because population has grown more rapidly in England in the 19th century than in India, but that brought no famines there. There is hardly any other peasantry on the earth more frugal and simple than the Indian cultivator; whereas he is a slave of the money-lender mostly because of the extreme rigidlty of the Government revenue demand. Therefore it does not need further arguments to show that deep down these superficial explanations, true causes of Indian poverry are elsewhere.

The sources of a nation's wealth are agricultare, commerce, manufacture, and a sound financial administration. The economic laws which operate in other countries do operate in India as well. And the causes which lead to the growth of wealth in other countries, must also lead to the prosperity of the Indian people; similarly those which impoverish other countries do impoverish the Indian people also. Therefore, the main line of enquiry should be whether agriculture flourishes in India? If industries, manufatures and commerce are in a prosperous condition in India? Are Indian finances so administered as to be conducive to the well-being of the Indian people?

Anyone, who has made an impartial enquiry on these lines, has come almost invariably to the sad conclusion that ever since India passed into the hands of the British nation her vast economic resources have most cruelly been exploited for the benfit of the English people, and the interests of the Indian population has been deliberately and persistently neglected. The drain of Indian wealth has been so voluminous that she has been actually bled to death. It is a very instructive study to review the past history of Indo-British economic relations spreading over a period of more than two centuries, and then to find for ourselves the chief ingredients of that poison which has destroyed the very life organism of the Indian economic frame.

1. *Commerce.* India in the eighteenth century was a great manufacturing as well as a great agricultiural country. She has ever enjoyed a varied and voluminous foreign trade from as far back in the past as the days of David and Solomon (David ruled from 1049 B. C. to 1016 B. C.; and Solomon from 1016 B. C. to 976 B. C.). "The dawn of history discloses the Indo-Syrian trade in the hands of the Semitic races......The civilization of ancient Egypt created

the first great demand for the embalming spices, dyes and fine products of the East".[1] An Indian origin is ascribed to the ivory of which solomon 'made a great throne,' his 'precious stones', and 'three hundred sheets of beaten gold', the 'traffic of spice merchants', the 'apes and peacocks' of his pleasure gardens and probably the Sandal-wood pillars 'for the House of the Lord.[2] So through all these thirty centuries India had a flourishing foreign trade and attracted to her shores merchants and navigators from far distant lands. The Moghul Emperors Akbar and Shahjahan were particularly interested in the growth of Indian manufactures and in the expantion of foreign trade. In the *Akbar-nama* Abul fazl mentions that to encourage home-spun silk trade Akbar wished all the gentlemen of his court to wear a particular sort of silk garments and that many foreigners skilled in various arts resided in his imperial capital where they taught there trade to the Indian artisans. Even in the 18th century, when the English conquests in India began, Indian loom supplied fine textile manufactures to the Asiatic and European markets, "But it is true that during the time that we (the English) were slowly working our way from being merchants to conquerors, India remained a wealthy country, with a revenue enormous in comparison with that of any European State, and *with apparently a great power of rebound from any temporary misfortune.*"[3]

It was, however, because of our unfortunate connection with the East India Company and the British Parliament, who "following the selfish and commercial policy of a hundred years ago discouraged Indian manufactures in the early years of British rule in order to encouraged the rising manufactures of England,"[4] that India became subservient to the Industries of Great Britain, and we grow only raw materials for their manufacturing plants.

In the early days of the E. I. Company's Supremacy in Bengal. Within a decade of the battle of Plassey, the English were masters in the Provinces of Bengal, Behar and Orissa. Soon they monopolized almost all the avenues of trade. Superiority at sea had already given them control over the Sea-going

1. W. W. Hunter. *History of British India,* vol. I. p. 89.
2. Quoted by W. W. Hunter, *Ibid* Vol, I. p. 26.
3. E. M, Hyndman : The Bankrupty of India, p. 9.
4. R. C. Dutt : Economic History of India, Vol. I.

Nawab in 1760, the presents to the Company's servants were still larger and many. Officers alone got £ 200, 269, out of which Vansittart, the Governor at Fort William, received £ 58,333. When Mir Jafar was made a Nawab a second time in 1763, the persents amounted to £ 500,165. When Najim-ud-daula was set up in 1765, further presents came to the extent of £ 230,365. Thus all the presents within the first eight years of British Supremacy in Bengal amounted roughly to £ 2,169,665. These were only the presents; within this very period further claims were put up by the Company as price for restitution which amounted to another £ 3,770,833.[1]

The greatest evil by which the Country suffered was the Continuous economic drain from India which went on year after year. The above figures are for one province alone, while Similar drain Continued from other provinces as well, and we can thereby get an idea of the voluminous drain of capital thus impoverishing the country. A statement of revenues and expences of the first six years of E. I Company's Diwani will further emphasise this point. These figures are from the 4th Report of the House of Common's select Committee of 1773.

	Amount.
Gross collections. £ 20,133,579	
Net Revenue after dedutcing the payments made to the Emperor and the Nawab of Bengal, and including other expences of collection etc.	£ 13,066,761
Total Expenses, Civil, military, buildings and fortification etc.	£ 9,027,609
Net annual Balance.	£ 4,037,152

From this it is clear that one-third of the Net Revenue of Bengal was yearly remitted out of the country. But the actual drain was much larger. A major portion of the Civil and military expenses consisted of the European officer's pay, savings from which also went out of the country. Another way of looking at the actual drain, and perhaps a more accurate one is to

1. R, Dutt—Economic History of India Vol. I P. 32.

be found in the figures for export and import, given by Governor Verelst, for the years 1766–67 & 68.

Imports.	£ 624,375.
Exports.	£ 6,311,250.

That means the country's export was about ten times of what it imported. This account relates only to Bengal. If we go out of the province of Bengal, and see what happened in other provinces, we shall discover a similar tale.

Such was the condition of India in the early days of the E. I. Company's Government. But very soon, profitting by the disturbed political conditions of the time consequent on the disintegration of a central power, they changed their role, from that of the traders to rulers. And now they "employed the arm of political injustice to keep down and ultimately strangle a competitor with whom they could not contend on equal terms."[1]

"The invention and spread of the power loom in Europe completed the decline of Indian industries, and when in recent years power loom was set up in India, England once again acted towords India with unfair jealousy."

II. *Industries and Manufactures.* The most reliable extant account of the economic condition of people in India in the first two decades of the 19 th. ceutury is given in the most valuable survey records of Dr. Buchanan. These materials lay in darkness for a long time even after his death, till that celebrated historian of British colonial people, Montgomery Martin, published a judicious selection out of them in three volumes in 1838.

By way of mere illustration of the general industrial condition, here are given a few interesting facts about the District of Patna. Rice was the most important crop throughout the district. Paddy sold at the rate of 70 seers for a rupee. Wheat and barley were the next important crops. Potatoes had been introduced from Europe. Cotton was grown on 8000 acres, and sugar cane on 7000 acres. Poppy was cultivated in garden lands near the villages. The betel-leaf of Behar was the best, and was exported to Calcutta, Benares and Lucknow. Canals were Commonly found, and many of the water reservoirs were miles in length. A plough servant's wages ranged between 16 to 22 rupees a year.

1. H. H. Wilson.

Spinning and weaving were the greatest national industry of India next after agriculture. Spinners were mostly women, millions of these women, by working only for a few hours a day, eked out the family income by their earnings from spinning. They even assisted in dyeing, cloth-printing, tanning and metal works. The average estimate of the value of a woman's spinnings in the year was (according to Buchanan's account) rupees seven and a few annas (7-2-8). Cotton weavers were very large in number. The profit for each loom was rupees hundred and odd (Rs. 108) which was worked by three persons.

The weavers who made cloth wholly or partly from Tasar Silk lived mostly at Fatuah, Gaya and Nawadah etc. The profit for each loom was from Rs 33 to 80, requiring the services of a man and a woman.

Paper manufacture, leather work, perfumery, iron work, gold and silver work, stone-cutting, pottery, bricklaying, and lime manufacture, dyeing, blanket-making, and manufacture of gold and silver thread were among the other important industries. Much of the internal trade was carried on by the Baldiya-Bepari, or trader possessing pack-bullocks. Goods were conveyed from Patna to Calcutta by boat, and the freight was Rs 12 to 15 for carrying 100 maunds of grain. Cartmen carried goods over shorter distances. The hire of a bullock cart for carrying 12 to 15 maunds from Patna to Gaya, nearly 70 miles, was three rupees six annas.

What threatened, however, the sources of the income of the people was the declining state of their industries and manufactures. The stranglehold of a foreign ruler had been applied, and markets for these articles were gradually being usurped by goods of foreign origin. Deliberate economic policy was adapted by the East India Company to check the export of Indian textiles to English markets. Here are a few figures about the export value of Catton goods sent out from England to Easten parts, particulerly India.[1]

Year	1794	1797	1801	1801	1807	1809	1813
Value of Exports fromEng. to India	£ 156.	£2,501	£ 21,200	£ 31,943	£ 46,549	£118,408	£ 108,824

1. Retum to an order of the House of Commens, May 14, 1813, quoted by R. Dutt. *opp. cit.* Vol. II. P. 257.

The Company's charter was renewed in 1813; but her monopoly of trade was taken away, and other British traders were allowed to trade with India. British Statesmen in early years of the 19th Century did all they could to promote the British manufactures at the expense of Indian industries. British mannfactures were actually forced on India through the agency of the Company's Governor-general and Commercial Residents. But the Indian manfactures were shut out from English markets by severe prohibitive duties.

Every time when the Company's charter came up for renewal, the House of Commons apponited a Committee of Enquiry. One of the major tasks of these enquiry Committees in the 19th Century was to suggest practical means of increasing the import of British goods in India.

The nature of the prohibitive duties will become exemplified from a passage taken from the Report of one of the Such enquiry Committees (in 1813.)

Committee. "Can you state what is the ad valorem duty on piece goods sold at the East India House (London) ?"

John Ranking—"the duty on the class called calicoes is £ 3, 6s 8d. per cent. upon importation, and if they are used for home consumption (in England) there is further duty of £ 68, 6s. 8d.

"There is a second class Called Muslin, on which the duty on importation is 10 p. c., and if they are used for home Consumption, of £ 27, 6s. 8d. per. Cent.

"There is a third class, of coloured goods, which are prohibited being used in this Country, upon which there is a duty upon importation of £ 3, 6s. 8d. per cent. They are only for exportation."

In another place the same witness said, "I look upon it as a protection duty to encourage our own manufactures."

Besides these economic policies, calculated to smother Indian industries, the behaviour of Englishmen in India was cruel and violent. The acts of violence committed by the European traders and indigo planters in the interior of the country were most frequent. From a government circular issued in this

connection on July 13, 1810, we can know what sort of behaviour the Indian labourer received at the hands of the Englishmen here, the circular reads :

"The offences to which the following remarks refer, and which have been established, beyond all doubt or dispute, against individual indigo planters may be reduced to the following heads.

"First. acts of violence which, although they amount not in the legal sense of the word to murder, have occasioned the death of natives".

"Second. The illegal detention of the natives in Confinement, specially in stocks, with a view to the recovery of balances alleged to be due from them, or for other Causes.

"Third. Assemblying in tumultuary manner the people attached to their respective factories, and others, and engaging in violent affrays with other indigo planters.

"Fourth. Illicit infliction of Punishments by means of rattan or otherwise on the cultivators or others."

Under such conditions there was no hope for Indian manufactures to remain prosperous. As the import of cotton goods from India into England had died out, the import of raw cotton had increased. The following figures will show the direction of the wind, and also explain whry Indian manufactures became extinct.

Cotton piece-goods imported into Britain from the East Indies.[1]

1814	1,266,608	Pieces.
1821	534,495	,,
1828	422,504	,,
1835	306,086	,,

British Cotton manufactures imported into India.

1814	818,208	yards.
1821	19,138,726	,,
1828	42,822,077	,,
1835	57,777,277	,,

1. R. Dutt. Eco. History of india—Vol. II. P. 109.

In later years of the British rule, the policy pursued has heen of a Constant increase in the imports of manufactured British goods in India, and once prosperous India was reduced only to the Status of supplier raw materials for the factories of Great Britain. It is only in the present century, after the first world war that any considerable industries have sprung up in India, but that under such circumstances of war over which Britain had no control.

III. *Agriculture*. "A land tax like that which now exists in India", wrote Col. Briggs in 1830, "professing to absorb the whole of the landlord's rents, was never known under any Government in Europe or Asia."

To-day virtually the only remaining source of national income in India is agriculture, and more than 85 P.C. depend for life on it. But the land tax is excessive and its working is oppressive. In Bengal during 1792–1822, the land tax was fixed at over 90% of the rental, and in northern India over 80 P.C. of the rental. In the earlier years of the British rule, the East India Company regarded India as a vast estate or plantation, and considered themselves entitled to all that the land could produce leaving barely enough to the tillers and the landed classes to keep them alive in ordinary years. First permanent Settlement in Bengal fixed the state-demand at 90% of the rental. But even then they were not prepared to extend the Permanent Settlement to other provinces. The rates of the Govt.'s share out of the rental varied from 90 p. c. to 83 p. c., then to 75 P. C., and then 66 P. C. In 1855, they came down to limit the state-demand to 50 p. c. However, this rule of limiting the-demand to 50 p. c. of the rental was extended to Southern India also in 1864.

" An incomc-tax of 50 p. c. on the profits of cultivation is a heavier assessment than is Known in any other country under a civilized government."

The rule of the East India Company terminated in 1858. The first generation of Viceroys was animated by a sincere desire to promote agricultural prosperity and to widen the sources of agricultural wealth in India. But the endeavours to make the nation progress weakened after that first generation of crown servants had passed away. The policy was changed, increase of Revenue and increase of expenditure on the administration became the engrossing objects with the rise of Imperialism.

The policy of Canning and Lawrence was finally given up in 1883. The

Half-Rental rule still remained in theory. But in practice it was outrageously violated. Commerce could not be taxed against the wish of the British manufacturers. The burden of the increasing expenditure fell on the poor agriculturist. Accordingly from 1871, a number of additional new taxes were assessed on the land. To-day the Govt. share even in that theoretical sense is above 60% of the rental. With every new settlement, there has been an arbitrary increase of the government demand. The cultivator has never been told why this increase.

The history of the Land Settlements in India has been one of broken pledges. After the Permanent Settlement of Bengal, Madras was promised a similar settlement, but it was given a Royatwari settlement and that also was not declared permanent. In Northern India Lord Wellesley pledged his government's faith to conclude a permanent settlement. Lord Minto and Lord Hastings pressed the Directors to redeem the pledge; but the Directors broke it.

" In India the state virtually interferes with the accumulation of wealth from the soil, intercepts the incomes and grains of the tillers, and generally adds to its land revenue demands at each recurring settlements, leaving the cultivator permanently Poor."

IV. *Public Debt : The Load of Slavery.* Excluding the liability for the British War loan, which remains suspended, the total regular interest-bearing debt on March 31, 1939, amounted to Rs. 1,158 crores, comprising sterling loan and Rilway Annuities Rs. 445 crorers, Rupee Loan and Treasury Bills Rs. 484 crores, and Unfunded debt (i. e. Cash certificates, Savings Bank Deposits, and Provident Funds) Rs. 229 crores.

Compared with this pre-war figure of total debt of 1185 crores (when the Government liability to repay the balances of Depreciation and Reserve funds of Railways, Posts and Telegraphs Etc. + certain other deposits which amounted to Rs. 27 crores on March 31,1939, be added up to the above total of 1158 crores), the total interest-bearing obligations of the Government of India on March 31, 1946 stood in the nieghbourhood of Rs. 18,95 crores.[1] It will be noted that this total of Rs. 1,895 crores of debt includes only the interest-bearing debts, leaving out considerable amounts which do not require interest to be paid.

1. The above figures are taken from the Indian Year Book 1945–46.

Such is the public debt of India. A proper appreciation of it requires that we analyse it in its coustituent parts. For analysing this several principles have been adopted,—e. g., distinguishing between productive and unproductive debts; or the classification of the debt according to the reasons which led to the incurment of each item; or according to the forms of the securities offered. For our purpose, following the method of the "Report on financial obligations between Great Britain and India" published on behalf of the A. I. Congress Working Committee (1931), we shall adopt a combination of the historical and the economic method. Thus the total debt should be analysed in two main groups : (1) the pre-Mutiny debt incurred by the East India Company, and passed on to the Government of India under the Crown, when the rule of the E. I. Company terminated in 1858 ; and (2) the debt incurred by the Government of India since India has been under the British Crown. Then in each division will be given also the specific reason for which the debt was incurred, in as mush as those reasons can be traced. Then we shall also be able to see the economic consequences of these debts.

Classification of Debts.

1. Broadly speaking the debts incurred by the East India Company were on account of :

(i) Compensation paid to the East India Company for their capital and assets; and for the payment of dividends on stock ;

(ii) The company's wars and annexations ;

(iii) Financial mis-management of the company :

(*a*) resulting in deficits in current administration, made good out of borrowed funds ;

(*b*) interest paid out of revenues to the guaranteed railway companies up to 1858 ; and

(iv) Administrative deficits of the British overseas possessions paid out of the Indian Exchequer.

2. The Debts incurred by the Government of of India since the transfer of power to the British Crown :

(i) Due to wars and Expeditions :

(*a*) Minor expeditions, such as to Tibet, Abyssinia, Chitral and China etc.

(*b*) Second Afghan War (1878–79);

(*c*) Conquest and administration of Burma (1886–7);

(*d*) The Extraordinary charges of the European War (1914–18);

(*e*) Contributions to the European Wars ;

(*f*) Ordinary deficits caused on account of the European War ;

(*g*) Extraordinary military and political charges in connection with the European war borne by India.

(ii) (*a*) Political burdens, such as maintenance of British embassies and consulates at India's expense, in Afghanistan, Persia, etc.

(*b*) payments of political subsidies to Afghanistan, Nepal, ete. out of Indian Revenues.

3. Then there are debts due to complexity of Rupee-Sterling Exchange.

4. Debts due to ordinary financial deficits.

5. Debts due to the so-called productive works :

Railways, Irrigation works, Telegraph and Telephone Services, and other public works.

6. Debt due to famine Relief.

These items mentioned here have formed the so-called public debt of India.

It is a simple matter to understand that if the debt incurred under any of these items had not been taken, the aggregate now standing would have been smaller by that amount. It is, therefore, now necessary to examine, to what extent these debts were justly incurred for the benefit of India, whether Indian people had any voice in these borrowings, and finally if it is just to charge the poor Indian tax-payer for the cost of the heavy golden chain purchased *specifically* to bind him therewith.

Taking first the legacy of the debt left by the East India Company the first Finance Member of the Government of India, Mr. James Wilson in his

budget speach represented the debt at £ 97·85 millions. This however must be taken as the net figure of the obligations left by the East India Company. But this cannot be said to be a very accurate figure, because it did not include (1) the amounts paid out of the current revenue towards liquidation of existing debt or avoidance of new debt ; (2) the amounts payable under the Government of India Act, of 1833-1858, to the East India Company for the redemption of its capital stock, lasting up to 1874, and totalling about £ 14½ millions since 1858 ; (3) the cost of suppressing the rising of 1857, estimated by Wilson himself to be £ 38·41 millions. If we total up these figures the real debt left by the East India Company amounts to :

	in Million £.
Net volume of Debt taken over from the Company	.... 97.85.
Redemption of the Company's stock, and payment of dividend up to 1874 ...	.... 14·50.
Cost of suppressing the Mutiny of 1857. ...	.... 38·41.
Total	£ 150. 76 millions

Even these figures are also not an exact description of the debt incurred, because other authorities give some what varying figures. Still for our purpose of arguing the justice of these items, the round figure of £ 150 millions may be treated as fairly accurate.[1]

Considered from the point of the fairness of these liabilities, not one of these items could justly be charged to India. The reasons are simple.

(1) The Company's commercial debt could not be charged to the people of India, firstly because the nominal capital stock was made up, not so much by actual contributions received from shareholders, but big inflated dividends paid out of borrowed money. This abuse of paying dividends from borrowed money had become chronic, so much that Parliament passed a Law in 1767, to restrict such dividends. Secondly the commercial assets of the company were not kept apart, even after 1833, when its commercial existence was terminated. And whatever they stood then, they were immensely over-valued.

1. A fuller treatment of this is to be found in the Congress Report (1931) on "Our financial obligations between Great Britain and India."—

(2) The company's activities benefited England and not India. The Company's monopoly of trade with the East Indies brought every conceivable gain to the people of England, it was mainly responsible for the growth of an Overseas Empire for Britain ; whereas exploitation of India was not inconsiderable. If no assets were left by the East India Company when it was wound up, but instead a heavy burden of debt, there can be no doubt that it was due to the utter mismanagement. If, however, even for the sake of argument, any compensation should have been paid to the East India Company as a prize for its loot and rapine in India, for its utter financial inefficiency, for the heavy costs incurred in Snbjugating a foreign people, it should then have been paid by Britain and not by India. Therefore, the compensation debt of nearly £ 15 millions should have no place in the Indian Debt.

The war debt incurred during the regime of the East India company represents only the cost of extra-Indian wars, which were waged for reasons of British policy outside the frontiers of India. That however does not show that the wars on Indian soil waged from 1743 to 1850 had caused no deficits. But we can leave them out of account, because the cost was always over-paid by the amount of extortions from the vanquished. The exclusively non-Indian wars waged in Java, Burma, Afghanistan, Persia, Egypt, China etc. had no connection with the requirements of Indian defence. They were exclusively at the dictates of British Policy. As early as 1808, the E. I. company had asserted their right to an aid from British public for debts incurred "in prosecution of interests of purely British origin, and not fairly chargeable to India."

As regards the cost of suppressing the rising of 1857, it was in the interest of Britain to keep India and to suppress those disorders. The cost must be charged to the British Exchequer. It is an intrinsic injustice to charge the cost of winning the Mutiny from the Indian people. This injustice has been further aggravated by adding up even the cost of transport of the troops who came from England to suppress the rising. These 38 millions were only the net addition to the older debt of India, the actual cost must have been much larger.

Public Debt after 1858.

Under the act of 1858, it was clearly laid down that the revenues of India were not to be available for purposes of trans-frontier wars and expeditions except with the consent of Parliament. If the Parliament has not refused its consent in each case, it only shows the manner in which it has discharged its duty towards the welfare of the people of India. But the plain fact remains that all this huge amount of debt, due to wars and imperial policies, has not been incurred for the benefit of India, nor have the wars given any advantage to India. These have been forced upon her by the exigencies of the British policy. The burden in equity should not be charged to India.

Aggregate burden of Extra Indian wars before 1914 :-

Cost of	Crores of Rupees.[1]
Second Afghan War	18
Third Burmese War	3
Minor expedition and frontier wars	9
Total	30 crores[1].

This is only a modest estimate based on the figures of Welby Commission. To this must be added the deficits paid for the Burmese administration since its annexation = 100 crores.

The burden caused by the world war of 1914-18, has been extraordinarliy heavy. Some idea will be formed from the figures below :[1]

		Rupees in crores.
(1)	Special war contribution of £ 126 millions made in March and Sept. of 1918, equivalent to, (Then prevalent rate of rupee = 1 s. 4 d.)	189
(2)	Increased military and political charges, on account of the war, upon Indian budget, counting only the excess over normal	150
(3)	Increase in Civil Expenditure directly due to exigencies of the war.	25
	Total	364

1. The figures given here are from "India Analysed." Vol. III. pp. 147-8.

The contribution made to the war of £ 126 millions was entirely illegal. Under the Government of India Act 1858, and again reproduced in the Government of India Act of 1915, Indian revenues could not be employed for extra-frontier wars, much less for the Imperialist war of Britain. But then the way of tyrants are never strange. These costs were defrayed out of borrowed money. It takes no account of other heavy sacrifices borne by India in men and material.

Second category of charges—the debts incurred for the embassies and consulates maintained outside India, particularly in Afghanistan, Nepal and other neighbouring countries—which according to Welby Commission's compilation amounted to Rs. 71·45 Crores up to 1896, it is enough to say that they only served the ends of British foreign policy. Besides the embassy, the Afghan Government was paid a subsidy of about 6 crores of rupees up to 1918. This was given only to off-set the Russian scare.

Then comes the heaviest and most mischievously imposed burden due to the intricacies of the Exchange policy. This story of the losses rusulting to Indian trade, and her entire economic being, from the exchange policy, being pursued from 1893 onwards, is too sad and too long a reading to be dealt here in a short space. The injury wrought is exceedingly grievous. The exchange policy alone is responsible for heavy debts.[2]

The debt on account of the railways and other communications in India is officially treated as productive and a self-supporting debt. There is however much fiction in all that. The terms of guarantee to the original railway companies were very onerous to the Indian people. The return on capital being guaranteed, there was no incentive for economy in construction, equipment and maintenance.

Therefore, it is apparent, that a fairly large proportion of so-called public Debt of India is unjustly placed on her. There must be an impartial tribunal to determine the just obligations chargeable on India. India true to her great traditions will then pay every pie, as her leader Mahatma Gandhi did announce at the R. T. conference that India would pay all just debts with the last drop of her blood.

1. The above figures are from "India Analysed." Vol. III. p. 149.
2. For details see "Currency and prices in India"—C. N. Vakil.

EVOLUTION OF NATIONAL EDUCATION

By Dr. B. Pattabhi Sitaramayya.

WHEN the British came out victorious in the first War of Indian Independence commonly known as the Great Indian Mutiny of 1857, they did not multiply their forts, augment their forces or increase their arms, but started the three Universities of Madras, Bombay and Calcutta, recruited graduates through their portals and armed them with pens and pencils. Thus were new forts, new forces and new armoury brought into being in 1858. The alumni questioned their masters as to the next step. The British Government abolished the *Suder-i-Adalt* and established the High Courts in 1861 with English Law of Evidence, Mortgages and Torts, English ideas of Transfer of Property, Contracts and Jurisprudence. The graduates practised in courts from 1861, made pots of money; but their souls,—such as thay had, craved for something more sublime and less filthy then mere lucre. The masters then pointed to the Legislatures started in 1860, where the oratory of lawyers, both forensic and political could and even should play, not merely a notable, but a noble part in the service of their motherland. The graduate who became a lawyer, now became a Legislator and undertook to fight the battles of the motherland, in the forum of courts and councils. In due time they were absorbed as High Court Judges, District Judges, Presidency Magistrates and first class subordinate Judges, finally as Public Prosecutors and Government servants. They spoke English and wrote English, they taught and argued through English, they addressed vast illiterate audiences through English, they wore fantastic looking gowns and hoods, they entered government service and drew fat salaries and enjoyed powers by which they could hang a brother and arrest a wife. They were eligible for pensions and aspired to end their lives bedecked with the titles conferred by the English. Thus came into being an English-educated aristocracy, a 'Second to seventh lines of reserve' to protect the British Government against the onslaughts of extremist politicians who came into being in spite of the tardiness of the movements characterizing the age. So entrenched

the British Government achieved a moral and mental conquest. That was why Gandhi ordered a general boycott of courts, colleges and councils,—the three institutions that were carved out soon after the mutiny so as to buttress up the crumbling walls of a shaken up edifice and with them boycott of foreign cloth.

Sixty years after this development the vision came to the Indian leaders like Bipin Chandra Pal, Aravind a Ghosh, Gurudas Banerjee, Mrs. Besant, and Gandhi that the chains of India's slavery were forged by herself and that her emancipation lay in breaking the bars behind which she was caged. So came the slogans of Swadeshi, boycott and national education in 1906 to hasten the advent of Swaraj, which however was diluted in 1908 by the Allahabad Convention into Colonial Self-government. But within a decade this changed its shape and name into Home Rule in 1917, Swaraj into 1921 and complete independenee in 1929. All these years the banner of boycott and national education was kept flying until help came from time in order to carry it forward in relays to its destined goal. Today we have full provincial autonomy and an Interim Government as the precursor of a national Government to be established by a constitution framed on Indian soil for the Indian people by Indian hands. All these years, the national institutions,—and amongst them, the Kashi Vidyapeeth as the most notable one,—have survived the onslaughts of time and circumstance, the repression of Government, the apathy of the people and the alternate waning and waxing of their interest in Educational Institutions,—conducting their work apart from,—but not in opposition to, government or semi-governmental institutions. The object was to promote education directed towards the realization of national destiny and to discredit the system of regimented education which converted the schools into *Gulam Khanas*, even as the time honoured system of administration of justice converted the Law Courts into gambling houses.

Today we are on the eve of great changes, indeed, at the very threshold of Independence and our problem is how best to reorganize Indian Education so as to link it to the needs of the nation, not to make it subserve the needs of Imperialism. To this end we must have a clear conception of our objective, of the content of our Swaraj. It is admitted on all hands you can have real

Swaraj true to the adjective as well as the noun,—when every citizen is guaranteed food and raiment, shelter, education and treatment. In other words the Swaraj is of the poor man, not merely for the rich man, it is for the tiller, so that he who sows the seed and bundles the sheaf, he who sweats and labours, toils and moils, may own this ancient land as much as any other. Indeed our object is to see that every man works for his needs and gets good things of the world in strict proportion to them. That must ensure employment to all. But, it is often said that employment to all is not an end in itself, and that leisure is more to be aimed at through a system of state socialism. Leisure however is not an end in itself nor can population be broken up into two section, one, told off to labour and the other enjoying leisure. Labour must abound in leisure as much as leisure must be attended with labour. In other words our objective will have been achieved when we have provided work to all without worry and rest to all without idleness. It is only when production is spread over the whole country that such an end can be realized. It means a general self-sufficiency of the village achieved through a restoration of the dead and dying cottage industries which once made the civilization of India and produced its wealth. If through the school and the college we can rehabilitate these home crafts, we shall be spreading culture far and wide, distributing wealth equitably and be making the poor less poor and the rich less rich. A system of education so devised as to bring about such healthy and happy results deserves to be striven for, elaborated and implemented.

This does not mean that sciences—pure and applied—should take a back place. Engineering is the secret of modern civilization and we cannot afford to neglect its study in its multiple aspects—Radio, Electrical, Mechanical, Metallurgical, Chemical, Civil, Marine and Military. Machinery is the concrete expression of engineering in steel and iron and no one can afford to belittle its value in the Economy of Modern Life. In particular the study of chemistry and geology will absorb most of the attention of governments and scholars in future. There are hundreds, nay thousands of chemicals—produced from ores or synthetically manufactured which must be made in our own country, now that we are on the point of establishing Independence. Independence in politics is incompatible with dependence in supplies. A new era must therefore open in scien-

ces which must be taught through the medium of regional language as at Daurala where a fine and successful experiment in teaching advanced chemical analysis, inorganic and organic and in higher mathematics is being made. Daurala is 9 miles from Meerut and there middle pass course students are being thus trained. The absence of originality in the country is due to the adoption of a foreign language as the medium of instruction. What we want is colleges that manufacture manufacturers.

Then again when the Britith quit India, so will the missionaries who have been supporting a variety of philanthropic socio-educational institutions. The time has come when we must take charge of the orphanages, Leper asylums, criminal settlements, old age homes, deaf and dumb schools, widows and rescue homes and homes for waifs and strays. This requires a knowledge of penology. psychology—abult and child—sociology and other allied sciences. We must open colleges for the promotion of such education, for the production of men who will serve the country. Equally urgent is the starting of colleges for the teaching of diplomatic subjects including international history, Law and Constitutions.

There remains the question whether our national colleges must continue to be unattached. Really is it not the universities that must toe the line with our independent institutions and take over the pioneer work they have been doing ? When the provinces are enjoying autonomy and the centre is national in outlook, it is time that the Educational Departments made our experiments their systems, our pioneer attempts their expert studies. We need not hesitate to seek recognition for that way we shall be "educating our masters". Education must still continne to be national conducted on national lines nnd designed to achieve national ends, but the days of struggle and protest are over though the days of stress and strain are still ahead.

RECONSTRUCTION OF UNIVERSITY EDUCATION IN INDIA

By Prof. Kali Prasad

HIGHER education in India may be said to begin with the foundation of three Universities in the Presidency Towns of Calcutta, Bombay and Madras in 1857. For a long time these three universities alone catered for the needs of the country until 15 other universities came into existence. These universities were modelled in the beginning on the original conception of the University of London Their main function was to conduct examinations for a number of affiliated, though independent colleges. In more recent years a different type of university has been introduced. This is the unitary, residential university established in our Provinces and at Delhi.

It will be obvious that ever since their foundation about 90 years ago, university education has not made much progress in this country. If the total number of students is calculated in relation to the total population it will be found that India is perhaps the most backward of all the principal nations of the world in university education. In pre-war Germany the population of students in the universities to the entire population was 1 : 690; in Great Britain 1 : 857; in U. S. A., 1 : 225; in Russia 1 : 300, while in India it is less than 1 : 2717. There are 12 universities in England for a population of 8½ millions, in Australia 6 for a population of 5½ millions. In U. S. A. there are 1720 institutions of university type for a population of 130 millions, while in India there are only 18 universities for a population of 400 millions. The complete inadequacy of the number of the universities and other institutions offering facilities for higher education will be evident and does not require any comment. In planning reconstruction of university education, we shall have to have at least 30 times more of universities than we have at present if we followed the British proportion, and perhaps 300 times more if we adopted the U. S. A. scales. But the multiplication of universities alone will not solve the problem; growth of the universities will

depend obviously on expansion in the lower stages i. e. on sound selective process in secondary stages of education.

IDEAL OF UNIVERSITY EDUCATION.

The universities founded under the auspices of the British Government have had a very narrow utilitarian aim which they have perhaps fulfilled in a great measure. As is well-known, university education (like the whole educational system) in this conntry was introduced and stimulated by, what might be called, 'The Macaulay-point-of-view'. That is, they have functioned as manufatories for the production of men equipped only for purposes of civil employment in goverenment and for carrying on the bureaucratic machinery in its daily routine. In this sense Macaulay has triumphed to a remarkable degree. The average university graduate (no less than the school product) has never had the ideals of freedom or national service ; he has developed under the cramping atmosphere of degrading imitation of foreign standards and ways of life. He has to spend years in learning a language which is alien to his own genius and his traditions, and which never enables him to acquire facility in self-expression and spontaneous development of thought and emotion. The standards of scholarship have not been very high with the result that Indian students who have graduated at European or American universities are often considered superior to those who have obtained the highest degrees from Indian universities. This would be inevitable as long as the universities are patterned after British universities without their traditions and backgrounds and without their resources. Any reform of education in this country must, therefore, include, the remodelling of the universities in a manner such as to make them true representative of Indian traditions and culture. Our universities must have their moorings in *Our own historical, social and cultural milieu.* It is only then that they will fulfil the true function of the university. For, 'university aims at raising the intellectual tone of the society, at purifying the national taste ; at supplying the true principles of popular aspirations, at giving enlargement and sobriety to the ideas of the age ; at facilitating the exercise of political power and refining the intercourse of private life'. It is obvious that the present universities fall far short of these ideals which cannot be achieved without a *complete change of point of view.* It is, therefore, most important that

the further development of University education should be based on radical transformation of the objectives that have so far determined its nature and function.

The University must develop a *National and dynamic point of view*[1]. At a time when new forces and new cultural forms have been introduced into the political, economic and social life of the country, a great deal of searching and thought would be necessary if we are to avoid confusion and error. We have specially to guard against two views which suggest themselves on account of their elusive simplicity viz ; (1) Stubborn conservatism with its appeal to orthodoxy, and (2) unreflective borrowing from foreign culture-patterns. Both these courses are reactionary, for just as the one seeks vainly to hold on to systems which are crumbling under their own weight, the other attempts at hectic collection of materials characterised by irrelevance. We are passing through both these processes and are now entering the third phase in which *conscious adaptation* and *creative adjustment* must play their part. The university alone can be the main mechanism of this *creative synthesis*. A critical analysis and organisation of ideas are indispensable for developing a dynamic view of science and knowledge, and a university as a society of men interested in this pursuit is an ideal institution for this purpose. But this implies complete *academic freedom* as a corollary. Wherever this freedom has been given, universities have made valuable contribution to life and culture and have fulfilled their mission ; but where it has been denied they have degenerated into seminaries of vicious intellectual occupation. Much of the criticism of modern universities ignores this fundamental limitation viz., the absence of academic freedom. It is obvious that their view-point cannot be national without this freedom. Now, academic freedom does not consist only in the liberty to express one's intellectual convictions but also in guiding one's conduct in accordance with those convictions. The University must, therefore, be left to develop spontaneously in its own way, without encroachment on its freedom by governmental machinery or ambitious politicians. This kind of freedom is found in very few coun-

1. We need not be reminded, at this stage, of the dangers of emphasis on nationalism; for we believe that a really international outlook is possible only after the development of *true* nationalism.

tries today, but, if the democratic ideal is to be realised, it must necessarily be won for the University.

Given this freedom, the immediate aim of the University may be briefly indicated as (i) independent investigation and research, and (ii) teaching, 'Both research and teaching are in the last analysis indistinguishable activities and both develop character. For, the discipline of conscientious teaching and application to learning cannot but make men better. And, the discipline of research helps one to discover that method, mental retentiveness, quickness of apprehension, and skill in argument are of less moment than selflessness, humility, sincerity and balance of judgment. Here, without knowing it, one grows in honesty, generosity and love of truth—or fails as a scholar.' The two aims may be combined if we say that the function of university is the imaginative acquisition and sharing of knowledge, that is, research in the sense of cultivation and creation of the spirit of discovery. The justification for a university is that it preserves the connection between knowledge and 'the zest of life', by uniting the young and the old in the imaginative consideration of learning. Research is not a luxury as is sometimes thought by those who do not know ; it is the vital breath of university life. But research is not to be confused with mechanical accumulation of masses of data and their publication in imposing volumes, nor is it 'scissor-and-paste' work which is better designated as plagiarised trash rather than a contribution to knowledge. And, research on sordid trivialities like 'A time and motion comparison of four methods of Dish-washing' or on the 'determination of the bacterial content of under-shirts' described by Flexner, is an utter travesty of knowledge. Again, publication is not essential for research. There is an unfortunate tendency to encourage printing howsoever trivial the material. But some of the more brilliant products in any university never publish. Their genius finds other vehicles of expression such as lectures and verbal talk. Research, then, in the proper sense of the word is the primary function of a university.

CO-ORDINATION.

The co-ordination of teaching and research in the various universities of the country will be an important necessity. For this purpose, there already exists the machinery of Inter-University Board. Unfortunately, the Board has no

statutory powers and has consequently failed to serve the purpose for which it was formed. When its recommendations come up for consideration before the various university bodies they are usually 'recorded.' In future expansion of universities the Board must be given powers which may be exercised for securing uniformity in standards of teaching and examinations and arranging for exchange of pupils and teachers at various universities, and, in general, creating facilities for them. As the Board is constituted at present, it meets annually and passes resolution which it has no authority to enforce. It is pathetic to see how from education and university curricula, it is now arranging swimming competitions and tennis tournaments between various universities on a zonal scheme !

TEACHING IN THE MOTHER TONGUE.

Any reconstruction of university education must take into consideration the problem of teaching in the pupils' mother tongue. It is common knowledge that education has not progressed in this country because the medium of instruction is unsuitable. This is not to be complicated by a political or pseudo-religious issue. From a purely educational point of view it is imperative that we took to our own language as early as possible. This would be Hindustani (in both scripts) and at the university stages all subjects should be taught in it. Along with this a foreign language, preferably English, should be compulsory. The fear that there will not be suitable text-books cannot be overcome until we make a bold start as has already been done at the secondary stages of education and at our own University at Lucknow.

CHANGE OF SYLLABUS.

The syllabus and curricula as they obtain at present need radical overhauling. Most of these were patterned after their British model about half a century ago. Since then, important changes have occurred and there is no reason why the age-old classifications of subjects and their grouping should not be changed and improved. For instance, with the advent of the three year course for the Degree examination the old grouping and their number will have to be modified. The rigid division between a science and arts course must lose its sharpness. The frontiers of science and arts have at no time been closer than they are now, and there are borderlands which demand attention equally from both. A University course for the first Degree must be so organised that it

would make a student alert, public-spirited, 'receptive to beauty and humane feeling' and responsive to his immediate environment. Cultivation of good taste, fellowship and a sense of dignity and discipline and a feeling of pride in the traditions and cultural heritage of his country—these must be infused in the young. This may be achieved by enlarging the scope of University courses in such a manner as to provide for true *cultural education*. The narrow utilitarian aim of civil employment or professional career must be subordinated to humanistic ideals of refinement and culture. Too much emphasis on the development of scientific technology and professionalism divorced from ultimate human values has already led to the abnormal tensions and conflicts, streases and competitions of the modern world. If these are to be overcome, the university must train the intellect and refine the emotions and inculcate the *new* 'cardinal virtues' of integrity, courage, balance and intellectual and aesthetic attitudes. Syllabuses must be designed with this aim All graduates, for instance, may go through a course which requires a fair knowledge of the following : *Science of nature* including the general principles of physical sciences and cosmology; *science of life* including the general principles of biological development, organic growth and evolutionary processes ; *science of man* including general principles of anthropology ; social and economic history and political movements ; *science of mind* including principles of psychological development, philosophy, and moral sciences. A student must learn to see beyond individual details of daily life, the higher and ultimate human values and to take a hand in shaping human destiny under the inspiration of these ideals. The University should arouse in him enthusiasm for the *vital ideas of his age* and help him to create a new order worthy of his own traditions and culture.

After experimenting with various types, we have no doubt that the unitary and residential university is most suitable for this country. Two objections are taken to this : First, that by requiring residenee in the University (the University city), the pupil is taken away from the moorings of his native environment and is prevented from benefiting by parental influencc. The latter argument does not hold, for it is only after the pupil has already been at home upto almost adult age that he comes to the University, and in many cases it is doubtful if he has benefited at all by his stay in his home-environ-

ment. And, the former objection loses point when it is remembered that a University must be organised as close to the socio-economic level of the student as possible. In this case there would hardly to be much of a hiatus between the two.

The second objection is based on financial grounds. It is true that residential universities are more expensive than the affiliating type. But the educational and cultural value of the former is so great that no expense is too much to incur for the proper education of the youth of the country. Besides, it is true that our present resources are limited, but it is also true that potential wealth is almost unlimited. With the advent of freedom, the country is bound to make tremendous advance in industry and commerce, and acquire a place of the highest importance and influence among the countries of the world. We cannot bind the future by the present, and university reconstruction must be planned with an eye to the future no less (indeed more) than to the present. In the glorious history of our ancient civilisation, we find numerous precedents for the residential type of university. Nalanda, Taxila, Valabhi and Vikramshila suggest themselves at once. It is to the work of these universities that we owe most of what is left to us of our science, history and culture. And, if we want to re-capture our intellectual leadership we shall have to adopt (with necessary adjustments) the most tried and efficient system of university education in India.

Proper University education will equip our youngmen not only with the technique of economic and social engineering but will endow them a vision and understanding and sympathy without which no country can flourish.

INDIAN UNIVERSITIES: THEIR PAST AND FUTURE

By N. K. Sidhanta

IN speaking about the past of Indian Universities I have to make it quite clear at the beginning that I do not propose to go beyond the period of British domination and have therefore to confine my remarks to institutions which have been designated as universities during the last hundred years. This, I know, is wrong and a survey of the higher centres of learning in India which does not examine education in the Brahminical, Buddhist and Mohammedan periods is, to say the least, incomplete. But I have deliberartely limited myself to the institutions which have grown up since 1850.

The Despateh of the Court of Directors in 1854 postulated the establishment of Universities at Calcutta & Bombay, with a proviso for one at Madras and others in the parts of country where the necessity for higher education was felt. The three Universities which were brought into being in 1857 were said to be on the model of the London University but this description is somewhat misleading, All that is implied in this description is that the Universities were purely examining bodies, conferring degrees on the results of the examinations, while the colleges where instruction was imparted were recognised or affiliated by the Universities. The courses & curricula which were framed by the Universities followed the principles laid down in Macaulay's famous Minute of 1835 that western learning was to be imparted through the medium of English.

When new Universities were established in the Punjab and at Allahabad, the former in 1882 and the latter in 1887, they followed exactly the same lines as the first three universities and the report of the University Commission of 1902 did not contemplate far-reaching changes in the nature & function of Indian Universities. It was not till 1916 that the universities assumed any teaching functions; the Benares and Mysore Univeristies which were established that year were intended to be teaching institutions, taking up the work which had so far been done in colleges and developing it for the promotion of original

research and contribution to knowledge. More substantial work in this direction was done about the same time by the Calcutta University through a reorganisation of its post-graduate studies and recruiting of a competent staff of University Professors and Lecturers.

We have to-day twenty universities incorporated by legislative authority in India only three of which are purely affiliating and examining bodies. They function through the University officers (Chancellor, Vice-Chancellor, Registrar etc.) and administrative bodies like the Senate, Syndicate, Faculties and Boards of Studies. Some of the others combine affiliating and teaching functions : Calcutta, for example, has its college of Science and its post-graduate school; Bombay has its Departments of Chemical Technology and Economics, Nagpur has a strong Department of applied science, The Punjab has chairs of History, Economics, Chemistry and other sciences. Some like Lucknow, Allahabad and Dacca are unitary bodies with no powers of affiliating colleges : instruction is imparted at one centre and the different Faculties function like the old colleges.

The variety of University education in India is not confined purely to this element : they differ again in the initial equipment of the students entering on a University course. In the three unitary universities mentioned above the minimum qualification for a prospective undergraduate is the possession of a certificate of having passed the Intermediate examination while in most of the other universities it is the Matriculation or High School examination which is taken two years earlier. The students have in consequence to follow a University course of two years or of four years before they can proceed to the first Degree. Delhi University is in a class by itself in having a three years' Pass Degree course after an examination which is half-way between the High School and the Intermediate.

There is again considerable divergence in the *per capita* expenses of the students in the different Universities. In the unitary Universities it is much higher than in the affiliating ones while among the latter again some are definitely cheaper than others. In this connection it has to be noted that the Indian Universities are dependent on students' fees in a way that few centres of educetion in other countries are. Of the total expenditure on Indian Universities 48

per cent comes from fees, 39 percent from public funds and 13 from endowments and private benefactions. These last figures are particularly disappointing when compared with those of western countries and if we exclude those of a few individuals llke Palit and Ghosh to Calcutta or Luxmi Narayan to Nagpur or Annamalai Chetty to Chidambaram we would have very little to show.

The residential nature of some Universities is more pronounced than in others. Some only have a small proportion of the total number living in Hostels or Halls while others have a much bigger quota. In some Tutorial or Seminar work is fully organised in the Halls, in others they are confined to the Faculties or non-existent. In this connection one may refer to a remark which is commonly made that the unitary Universities were modelled on the English mediaeval Universities like Oxford and Cambridge, a remark, which is not quite correct. Oxford and Cambridge are federal rather than unitary bodies as the colleges are not only self-contained units of residence but they are also units of teaching. University instruction at these old Universities is supplementary to what is imparted in the colleges, these latter being regarded as the more vital. Allahabad and Lucknow may be said to be modelled on English provincial Universities like Manchester and Leeds, resembling the latter in their democratic constitution, parochial filiations and unitary character.

But whatever the models of Indian Universities might have been, they have not so far been able to justify their existence to the fullest extent. Critics of these institutions note their overcrowding leading to wastage and stagnation, the unemployment among their products due to defective training and the absence of genuine research-workers among the teachers and students. The overcrowding is evident even on a casual glance at figures : at the first Matriculation examinations held by the Universities only 219 candidates were successful; in 1882 the number rose to 2778 while in 1937 it was 74,901. This rapid increase in numbers has led some to think of restriction of numbers in the Universities as, in their opinion, we have too many Universities and too many students in these. But if we take the number of University students in relation to the total population we shall find that India is behind the principal nations of the world and even of the colonies of the

British Empire. From the figures of 1939 we see that in the United States of America one in 225 proceed to the Universities, 1 in 300 in Russia, one in 690 in Germany, one in 880 in Great Britain, one in 510 in France and one in 650 in Australia, while in India the proportion is one to 2200. Canada had 20 Universities for a population of 11 millions, Australia had 6 Universities for its seven millions, South Africa 5 Universities for its white population of two millions while India 18 for its 370 millions. Thus we are not justified in saying that there are too many students at the Indian Universities but we can legitimately assert that the number is too large in proportion to those who can read and write. The remedy for this is obviously not to reduce the former but to increase the latter.

The wastage in Indian Universities may be illustrated from the number of students unsuccessful at their public examinations. In 1941, for example, about 20,000 applied for the B.A. & B.Sc. examinations and only about 11,000 passed, which leads one to endorse the comment of the Central Advisory Board of Education : "Probably nowhere among the Universities of the world is there so large a proportion of failures in examinations as in Indian Universities. Apart from the waste of time and money on the part of all concerned the social effects of so much disappointment cannot be other than deplorable." These failures lead to stagnation in this that ill-equipped students who are overage continue as University students and serve as a drag on their teachers and fellow-students. Efficient instruction is difficult and opportunities for broadening and deepening the national culture are few. This resulted in the University products being unable to make their mark in later life,—in many cases, even unable to earn a proper livelihood. Just at present, thanks to the Great War, very few University graduates are unemployed; but conditions were different in 1939 when very few of them could be suitably employed. They had to drift into clerkships or the legal profession with no interest in their work and with practically no incentive to work because of the inadequate emoluments. To some extent this state of things was due to the undeveloped condition of Indian industries and to the lack of avenues of employment for the intelligent educated young men. But it was at least partly due to the defective equipment of these men which in its turn was the result of the poor quality of the education imparted in the Universities.

Finally the quality and the amount of research-work that has emanated from the Indian Universities during the last eighty years do not redound to their credit. The first fifty or sixty years might be described as a blank; the last twentyfive years have certainly been more productive. Even then very few of the University publications can be said to be a genuine contribution to knowledge: they are mostly research made to order with a doctorate as the objective. This deficiency is specially noticeable in the spheres of Indian languages and literatures as also of classical oriental literature. Nowhere else in the world are there the opportunities that our Universities have for original work in these: yet the work produced is often not properly documented and lacking in critical acumen. More has been done with Indian History and Indian Philosopy; but even here one cannot rest satisfied with what has been accomplished: one feels that intensive study and balanced judgment are not as much in evidence as they should be in academic productions.

What about the future? Only on one point we can be certain of is that ten years hence the Universities will have many more students on their rolls than they have to-day. With the introduction of compulsory basic education and the selection of, say one in five, for secondary education we can foresee many more aspirants for University education. At persent the the majority of Matriculates desire to continue their studies: the number actually proceeding to the Intermediate classes exceed 60 percent. This is extremely undesirable and the actual percentage should not be more then ten. This can be ensured only when the country is more industrialised and the majority of our Matriculates can be diverted to channels of Technical enducation or specific vocations. Even when this is ensured the numbers in the Universities will be at least double the present ones.

The University administrators will then have to see that only the students who are most likely to benefit from a University education are admitted and the teachers are intellectually the best available people. To achieve the first end the system of examinations will have to be radically altered. We cannot yet think of the complete elimination of public examination by school records and psychological tests, for the former may not be absolutely impartial and the latter have not been definitely standardized. The Committee which had

been set up by the English Board of Education in 1941 did not find the immediate abolition of School Certificate examinations practicable. We in this country with worse organised schools and ill-paid staffs cannot depend to the same extent on school records and the psychiatrist has yet to acclimatize himself in India. What we should aim at is a better type of University Entrance examination which will discover promise rather than attainment. This may be possible through what is called a subject examinatlon ; that is "an examination in which pupils would take whatever subjects they wished without restriction as to minimum number of subjects or groups of subjects ; a certificate recording the performance of the pupil in each subject expressed in grades, as for example, excellent, good, satisfactory, wake should be granted to each pupil.

The choice of the right type of students is difficult; but the selection of the proper University teachers is even more so. Intellectually they should be the cream of the nation, those who are best fitted to stimulate the minds of youngmen, to develop a critical faculty in them, to promote an objective interest in their subjects of study. University lectures must cease to be mere purveying of information or summaries of printed works : the "spoon-feeding" for public examinations must disappear and the lecturer should be able to attract students to his classes without the aid of compulsive regulations and threats of preventing students from appearing at Degree examinations on account of irregular attendance. The teacher who is adding to the store-house of knowledge through his researches is undoubtedly better equipped to purvey knowledge than one borrowing from others. But something more is necessary. the capacity for communicating knowledge in an attractive fashion is not easily acquired. Not only should the knowledge be worth transmission : the presentation must have a human element lacking in books which may be studied in libraries with profit.

Thanks to the premium put on research in recent years the Universities have collected a number of pseudo-researchers who have to be distinguished from the real workers. We are familiar with the dogged young men who having failed to get through any service examination take to research as a last resort. They work for three years perhaps on "Marriage-rituals of the dumb-mutes in Paharistan" or "Administration of local board dispensaries in Dravidi-

stan" and emerge as Doctors of Phiolsophy to have prior claim on the next teaching post in the University. Once settled in their post they forget the necessity of learning or contributing to knowledge, whereas the real worker snatches whatever leisure he can to devote to the problem engrossing all his attention and energies, one might say his whole being. The University must leave him the time and tranquil atmosphere necessary for his work and may only want a periodic report of the progress of his investigation. A democratic constitution is not always conducive to advanced work; Committees and Councils take up a lot of time, but they cannot be neglected as, otherwise the University is administered by people with little appreciation of acdemic activities. One frequently hears complaints in the University Council of the light work done by teachers and insistence on a minimum of 18 or 20 hours of teaching. The teacher contends that his time is wholly taken up with these lectures, preparation for them and correction of the written work of students. All this has to be changed; the work of the University has got to be judged by a criteria different from those applicable to industrial factories and it is to be hoped that the leaders of the nation will understand the real function of the Universities of the future.

I shall not labour on the handicap of the foreign medium of instruction in our Universities as that is bound to be replaced by the mother-tongue in the course of the next few years, but I must emphasise this change must be accompanied by an enriching of the literature in the Indian languages and the development of *a lingua Indica.* A danger to which Indian Universities have been exposed in recent years is that of inbreeding,—a university employing as teachers only its own products. The narrow parochialism associated with regional Universities has been intensified by this inbreeding and I hope that in the Universities of the future there will be free flow of students and teachers from one part of India to another which will be impossible without a common medium of instruction for the highest classes of the University. We require not only an exchange of students and teachers but close intellectual links between the different provinces working through the Universities which must rise above parochialism to their proper heights and be a vitalising force for the citizens of a new and re-born India.

CONGRATULATION TO KASHI VIDYAPITHA

By Dr. Bhupendra Nath Dutta.

"AGNI is the purohita of Jagna and is a Stirring one ; Agni is the invoker of the gods and carrier of much wealth ; I pray to Agni." (Rigveda I. 1. 1.).

With this invocation begins the first Rik of the Rig-Veda the fountain head of Indian culture and polity. In the primordial days, the Aryas living in the Sapta-Sindhava valley praised Agni as the giver of light. To-day, the downtrodden Aryas of India pray for light and more light. The dialectic of the Indian history brought the Aryas in such a mental darkness, due to incessant foreign inroads and exploitation that have resulted in blurring their vision. This brought intellectual torpor and darkness in their life all around. Due to this intellectual stagnation and the setback of civilization, superstition and bigotry took deep roots in the mind of the people. As a result, exploiting priest-craft waxed stronger and stronger and assumed the authoritative role in the society of the Indians who since the foreign invasion were dubbed as *Hindus* or *Hindivis*.

Since then the people of India has seen days of trials and tribulations. Exploitation and hardship had been their lot. Besides these, bigotry and superstition took the place of culture. Miracle-mongering and blind devotion to ultra-rational and supernatural things took the place of religion. Amazing ignorance and charlatanry reigned amongst those people who produced a Kapila, a Kanada, a Vrihaspati, in analytical thought, an Aryabhatta who forestalled a Copernicus and Kepler a millinium and a half ago, a Brahmagupta who anticipated Galeleo and Newton in the same way. The same people produced Bhasa and Kalidasa in Poetry and Drama. A perfect histrionic art of dramatic performance as represented by Bharata ; also the musical notation which has been accepted by the modern world in a round about way was also evolved in India. Again, the same people has given

to the world the decimal system of notation and also a mathematician like Lilavati.

But to-day it is no use of talking of the past and mourn over it. Let us work according to the spirit of the song *International*.

"Away with wreckages of past nations,
Enslaved crowds rise at the call,
The world shall shake from its foundations,
We that are nothing shall be all."

Let us work anew. The present-day Indians have set up a new sacrifice for regeneration of India and pray that divine light be the priest of this new sacrifice. Let the new light shine refulgently on the task of creating New India. Let the divine light be the priest of the new *sadhana* and bring prosperity to the Indians. We all hail the shining light that giudes our way.

We cannot go back to the past however we may wish it. The past is past and cannot return. The dialectics of historical-materialism has brought India on a new plane of historical evolution. Today, we are on the threshold of a momentous chapter of the new history of India. We are on the foreground of a new national path. There is no doubt about it.

"Usha has revealed herself by appearing on the firmament. She came by discovering her own glory by her own power ; drove away the unpleasant enemies and darkness, and showed the best part." (Rv. VII. 75.1.)

To-day, the dawn of New India has appeared on the national horizon. It has appeared to us by its own power and is dispelling darkness and opposition. The morn of New India is showing us the path towards the goal. This *Sadhana* of the Indian patriots has dispelled the torpor of the Indian mind, it has torn up the veil of darkness that enshrouded the Indian mentality so long and *ipsofacto* the dawn of New India has appeared before us. It is the harbinger of the future.

"Usha destroyed the darkness of her sister night. Having waxed completely she set her chariot in motion". (Rv. X. 172.4.)

The rising sun of enlightenment on the intellectual firmament of the Indians has chased away the darkness that covered them, and we are seeing things

in a new light. It is increasing our mental horizon and showing glorious vision of New India. The old order, the old values of life, old connections are all crumbling to pieces. All of us are looking forward to the future that will be more glorious than the past. The dialectical contradictions in the way of achievement of national life are going to be removed by the *Sadhana* of the patriots. Antithesis lies on the way as long there is no attempt made to remove it. But as everything is in a flux, as everything is transient, the contradicions negate each other till the negation of negation is arrived at. The rightly directed works of the patriots will remove the antithesis, and then synthesis—the goal will be reached.

Hence, there is no need to be despondent or to be crest-fallen at the hurdles that come on the way. Long ago, the European sage, Karl Marx has said that the independence of Asia is necessary for the fulfilment of destiny of mankind. It is true that humanity cannot fulfil its mission if greater part of it lies enslaved and exploited by a handful of foreign imperialists. And what is in the Macrocosm is in the Microcosm. What is true of Asia is also true of India. A social state with feudal basis can be exploited and enshackled by a handful of foreigners. But when the *Demos* of the exploited people like the lion of the story in *Panchadasi* comes to realize itself, it will tear away the inimical environment and will come to its own. Likewise, with the awakening of the Indian demos all former illusions, former demoralizations will be dispelled and New India will be put in the proper environment. What is needed is the faith in the destiny of India.

India is not a geographical expression. As admitted by the hostile European critics, behind the manifold apparent diversities of India lies the fundamental unity. Realizing the truth of this fundamental unity, the sage of Vishnupurana said long ago : "The gods are singing—they are blessed that they are born in Bharatvarsha." Feeling this unity they have also said : " Motherland is more glorious than Heaven." This truth has been echoed as early as the beginning of the Mohammedan rule in North India, when the first Muslim-Indian patriot-poet Amir Khosrau said :

"Those who by seeing the birds of China, think they have seen the nightingale of Bostan.

They donot know the Tuti of Hindustan.

× × ×

The Khurasanis say the Hindis are rebellious fools,

Those who have tasted the grass of desert, how thay will know the taste of betel-leaf.

It is true that the colour of the Hindu is black,

But this black (country) is the best of all.

There must be some connection betwen Heaven and the Bostan-like Hindustan."

"Let Brahmanaspati come to us, let Sunrita Devi come to us. Let the gods send the enemy to distance and take us to our well-wishing Sacrifice." (Rv.I.40.3.)

Everything moves by time-spirit which is generated by the urge of the people. As such, the time-spirit of India is appearing before the people due to the urge to habilitate New India. The truth about Indian destiny is dawning on our intellectual horizon, and let our patriots by overcoming the obstacles that lie on the way, take India to her goal of destiny.

It is not a superstition or racial prejudice or national chauvinism to say that India has a destiny to fuffil.

Humanity cannot fulfil its destiny unless and until the one fifth of mankind that lives in India rises to take its due share in the fulfilment of this destiny. The truth has been adumberated by no less than the poet seer Iqbal :

"Yunan, Misr, Rome have gone out of this world,

But our existence is still continuing.

There must be some reason that our existence is not yet finished."

The descendants of the Vedic Aryas are still existing and moving the world by their intellectual achievement and spirituality. Once the ancient Indo-arayans delivered a message to the world. They went out blest with the teaching of the greatest of the Indians, Siddhartha Buddha, who said : Go

ye all Bhikshus, teach the doctrine glorious—for the welfare of many, for the happiness of many." Thus, once, the Indians crossed the deserts and mountains to preach "Peace and good-will to all men." They went all over the flat surface of the earth for the greatest good to the largest number.

Yet this spirit of service had been forgotten in the days of darkness and priestly bigotry. But the days of Renaissance came a century ago. Ram Mohan Roy heralded the dawn of New India. He was followed by a galazy of great men, the apostles of the New age, Debendranatha, Keshava Chandra, Dayananda, Ranade, Syed Ahmed and others who led the way. Then the dawn passed over and the sun of light and truth arose refulgently on the horizon of Indian life. At that time arose Swami Vivekananda, followed by Ravindranath and Gandhiji. Now, we are on the thershold of the stage of youth.

There is no gainsaying that New India has been born long ago. We due to our handicap of old tradition have not realized it as yet. Our noted philosophers are still ruminating the end of old lore. Hence, how they can discuss the new world-view that is dawning in the mind of the newer generation. Those who are hide-bound by the tradition of mediaeval *Nibandhas*, how they can realize that a new polity is evolving in the society. As a result we are talking of mediaeval state-policies as the panacea for all the evils of India ! But the illusions that covered the mind of the generation that is Coming to the fore-front of public life are being dispelled by new light. New world-views are dawning on their mental horizon.

"The youngmen dream dreams and old men see visions." This is the say of the Bible. If the old men dream of mediaeval blissfulness, the youngmen are seeing visions of regenerated New India.

"The originator of Sunrita words, the teacher of men of good intention Saraswati has accepted our sacrifice." (RV. I 3. 11.) We as the devotees of truth and learning are reaping the benefits of our sacrifice to the cause of Rita (righteousness). New India is producing scientists and literateurs of first class calibre. The common men are talking of higher things. The *Demos* of India is beginning to realize its own destiny. Everybody is seeing vision of the new days that are coming.

"Indra without any rival, with the bones of Dadhichi-rishi has killed Vratra 810 times." (Rv. I. 84. 13.) The truth that India has got a destiny in store has been realized by our modern seers and makers of New India. They have dispelled the cloud of untruth that hung over the horizon of India. Every body is glad that the demon of cloud of darkness that hovered over the Indian horizon so long has been destroyed. India is resplendant with new light. India is expectant of new things. The ignorant people yet do not realize that India is on a new plane of civilization. New values are being given to life. Only the chain of slavery is causing us not to realize the new life that is pulsating all through the country.

"Let righteous word be spoken. Let intelligence be awakened.' (RV. I. 123.6.) In this momentous period of India's life let truth and righteouness reign supreme in our mind. Let our intelligence be awakened to the cause of truth and justice. As *Rita* has been the guiding code of our ancestors, let truth and justice to all be the guide to our intelligence. Let the motto of new India be Equality for all, Justice to all.

To-day we acclaim the Silver Jubilee of Kashi Vidyapitha. As new India has got a mission to the world, let this seat of Learning continuously produce builders of New India that is in making. Let it be worthy of the hoary tradition of the place. The Pauranik legend says that Kashi stands above the earth. True to this legend, let the Vidyapitha stand above the petty mundane squabbles, sectarianism, sectionalism of all kinds and serve as a beacon-light showing the path of equality and righteousness to the whole of India. Let it acclaim to the world in the words of the Vaishnav devotee Chandidas "Hear of brother man, man is above all, there is nothing above him." Let it send forth scholars and workers like that of old days across the deserts and mountains preaching Brotherhood of mankind, love and good will to all men, equality and justice between man and man.

Let Kashi Vidyapitha fulfil the prophesy of the poet seer of modern India: Obey denizens of the occident ! the earth of God is not a shop.

You are content with levying tribute, but some day it will prove to be of lesser value.

Your civilization will commit suicide by its own weapon,

The nest that is built on tender branch will prove to be a shaky one".

This prophesy of the poet uttered long ago, has not showed itself to be a vain one. This also negatively implies that the poet seer who penetrated the veneer of ostensible grandeur of the occidental civilization had an adumberation of a vision for New India. Hence, he has exclaimed: "There must be some reason why we are existing." But, immediately he has said in the anguish of his heart: "An enemy is existing century after century in the course of my history." But oppositions and contradictions in the path of evolution are natural events in the history of a nation, We should not be pessimist in seeing the hurdles of the way. An optimist must be strong in his faith, optimism must be the dominant note of our life. For this we need prope *Sadhana.* The same poet seer has again pointed out the way out of pessimism :

"Prejudice has made its home in my country,

I am that storm who will destroy that home,

In order to put the scattered beads in one string,

What trouble is required will be undergone by me.

I shall show to the world what I have seen with my own eyes,

I will put you up before the world, as a wonder of the Earth.

Let the young workers go out of the Vidyapith with this spirit of optimism. Let it destroy bigotry and fanaticism, prejudice, sectarianism and sectionalism amongst the people of India. Let them go amongst the masses and say Madar-i-Hind is for all. This Mother-India has been enriched by the *Sadhana* not only of the ancient seers and saints; but also of Chaitanya and Nityananda, Kabir, Nanak, Sheikh Farid, Dadu, Rajjabji, Tukarama, Nam Alwar etc., who through their devotion in humanity did show the way to the Synthesis of Indian life of their time. It has been significant expression of the time when Dookhi Krishnadas, the Vaishnava devotee of Bengal said :

"The Brahman and the yavana are embracing each other,

oh ye bystander ! look at them."

But this synthesis has been broken by the dialectical materialistic force of history of the time. Yet, the new generation must evolve a New synthesis. This must be the aim of younger generation on whose shoulders lie the responsibility. They ounger generation must realise in their heart that India has been the county of the Aryas, Dasyus, Dasas, Asuras, Yavanas, Sakas, Kui-sans, Turks, Pathans, Moghuls and what not. As truly expressed by the poet Tagore—"In the body of the humanity called India all had been assimilated." We are the descendants of all these peoples bodily or spiritually. They must realise that the synthesis of all this is—modern India.

Truly a modern Muslim poet echoed it in his song :

"Bharat is dear, my country, dearest than all other countries.
Ganga is singing its sweet songs through the billows,
Centuries old civilization making itself remembered,
The flute of Krishna has put soul in our hearts,
The voice of Gautama is existing in halls and fields,
What Chisti has given to me, is still in the cup,
Bharat is my dear country, most beloved than other countries.
Whatever be our religion, we are Hindis, all are brother to each others,
I am lover of the name of Bharat I have love for Bharat."

(Hamidullah "Afsar").

Thus both the Hindu and Muslim devotees of Madar-i-Hind have sung in praise of her. No amount of cant and political trickery can destroy this fact that India is the mother of both of them. Hindu civilitation and Muslim culture both contributed to build up the India of former days. The Taj is the best example of this synthetic unity. Now a days, the rational education prevalent in modern world is working as a leaven in the Indian mind, and India is producing a new synthetic culture. This has set India again on her onward march.

"Charaiveti Charaiveti" (Aitereya Brahmaṇa).

The heroes and seers of the vedic age exclaimed : "March on ! March on !"

The Aitereya Brahmana narrated how Vidoghda Madhava issued out of Brahmavarta and with a band of companions marched towards the East, god fire coming out of their mouths through the recitation of the Veda led the way till they reached the shore of Sadanira. In this way the Aryas established themselves in the East. But the dynamism of the Aryan spirit did not stop there. *Charaiveti*-policy of the Aryas did not cease till in the middle Ages the Indo-Aryas established themselves in Khotan in Central Asia, in the East-Africa in the West, The Phillipes and Loo-choo islands in the East, Java in the South !

Of course, during foreign invasion and rule, the forward march of the Indo-Aryas had been stopped; enshackled Aryas could not march forward, yet the dynamism of Indian life is re-asserting itself. The dynamic energy of India is on its onward march again. So let the motto "March on ! March on !" be the watchward of the new generation. Let them go out to fulfil the destiny of New India for which the world is awaiting. Let them always remember the biblical saying : "out of the East comes the Light."

We congratulate the Vidyapith on its *Rajata-Jayanti* and we hope that it will fulfil its share of bringing light to New India.

"Let your desires be united, heart be united, mind be united, let your all be of one opinion"[1] (Rv. X. 191.4).

This is the last Rik with which the poet-seer completed the Rig-Veda. We voice the sentiments of the venerable seer by joining ourselves with the desire of the poet. Let the Indians be united, let them build up the future India. In unity lies strength and hope. Let us be united in the creation of happy New India.

SOME ASPECTS OF EARTH HISTORY AS REVEALED BY FOSSILS

By Dr. B. Sahni,

LIKE a perfectly cut diamond, the science of Geology has numerous facets, each one as brilliant as the rest. Among the natural sciences Geology occupies a central position, with connections all round—with, Physics and Chemistry with Mathematics and Astronomy, with Botany and Zoology (Fig. 1).

The object of this brief article is to explain in a few words the relation of Geology with the study of plants and animals, that is, "Palaeontology." This is the science of the extinct forms of life whose fossil remains are found in the strata of the Earth's crust.

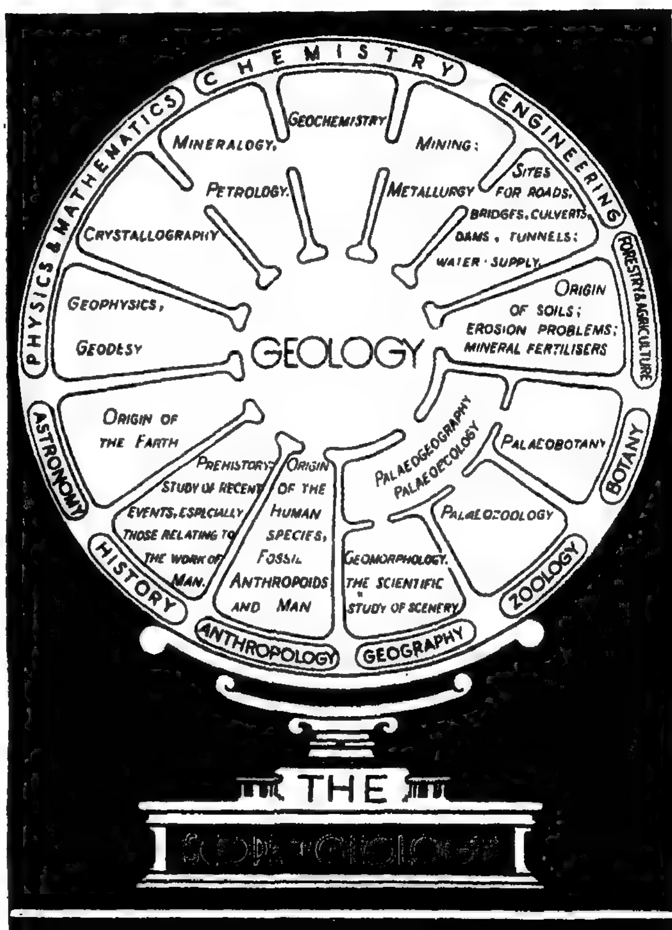


Fig. 1

The Sunday Stone

I cannot do better than begin by recalling a certain exhibit labelled "Sunday Stone" (Fig. 2) which I saw in the Natural History Museum in London in the year 1911, when I started learning geology. This specimen made a lasting impression on my mind, and I have often made use of it in explaining to others the nature of the stratified crust as a record of the history of life upon the globe.

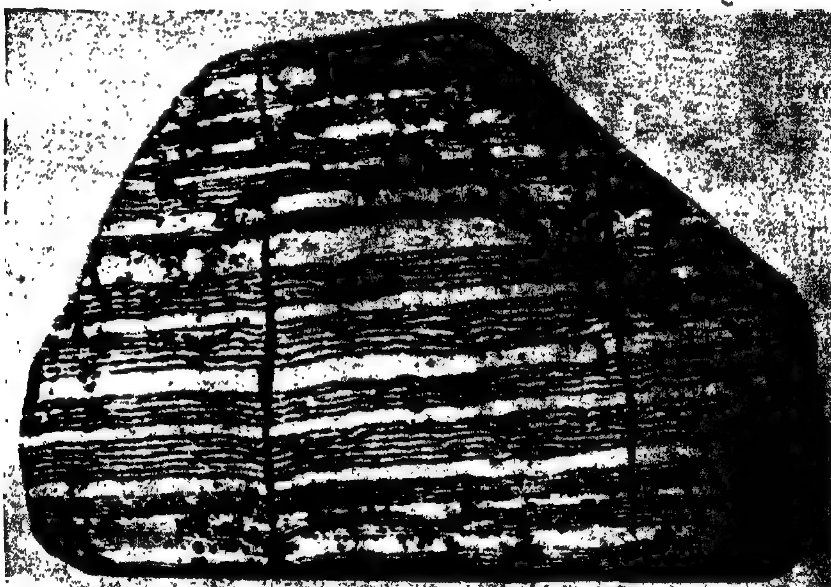


Fig. 2

The "Sunday Stone" was a piece of white crust composed of dried up chalky mud which had been deposited at the bottom of an open water-trough at a certain coal-mine. Into this trough a little stream of water, passing over chalky ground, had been constantly flowing, with the result that the suspended matter had formed in a thick deposit at the bottom. The water having dried up, the deposit had hardened into a crust. But on breaking the crust vertically across, it was noticed that it was not a single thick layer of chalk but was made up of a series of white and black layers placed like the leaves of a book. What was more, as a rule there were six thin dark layers alternating with five rather thicker white layers. Then there came a doubly thick white band, followed again by six dark and five white layers; and so on.

The meaning of these dark and white layers was at once made clear by the label, which read as follows :

"The wide white bands are deposited on Sundays ; the five narrow white bars correspond with five week-nights, and the six narrow black bars with the working-days, when coal dust is in the air. Weeks with holidays in them are represented by fewer black bars".

This interesting little specimen is an epitome of the way in which the sedimentary rocks of the Earth's crust have been formed. From their order of superposition we know the relative ages of the strata, the oldest being at the bottom of the column, the youngest or most recent at the top.

But we can tell the strata one from the other much more surely by their contained fossil remains. Imagine, for example, that in that coal mine, on a certain day, a person was sitting by the trough eating oranges and throwing the pips into the water, then we could easily tell the day of the week by the orange pips in the particular layer of chalk that was then being laid down. Or if, during a certain night, there were swarms of insects round a light in the mine, and some of the insects, falling into the trough or washed into it by the stream, were buried in the chalky silt then being formed, we could exactly date, and even time, the layer by its contained insect remains.

The Standard Stratigraphical Scale

The fossil-bearing strata of the Earth are mostly sediments laid down in the sea or in lakes and rivers (Fig. 3). Any fragments of plants or animals living at the time, which were washed down into the basin, or even the flying dust of that time which settled down on the surface of the water, must have been buried and sealed up in the sediments. And if we could recognise from

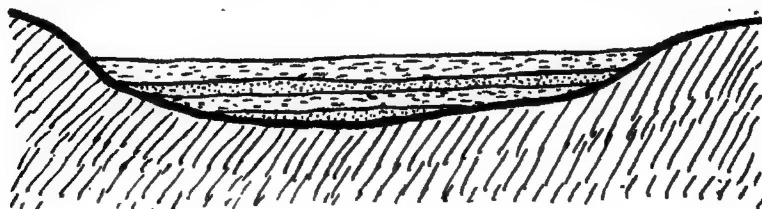


Fig. 3

these fossilised remains (e.g. , from the leaves, spores, seeds or fruits of plants, or from the bones or shells of animals) the different forms of life they represented, we could form at least a rough idea of the local flora and fauna of that period, and even picture something of the physical conditions, such as the climate and topography, of those bygone days.

Of course, there is no single basin known where all the strata of the earth's long history are to be found preserved in a single unbroken column. We have to piece together, as best we can, the evidence from many scattered areas. In some areas portions of the older strata have been found, in others we have younger and still younger parts. The task of putting them together in their correct historical sequence is beset with difficulties ; but for this very reason it is also of great interest, for it demands keen observation and careful judgment. There are still many important gaps in the series, and much chance of making mistakes. But by exploring the rock beds in mines, on bare mountain sides and in ravines, or even in open rocky country, it has been possible for geologists in Europe to make up a more or less accurate Standard Scale of strata. With this standard we in India and elsewhere can match our own strata and place them at least roughly in the sequence ; that is, we can tell their relative geological ages.

Fossils as the Date Posts of Evolution and of Geological History

In this great work of making up the standard scale the study of fossils has played a vital rôle. From a broad comparison of the organic remains in the succession of strata we have been able to form at least a general idea of the way in which living beings have evolved through the ages.

To begin with there appeared only the simple and primitive microscopic creatures of the water. Many of these still exist more or less unchanged, though it is hard to believe that they are *quite* the same as their primeval ancestors. They have managed to persist because of their simple structure and scanty needs, which have made them hardy against the storms of vicissitude :

तृणानि नोऽन्मूलयति प्रभञ्जनः

They can stand all sorts of extremes: of heat, of cold, of drought.

From these lowly forms were evolved, during the millions of years that must have gone by since life first began on the globe, larger, more highly organised and specialised forms of plants and animals. These were more delicately balanced with their surroundings and perished with any sudden change of environment; the hardier ones, or those that happened to live in situations not so hard hit by the change, e.g., in "biological asylums" like protected valleys, or caves, slowly adapted themselves and evolved into newer and newer forms of life.

Thus arose, in a long succession, the fore-runners and ancestors of the modern creatures of the water, land and air which we see around us today.

On the whole the phenomenon of evolution has no doubt been a continuous and orderly process, the apparent "breaks" in the fossil record being mostly due to local gaps in the strata ("unconformities") which research in other areas has filled up, or will probably fill up. Sometimes there is a sudden change in the flora and fauna which does *not* signify a gap in time, but is only a local aspect or "facies" of the flora or fauna of the same period, developed in a different sort of environment, e.g., an aquatic flora in one place, a land flora in another; or a marine fauna in one place, a fresh-water one in another.

Occasionally we are faced with sudden palaeontological breaks of a very widespread character, which still defy explanation. They may be due to regional climatic changes, such as the onset of an Ice Age, or of arid conditions, over a whole continent. But a discussion of these questions lies beyond our present scope.

This piecing together of the strata in Europe into the Standard Scale has been a big task but, as explained, it is of great importance to workers in other parts of the world, who can correlate their own strata with it and "date" them, so to speak, in Geological Time, *mainly, it is important to remember, with the help of the fossil evidence.*

Here are some of the high-lights of the picture of organic evolution. We know, for example, that as we pass up the scale no trace of woody plants is to be seen until we reach the upper part of the Silurian system of strata, which is reckoned to be about 325 millions of years old; that the gymnosperms, as well as the primitive (wingless) insects, first made their appearance in the

SOME ASPECTS OF EARTH HISTORY AS REVEALED BY FOSSILS

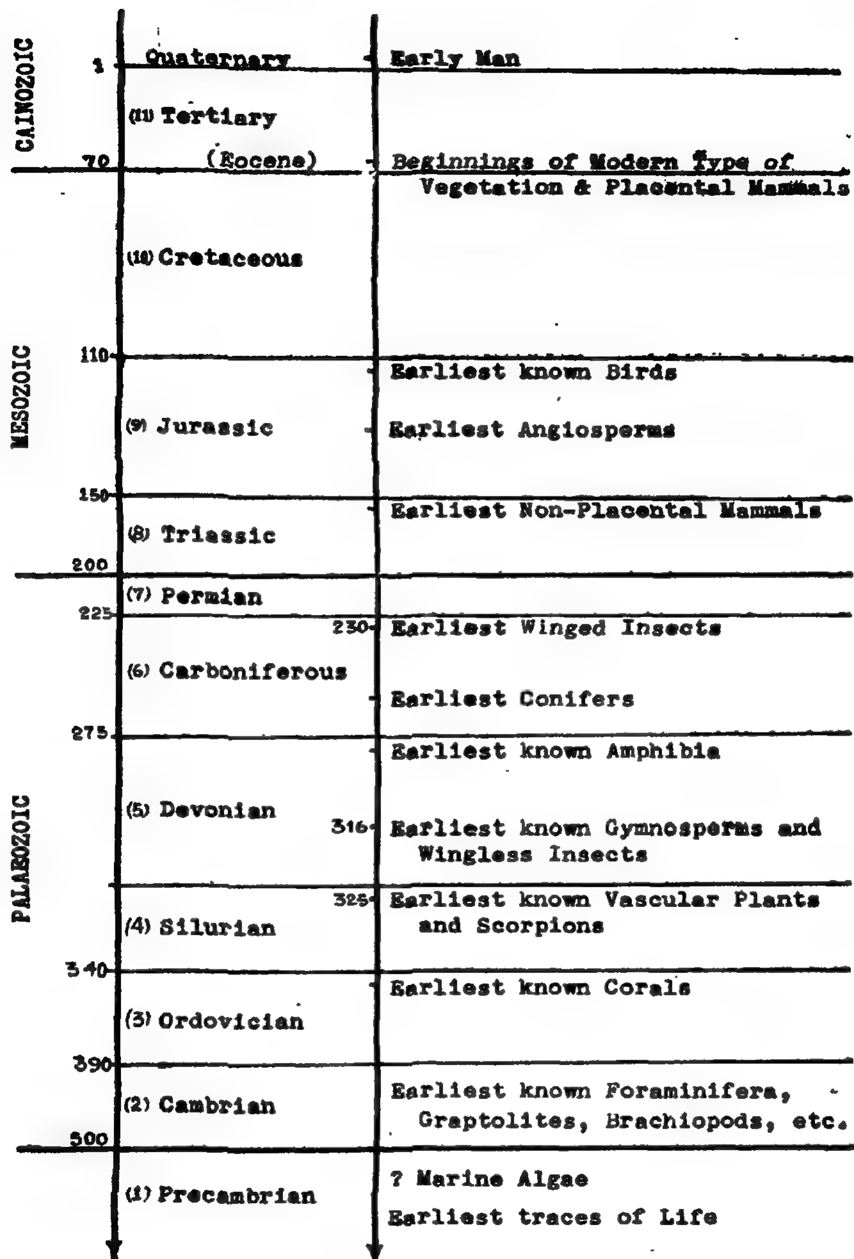


Fig.4 - The Standard Stratigraphical Scale (simplified from Zeuner, "Dating the Past" 1946). The numbers without brackets represent the approximate ages of the strata in millions of years. Not drawn to scale.

Devonian period, roughly 316 million years ago; that the first winged insects are recorded from the Upper Carboniferous rocks, which are about 230 million years old, and that the class of flowering plants, including the familiar dicotyledons and monocotyledons, did not exist anywhere in the world before Jurassic times (about 150 million years ago). The flora and fauna of the earth first seem to have begun to wear their modern aspect about the dawn of the Tertiary era, some 60 or 70 million years back (Fig. 4).

While it is true, as stated above, that some of the more primitive types of life have been known to persist through the ages, and their remains have been found also in younger strata, we have never known a case where fossil remains characteristic of a *later* geological period should be found "*in situ*" (that is, in their original setting) in rocks of an *earlier* date. *Such a thing would, of course, be absurd, for the simple reason that the creatures of the later geological age had not yet been evolved when the earlier beds were being deposited.* As we shall see, such a claim has actually been made quite recently by some geologists, whose work in other ways is sound and valuable. For instance, it has been suggested that fossil remains of such a highly evolved group as the flowering plants may occur in rocks so ancient as the Cambrian !

Of course, it can happen that fossiliferous rocks from a geologically younger stratum may become mixed up with an older series, say, through slipping or "faulting" as a result of earth movement, or by other means, but that is a different matter—you cannot anticipate the creatures of a geological age which itself is yet unborn.

It is necessary to grasp this vital importance of fossils as the date-posts of evolution, and therefore of geological history. As palaeontologists we owe much to the geologist, who during his field work discovers most of our fossil material (though it is always advisable that the student of fossils should, as possible, collect his own material in the field and study its mode of occurrence). In return the palaeontologist has given to the geologist the broad principles on which to base the "correlation", or relative dating, of the strata—principles which no geologist can now afford to ignore, for they are universally accepted as the surest foundation for stratigraphical work, whenever the rocks contain any datable fossils at all.

Use of Fossils in Areas of Disturbed Geology.

Provided the geologist is prepared to stand by the fossil evidence we shall be able to help him out of his difficulties of dating even when, as we often find in areas disturbed by earth movement, the strata have been fractured and faulted, folded and inverted, crumpled and crushed or even thrust* into the most unexpected and unnatural positions (Figs. 5 to 9).

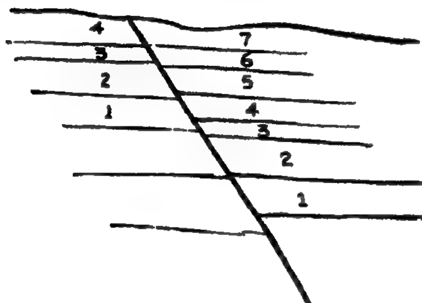


Fig. 5

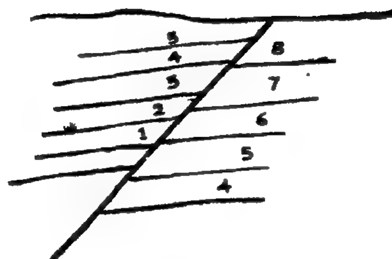


Fig. 6

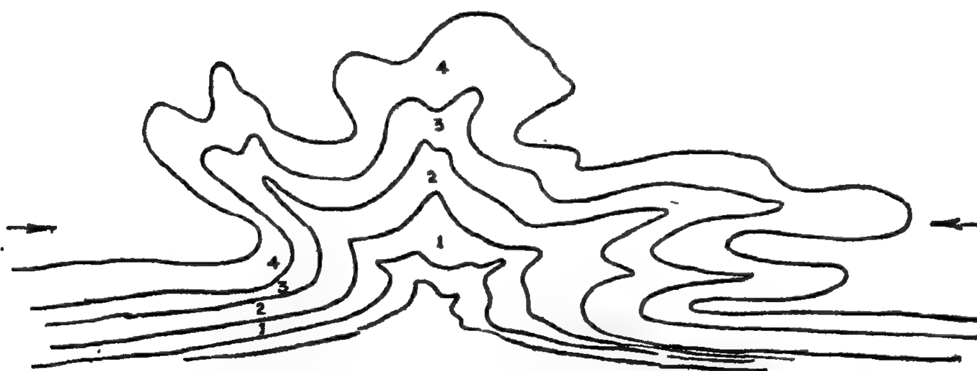


Fig. 7

* That such fracturing and thrusting is possible is evidence of the forces inherent in the Earth. The folding and crumpling of the rocky strata shows that, with all their hardness and brittleness, rocks when subjected to long and steady pressure can behave like a plastic body.

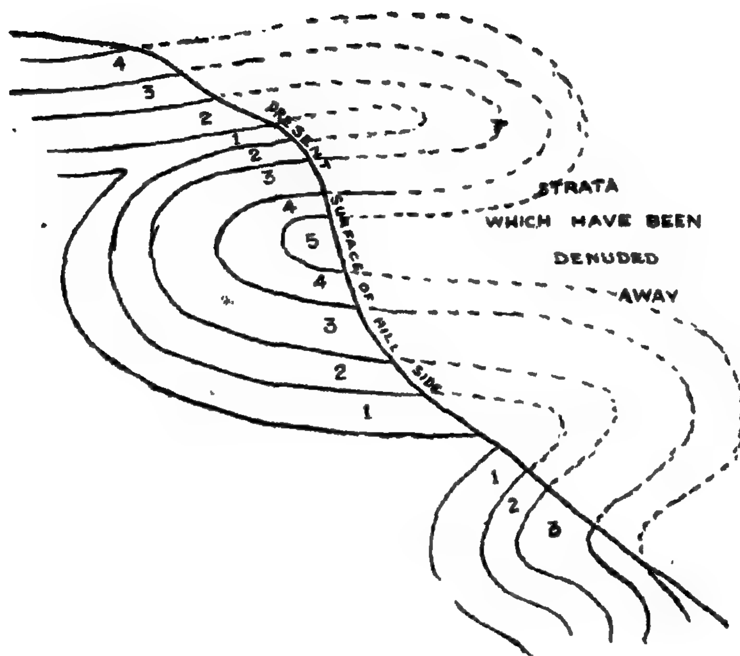

PRESENT SURFACE OF HILL SIDE
STRATA WHICH HAVE BEEN DENUDED AWAY
1
2
3
4
5

Fig. 8

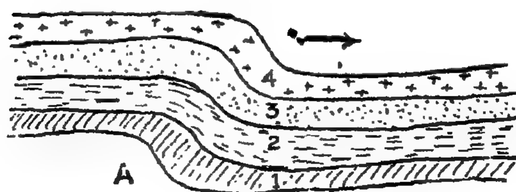

A
1
2
3
4

Fig. 9 a

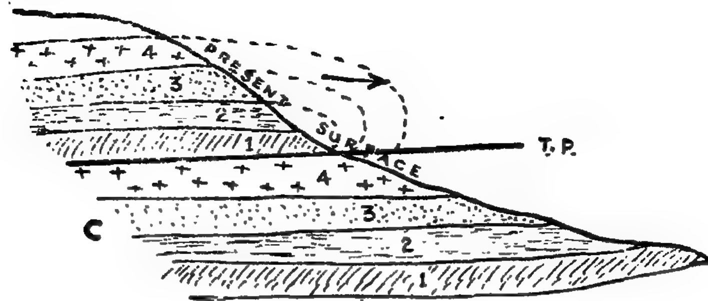


Fig. 9 b

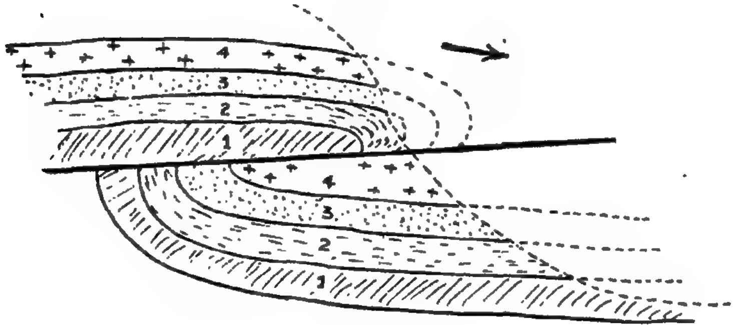


Fig. 9 c

Microfossils.

This help we can sometimes render even when, as often happens, the geologist working in the field believes that a stratum of sedimentary rock is devoid of any fossils. For, *we now have reason to think that more often than not this belief is mistaken*, except in the sense that there are no *large* fossils visible to the naked eye or through a pocket lens of small magnifying power such as we usually employ in the field. Our recent experience suggests that unless the rocks are of very ancient date, or have undergone serious constitutional changes ("metamorphosis") through the effects of great heat, compression or shearing due to earth movements, sedimentary rocks do, as a rule, contain at least same *microscopic* traces of organic remains ("microfossils").

We have, for example, examined the mineral matrix of many rocks from

Assam, from the Salt Range in the Punjab, from the Gondwana rocks of the Indian Peninsula and Ceylon, and samples even from ancient glacial deposits ("tillites") from Australia and South Africa. These apparently unfossiliferous rocks have been treated with suitable acids and other reagents, which break down the mineral matter but leave intact the organic residues that were embedded in the rock. These residues, which may be in the form of tiny shreds of woody tissue, pollen grains and spores, the cuticles of land plants, or the wings, legs or other chitinous parts of insects, can then be removed from the rock solution with a fine pipette, mounted on glass slides for examination under a microscope and even stained with aniline dyes like safranin and gentian violet. The stain brings out vividly the minutest details of their structure, thereby revealing their affinities, and enabling us to fix the geological age of the rock with greater confidence.

Two examples should suffice to show how the application of this simple technique to rocks previously thought to be unfossiliferous has yielded a rich harvest of microfossils, promising results of significance both from the purely scientific point of view and from that of economic geology.

(A) ASSAM.

In the Tertiary oil-bearing region of Assam we have a series of sandstones, clays and shales aggregating several thousands of feet in thickness, the greater part of which was until recently believed to be almost wholly devoid of fossils. For oil geology a close knowledge of the stratigraphical sequence is important. Much of the underground geology has to be studied from cores recovered from bore-holes put down in various parts of the country, but in the absence of fossil control no finally satisfactory correlation is possible. Within recent years, however, as a result of careful analysis carried out at Lucknow for the Burmah Oil Company (India concessions) it has been possible to show that, *far from being unfossiliferous, the Tertiaries of Assam are extremely rich in microfossils.* Many thousands of spores and other organic remains have been discovered by dissolving small rock samples, each weighing no more than 2 ounces, taken from different levels or "horizons" in the sequence. By a comparison of the microfloras of different samples it has now been possible to make up at least a rough standard chart of the microfossils which are characteristic of, or occur most commonly in, the

different horizons (Barail, Surma, Tipam etc.) within the Assam Tertiaries. The work is still in progress, but enough has been done to show that, similar investigations carried out on samples taken from sufficiently close intervals, both in

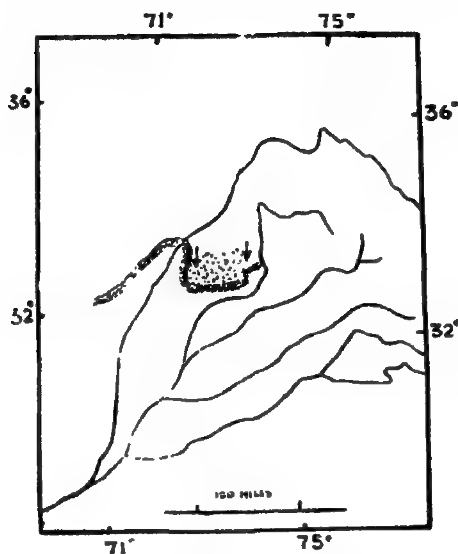


Fig. 10

depth and in space, should provide the most satisfactory means yet available of arriving at the close correlation of horizons which oil work demands*.

(B) THE SALT RANGE.

At the other end of the oil belt in India, a problem of great scientific as well as economic interest is presented by the Salt Range of the Punjab, a sinuous fringe of hills stretching for about 120 miles between the Indus and Jhelum rivers, and forming the southern edge of an elevated saucer-shaped area, the Potwar Plateau (see map, Fig. 10). The problem centres round the geological age of certain salt-bearing strata, the so-called Saline Series, which as a rule lie along the foot of the Range, with their lower part buried in the Punjab alluvium, for which reason their total thickness is unknown. The Saline Series is directly overlaid by thick sediments, in places

*. These preliminary results, based upon laboratory work done by Drs. R. V. Sitholey, G. S. Puri and S. Venkatachary, and Messrs B. S. Trivedi and R. N. Lakhanpal, are here recorded with the permission of the Burmah Oil Company (I. C.).

totalling over 1,000 feet in thickness, which are definitely known to be of ancient (Palaeozoic) age. In the western parts of the Range these sediments are of Late Carboniferous age (over 200 million years old), further east they are Lower to Middle Cambrian (about 500 million years). Above these Palaeozoic rocks come younger strata of various dates. The crest of the Range is generally formed of Tertiary limestones about 60 million years old.

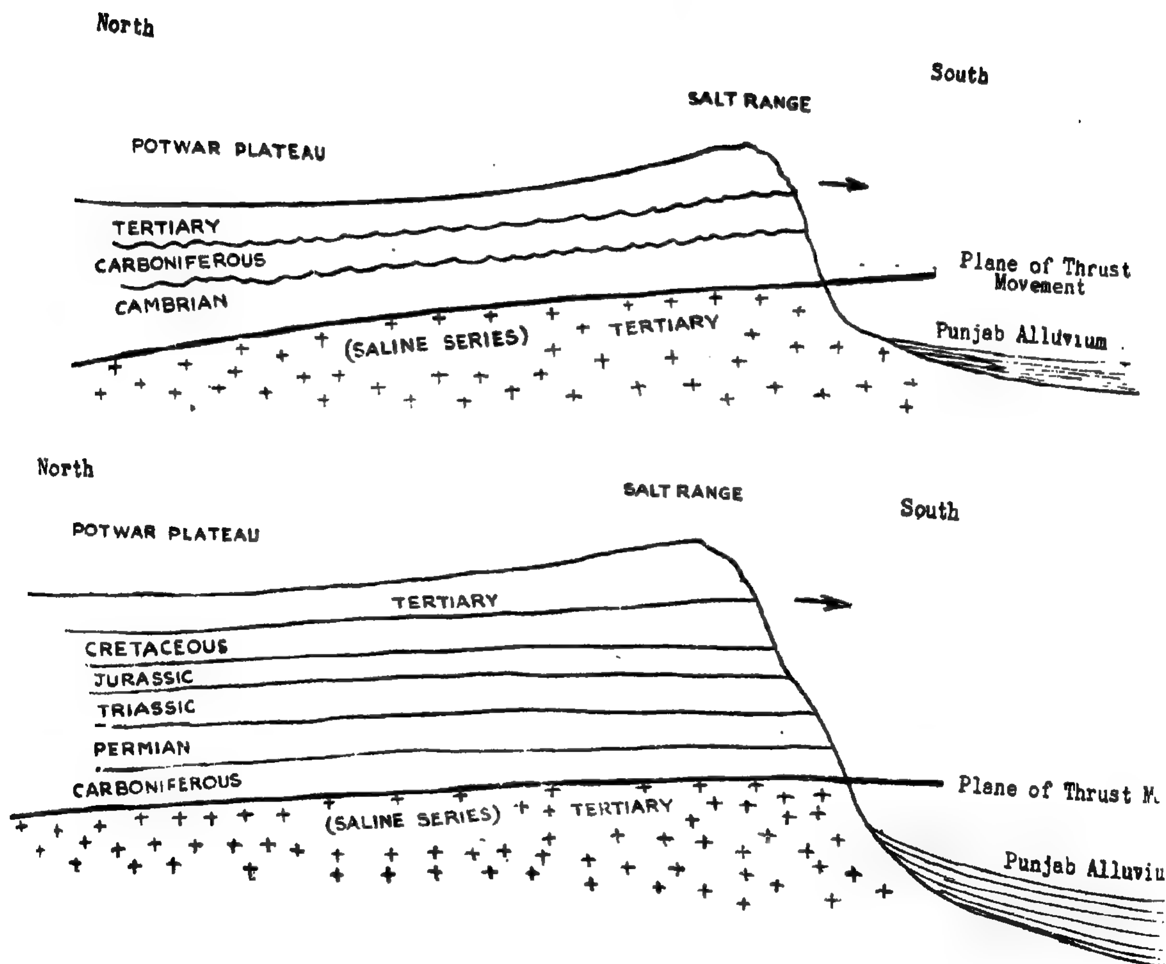


Fig. 11 & 12

Within this entire thick column of strata covering the Saline Series there are, of course, several gaps ("unconformities"). The general relations of the Saline Series and its overlying rocks are shown very diagrammatically (as if seen in a single vertical section) in Figs. 11 and 12. Great portions of this remarkable sequence are seen beautifully exposed in numerous natural sections in barren cliffs and ravines which have made this desert area famous among geologists all over the world.

The Saline Series comprises not only thick beds of rocksalt and saline earth (locally known as "kallar"), but also dolomite, gypsum, "oil shales" and other rocks. Several oil seepages and other indications of petroleum are also known to occur—in fact the dolomites and even the rocksalt frequently smell of petroleum.

In the northern part of the Potwar Plateau, and latterly also in its southern part, the Attock Oil Company have been operating several oil wells. This Potwar oil, like that in Assam and Burma, lies definitely within Tertiary strata, and one would presume that this should also be the age of the Saline Series with its oil indications, *although we know that this Series lies below strata which are undoubtedly of much greater age.*

The question of the geological age of these saline beds is thus intimately linked up with the oil prospects of the Salt Range area. But as most geologists have hitherto believed these rocks to be barren of fossils, they have found it unusually difficult to arrive at a decision, and there has been much wavering of opinion. The majority of those who are most familiar with the geology of the Salt Range now regard these strata as extremely ancient—Lower Cambrian or even Precambrian. Among them are Mr. E.R.Gee of the Geological Survey, who is today our chief authority on the geology of the Salt Range, at least four of the former Directors of that Survey, and the Chief Geologists of the Burmah, the Attock, and the Anglo-Iranian Oil Companies.

The age of the Punjab Saline Series is thus one of the major problems of Indian geology : it has, in fact, been discussed, off and on, for about 70 years, and there is now a volume of literature on the subject.

About four years ago the controversy was revived in an acute form as the result of microfossil discoveries made at Lucknow (Sahni 1944, 1944*a*,

Sahni and Trivedi 1944, 1945) which have stimulated much further research (see Symposium I 1945 and Symposium II 1947, where full references to the literature will be found).

Only the barest outline of the discussion can be given here. The main arguments of those who support the Cambrian or Precambrian view are :

(i) *The Saline Series is everywhere seen to underlie strata of Palaeozoic age, and is therefore believed to be much more ancient than Tertiary.* Near Khewra, for example, it lies beneath a sequence of strata which are regarded as definitely Cambrian because they include rocks containing fossils of Cambrian age. Near Chittidil it is overlaid by the Talchir Boulder Bed—these are ancient glacial moraines ("tillites") of which the age is now generally accepted as Upper Carboniferous. According to this school the oil in the Salt Range rocks is far more ancient than the Attock oil, or that of the Assam and Burma oil fields.

(ii) *The Saline Series is believed to be totally unfossiliferous, and is therefore presumed to date back to Lower Cambrian or even earlier times, namely, the Precambrian.* Such fossils as were previously reported to have been discovered in these strata are thought to be of extraneous origin, and hence of no value for dating the Saline Series. They are alleged to have been introduced into the Saline Series by accident, e. g., through solution holes in the salt, through slipping and "faulting" of the rocks, or caught up in the Series as a result of geologically recent earth movements.

The Salt Range Thrust.

This "Cambrian or Precambrian" theory was the first to be put forward. About 45 years ago, however, two German geologists, Professor E. Koken and Dr. F. Nœtling (1902), suggested the rather sensational idea that *although the Saline Series actually lies beneath the Palaeozoic sequence, it is geologically far younger than the latter, and is of early Tertiary (Eocene) age. According to them it owes its "infra-position" to an "overthrust" movement of vast magnitude* which has shoved the entire column of Cambrian and younger beds (totalling some thousands of feet in vertical thickness) bodily southwards for a distance of many miles so as to bring it to rest on top of the Saline Series And this movement is believed to have affected the Potwar plateau as well as the whole

length and breadth of the Salt Range, from near Kalabagh on the Indus eastwards as far as the Jhelum. Towards the eastern and western ends of the Range the structure is further complicated by repeated thrusting on a large scale.

This bold idea of a "regional overthrust" of this magnitude in the Salt Range was put forward at a time when similar theories were being discussed by master geologists in Europe to explain certain features in the structure of the Alps. But while in Europe those ideas were ultimately accepted as one of the great achievements of geological field work, in India the theory of the Salt Range thrust is still being opposed. In the first place, it was not taken up seriously until 18 years after Koken and Noetling had first put it forward (Pascoe 1920), and later it was dropped (Gee 1940), even by those who were once its strong supporters (Gee 1934). It now claims only a few adherents among geologists in this country.

Nevertheless, we shall see, the idea is fundamentally sound, and in the end it is sure to gain universal acceptance, like the Alpine thrusts, though we may differ in the details of interpretation. Our reason for this view is again based upon the evidence of *microfossils*, which we have found in large numbers in the rock of the Saline Series thus indirectly confirming previous discoveries of *macro* fossils (large fossils), e. g., that of an oak leaf by Mr. R. vV. Anderson (1928) in the dolomites of the Khewra gorge.

About four years ago, while with a party of students in the Salt Mine at Khewra, it occurred to the author to dissolve a little of the saline earth and to examine some drops of the brine under the microscope. The idea was that since the salt must have been formed from sea water by the drying up of a bay or lagoon, the brine ought to show at least some minute traces of organic remains which might give a clue to its geological age. The surmise proved to be correct : quite a number of little shreds of woody tissue of dicotyledons and conifers, as well as the chitinous remains of winged insects, were discovered. These fragments had no doubt been washed into the water or wafted on to its surface by the wind; and it was clear that *if these creatures were alive at the time the sea existed, the salt could not possibly be as old as Cambrian.* Although most of these microfossils cannot be precisely dated, nearly all of them indicate a post-Cambrian age and several of them must be Tertiary. We have seen

that, so far as we know the history of organic evolution (Fig. 4), dicotyledons did not come into being until the Jurassic period, and the winged insects and conifers not till the Late Carboniferous. In fact woody or "vascular" plants are unknown in rocks older than the Upper Silurian, which are still at least 150 million years younger than the Lower Cambrian, the youngest age now assigned by Mr. Gee and his colleagues to the Saline Series.

Figure 13.

MICROFOSSILS FROM THE SALINE SERIES PUNJAB SALT RANGE.



Fig. (i)

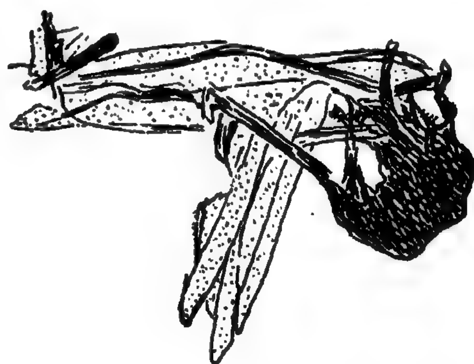


Fig. (i) a

Chironomus primitivus sp. nov. M. S. Mani from a band of kallar intercalated between two layers of rocksalt in the Warchha Salt Mine. Sahni coll. Warchh No. 1.; Slide i and i a are parts of one individual. One end of 1 a (densely shaded) still shows an adhering mass of red marl. × 51.

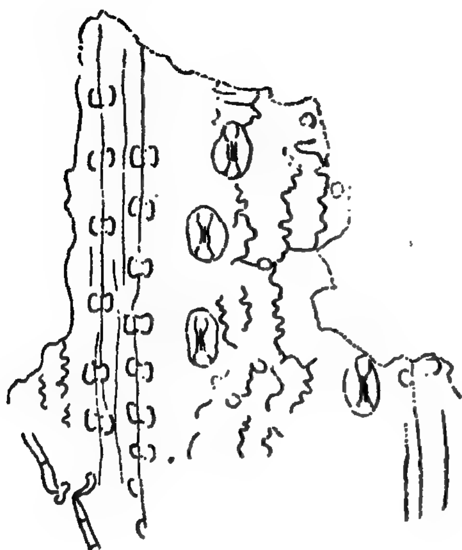


Fig. (ii)



Fig. (iii)

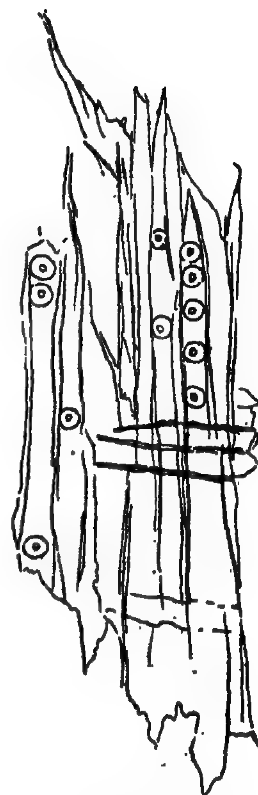


Fig. (iv)

ii. Cuticle of a grass showing portions of two stomatal and two non-stomatal strips. Four stomata among sinuous-walled cells, with hair scars ; on the non-stomatal strips are characteristic silica granules ; septate fungal hyphae at bottom left. Chamber No. 46, 2nd sub-level north of 43 incline in Mayo Mine, Khewra ; surface height 660 ft,. distance from mine mouth 6,200 ft. ; sample No. 1, collected by Mr. C. Phillips, Mine Manager. Slide No. 21 (*the sample dissolv -ed contained salt and kallar in about equal quantity*). × *ca.* 312.

iii. Coniferous wood from a Kallar band in Pillar 47-48 ; 43 Incline, 2nd Sub-level North, within the Buggy Seam in Khewra Salt Mine. Specimen K7 (Coll. Sahni 3 Oct. 1944). × 365.

iv. Conifer wood in radial section. From a dolomite bed in the New Low Level Tunnel, Warccha Salt Mine. × 155.

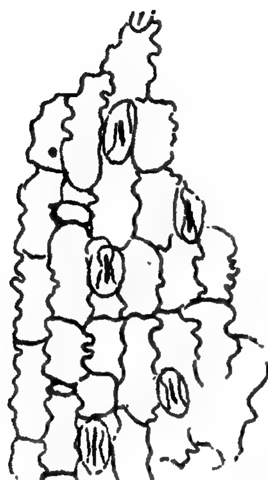


Fig. (v)

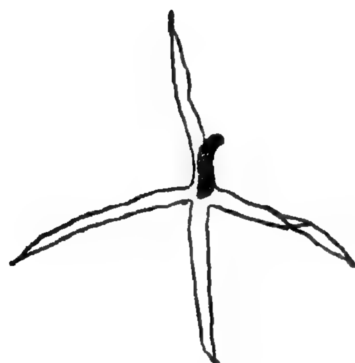


Fig. (vi)

v. & vi. Grass cuticle (v) and stellate hair (vi) from finely laminated pale grey dolomite associated with the Oil Shale group exposed round the confluence of the Jarhanwala and Jansukh streams, Warchha Valley. Sahni coll. No. S. 21/I, (13 Oct. 1943). v × 490; vi × *ca.* 182.



Fig. (vii)

vii. Coniferous wood with medullary rays in radial section. Several small simple pits in the field. From a specimen of black-and-white banded partially silicified rock taken from a section of the Oil Shale Group showing contorted strata, exposed near the stream bed on the left bank of the main Warchha gorge below the confluence of the Jarhanwala and Jansukh nalas. Specimen W4 (Coll. Sahni 5 Oct. 1944). × 235.

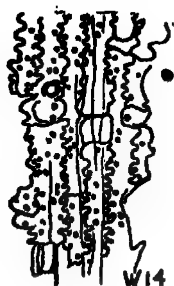


Fig. (viii)

viii. Cuticle showing elongated sinuous- walled pitted cells (probably of a grass). From a sample of partially silicified rock, showing white, dark-grey and rusty brown bands, taken from the same Oil Shale exposure, This is the main rock of the Oil Shale Group as exposed here. Specimen W14 (Coll. Sahni 5. Oct. 1944). × 470.



Fig. (ix)

ix. Stellate hair, showing broken end of stalk in centre, from the same sample. × 235.

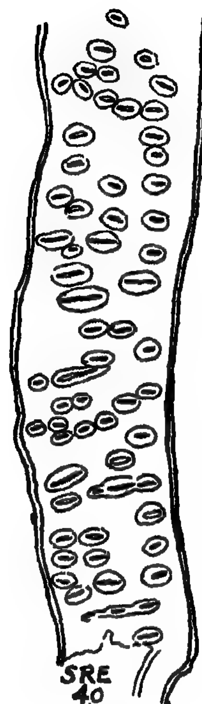


Fig. (x)

x. Pitted wood cell, almost certainly angiospermous, from a compact, very fine-grained laminated dolomite from the Warchha Valley Oil Shale Group. This rock is very similar to S 21/I of 13 Oct. 1943 from the same area. Specimen SRE 40 (Coll. E. R. Gee and party, November 1944) × 500.

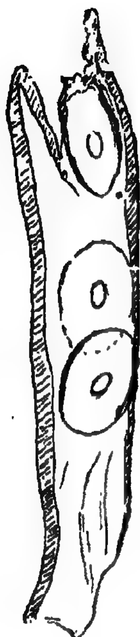


Fig. (xi)



Fig. (xii)



Fig. (xiii)

(xiii) Vertical section of a finely stratified Oil Shale showing numerous shreds of woody tissue embedded in the shale and lying parallel to the planes of bedding, which are horizontal. (Diagrammatic). × 42.

xi. Coniferous tracheid with bordered pits, from a sample of dark grey, almost black, oil shale from the Oil Shale outcrop, near the junction of the Jarhanwala and Jansukh streams, Warchha Valley. Sahni coll. No. S. 20 (Oct. 1943). × *ca.* 1,000.

xii. Shred of carbonised wood with pitted cells from an almost jet-black highly bituminous combustible oil shale of *rather low specific gravity.* From the Upper Gypsum Stage of the Saline Series in the Nawabi Kas (Makrach). Specimen SRE 19 (Coll. E. R. Gee and party, Nov. 1944). This is from the same locality and horizon as Sample 5 (Makrach) of *A. Lahiri's* note in Nature, 27 May 1944, p. 654. × 365.

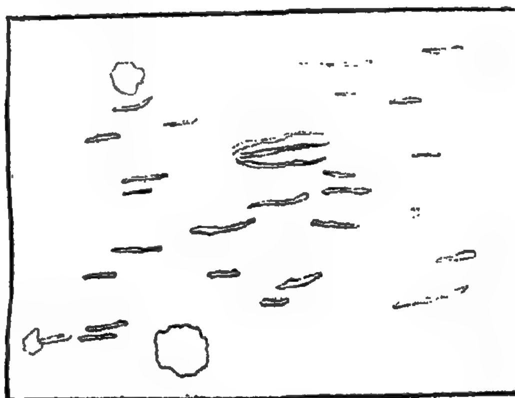


Fig. (xiv)

(xiv) One of the sheds of wood (probably coniferous) from the above section, *showing several* uniseriate medullary rays as seen in a *tangential section of* the wood. × 750.

To guard against the criticism that these organic remains might be modern fragments washed into the rocksalt through solution holes, we next dissolved in dilute hydrochloric acid some samples of dolomitic rock taken from strata interbedded with the salt, and we again found fossil remains of the same general types—insects, conifers and flowering plants, including woods of dicotyledons as well as cuticles of grasses. Dolomite is a type of rock which under natural conditions is by no means so easily dissolved as rocksalt, and there could hardly be any question of these fossils being extraneous fragments which had dissolved their way into the dolomites. However, to make assurance doubly sure, we finally analysed samples of Oil Shales from the Saline Series. These shales can under no circumstances be open to such "contamination" from extraneous sources—but there again were found the remains of woody tissues as well as insects. Since then microscopic shreds of wood have also been directly observed lying embedded in large numbers in thin slices of the Oil Shales, leaving no room for any doubt whatever that the fossils were truly *in situ* and therefore of the same geological age as the rocks in which they were found preserved. The organic remains illustrated in Fig. 13 are only a few examples selected out of a lrage number that have been discovered. The brief description attachad to the illustrations should make any further explanation superfluous.

From these simple tests on tiny samples of rocks, taken from various localities and horizons within the Saline Series, the conclusion is irresistible that Koken and Noetling were right: *the Saline Series must be much younger than the strata lying above it, and this can only be explained on the view that the entire series of Palaeozoic and overlying beds up to the Tertiary have been bodily thrust from North to South for a distance of many miles, presumably gliding or "skating" over a sort of lubricated sole formed by the soft and highly plastic rocksalt and gypsum of the Saline Series.*

An interesting side light is thrown upon the theory of the Salt Range Thrust by the erratic course of the river Jhelum. For a distance of about 100 miles from Domel in Kashmir to the city of Jhelum in the south, this river follows an almost rigid north-south line—if anything tending slightly east of south—as opposed to the general S-W trend of all the other rivers of the Punjab drainage system. It seems as if this part of the Jhelum follows a

concealed fault-line in the earth's crust, formed by the southward (or, to be more exact, the slightly southeastward) thrust of the Potwar Plateau. The wide southward bulge of the Salt Range between the Indus and Jhelum rivers formed the front of this advancing sheet thrust or "nappe". The Trans-Indus part of the Salt Range being unaffected by this thrust, the south-westerly course of the Indus and the Trans-Indus continuation of the Salt Range is undisturbed, and this has resulted in the formation of the great northward loop of the Salt Range known to geologists as the "Mianwali re-entrant" (see Sketch-map, Fig. 10).

It would take us too far out of our way to try to show to a layman that the overthrust theory is not so fantastic as it might appear. But Mr. Gee is a geologist with unrivalled experience of the Salt Range, and he has raised two objections to this theory which we cannot afford to ignore.

Firstly, he suggests that even if the microfossils genuinely belong to the Saline Series (and he now agrees that those in the Oil Shales cannot be explained away as "contaminations") they may represent a highly evolved flora and fauna of Early Cambrian or Precambrian age. *In other words, he suggests that the flowering plants, which are the most highly evolved group of the plant kingdom, had already made their appearance some 300 million years earlier in the Salt Range than they did anywhere else on the globe.* But is such an anachronism conceivable after what we have seen of the course of organic evolution as revealed in the strata ? The same extraordinary suggestion is implied in the case of the conifers of which, as we have seen, no trace has yet been found in rocks earlier than the Carboniferous ; and in the case of the winged insects which did not come in until the Jurassic (see Table, Fig. 4). It is clear that Mr. Gee's suggestion cuts at the very root of our accepted ideas of evolution and of the value of fossils as indices of geological age,—ideas which have been built up by nearly a hundred years of painstaking research.

Mr. Gee's second objection is based upon direct geological observation, and here his views are natually entitled to greater respect. He freely admits that in places, here and there, thrusting *on a small scale* has taken place, but he suggests that if there had been a *regional* thrust in the Salt Range, then *at all*

places where the "thrust plane" (that is, the plane of junction between the rocks of the Saline Series below and the Palaeozoic strata that have been thrust over them) is clearly exposed to view, there must be *outwardly visible* signs of such "aectonic movement". His contention is that the rocks along the plane of contact must always be either visibly fractured, folded, or crushed into rubble ("breccia"). Now, it must be admitted that in the Salt Range this is by no means always the case : though there are many badly shattered junctions, there are also many others where the junction is apparently quite undisturbed. Mr. Gee is of the opinion that if there is even one such section, or only a few, in the Salt Range, where these outward signs of disturbance are lacking, then there can be no *question* of a *regional* thrust.

From the work of distinguished geologists in other parts of the world, however, we know several instances of thrusting on a regional scale; and their experience as recorded in the Alps, in N. W. Europe, in China and in the Himalayas does not bear out Mr. Gee's ideas on the nature of tectonic contacts. Although usually marked by a visible crushing and contortion of the beds, these contacts are often very deceptive, and show the same beds reposing upon one another as if they had been originally laid down in their present position by the ordinary process of sedimentation under water.

Quite recently a section has been observed in the Salt Range itself, about five miles from Khewra, which is of unusual interest in this connection. Here the Talchir Boulder Bed (Carboniferous) has been thrust horizontally like a wedge into the Salt Pseudomorph Shales (Cambrian), but none the less the plane of contact both above and below the wedge is, to all appearance, quite undisturbed (Fig. 14).

The net result of the discussion, therefore, is that while the fossil evidence gives a post-Cambrian, and most probably an early Tertiary, age to the Saline Series, which therefore must have been overthrust by the much older Cambrian beds, the field evidence, critically considered in the light of experience in other parts of the world, does not contradict the idea of a regional overthrust.

Summary and Conclusion.

This article attemps to show how the sedimentary strata of the Earth's crust have been formed, and how the fossil remains preserved in them, if care-

fully studied and appreciated, can help us in visualising the course of evolution, in dating the rocks, and in reconstructing geological history even where earth movements have disturbed the normal sequence of the strata.

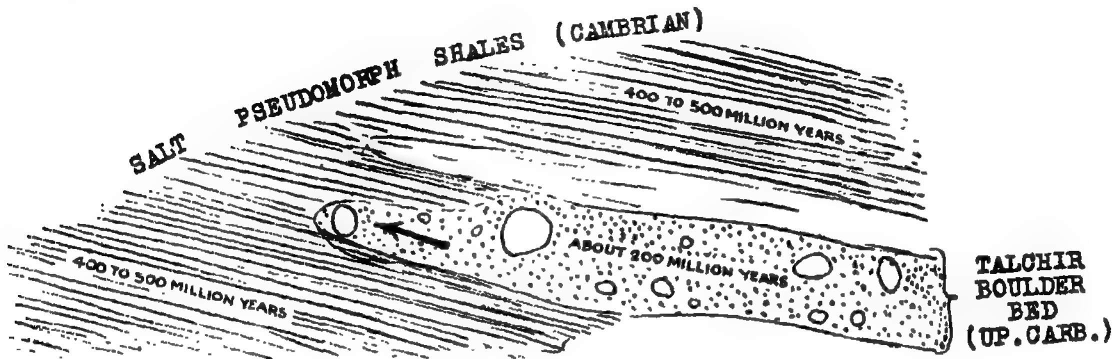


Fig. 14

Fig. 14—Section near Khewra, Salt Range, Punjab, showing a wedge of the Talchir Boulder Bed thrust into the Salt Pseudomorph Shales without disturbing the stratification of the Shales. The arrow indicates the direction of the thtust. Digrammatic.

In areas where the geology is highly disturbed, microfossils can sometimes be of great value. Because they occur in great numbers and are widely disseminated in the strata, they can be prepared even out of tiny samples of rock.

By comparing the microfossils in a sufficiently close series of rock-samples, taken from different areas and different levels, the strata can be more accurately correlated, with results that are often of scientific interest as well as helpful in the exploitation of the mineral wealth of the Earth, e.g., oil and coal.

Thus recent microfossil discoveries have proved beyond doubt that in the Salt Range of the Punjab there has been a great southward "overthrust" of very ancient (Cambrian) strata over the so-called Saline Series, which contains traces of oil and has led to much speculation on the part of geologists. Although the Saline Series actually lies beneath the Cambrian, and most geologists, still believing it to be unfossiliferous, regard it as Lower Cambrian or even Precambrian (500 million years or older), the author and his co-workers have found that it teems with microfossils which show its age to be far younger, and probably Early Tertiary (only about 60 or 70 million years). Among the organic remains

so far recognised are shreds of woody tissues of dicotyledons and conifers, cuticles of grasses and the harder parts of insect bodies. The Salt Range oil must no doubt be traced to the decomposition of these plants and animals, and is to be regarded as Early Tertiary in age, like the "Attock" oil, the Burma oil and the Assam oil.

Probably connected with the Salt Range thrust is the curious hairpin bend in the course of the River Jhelum at Domel in Kashmir, from where the river flows almost due south for a hundred miles before it turns south-west like the other rivers of the Punjab. This unusual southward trend of the river seems to follow a hidden fault-plane which may have formed the eastern edge of the thick sheet (or "nappe") of strata moving southward.

References to Literature :

Anderson, R. vV. (1928). Tertiary Stratigraphy and Orogeny of the Northern Punjab. *Bull. Geol. Soc. Amer. 38 :* 665.

Gee, E. R. (1934). The Saline Series of North-West India. *Curr. Sci. 2*: 460 – 463.

Gee, E. R. (1940). Recent views on the Salt-bearing formations of North Western India. *Proc. 27th Ind. Sci. Congress (Madras)*. *4* : 10.

Koken, E. and F. Noetling (1902-03). *Gen. Report for 1902-03*, *Rec. Geol. Surv. Ind.*

Pascoe, E. H. (1920). Petroleum in the Punjab and N. W. Frontier Province. *Mem. Geol.Surv. Ind. 40* (3) : 330 - 493.

Sahni, B. (1944). Age of the Saline Series in the Salt Range of the Punjab. *Nature, 153,* April 15, : 462.

Sahni, B. (1944 *a*). The Age of the Punjab Salt in the light of recent evidence. (Presid. Add). *Proc. Nat. Acad. Sci. India, 14* (1 and 2) : 49-66.

Sahni, B. and B. S. Trivedi (1944). Age of the Saline Series in the Salt Range of the Punjab. *Nature*, July 8, *153* : 54.

Sahni, B. and B. S. Trivedi (1945). Age of Saline Series in the Salt Range of the Punjab. N*ature*, *155* Jan. 20,: 76.

Symposium I (1945). Symposium on the age of the Saline Series in the Salt Range of the Punjab. *Proc. Nat. Acad. Sci. India*, *14* (6) Sec. B. : i-xxxii, 205-334.

Symposium II (1947). Second Symposium on the age of the Saline Series in the Salt Range of the Punjab. *Proc. Nat. Acad. Sci. India*, *16* (2-4), Sec. B. (*in the press*).



विद्यापीठ के २५ वर्ष
चित्रों में

प्रथम
शिला
न्यास

❀

किराये
का
मकान

❀

और

❀

फिर
निजी
भवन



महात्मा गांधी द्वारा विद्यापीठकी स्थापना। वसन्त पंचमी, २८ माघ संवत् १९७७ (१० फरवरी १९२१)

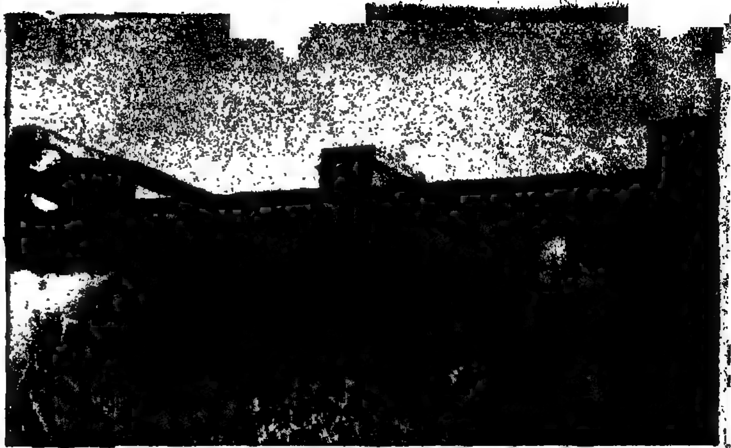
वरधा
बुधवार

भाई भगवानदासजी,
मुझे विश्वास है की
आप हमारे कहनीसे
एक बडा विधानपत्र
सही पर रखो करना चाहिये.
मैं कहुंगा की इस समय
शिक्षाकी प्रवृत्ति प्रधान
विषय नहि है परन्तु
असहयोग प्रधान
विषय है- हम असहकार
करते है क्योंकी सरकार
दुष्ट राज है- इसलिये
सरकारी विद्यालयोंमे
शिक्षण अच्छा नहि है यह
एक दूसरा स्वतंत्र सवाल
है सकता है- इस कारण
मैं आपसे प्रार्थना करता हूं
कि आप ठीक शिक्षाका
विषय के विचार मे
विद्यापीठ की हस्तिको
न रोके भाई भाई
शिवप्रसादजी आपसे
मिले हैं और [illegible]

आपका
मोहनदास
गांधी

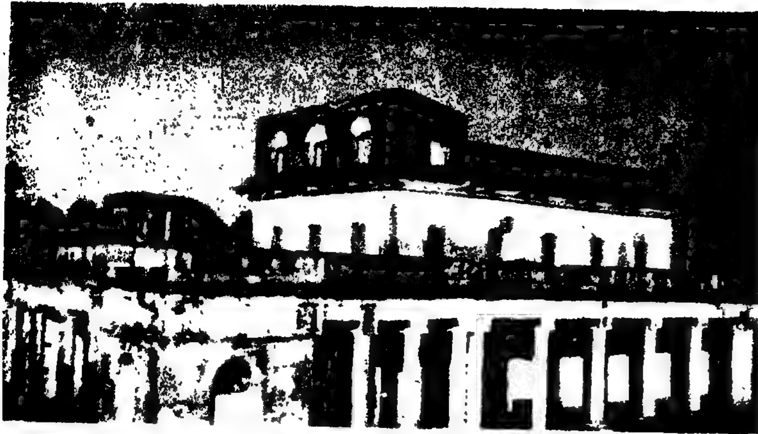
(यह पत्र गांधीजीने डाक्टर भगवानदासजीको सन १९२१ में भेजा था)

विद्यापीठ आरम्भ में





मदैनी मुहल्लेमें किरायेके मकान



सिगरामें कियेके मकान

(सं० १९७९-१९८१)

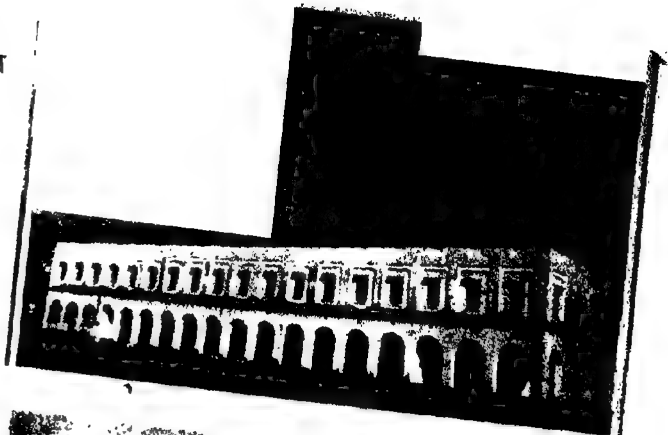
विद्यालय



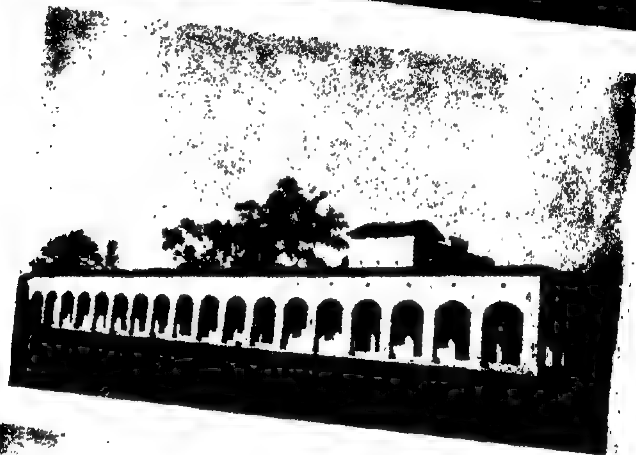
छात्रावास

विद्यापीठके निजी भवन

विद्यालय



छात्रावास



आचार्य-गृह





अध्यापकोंके निवासस्थान

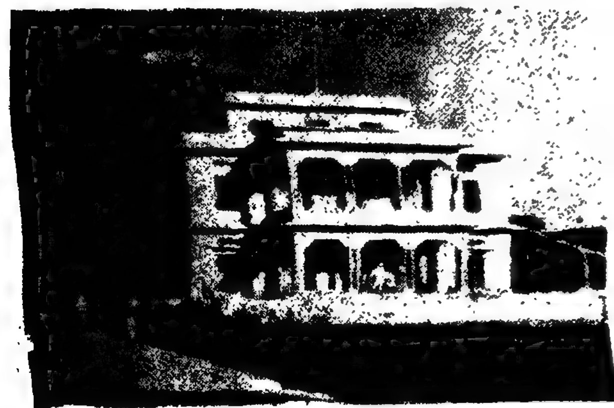






पुस्तकालय भवन

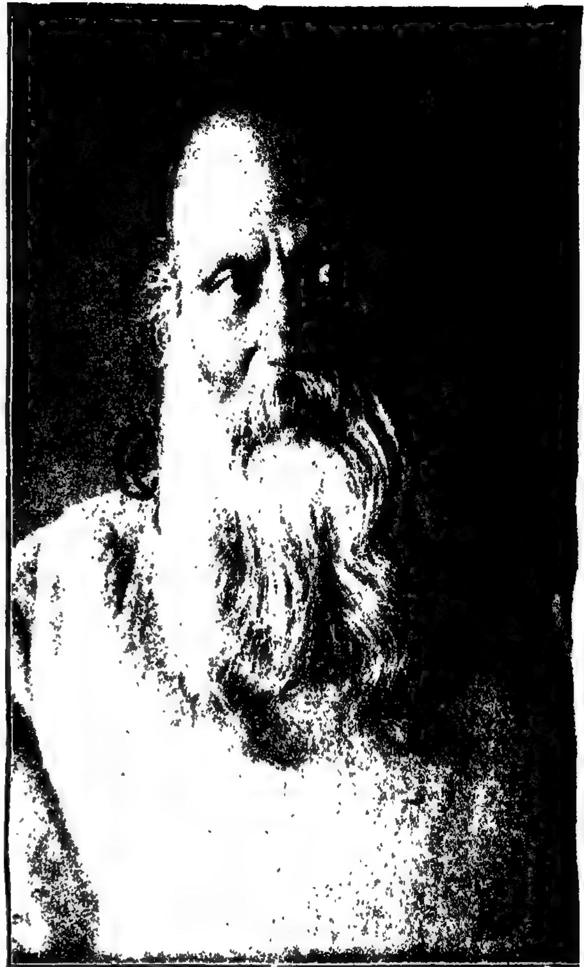
पुस्तकालयका भीतरी दृश्य



भारतमाता भवन

काशी विद्यापीठ के
निर्माता

प्रथम कुलपति
डाक्टर भगवान्दास





संस्थापक
स्वर्गीय श्रीशिवप्रसाद गुप्त



आचार्य श्रीनरेन्द्रदेव कुलपति



श्रीरामशरण
भूतपूर्व स्थानाप

श्री श्रीप्रकाश
भूतपूर्व आचार्य और अध्यक्ष



श्रीहरप्रसाद गुप्त
जिनके नाम पर निधि
की स्थापना हुई

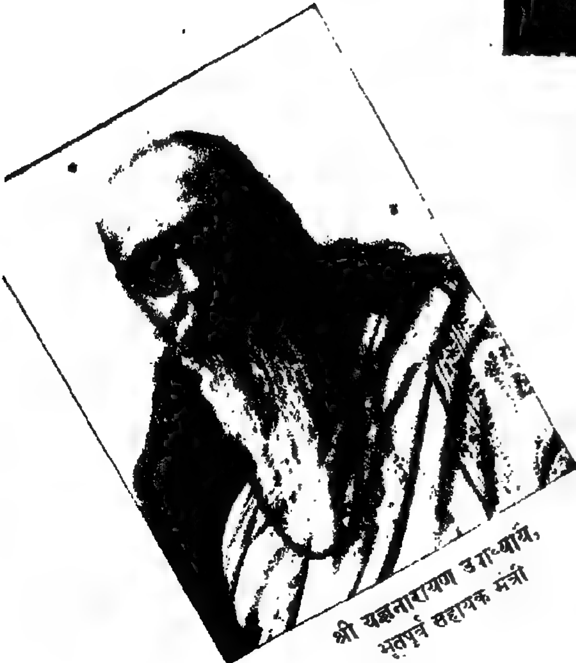




श्री वीरबलसिंह, आचार्य



श्री सम्पूर्णानन्द, अध्यक्ष



श्री यज्ञनारायण उपाध्याय, भूतपूर्व सहायक मंत्री





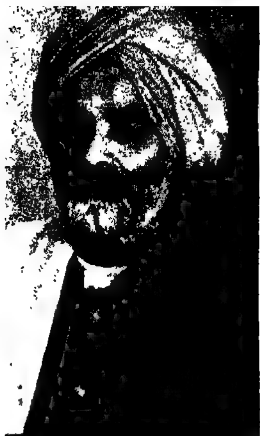
आचार्य कृपालानी, भूतपूर्व उपाध्यक्ष

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन

निरीक्षक तथा निधि संचालक



विद्यापीठ परिवार



श्री गोपाल शास्त्री



श्री राजाराम शास्त्री



श्री चण्डी प्रसाद

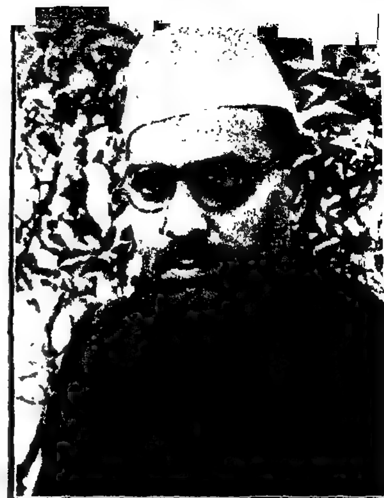




विद्यापीठ परिवार



श्री काशीपति त्रिपाठी



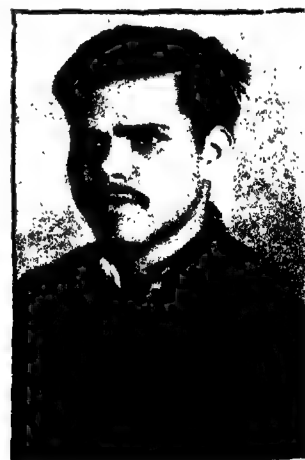
श्री विश्वनाथ शर्मा



श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव



श्री गोरावाला खुशाल जैन



श्री मोहनसिंह

विद्यापीठ परिवार



श्री दामोदरदास



श्री मन्नशरण मेहरोत्र



श्री ठाकुरदास



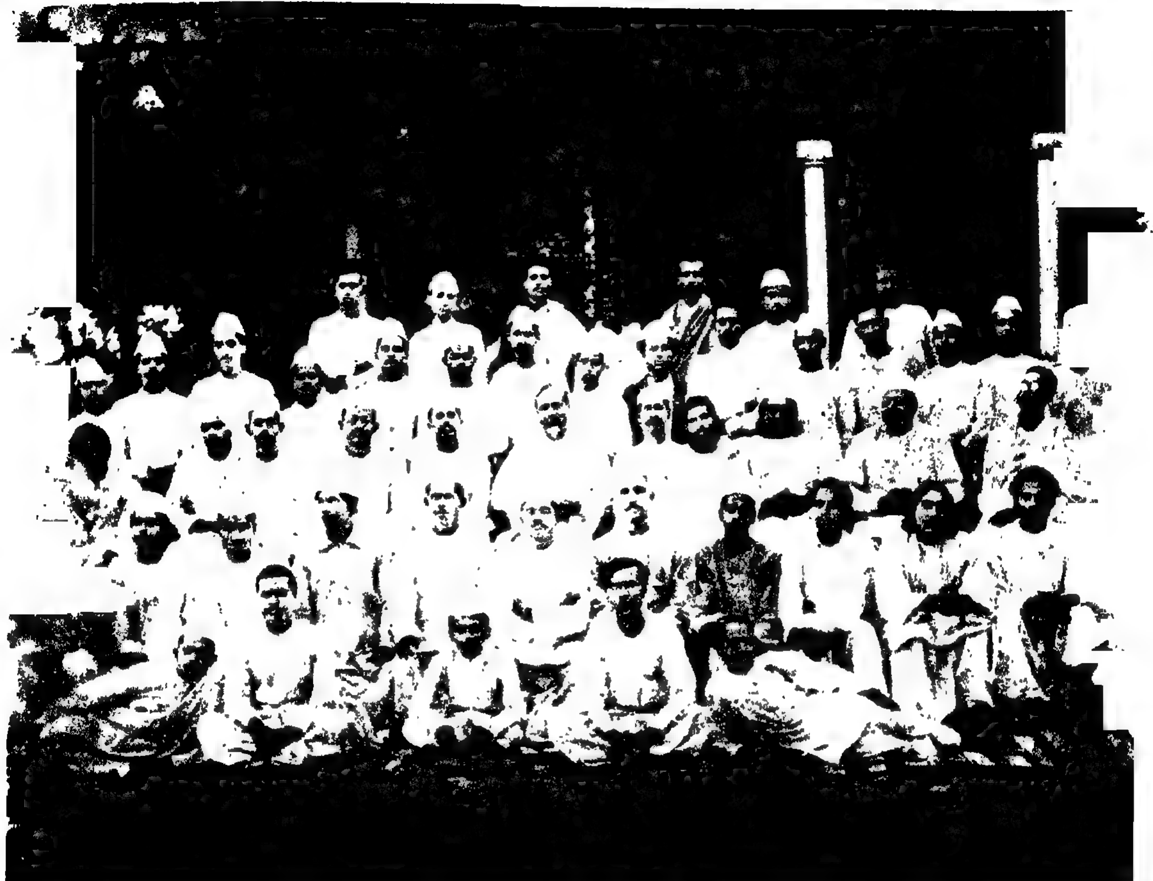




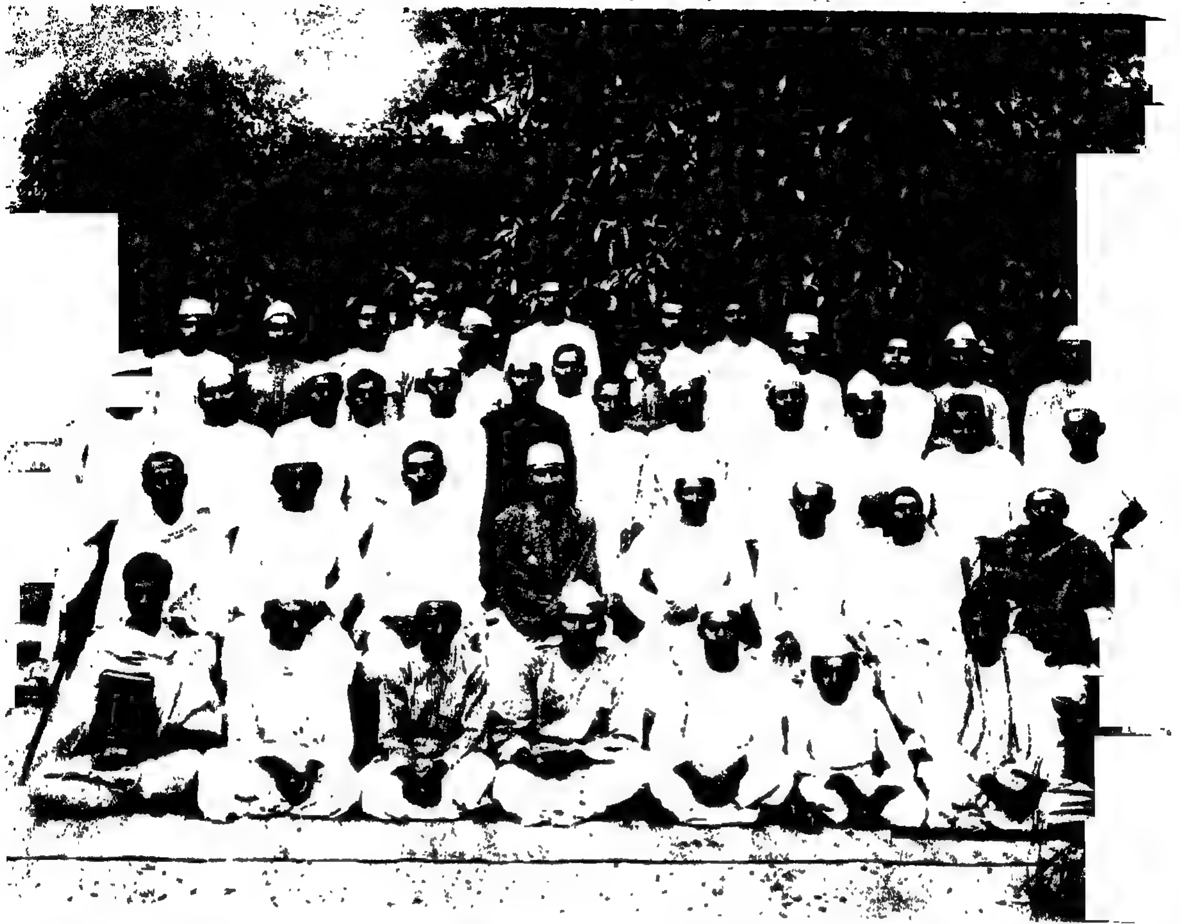
श्री रफी अहमद किदवई



श्री जवाहरलाल नेहरू



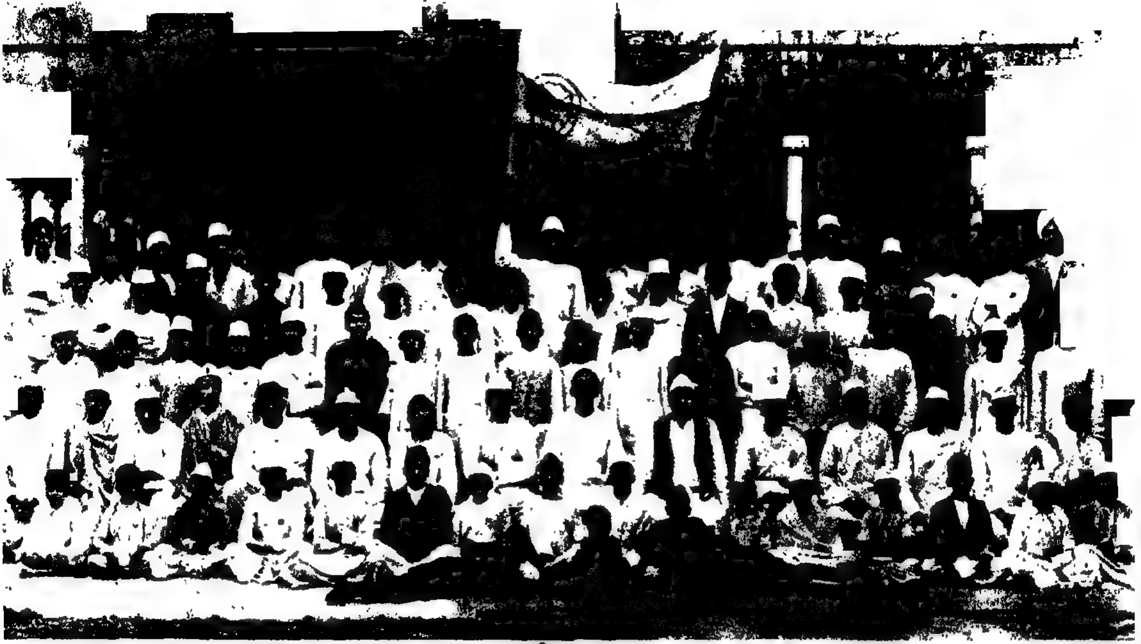
विद्यापीठके स्नातक संवत् १९८३



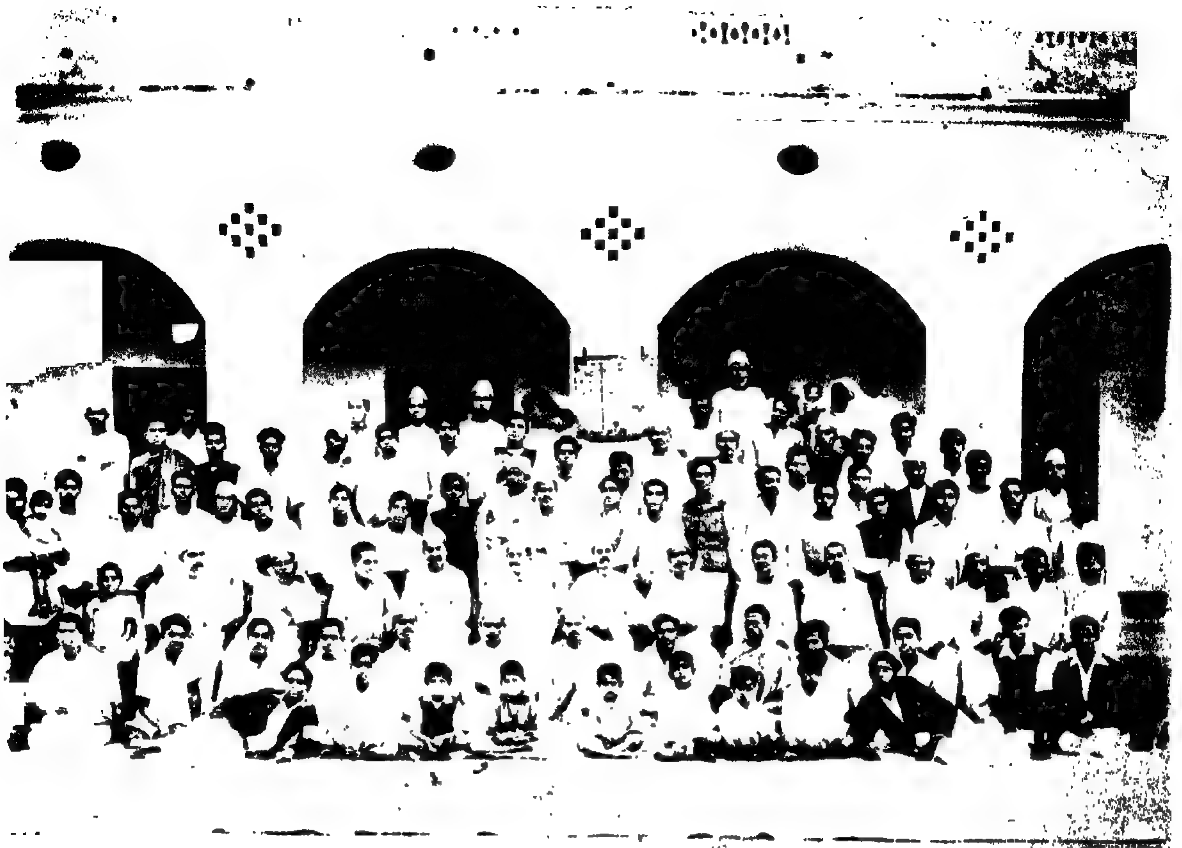
विद्यापीठके स्नातक संवत् १९८४



विद्यापीठके स्नातक संवत् १९८५



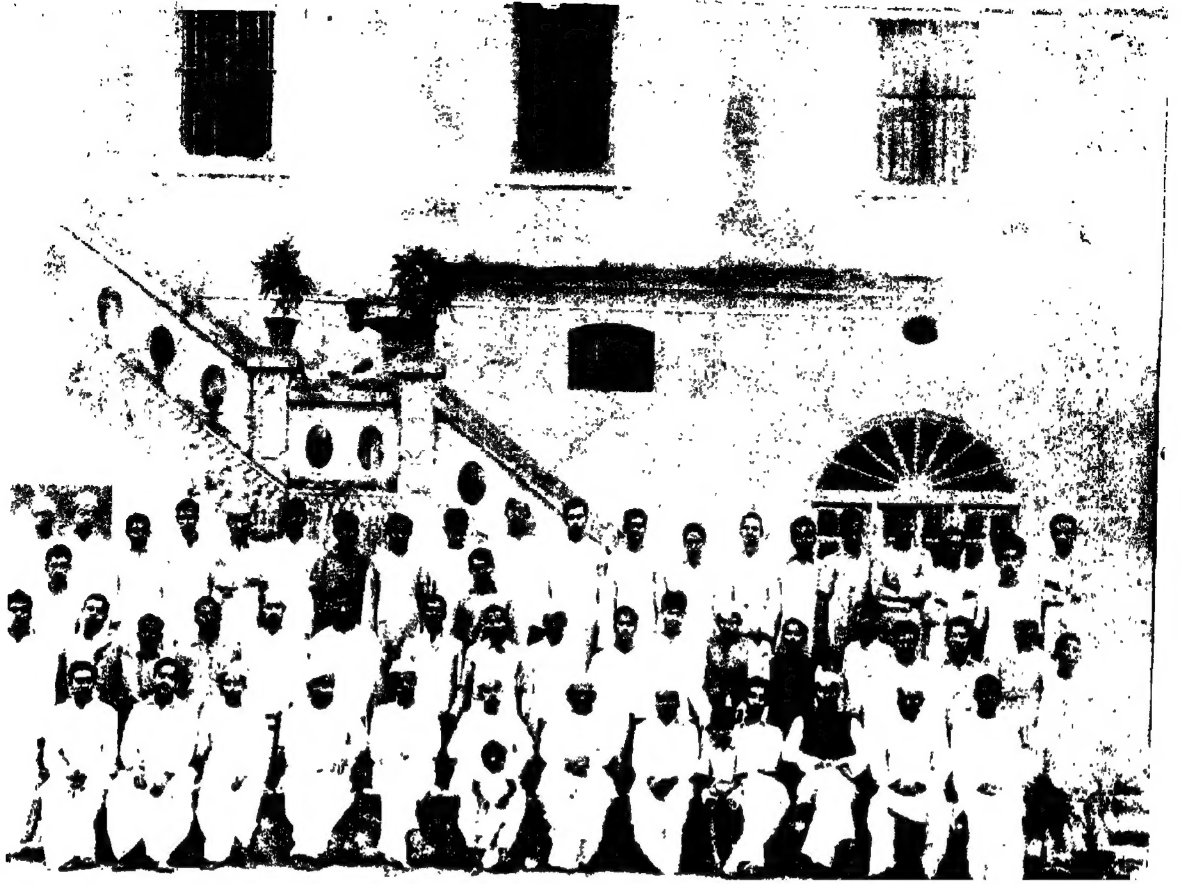
विद्यापीठके स्नातक संवत् १९८७



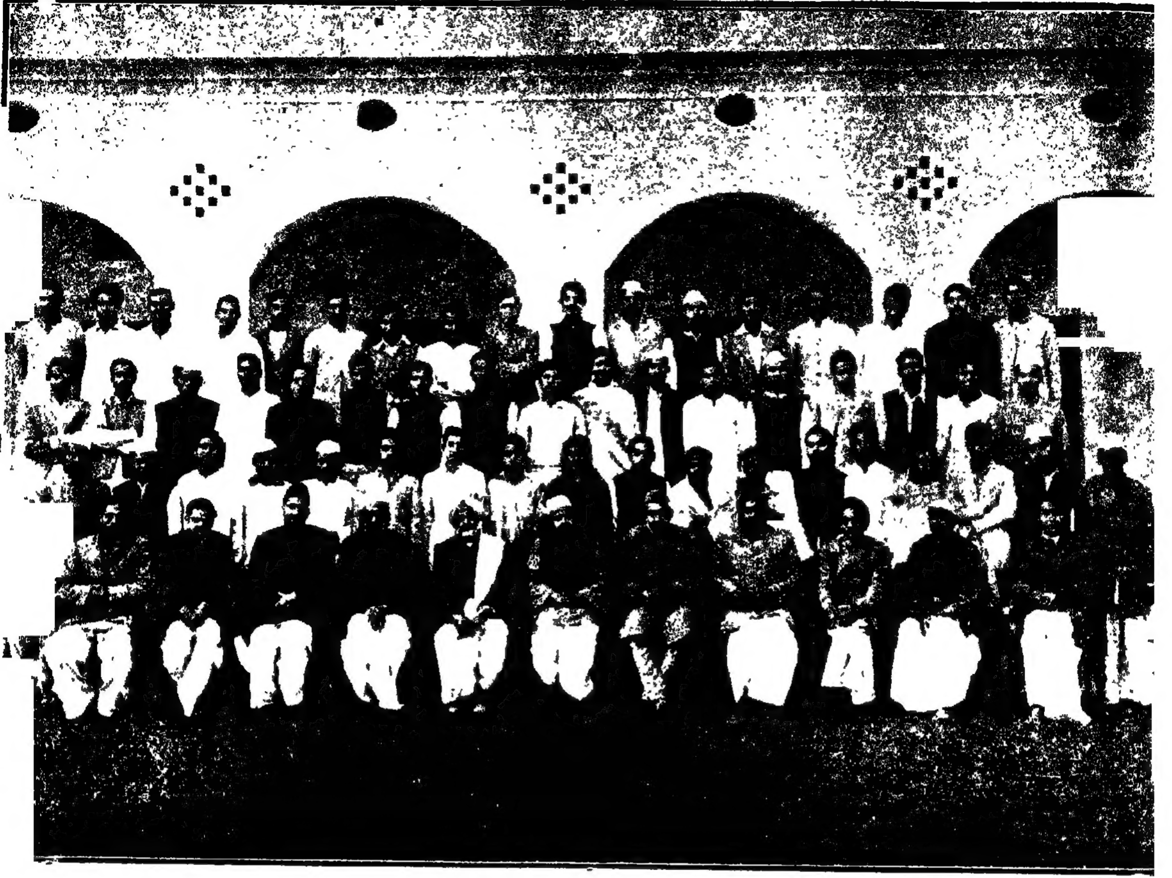
विद्यापीठके स्नातक संवत् १९९१



विद्यापीठ संवत् १९९७



विद्यापीठ संवत् २००२



विद्यापीठ संवत् २००३